Best Seller
क्षत्रिय (खत्रिय)
परम्परा
history of
KHATRIS in India
Authored by-
Shri Seeta Ram Tandon
LIMITED EDITION
NEW
EDITION
2024

जाति प्रथा–एक व्यवस्थापक सामाजिक संगठन

संविधान में तथा अन्य कानूनों में जाति के संबंध में जो व्यवस्थायें की गयी हैं उनका उद्देश्य समूहों के रूप में जातियों को नष्ट करना नहीं बल्कि जातीय भेद भाव को समाप्त करना है। यों तो जातियों के वर्गीकरण में ही भेद भाव की भावना निहित है क्योंकि उनका क्रमानुसार विभाजन किया जाता है किन्तु जाति का सदस्य होने के नाते एक व्यक्ति को अपनी जाति से कुछ निश्चित लाभ तो मिलते ही हैं। जाति से एक ऐसा सामाजिक वातावरण बनता है जिसमें उस जाति के व्यक्ति को पूर्ण विकास का अवसर मिलता है। एक ही जाति या उप जाति के लोग एक दूसरे से मजबूत बंधन में बंधे होते हैं, विपत्ति के समय एक दूसरे की मदद करते है और अगर जरूरत पड़े तो एक दूसरे की आर्थिक रूप से भी मदद करते हैं। जाति से व्यक्ति में अपनेपन की वैसी ही भावना जाग्रत होती है, जैसी कि अपने परिवार का सदस्य होने के नाते अपने परिवार के प्रति तथा अपने वर्ग के प्रति पैदा होती है। सच पूछा जाय तो जाति (या उप जाति) वास्तव में पारिवा. रिक समूह का ही विस्तारीकरण है जिसे बिरादरी भी कहा जाता है। इस बिरादरी में ही लोग एक दूसरे को अंतरंग रूप से, शक्ल से जानते–पहचानते और जरूरत पड़ने पर एक दूसरे के साथ सामाजिक सहयोग करते है। यह बिरादरी ही सामा. जिक व्यवहार, कायदे कानून तथा अपने सदस्यों का सामाजिक योगदान तय करती है। अपने आप में जाति ऐसा दृढ संगठन है जो अपने सदस्यों से निष्ठा की अपेक्षा रखता है और उन्हें सामाजिक लाभ प्रदान करता है। ऐसे समाजों में जाति के अंदर नहीं बल्कि अंतर्जातीय संबंधों में भेद भाव विद्यमान रहता है अतः समाज के समान वर्गीकरण के रूप में जाति प्रथा समुदायों अथवा समूहों के रूप में बनी ही रहेगी क्योंकि इसी में लोग एक दूसरे को समान समझते हैं। यही मानव प्रवृत्ति है जो अपने आप को एक समूह के रूप में देखना चाहती है। यही कारण है कि अधिकांश लोग जाति प्रथा को बनाये रखना चाहते हैं हालांकि वे यह भी चाहते है कि इसमें सुधार हों । सुधार की यह भावना कोई नयी नहीं है। जाति प्रथा के सम्पूर्ण इतिहास में अनेको सुधारकों एवं महान व्यक्तियों ने जाति प्रथा की कठोरता तथा नीची जाति के प्रति अमानवीय व्यवहार के विरोध में आवाज उठायी है। ऐसे प्रयत्नों का विरोध तो सर्वदा होता आया है किन्तु निचली जातियों एवं ऊंची जातियों के बुद्धिजीवियों ने सदा इसका समर्थन ही किया है। कभी कभी ऐसे सुधारवादी ऐसे ही किसी नेता के पीछे खड़े हो गये हैं जिससे एक नये धर्म का ही उदय हो गया है। यहाँ तक कि महात्मा बुद्ध के पहले ७०० ईसवीं पूर्व याज्ञवल्क्य ने भी रंग भेद के विरुद्ध आवाज उठायी थी और कहा था-

"यह हमारा धर्म नहीं है। गुण, सदाचार हमारे शरीर के रंग से उत्पन्न नहीं होता, उसे तो प्राप्त करना पड़ता है। इस लिये किसी को भी दूसरे से ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये जो वह स्वयं अपने साथ दूसरे के द्वारा किया जाना नहीं चाहता।"

गौतम बुद्ध ने भी अपनी धर्म व्यवस्था में जाति को स्थान नहीं दिया था और जाति व्यवस्था को कमजोर किया था। जैन धर्म (५ ०० ई०पू०) कबीर के वैष्णव धर्म और रामदास (१५वीं सदी) तथा सिक्ख धर्म (पन्द्रहवीं शताब्दी) भी ऐसे आंदोलन रहे जिन्होंने जाति प्रथा की कुछ बुराइयों, विशेष रूप से अस्पृश्यता को दूर करना चाहा। गुरु नानक तथा अन्य सिक्ख गुरुओं ने भी मनुष्यों को समानता का उपदेश दिया था जाति, धर्म और धन के आधार पर भेद भाव का विरोध किया। वर्तमान समय में राजा राम मोहन राय तथा महात्मा गाँधी ने भी जाति प्रथा की बुराइयों को दूर करने का उपदेश दिया पर जाति का पूर्ण विध्वंस किसी ने भी नहीं चाहा। यही कारण है कि जाति प्रथा का मूलभूत ढाँचा अभी तक अपरिवर्तित रहा है। यही देख कर जनगणना आयुक्त एच०एच० रिजले ने कहा था-

Caste forms the cement that holds together the myriad units of Indian Society. We its cohesive power withdrawn or its essential ideas relaxed the change would be more than a revolution. It would resemble the withdrawl of some element force like gravitation or molecular attraction, order would vanish and chaos would supervene.

-H.H. Rislay in People Of India, 1868

क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा

A HISTORY OF KHATRIS IN INDIA

लेखक :

जाति रत्न खत्री सीताराम टंडन

प्रकाशक

सीताराम टण्डन

13/44, विकास नगर, नियर सेक्टर-14,

आर०एल०बी० स्कूल, लखनऊ

फोन- +91 8737979692

प्रकाशक एवं मुख्य वितरकः

सत्यम टण्डन ,
13/44, विकास नगर, नियर सेक्टर-14
आर0एल0बी0 स्कूल, लखनऊ

तृतीय संस्करण
मूल्य :799/-

मुद्रकः

अप्पू ऑफसेट प्रिंटर्स
अमीनाबाद, लखनऊ
फ़ोन-6392074639

Copyright Disclaimer

ISBN-10: 9354077323
ISBN-13: 978-9354077326

For permission requests, write to the publisher, addressed "Attention: Permissions Coordinator," at the details mentioned below-

Email: historyofkhatris@gmail.com

Ph: +91 8737979692.

Our Website

www.historyofkhatris.com

क्षत्रिय (खत्रिय) जाति के इतिहास की भूमिका
(A History of Khatris in India)

जब भारत अंग्रेजों का गुलाम था तब अंग्रेजों ने भारत की संस्कृति को नष्ट करने का भरपूर प्रयत्न किया। वे यह समझते थे कि संस्कृति को विनष्ट किये बिना किसी भी देश को अधिक दिनों तक गुलाम बना कर नहीं रखा जा सकता। इसी लिये कई अंग्रेज विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रन्थ–वेद, पुराण और स्मृतियों आदि को पढ़ने का प्रयास किया, उनमें विद्वता प्राप्त की और उस पर अपनी व्याख्या लिख कर अर्थ का अनर्थ भी किया। उनका ध्येय यही था कि भारतवासियों के मन में अपनी संस्कृति के प्रति जो गौरव और गरिमा की भावना है उसे नष्ट कर उनमें हीन भावना को जागृत किया जाय। इसी दृष्टि से उन्हों ने जातियों की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को भी मनमाने अर्थ देने, अनेक भ्रम फैलाने, जातियों को आपस में लड़ाने एवं निरर्थक विवाद उठाने का भी प्रयत्न किया पर इस कार्य में वे पूर्णतः सफल नहीं हो सके। यह अवश्य हुआ कि उनके प्रभाव से हममें से ही कुछ लोग स्वयं ही अपनी संस्कृति की जड़ खोदने लगे और अपने ही स्वरूप का त्याग करने में गौरव का अनुभव करने लगे। उन्हीं के चलते अपनी गौरवमयी संस्कृति को स्वीकार करने में भी हमें लज्जा आने लगी। इस लज्जा बोध ने ही ऋषि मुनियों की वर्णाश्रम प्रणाली और भारतीयता पर भी उंगली उठायी है और हमारी संस्कृति को पतनोन्मुख किया है।

सम्पूर्ण खत्रिय जाति का मन जिस प्रकार अपने गौरवपूर्ण अतीत को जानने, अपनी उत्पत्ति को समझने और अपनी जाति के विस्तार को जान कर तथा उसकी विभिन्न धाराओं से परिचित होने के लिये जितना आन्दोलित होता रहा है उतना ही इस समाज की विश्रृंखलतायें, इसकी दूर–दूर तक बिखरी कड़ियाँ, मतभेद एवं अधिकृत इतिहास का अभाव तथा बीच–बीच में टूटी कड़ियाँ, विभिन्न भ्राँतियाँ तथा निज का अज्ञान एवं देशी–विदेशी अनेकानेक विद्वानों द्वारा मनमानी एवं भ्रामक अल्ल नाम उपपत्तियां प्रचारित करने से खत्रिय इतिहास को ही नहीं बल्कि इस क्षत्रिय (खत्रिय) जाति को ही दूसरों की निगाहों में हास्यास्पद बनाने के अवसर उत्पन्न किये हैं जिनका कोई उत्त्र एक आम क्षत्रिय (खत्रिय) के पास नहीं होता और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के बाद इस जाति का कोई प्रमाणिक इतिहास गम्भीरता से लिखा भी नहीं गया तथा जो लिखे भी गये उनमें क्रमबद्धता एवं मौलिकता नहीं आयी।

इस सृष्टि के सर्वप्रथम राजन्य क्षत्रिय वैवस्वत मनु ही माने जाते हैं जो स्वयं प्रजापति ब्रह्मा जी के मानस पुत्र मरीचि के पुत्र कश्यप से उत्पन्न विवस्वान (सूर्य) के पुत्र थे, जिन्हों ने विश्व के प्राचीनतम हिन्दू राज्य कोशल अथवा अवध की राजधानी अयोध्या नगरी बसायी। उनके पुत्र इक्ष्वाकु ने इस अयोध्या नगरी का विस्तार किया और इन्हीं से क्षत्रिय (खत्रिय) जाति की सूर्य तथा चन्द्र वंश की परम्परा भी चली जिसमें अंगिरा ऋषि के माध्यम से अग्नि वंश का भी

विस्तार हुआ। इन्हीं क्षत्रिय (खत्रिय) सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंशों की अजस्र धारा सृष्टि के आदि से आज तक प्रवाहित चली आ रही है जिसकी वास्तविक एवं शुद्ध उत्तराधिकारी वर्तमान खत्रिय (क्षत्रिय) जाति है। इस परम्परा की अविच्छन्न धारा को समझे बगैर अपने गौरवपूर्ण अतीत को समझा नहीं जा सकता। अतः अपने पूर्वजों की इस गौरवपूर्ण परम्परा को मलिन होने से रोकने, उससे समस्त खत्री जाति को परिचित कराने, इतिहास की टूटी कड़ियों को जोड़ने, अनेक भ्रांतियों को दूर करने और इतिहास की विशेष शोध की अपेक्षा रखने वाले अनेक बिन्दुओं को इंगित करने का मैंने एक लघु प्रयास किया है जो इस पुस्तक "क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा" के रूप में प्रस्तुत है। संत कबीर कहते हैं–

> खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकू होय सवाया करमो।
> खत्री सों जु कुटुंब सूं सूझै, पंचू मेटि एक कूं बूझै।।

अर्थात् खत्रिय (क्षत्रिय) खत्री धर्म करता है। उसका कर्म सवाया होता है। खत्री वह है जो काम , क्रोधादि कुटुम्ब से लड़ता है। पाँचों को समाप्त कर केवल परमात्मा को समझता है। अतः खत्रिय इतिहास की यह लघु कर्म कृति पूर्णता या मौलिकता का दावा नहीं करती क्योंकि उसके लिये विस्तृत शोध सामग्री, अथक परिश्रम एवं एक व्यक्ति की नहीं बल्कि अनेक विद्वानों की एकनिष्ठ लगन की आवश्यकता है। विस्तार भय से इस पुस्तक का आकार भी अधिक नहीं बढ़ाया गया अन्यथा निज उपलब्ध सामग्री ही, जिसका काफी बड़ा भाग अभी तक ठीक से देखा भी नहीं जा सका है, इस पुस्तक का कलेवर कम से कम चार गुना बढ़ाने को पर्याप्त थी यद्यपि उससे कतिपय विशेष विषयों पर ही विस्तार से लिखा जा सकता था और अनेकों विषयों पर गहन शोध की आवश्यकता थी, किन्तु इसमें ऐसे अनेक बिन्दुओं के प्रति दिशा निर्देश अवश्य है।

पुस्तक लिख कर धन कमाना मेरा उद्देश्य नहीं और यश की प्राप्ति भी मेरा लक्ष्य नहीं किन्तु मेरा परिश्रम खत्री जाति के सभी वर्गों के, अधिक से अधिक लोगों को अपने गौरवपूर्ण अतीत से परिचित करा सकने में सार्थक सिद्ध हो, यही अभीष्ट है। इसी उद्देश्य से यह पुस्तक जातीय पत्रिका 'खत्री हितैषी' में भी फरवरी, **1997** के अंक से धारावाहिक रूप से प्रकाशित की गयी थी। यदि यह पुस्तक खत्रिय जाति के सभी बन्धुओं को उनके गौरवपूर्ण अतीत की कुछ भी उपयोगी जानकारी दे कर लाभान्वित कर सकी तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने पूर्वजों का कुछ ऋण उतार दिया है।

सीताराम टंडन

वर्तमान–**13 / 44**, विकास नगर,
लखनऊ–**226022** फोन– **91 8737979692**

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

पृष्ठ संख्या

परिशिष्ट

पृष्ठ संख्या

क्षत्रिय (खत्रिय) जाति का इतिहास

A History of Khatris in India

(1920—2002)

पश्चिमी विद्वान कहते थे—भारतीय इतिहास लिखना नहीं जानते थे। भारत ने इतिहास नहीं लिखा है, गाथा लिखी है। विदेशी अध्ययन से प्रभावित विद्वान ईसा से तीन सहस्त्र वर्ष पूर्व जाने के लिये तैयार नहीं होते थे। वेद, पुराण तथा संस्कृत ग्रन्थों को 'कपोल कल्पित गाथा' ऐतिहासिक दृष्टि से मान लिया गया था किन्तु धीरे धीरे इस दिशा में विचारकों का मत परिवर्तित हुआ। श्री स्तीन ने संस्कृत का अध्ययन कर इस धारणा को असत्य ठहराया। उन्हों ने प्रमाणित किया कि संस्कृत में अमूल्य इतिहास सामग्री है, उसका उपयोग सतर्कता से करना चाहिये। स्तीन ने पूछा था कि यदि काव्य के साथ सर्वांगीण प्रमाणिक इतिहास प्रस्तुत किया जाय तो क्या ये वह इतिहास नहीं होगा? केवल इस लिये इतिहास नहीं होगा कि उसकी भाषा काव्यमय है? सरस है? पद्यमय है? अलंकृत है?

लोग कहते हैं—इतिहास गड़े मुर्दे को उखाड़ना है। पुरानी बात याद करने से, जानने से इस आर्थिक, यान्त्रिक, भौतिक युग में क्या लाभ है? समय नष्ट करना व अर्थ का अपव्यय है। तब तो नित्य प्रातः उठने, नित्य भोजन करने, नित्य सोने, नित्य एक ही काम करने से ही क्या लाभ है? हम रहें न रहें, इससे संसार का क्या बिगड़ता है? हमारे जैसे कितने आये और गये। जिसका जन्म हुआ, वह मरा— पर पशु और मनुष्य में कुछ अंतर है।

इतिहास उदाहरण प्रस्तुत करता है। असुर बनने पर क्या होता है? सुर बनने पर क्या होता है? कुपथगामी बनने का क्या परिणाम होता है और सुपथगामी बनने से क्या लाभ होता है। जीवन का मूल्य इतिहास उपस्थित करता है, किन परिस्थितियों में क्या संगत और क्या असंगत है। इतिहास दर्शन नहीं हैं आध्यात्म नहीं है। इतिहास कर्मों के परिणामों का उदाहरण है।

भगवान ने जन्म दिया था वह अपनी इच्छा पर नहीं था। मरना अपने हाथ में नहीं है। पशु पक्षी, प्राणिमात्र जीवन से मरण पर्यन्त किसी न किसी प्रकार समय व्यतीत करते हैं।

न कभी उदास हो, न कभी निराश। जीवन का यह भी एक अध्याय है, मान लो? समय तो काटना ही है। सादगी, सच्चाई, ईमानदारी से जीवन बीत जाय, यह भी एक बड़ा दर्शन है। सरस्वती की उपासना में न तो राजनीतिक या आर्थिक प्रतिस्पर्धा है और न शोषण। इसका क्षेत्र आकाश के समान ओर छोर हीन है। यह भी शांतमय जीवन काटने का एक पक्ष है।

ऐसी ही सरस्वती उपासना का अथक परिश्रम से प्राप्त एक कण इस 'क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा' पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया है खत्री सीताराम जी टण्डन ने। अखिल भारतीय खत्री महा सभा का यह शताब्दी वर्ष है। इसमें यह कार्य भी रचनात्मक सिद्ध होगा, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन्स (प्राइवेट) लिमिटेड
सी—21/30, पिशाचमोचन, वाराणसी—221 001
दूरभाष—358470

कृष्ण चन्द्र बेरी
भू0पू0 अध्यक्ष
अखिल भारतीय खत्री महासभा

खत्री जाति गान

ब्रह्म—विष्णु—शिव शक्ति उपासक, निरंकार ओंकार आराधक।
सूर्य वंश तव, चन्द्र वंश तव, अग्नि वंश जय हे, क्षत्रि जाति जय हे।
खत्री जाति जय हे।।

शिवा, चण्डिका, जोन वाराही अष्टभुजी, जय विन्ध्यवासिनी।
वैष्णों माता ज्योताँ वाली, जय माता दी जय हे, क्षत्रि जाति जय हे।
खत्री जाति जय हे।

भृगु, अंगिरा अत्रि कुल संस्कृति, नानक, श्रीचन्द, गोविन्द संतति।
सैनिक, शासक, भूपति, पालक, सो निहाल जय हे, क्षत्रि जाति जय हे।
खत्री जाति जय हे।

ऋद्धि—सिद्धि समृद्धि दिवाकर, पर दुःख कातर, सहज कृपाकर।
जन—जन सेवक, सेवा प्रेरक, आर्य वंश जय हे, क्षत्रि जाति जय हे।
खत्री जाति जय हे।।

रचयिता—स्व0 खत्री कृष्ण चन्द्र मेहरोत्रा—वाराणसी

अनुवाद

सूर्य वंशी, चन्द्र वंशी, अग्नि वंशी गौरवशाली खत्री (क्षत्री समाज) की जय हो जो आदि काल से त्रिदेव (ब्रह्मा—विष्णु—महेश) और आद्या—शक्ति का उपासक हो कर भी 'इक ओंकार सत् नाम' जो निरंकार है उसकी आराधना करता आ रहा है।

आराध्य कुल देवियों शिवा, चंडिका, जोन वाराही, अष्टभुजी, विन्ध्यवासिनी तथा अखण्ड ज्योति वाली वैष्णो माता की जय—जय कार करने वाले खत्री (क्षत्री) समाज की जय हो।

महर्षि भृगु, अंगिरा तथा अत्रि के कुलों से पुष्पित संस्कृति से ओत—प्रोत, महान संत श्री नानक देव, श्री चन्द तथा गुरू गोविन्द सिंह की धीर—वीर सन्तानें जिन का इतिहास सैनिक, शासक, राजा, आश्रितों का पालन करने वाला रहा है तथा जिन का जयकारा 'सों निहाल' रहा है ऐसे खत्री (क्षत्री) समाज की जय हो।

परिवर्तित परिवेश में भी अपने कुशल विवेक के कारण धन—वैभव के साथ—साथ रिद्धि—सिद्ध प्रेमी बने रह कर, दूसरों के दुःख से दुःखी होने वाले और सहज ही दीनों पर कृपा करने वाले, व्यक्ति—व्यक्ति की सेवा में लगे रह कर, सेवा की प्रेरणा देने वाले आर्य वंशी खत्री (क्षत्री) समाज की जय हो।

क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा
(A History of Khatris in India)

अध्याय–1 सर्वप्रथम क्षत्रिय (खत्रिय) राज्य (अवध) की परम्परा

(1) अवध राज्य का इतिहास

अवध अब कोई स्वतंत्र राज्य नहीं है। उत्तर प्रदेश के लखनऊ तथा फैजाबाद मण्डलों के जिलों को मिला कर जो क्षेत्र बनता है, वहीं पुराना अवध राज्य कहलाता है। इसी प्राचीन अवध राज्य की सनातन काल से चली आ रही राजधानी अयोध्या थी, जो फैजाबाद नगर से केवल चार मील दूर है।

प्राचीन कोशल अथवा अवध राज्य की पूर्व काल की राजधानी अयोध्या का प्राचीन वैभव बाल्मीकि रामायण में इस प्रकार देखने को मिलता है। "सरयू नदी के किनारे, धनधान्य से भरपूर दिन–दिन खूब बढ़ने वाला कोशल नाम का बड़ा प्रदेश है। उस प्रदेश में महाराज मनु की बसाई अयोध्या नगरी है। (अयुध–अयोध्या का अर्थ है जिसके साथ युद्ध न किया जा सके) यह नगरी बारह योजन (अड़तालिस कोस) लम्बी तथा तीन योजन (बारह कोस) चौड़ी है। उसकी बड़ी–बड़ी सड़कें और चारों ओर के बड़े–बड़े दरवाजे बड़ी सुघराई से बनाये गये हैं। उसके भीतर की सड़कें सुन्दर–सुन्दर फुलवाड़ियों से सजी हुई हैं। वहाँ सड़कों पर खूब छिड़काव होता रहता है। देश को बढ़ाने वाले महाराज दशरथ ने उस नगरी को इन्द्र की अमरावती पुरी की तरह बसाया। वह किवाड़ और वंदनवारों से सुशोभित थी। उसकी दुकानें सुन्दर सजी हुई थीं। सूत और मागधों से संयुक्त तथा बड़ी सुन्दर चमकती हुई ऊँची नीची अटारियों और ध्वजाओं से अयोध्या नगरी सुशोभित थी। वहाँ सैकड़ों शतघ्नी (एक प्रकार की तोप) शस्त्रादि रखे रहते थे। वहाँ पर नाचने गाने वालों की कमी न थी। उसमें अमराई और साखुओं से संयुक्त बगीचे थे। अगाध खाईं से घिरी रहने के कारण वह सर्व साधारण के लिये दुर्गम थी। शत्रुओं की दाल तो उसमें गल ही नहीं सकती थी। वह घोड़े, ऊँट आदि पशुओं से भरी हुई थी। सामंत, नरपति कर लिये हाजिर रहते थे। वह नाना देशवासी व्यापारियों से सुशोभित थी। रत्नों से बनी पर्वताकार अटारियाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उसमें स्त्रियों के बड़े सुन्दर क्रीड़ाग्रह हैं। कूटागार तो अमरावती के तुल्य सुशोभित हैं। उसके गृह समूह अत्यन्त दृढ़ और सम भूमि पर बने हुए हैं। उसमें शिल इत्यादि उत्तम तण्डुल और ऊख के रस के समान मीठा जल भरा रहता है। वहाँ नगाड़े, मृदंग, वीणा और ढोल बजते रहते हैं। अयोध्या तपस्या से प्राप्त सिद्धों के विमान की तरह है। उसके सुन्दर भवनों में श्रेष्ठ पुरुष रहते हैं।

महाकवि कालिदास ने भी अयोध्या का मनोहर वर्णन करते हुए लिखा है

कि "अयोध्यापुरी क्षत्रियों के तेज की शमी, धनधान्य से पूजित दिव्य नगरी ऐसी जान पड़ती थी मानों भोग के भार से वह स्वर्ग से पृथ्वी तल पर उतर आयी हो।"

अथर्ववेद के द्वितीय खण्ड में लिखा है "देवताओं की बनायी अयोध्या में आठ महल, नव द्वार और लौहमय भण्डार हैं। यह स्वर्ग की भाँति समृद्धि से सम्पन्न है।"

चीनी यात्री फाह्यान ने साकेत का चीनी अनुवाद "शाची" किया है, उसने लिखा है–"यहाँ से चल कर तीन योजन दक्षिण पूर्व में शाची का विशाल राज्य मिला"। उसने भी इसे बौद्धों का एक महत्वपूर्ण तीर्थ लिखा हैं। कहते हैं कि जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों में बाइस इक्ष्वाकुवंशी थे और उन में सबसे पहले तीर्थंकर आदि नाथ ऋषभदेव जी और चार अन्य तीर्थंकरों का जन्म यहीं हुआ था। बौद्धों का भी यह एक मान्य तीर्थ है। महायान सम्प्रदाय के गुरु वसु बन्धु पुस अयोध्या में रहते थे। भगवान तथागत ने यहाँ अंजन बाग में बौद्ध मत के कुछ सूत्रों का उपदेश दिया था। बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या को साकेत और विशाखा कहा है। "दिव्यादान" में साकेत की व्याख्या यों की गयी है–

"स्वयमागतं स्वयमागतं साकेत साकेतमिति संज्ञा संवृता।" अर्थात "यह आप ही आया, आप ही आया, इस लिये इसका नाम साकेत पड़ गया।" इसी अवध को हिन्दू राज्यों की गणना में सबसे अधिक प्राचीन हिन्दू राज्य माना जाता है। अयोध्या, स्वयं एक रोमांचपूर्ण तथा अनेक कथानकों एवं किंवदंतियों की नायक नगरी रही है। इसकी समृद्धता की चर्चा दूर–दूर तक होती थी किन्तु बाद में वह उजड़ गयी। इसके विस्तृत खंडहर आज भी देखे जा सकते हैं। रामायण में अयोध्या का ऊपर जो चमत्कारिक वर्णन दिया है उसके अलावा इस बात का कोई पता नहीं है कि इतनी समृद्ध एवं सुन्दर नगरी राम राज्य के पतन के पश्चात कब और कैसे उजड़ गयी। धरती से एक प्रकार से लगभग नामो–निशान मिट जाने के बावजूद अयोध्या का क्षेत्र धरती पर अपेक्षाकृत स्वर्ग ही माना जाता रहा क्योंकि अयोध्या के क्षेत्र में जो जंगल फैल गया था उसकी धरती मे केवड़े की भीनी–भीनी मीठी सुगन्ध बसी रह गयी। यही एक ऐसा पौधा है जो इस सम्पूर्ण क्षेत्र में आज तक असाधारण रूप से बहुत अधिक उगता है जिससे अयोध्या के आस–पास की धरती आज तक महकती रहती है।*

जनश्रुति यह कहती है कि राम ने अयोध्या की सम्पूर्ण जनता के साथ सदेह स्वर्गारोहण किया। उन्हों ने गुप्तार घाट से महाशक्तिशाली पवित्र सरयू नदी में प्रवेश किया और वहीं से स्वर्ग को पलायन किया। तब से आज तक वह घाट गुप्तार घाट ही कहलाता है।

समय के धुंधले आकाश में बहुत लम्बे समय तक अयोध्या का कोई लिखित इतिहास या उल्लेख नहीं मिलता। हाँ, अयोध्या के बारम्बार विनाश का उल्लेख अवश्य आता है पर उसका भी कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता।

* अवध गजेटियर– खण्ड 1 पृष्ठ 2

विश्वास ही नहीं होता कि अवध के इतिहास में ऐसा भी हुआ होगा। पर यह सत्य है और इसका भेदन आज तक कोई नहीं कर पाया है। अयोध्या, अवध, उत्तर कोशल, कोशल एक ही राज्य के अनेक नाम हैं जो विभिन्न समयों में प्रचलित रहे। बौद्ध धर्म के उदय काल में उत्तर कोशल के नाम से इस राज्य का उल्लेख पुनः आता है। सम्राट अशोक तथा उसके वंशजों के अधीन जब बौद्ध धर्म का विस्तार हुआ तो अयोध्या के पड़ोसी बहराइच जिले के श्रावस्ती का नाम प्रमुखता से लिया जाने लगा और धीरे धीरे वह बौद्ध धर्म के ज्ञान का प्रमुख केन्द्र बन गया और करीब छः शताब्दियों तक बना रहा। इसी अवधि के साथ इतिहास प्रसिद्ध सम्राट विक्रमादित्य का शासन काल भी जोड़ा जाता है जो भारत का सबसे अधिक चमत्कारिक शासन काल है और इसी सम्राट के नाम से चला विक्रमी संवत् आज तक प्रचलित है। आज से 2,000 वर्ष से भी अधिक समय पूर्व इस महान क्षत्रिय (खत्रिय) वीर सम्राट का उदय हुआ तो शासन व्यवस्था में ही नहीं बल्कि इतिहास के पन्नों में भी नये अध्याय खुल गये। इसी समय ब्राह्मण धर्म पुनर्जीवित हुआ और बौद्ध धर्म का ह्रास भी प्रारम्भ हुआ। इसी सम्राट ने इतिहास के अंधकार में डूबी और घोर वनों से आच्छादित खोयी अयोध्या को पुनः ढूँढ़ निकाला। इस प्राचीन नगरी की खोज के लिये उसने पवित्र सरयू नदी को मुख्य आधार बनाया और फिर उस समय तक सुरक्षित रह गये भगवान महादेव के प्रसिद्ध (मन्दिर) आज के नागेश्वर नाथ मन्दिर की दिशा में आगे बढ़ा। बौद्धों तथा अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा धार्मिक स्थानों के विनाश से यही मन्दिर किसी तरह बचा रह गया था। प्राचीन ग्रन्थों में राम कथा से सम्बन्धित स्थलों के विवरणों का सहारा ले कर उसने उन सभी पवित्र स्थलों की खोज की जो कभी राम के सांसारिक चरित्र से सम्बन्धित रहे थे। कहा यह जाता है कि उन स्थलों की खोज करते करते उसने उन सभी स्थलों को ढूँढ़ निकाला जहाँ आज लाखों श्रृद्धालु भारत के कोने–कोने से प्रति वर्ष छमाही या विभिन्न त्यौहारों पर दर्शन करने आया करते हैं।

विक्रमादित्य द्वारा खोजे गये इन स्थलों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण था रामकोट जो रामचन्द्र जी का किला कहलाता था। यह किला काफी विस्तृत था और पौराणिक विवरणों के अनुसार इस दुर्ग की रक्षा के लिये चारों ओर बीस बुर्जियाँ बनी थीं जिन पर राम के इतिहास प्रसिद्ध सेनानायक तैनात रहते थे और उन्हीं में से प्रत्येक के नाम पर हर दुर्ग का नामकरण हुआ था। ये गढ़ियाँ (जैसे हनुमान गढ़ी) आज तक उन्हीं के नाम से जानी जाती हैं। कोट के अन्दर आठ राजमहल थे जहाँ रघुकुल तिलक दशरथ, उनकी रानियाँ तथा भगवान राम स्वयं निवास करते थे।

जनश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य ने 80 वर्ष तक राज्य किया और उस समय के बाद योगी समुन्द्र पाल ने अपने योग बल से स्वयं राजा के त्यक्त शरीर में प्रवेश कर लिया [1] तथा वह स्वयं और उसके वंशज, तत्पश्चात सत्रह पीढ़ियों

1. प्रेत का ही एक प्रकार वेताल भी कहा जाता है। जिस शरीर में भूत का प्रवेश हो जाता है उसे वेताल कहते हैं–वे वायौतालः प्रतिष्ठा यस्यासौ वेतालः।। वेतालः

तक राज्य करते रहे। उनका राज्य काल 643 वर्षो का बताया जाता है जिससे प्रत्येक पीढ़ी का राज्य काल लम्बा प्रतीत होता है।[1] सर एच0 इलियट का कहना है कि अयोध्या आने के पश्चात विक्रमादित्य ने 360 स्थानों पर मन्दिरों का निर्माण किया था, जिनमें से 42 मन्दिर आज की पीढ़ी को ज्ञात हैं। राम के चरित्र से सम्बन्धित ये 42 मन्दिर आज भी जैसे के तैसे ही हैं। अयोध्या के देखने लायक प्राचीन स्थलों में से कुछ ही ऐसे स्थल हैं जो वास्तव में अत्यन्त प्राचीन हैं। इनमें से अधिकतर बाद के काल में ही निर्मित हैं। जैन धर्म के भी छः मन्दिर हैं। अयोध्या के इतिहास में विभिन्न कालों में और विभिन्न समयों पर जो स्थल महत्वपूर्ण रहे हैं उनका ऐतिहासिक महत्व आंकना आसान नहीं है। यह राज्य कभी कोशल कभी अयोध्या कभी अवध के नाम से विख्यात रहा। यही राज्य संसार की अधिसंख्य मानव जाति द्वारा अपनाये गये हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों की जन्म स्थली भी रहा है। अतः इसका महत्व इतिहास में नकारा नहीं जा सकता।[2]

"मुसलमानों के आक्रमण के समय अयोध्या में तीन महत्वपूर्ण हिन्दू धार्मिक स्थल थे जिनसे बहुत थोड़े ही भक्त सम्बन्धित रहते थे एवं वहाँ पूजा अर्चना किया करते थे। ये स्थल थे–"जन्म स्थान", "स्वर्गद्वार मन्दिर" जिसे राम दरबार भी कहा जाता था और "त्रेता के ठाकुर"।

इनमें से पहले मन्दिर के स्थान पर शहंशाह बाबर ने मस्जिद बनवाई (थी) जिसमें उसका नाम व सन 1528 अंकित था। दूसरे स्थल पर औरंगजेब (सन 1658 से 1707) ने मस्जिद बनवायी और तीसरे स्थल पर उसके पूर्वजों ने मस्जिद बनवाई। इन सबका उद्देश्य मुसलमानों के सिद्धांत के अनुसार तलवार के जोर पर विजित लोगों को जबरदस्ती इस्लाम धर्म का अनुयायी बनाना था।

जन्म स्थान स्थल में ही रामचन्द्र का जन्म हुआ था। स्वर्गद्वार वह स्थान है जहाँ से राम ने स्वर्ग के लिये प्रस्थान किया और त्रेता के ठाकुर उस स्थल के रूप में प्रसिद्ध हैं जहाँ कभी राम ने अपनी और सीता की मूर्ति स्थापित कर के अश्वमेध यज्ञ किया था।[2]

परन्तु जन्म स्थान स्थल इस समय परम विवादग्रस्त है।

भूत योनि= पिशाच=प्रेत। शव पर अधिकार कर लेने वाले भूत की संज्ञा वेताल से दी गयी है। वेताल और भूत में अंतर है। वेताल काबू में नहीं आता परन्तु भूत को वश या काबू में किया जा सकता है।

पिशाचों का एक वर्ग है। रुद्रगणों में वेताल सम्मिलित हैं। ये रणभूमि में उपस्थित रहते हैं और वहाँ मानव का रक्त पान एवं मांस भक्षण करते हैं। श्रीमद्भागवत् पुराण, द्वितीय स्कन्ध, अध्याय–2, श्लोक 37–39 में उल्लेख है कि प्रजापति, मनु देवता, ऋषि, पितर, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, विद्याधर, असुर, यक्ष, किन्नर, अप्सरायें, नाग, सर्प, किम्पुरुष, उरग, मातृकायें, राक्षस, पिशाच, प्रेत, भूत, विनायक, कूष्मांड, उन्माद, वेताल, यातुधान, ग्रह, पक्षी, मृग, पशु, वृक्ष, सरीसृप, इत्यादि जितने भी संसार में नाम रूप हैं, सब भगवान के ही हैं।

1. अवध गजेटियर–खण्ड–1 पृष्ठ–3
2. अवध गजेटियर–खण्ड–1 पृष्ठ–6

श्रावस्ती अयोध्या के निकट ही हैं। बौद्ध धर्म ज्ञान के प्रमुख केन्द्र के रूप में इसकी ख्याति लगभग छः शताब्दी तक बनी रही। इसके बाद आठवीं या नवीं शताब्दी में वह समय भी आया जब अयोध्या के जंगल काट कर साफ कर दिये गये तथा थारू नाम की एक जनजाति ने यहाँ बसना आरम्भ किया। इन्हें भी प्राचीन नगरी श्रावस्ती के खंडहरों के निकट रहने वाले एक शासक परिवार ने अपने अधीन कर लिया। आठ शताब्दियों तक यही श्रावस्ती उत्तर भारत का प्रमुख सांस्कृतिक हृदय स्थल रहा था परन्तु काल चक्र में फंस कर वह भी खण्डहर हो गया था। धीरे–धीरे अन्य जातियाँ भी यहाँ आ कर बसने लगीं और स्थानीय जनसंख्या बढ़ने लगी। भारत के अन्य भागों के तथा मध्य एशिया के मुसलमान भी इस अवध क्षेत्र की ओर आकर्षित हुए और उनमें सबसे पहले आया सैयद सलार मसूद।[1] वास्तव में दिल्ली के शासकों की दौलत की चमक दमक ने इन महत्वाकाँक्षी आक्रांताओं को अत्यधिक आकर्षित किया था। यहाँ उन्हें एक ओर तो जीवन यापन का आधार मिल जाता था दूसरी ओर अथाह धन सम्पत्ति की लूट मार कर शीघ्र अमीर बनने का अवसर भी। शीघ्र ही उन्हों ने दिल्ली के बिखरते साम्राज्य की नीवें मज़बूत करने के नाम पर अवध में स्थानीय युद्ध किये और दिल्ली के शासकों का प्रभुत्व पुनः स्थापित किया। कहीं–कहीं स्वयं लड़ कर भी उन्हों ने कमजोर दिल्ली साम्राज्य की अनदेखी कर के अपनी–अपनी अलग रियासतें भी कायम कर लीं। दिल्ली का शासन तो नाम मात्र का ही था। इस तरह अवध में अनेक स्थानों पर मुसलमानी राज्यों की स्थापना हो गयी। अवध की छोटी मोटी रियासतों के शासक अपना मूल इन्हीं मुसलमान हमलावरों में बतलाते हैं। इनकी देखा–देखी गुजरात, मालवा आदि अन्य स्थानों के राजपूतों ने भी अवध पर आक्रमण कर अपने छोटे मोटे राज्य स्थापित कर लिये। किसी केन्द्रीय शासक का उन पर प्रभुत्व न रहा।

इस प्रकार अवध का लगभग दो तिहाई भू–भाग इन हिन्दू तथा मुसलमान शासकों के हाथ में आ गया और यही राजा, जागीरदार, जमींदार तथा शासक कहलाने लगे।

1. ''इस मुसलमान फकीर ने ग्यारहवीं शताब्दी में भारत पर आक्रमण किया। यह सुल्तान महमूद गजनवी का भांजा माना जाता है। जेहाद यानी धर्म युद्ध की भावना से इसने इस देश को खूब रौंदा था। अवध में सैयद सलार मसूद कई पीढ़ियों के लिये भय और आतंक का पर्याय बन गया था। उसने अयोध्या आदि अनेक स्थानों का नाश किया। अन्त में सन **1034** ई0 में भर राजा सुहल देव के हाथों उसकी मृत्यु हुई।

बहराइच क्षेत्र उत्तर कोशल के नाम से प्राचीन इतिहास में प्रसिद्ध है। भगवान राम के पुत्र लव इस क्षेत्र के राजा कहे जाते हैं। श्रावस्ती भी इसी क्षेत्र में है। इस बहराइच नगर का महत्व भरों ने भी खूब बढ़ाया। इसी नगर में सैयद सालार की दरगाह भी है जहाँ प्रति वर्ष भक्तों की भेंट पूजा की चढ़त से लाखों

''जब से बाबर ने विक्रमादित्य द्वारा बनवाये हुए राम जन्म स्थान मन्दिर को तोड़ा तब से वहाँ बराबर अशान्ति बनी रही। हिन्दुओं का प्रबल पराक्रम एवं विरोध देख कर अकबर ने पुराने मन्दिर के खण्डहर पर मस्जिद के पास ही एक चबूतरा बना कर भगवान राम की मूर्ति प्रतिष्ठापित करने की आज्ञा दे दी थी किन्तु औरंगजेब की धर्मान्धता ने फिर से आग भड़का दी।

नवाब वाजिद अली शाह के समय में वहाँ बड़ा झगड़ा उठ खड़ा हुआ। इस झगड़े का उल्लेख पुराने अवध गजेटियर में, रुदौली से सम्बन्धित लेख में, बाराबंकी के जिला गजेटियर में, सैयद कमालुद्दीन हैदर के 'सवानहान–ए –सलातीने–अवध' में तथा अमृत लाल नागर की खोजपूर्ण पुस्तक 'गदर के फूल' में है। अवध गजेटियर के अनुसार **20** जून सन **1902** को लखनऊ के 'पायनियर' में थामस काटाइया के हस्ताक्षर से 'एन एपीसोड इन अवध हिस्ट्री'' शीर्षक के अन्तर्गत एक लेख प्रकाशित हुआ था। यह घटना अवध राज्य के जब्त किये जाने के कुछ ही समय पूर्व सन **1853** ईसवी में घटित हुई थी। इस लेख के अनुसार झगड़े की जड़ हनुमान गढ़ी का ही एक वैरागी था। अयोध्या में जन्म स्थान को ले कर समय–समय पर अयोध्या के हिन्दू धर्माचार्यों और मुसलमानों के बीच विवाद उत्पन्न होते रहे हैं। जन्म स्थान पर बनी मस्जिद को हिन्दू बाबर द्वारा मन्दिर को ही तोड़ कर बनायी गयी मस्जिद कहते रहे। वहाँ औरंगजेब तथा अन्य लोगों द्वारा भी मस्जिदें बनवायीं गयी थीं और उनमें से कुछ कभी की नष्ट भी हो चुकी थीं। इस भूमि को चूंकि हिन्दुओं द्वारा विशेष रूप से पवित्र माना जाता था अतः वैरागियों तथा अन्य लोगों ने इस पर कब्जा कर लिया जिससे विवाद का एक नया आधार पैदा हो गया। पायनियर के लेख के अनुसार उस वैरागी को हनुमान गढ़ी के महन्त ने किसी कारणवश क्रुद्ध हो कर अखाड़े से निकाल दिया था। बदले की भावना के कारण अपना धर्म परिवर्तन कर के वह मुसलमान हो गया। लखनऊ आ कर उसने यह अफवाह फैलाई कि वैरागी लोग मस्जिद को भूमिसात करने का आयोजन कर रहे हैं। अमेठी निवासी एक फकीर मौलवी अमीर अली यह सुन कर उत्तेजित हो उठा। ''वह उन दिनों लखनऊ में रहता था। उसने चाहा कि वह इस्लाम की बेइज्ज़ती का बदला ले। चुनांचे पहले संडीले में लोगों ने मुसलमानों के मौलवियों की तहरीक से काफी शोर–शराबे के बाद जेहाद पर कमर बाँधी। कुछ लोगों ने मना भी किया कि यह जोश–खरोश अच्छा नहीं। इससे आखिर में हाकिम वक्त से मुकाबला हो जायेगा, फिर कुछ न बन पड़ेगा बल्कि सबके लिये मज़हब की बेइज्ज़ती जरूर हो जायेगी, मगर

की आमदनी होती है। जहाँ दरगाह बनी है वहाँ कहते हैं पहले सूर्य कुंड और सूर्य मन्दिर था। बहराइच में नव ग्रहों के मन्दिर थे जो अब पीरों की मजारें हैं। शहर में कई छोटे बड़े मन्दिरनुमा मजार हैं। सुकरू पीर, हठीले पीर व अन्य पीरों के नाम इन मजारों के साथ जुड़े हुए हैं। कहा जाता है कि सुकरू पीर शुक्र मन्दिर में स्थापित है और हठीले पीर मंगल मन्दिर में स्थापित है।

– गदर के फूल – अमृत लाल नागर–पृष्ठ–**89–90**

एक ने भी उनकी बात न सुनी। मौलवी साहब के सर पर अजल तो आ ही गयी थी। जब वाजिद अली शाह को इसका पता चला तो शाह जमजाह से अर्ज़ की कि मैं तो हर चन्द चाहता हूँ कि मग्द फसाद किसी हिक्मते अमली से मौकूफ हो जाये लेकिन खानाज़ाद सल्तनत यानी ख्वाजासरा पीरदागफलत में बानी मुबानी इस फसाद के होते हैं। मौलवी अमीर अली मीर मुंशी मुतवस्सिल बशीरूद्दौला के अजीजों से है। वह चाहता है कि आतिशे–फितना फसाद को खूब भड़काये और मुफ्त में मेरी बदनामी हो और नारसाई जाहिर हो। बशीरुद्दौला जब इससे वाकिफ हुए, अपने रफये–इल्जाम के वास्ते मौलवी साहब को बुलवा भेजा और अपने साथ हुजूर आलम (वाजिद अली शाह) के पास ले गये। उन्हों ने सब तरह से समझाया और चाहा कि खिलअत सरफराजी दे कर रुखसत करें, लेकिन मौलवी न माना, न खिलअत लिया और न जेहाद से हाथ उठाया। आखिर उसी रात मौलवी साहब को उनके घर भेजा और उनका निकल जाना अपने लिये अच्छा समझा।'[1]

पर पायनियर के लेख का अंग्रेज लेखक कहता है कि वाजिद अली शाह ने छिपे तौर पर उसे उकसाया और जाहिरा तौर पर फैजाबाद से इस संबंध में सरकारी रिपोर्ट मंगवाई। धार्मिक उन्माद को उभरने देने के खतरों को देखते हुए नवाब ने खुले आम यह घोषणा की कि कोई हिंसात्मक कार्यवाही न की जाय बल्कि विवादित मस्जिद का कब्ज़ा वापस कर दिया जाय, पर मौलवी इससे संतुष्ट न हुआ और मुजाहिदीन की सेना ले कर बाराबंकी जिले में सफदरगंज से तीन मील दूर एक गांव बांसा में बढ़ आया। यहाँ उसने कुछ और मुसलमानों को इकट्ठा किया। इस पर वाजिद अली शाह ने रेजीडेंट सर जेम्स आउट्रम से सहायता मांगी तथा कुछ मुफ्ती–धार्मिक उपदेशक– जेहाद व्रतधारी धर्मान्ध जनता को समझाने बुझाने के लिये भेजे। ये मुफ्ती लोग मुजाहिदीनों की संख्या घटाने में बहुत सफल हुए। मौलवी अमीर अली तब भी न माना तो वाजिद अली शाह ने आउट्रम को जिस तरह भी हो सके, मामले को रफा दफा करने का हुक्म दे दिया।

इसके बाद एक बड़ी फौज बांसा भेजने के लिये हुक्म भेजा गया। मौलवी मस्जिद का कब्जा वापस पाने की शर्त के अलावा अन्य किसी बात पर पीछे हटने को तैयार न था।

गवर्नर की कौंसिल ने सुझाव दिया था कि इस मामले में कार्यवाही सिर्फ नवाब द्वारा ही मुमकिन है इस लिये नवाब को कुछ भी न करने का बहाना मिल गया था (ऐसा गजेटियर कहता है)। दूसरी ओर मौलवी ने एक महीना इंतजार करने के बाद जब देखा कि कोई कार्यवाही नहीं हो रही है तो दरियाबाद पहुँच गया और वहाँ करीब 20 दिन रुका रहा। इसी अवधि में वाजिद अली शाह ने वहाँ चार मुफ्ती भेजे थे जिन्हों ने मुजाहिदों की संख्या करीब आधी घटा दी लेकिन बाकी लोग मौलवी के साथ डटे रहे और अयोध्या कूच करने का मौका

1. सवानहाल–ए–सलातीन ए–अवध–सय्यद कमालउद्दीन हैदर

ताकने लगे, जहाँ उनका इरादा हनुमान गढ़ी को नष्ट कर देने का था। आउट्रम ने कर्नल बर्लो की कमान में अवध इर्रेगुलर इनफैन्ट्री की पहली रेजीमेन्ट भेजी थी जो अवध के नवाब की ओर से अंग्रेजों के अधीन रखी गयी सब्सीडियरी फौज की ही रेजीमेंट थी, जिसका खर्चा नवाब से ही लिया जाता था। कर्नल बर्लो के साथ रामपुर के राय अभयराम बाली की फौज भी थी। हयात नगर के पास पुगौली में बर्लो का अमीर अली से सामना हुआ। अमीर अली के साथ करीब 2,000 आदमी थे जब कि नवाब की इस फौज में एक रेजीमेन्ट तथा दो तोपें थीं। मैदान में बर्लो ने अमीर अली के मुजाहिदीनों पर तोप दागने का हुक्म दिया तो मौलवी से मज़हबी हमदर्दी के कारण उसके मुसलमान गोलन्दाज ने बड़े गोलों के बजाय छर्रे वाले गोले दागे। यह देख कर बर्लो ने तुरन्त उस गोलन्दाज को वहीं मार दिया और खुद तोप से गोले दागे। घमासान लड़ाई हुई जो शीघ्र ही मुँह दर मुँह की लड़ाई में बदल गयी और करीब तीन घंटे तक चलती रही। कर्नल बर्लो ने तब बगली हमला किया और कमियार के शेर बहादुर सिंह, ठाकुर सिंह तथा अभयराम बाली के मौका देख रहे सिपाहियों ने मुजाहिदीनों को चारों तरफ से घेर लिया। मुजाहिदीन तब भागे पर उनमें से बहुत से मारे गये। करीब 120 से 700 के बीच मुजाहिदीन खेत रहे और पहली इनफैन्ट्री करीब पूरी तरह नष्ट हो गयी। अमीर अली वजू करते वक्त मारा गया और उसका सर नवाब के पास लखनऊ भेज दिया गया। अवध राज्य की ज़ब्ती के बाद कुछ सालों तक तो मौलवी की याद में रुदौली के रहीमगंज में मेला लगता रहा पर बाद में खत्म हो गया।

वैरागियों का सिपाहियाना अखाड़ा

जहाँ तक वैरागियों का प्रश्न है मुसलमानी काल में वैष्णव वैरागियों के अखाड़े ही सैनिकों के अड्डे हो गये थे। सन्त समाज में इस सैनिक प्रजा का समावेश होना ऊपरी दृष्टि से देखने पर सचमुच अजीब ही लगता है परन्तु यह उस काल की एक आवश्यक और प्रगतिशील राष्ट्रीय शक्ति थी। झूठा राम श्याम जप कर आक्रमणकारियों–आतताइयों द्वारा अपना सर्वनाश देखते बैठे रहना निहायत शर्म की बात थी। कायर होना अहिंसा की निशानी नहीं। नाम जपने वाले सन्तों का ही एक दल बाद में सिक्ख जाति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैरागी इस प्रकार जाति नहीं बने, उनमें जमातें बहुत सी बन गयीं। सन्त सम्प्रदाय जाति पाँति में विश्वास नहीं करता था। इसी कारण सवर्ण हिन्दू सदा उसका विरोध करते आये। जहाँ इन सन्तों के अनुयायी बड़ी संख्या में हो गये, वहाँ सनातनियों ने उनके साथ रोटी बेटी का व्यवहार छोड़ दिया। वैरागी एक जाति तो न बन सके परन्तु कर्त्तव्यवश उपजी हुई उनकी भावना रूढ़ हो कर बाद में एक प्रकार की गुण्डागीरी अवश्य बन गयी। इस बात के अनेक प्रमाण हैं कि मध्यकाल में ये सैनिक वैरागी अखाड़े सामन्तों की आपसी लड़ाइयों में किराये के सिपाही बन कर जाया करते थे।'[1] यही कारण था कि मस्जिद पर हमले की अफवाह बहुत शीघ्र चारों तरफ जोर पकड़ गयी।

1. गदर के फूल – अमृत लाल नागर–पृष्ठ–51–52

इस घटना के 50 वर्ष बाद पायनियर वाले लेख के अंग्रेज लेखक ने इस प्रकार का जो जहर बुझा संकेत फेंका वह अपनी सतह पर ही सरासर झूठ था। वाजिद अली शाह तअस्सुबी मुसलमान न था। उसके द्वारा रचित नाटक में "राम चन्द्र की जय" के नारे और "कृष्ण भक्त जोगिन" इस बात का प्रमाण है। उसकी श्रृंगार प्रियता ने होली दिवाली जैसे त्यौहारों को अपना लिया था। उसकी विलासी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में तो लखनऊ के बड़े बूढ़ों में अनेक कहावतें चली आ रही हैं पर उसकी साम्प्रदायिकता के सम्बन्ध में एक घटना को छोड़ कर और कुछ नहीं सुना गया। उसमें भी चौक के कम्पनी बाग में वाजिद अली शाह के अफसरों ने जौहरियों का एक मन्दिर खुदवा डाला था। जिसकी शिकायत मड़ियाँव में सर हेनरी लारेन्स के पास तक हुई थी। बादशाह के जौहरी महताब राय के कहने सुनने और बीच में पड़ने से मामला सुलझ गया था। इस घटना का उल्लेख सैयद कमालउद्दीन हैदर लिखित "सवानहाल–ए–सलातीन–ए–अवध" में भी है जो निश्चित ही अंग्रेजों के खैरख्वाह ब्रिटिश पेंशनर थे। उन्हों ने कहीं भी यह नहीं लिखा है कि वाजिद अली शाह ने दंगे को भड़काने के लिये मौलवी अमीर अली की पीठ पर हाथ रखा।[1]

ब्रिटिश कूटनीति

असलियत तो यह थी कि वाजिद अली शाह खुद झगड़े फसाद से कोसों दूर भागता था। अतः उक्त लेख का जहर बुझा संकेत भारत के ब्रिटिश इतिहास के नाम पर भारतीय जन मानस को कुटिलता से मलिन करने के दुष्प्रयास के अलावा अन्य कुछ नहीं है। यह प्रवृत्ति आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी में भारतीय इतिहास के रीडर रहे सी0 कालिन डेवीज में आज भी पायी जाती है। उन्हों ने तो भारत के प्राचीन इतिहास की प्रमाणिकता पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। वे कहते है :–

"भारतीय इतिहास का निश्चित रूप से ज्ञात समय तो ईसा पूर्व 326 ईसवी में हुए सिकन्दर महान के आक्रमण का समय ही है और उत्तरी भारत का तारीखवार इतिहास तो लगभग ईसा पूर्व सातवीं सदी से ही प्रारम्भ होता है।"[2]

1. यह प्रसंग जिला गजेटियर बाराबंकी पृष्ठ 169–170, पुराना अवध गजेटियर के रुदौली पर लेख, सैयद कमालउद्दीन हैदर की पं सवानहाल–ए–सलातीन–ए–अवध, पं अमृत लाल नागर की खोजपूर्ण पुस्तक 'गदर के फूल' पृष्ठ 50–52 तथा 70–71 के आधार पर संकलित किया गया है।

2 The earliest date known for certain in Indian History is the invasion of Alexander the Great in 326 B.C. and that approximate chronology for Northern India begins in the seventh centuary B.C.

- An Historical Atlas of the Indian Peninsula
- C- Collin Davies (Oxford University Press) - Page (6)

अर्थात ईसा पूर्व सातवीं सदी से पहले का भारत का इतिहास निश्चित रूप से तारीखवार न होने से प्रमाणिक नहीं है।

प्रसंग की तत्कालीन स्थिति के अनुसार वास्तविकता तो यह है कि "26 जून, 1857 को फैजाबाद की धारा पर स्थित बादशाही मस्जिद में मुसलमानों की एक बड़ी भारी सभा बुलायी गयी थी जिसका आयोजन भारत के सम्राट बहादुर शाह जफर के दामाद मिर्ज़ा इलाहीबख्श ने किया था जो उस समय अंग्रेजों के दाहिने हाथ थे। मिर्जा ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हुकूमत की हिमायत करने आये थे पर सभा में उसका असर उल्टा ही हो गया तो मिर्जा साहब जान बचा कर भाग निकले। फिर उत्तेजित भीड़ को शांत करते हुए हसनू कटरा के अमीर अली ने भाषण दिया। उसके उत्तेजनात्मक भाषण का मुसलमानों पर भारी असर पड़ा और वे हिन्दू मुस्लिम इत्तहाद की जड़ें मजबूत करने की भावना से राम जन्म भूमि मन्दिर को, जिसे जमींदोज़ कर के बादशाह बाबर ने मस्जिद बनवाई थी, हिन्दुओं को वापस देने को बाखुशी राजी हो गये। यह खबर कम्पनी के जासूसों ने खूब रंग चढ़ा कर अंग्रेजों के पास पहुँचायी। इस खबर से अंग्रेजों के होश उड़ गये। बाबा रामचरण दास और अमीर अली का यह सत्प्रयत्न अंग्रेजों की कूटनीति के कारण विफल हो गया तथा 18 मार्च सन् 1858 को कुबेर टीले पर स्थित एक इमली के पेड़ पर दोनों देश भक्तों को अंग्रेजों ने फांसी पर लटका दिया। जनता बहुत दिनों तक उस पेड़ की पूजा करती रही किंतु सन 1935 में 28 जनवरी को फैजाबाद के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर मिस्टर जे0 पी0 निकल्सन ने उस पेड़ को जड़ से कटवा डाला और इस प्रकार फैजाबाद और अयोध्या के इन दो प्रातः स्मरणीय वीरों की स्मृति अंग्रेजों के मनहूस हाथों द्वारा मिटा डाली गयी।"[1]

ईसा पूर्व की पन्द्रहवीं शताब्दी से ले कर ईसा के बाद की 15 वीं शताब्दी तक का अयोध्या का इतिहास ऐतिहासिक गुमनामी का ही इतिहास है। सुनने में यह अविश्वसनीय तो लगता है, पर है यह सत्य ही, क्योंकि इस अवधि की कोई भी लिखित या अन्य प्रकार की जानकारी उपलब्ध नहीं है। यहाँ पहले कन्नौज का राजवंश, मुसलमानों और राजपूतों के आक्रमण, फिर मुगल साम्राज्य का प्रसार और अवध का शिया राजतंत्र, उसके बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हुकूमत अवध के आकाश में एक के बाद एक थोड़े–थोड़े समय के लिये छाये रहे। फिर उसके बाद 15 अगस्त, 1947 को ब्रिटिश राज्य का भी खात्मा हो गया। यूनियन जैक उतार कर जब तिरंगा फहराया गया तब तक अवध, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध बन चुका था।

अंग्रेजों की विरासत यू0पी0–एक अनाम का नाम

हर्ष वर्धन के समय से ले कर आज तक की अंग्रेजों की विरासत की देन यह यू0पी0 स्वयं अपने आप से समझौता नहीं कर सका। संसार का प्रत्येक पाँचवां व्यक्ति भारतीय है और हिन्दुस्तान का हर पाँचवां आदमी यू0पी0 में रहता

1. गदर के फूल – अमृत लाल नागर–पृष्ठ–67–68

है। अगर यही यू0पी0 एक स्वतंत्र देश होता तो यह दुनियाँ का सातवां बड़ा
मुल्क होता, मगर इसके भाग्य की विडम्बना देखिये कि आजादी के बाद भी
भारत के नये कर्णधार इस दूर–दूर तक फैली अंग्रेजों की पुरानी विरासत को
उसका अपना एक नाम तक नहीं दे सके। डा0 सम्पूर्णानन्द चाहते थे कि इस
प्रदेश का नाम आर्यावर्त रख दिया जाय किन्तु इसी प्रदेश के प्रयाग राज तीर्थ
में जन्मे प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू का अंग्रेजी–दाँ मन मुख्यमंत्री की
राय जानते ही उखड़ गया और वही विद्रोह कर बैठे। शताब्दियों से अवध,
बनारस, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, देवतुल्य हिमाच्छादित कूर्मांचल के टुकड़ों एवं
अनेक रियासतों को जोड़ तोड़ कर बना यह प्रदेश अंग्रेजी में यूनाइटेड प्राविंसेज
(संयुक्त प्रान्त) पर भी एक और चेहरा (आगरा) लगाये जी रहा था। इस लम्बे
चौड़े नाम वाले चेहरे को अंग्रेजी में यू0पी0 के संक्षिप्त नाम से ही पुकारने व
लिखने में सुविधा होती थी। प्रधानमंत्री के अंग्रेज मन ने जीभ व कलम की इस
सुविधा को छोड़ना स्वीकार न किया। इसी लिये यह प्रदेश यू0पी0 का ही चेहरा
लगाये रह गया और केवल जबान की सुविधा के लिये इसी यू0पी के चेहरे को
उत्तर प्रदेश का मुखौटा दे दिया गया ताकि अंग्रेजी में यू0पी0 को बदलना न
पड़े। भारत के उत्तर में तो यह प्रदेश था ही नहीं। इससे भी एक हजार
किलोमीटर ऊपर उत्तर में स्वयं प्रधानमंत्री पंडित जवाहर लाल नेहरू के पूर्वजों
का जन्म स्थान काशमीर मौजूद था। अतः उत्तर प्रदेश की तो संज्ञा ही भौगोलिक
रूप से गलत थी लेकिन अंग्रेजी नफासत पसंदों को संक्षिप्तीकरण की सुविधा
में ही खुशी थी, अतः वह खुशी ही कायम रह गयी। बाकी सब कुछ उल्टा हो
गया। इसी लिये लोग आज भी यू0पी0 को मजाक में उत्तर प्रदेश के बजाय
उलटा प्रदेश कह कर पुकारते हैं और कहते है कि ''यू0पी0 को भारत में राखो,
उलटा प्रदेश नाम है जाको'' क्योंकि एक बंगाली, बिहारी, गुजराती या तमिल की
तरह इसके चेहरे पर अपनी कोई पहचान नहीं है। इसका तो नाम भी नकली है
और पहचान भी उलटी है। यह उत्तर प्रदेश कहलाता है पर भारत के धुर उत्तर
में नहीं है। यह भारत की वैदिक संस्कृति का केन्द्र, भारतीय मुस्लिम सभ्यता का
पालना, भारत के स्वतंत्रता संग्राम की प्रयोगशाला रही है पर इसमें जन्मे व्यक्ति
की अपनी पहचान का कोई चेहरा नहीं है। वह अपने चेहरे पर किसी भी केन्द्र,
सभ्यता या प्रयोगशाला का ठप्पा नहीं लगाता।

व्यक्ति और संस्कृति से पहचान–आबादी का वज़न

सन 1991 की जनगणना के अनुसार उत्तर प्रदेश की जनसंख्या
(13,90,31,130) भारत की जनसंख्या (84,43,24,333) की 16.44 प्रतिशत है
और यहाँ भारत के 267 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर घनत्व की तुलना में 471
आदमी प्रति वर्ग किलोमीटर में आबाद हैं। स्वयं इस प्रदेश की राजधानी
लखनऊ देश में 11वें नम्बर पर आती है पर इस प्रदेश की अपनी कोई अलग
पहचान नहीं बनी है। यहाँ से जितने व्यक्ति और संस्कृति बाहर बिखरती है, वही
इसकी पहचान है।

(2) क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा

सबसे प्राचीन हिन्दू राज्य अवध

अवध राज्य को भारतीय वेदों, पुराणों, शास्त्रों तथा लौकिक परम्पराओं एवं जन श्रुतियों के अनुसार सबसे प्राचीन हिन्दू राज्य माना जाता है। हमारे शास्त्रों के अनुसार सृष्टि प्रलय के बाद महाराज वैवस्वत मनु ने ही अयोध्या नगरी को बसाया था जो प्राचीन कोशल राज्य की राजधानी थी। उस समय के इतिहास का आधार हमारा वैदिक–पौराणिक साहित्य, महाकाव्य तथा अन्य उपाख्यान साहित्य ही है। लोकमान्य तिलक, एच0 सी0 राय चौधरी, एफ0 जी0 प्रागिटर, मैक्समूलर [1] आदि जैसे अनेक विद्वानों ने इस प्राचीनतम संस्कृति का दिग्दर्शन कराया है जिससे भारतीय संस्कृति की उच्चता, महानता तथा विशालता स्वयं ही सिद्ध हो जाती है किन्तु दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह से ग्रस्त अनेक पश्चिमी विद्वान जिन्हों ने इस विषय पर कलम चलायी है, भारतीय संस्कृति में केवल दोष एवं कमियाँ खोजते नजर आते हैं। इन अंग्रेज तथा अन्य यूरोपीय इतिहासकारों तथा कुतर्कशास्त्रियों की भारतीय संस्कृति को निकृष्ट सिद्ध करने की चेष्टा के बावजूद भारतीय जनमानस की आस्था अपने इतिहास में लाखों विरोधाभासों के बावजूद रत्ती भर भी कम नहीं हुई है। अपनी सभ्यता को उत्कृष्ट एवं दूसरों की सभ्यता को निकृष्ट सिद्ध करने के इन प्रयासों में सर्वत्र अंतर्विरोध बिखरा पड़ा है जिसका न तो कोई उत्तर है और न कोई विकल्प।

स्वयं भारतीय संस्कृति में पलने वाले विद्वान भी जब इन्हीं पश्चिमी शास्त्रियों के कुतर्कों का अंधानुकरण करने लगते हैं तो वह इनके अंतर्द्वन्द एवं विरोधाभासों से भी परिचित होते हैं और तभी उन्हें अपनी संस्कृति की उत्कृष्टता का पता चलता है और वास्तविक सत्य की पहचान होती है। सत्य के दर्शन के लिये हमें विदेशी सहारे की जरूरत नहीं है। अपने अतीत में झाँकने के लिये हमें विदेशी आंख का चश्मा पहनना अनिवार्य नहीं है।

वास्तविकता तो यह है कि तर्क का प्रतिष्ठान, टिकाव नहीं होता। तर्क तो बे पेंदी का लोटा है। यह खण्डन के लिये उपयोगी उपकरण है परन्तु इसके द्वारा मण्डन नहीं हो सकता। सत्य की स्थापना के लिये तो श्रृद्धा चाहिये। यह एक सर्वमान्य तथ्य है।

श्रृद्धा रहित तर्क तो एक साधारण मनुष्य को भी अनेक दिशायें दिखा देता है। अविश्वास में बिखेरने की शक्ति भले ही हो पर समेटने की शक्ति नहीं है। ज्ञान के लिये तर्क प्रश्न तो आवश्यक है। इसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। स्वयं वेद सृष्टि का पहला प्रश्न पूछता है :

1. पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐनशियेंट इण्डिया–एच0सी0राय चौधरी (1932), ऐनशियेंट इंडियन हिस्टारिकल ट्रैडीशन–एफ0जी0 प्रागिटर (1922), आक्सफोर्ड सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट–मैक्सम्यूलर, दि अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया–विन्सेन्ट ए स्मिथ–चतुर्थ संस्करण–एस0एम0 एडवर्ड्स द्वारा पुनरीक्षित–आक्सफोर्ड–1924

1. को अद्धा वेद–ठीक–ठीक कौन जानता है?

2. क इह प्र वोचत्–इस विषय में कौन कह सकता है?

3. कुतः आजाता–कहाँ से उत्पन्न हुए ?

4. कुत इयं विसृष्टिः– कहाँ से यह विशेष रूप वाली सृष्टि हुई? फिर स्वयं ही स्थिति, वास्तविक सत्य को, तर्क को उपस्थित करता है : अस्य विसर्जनेन देवाः अर्वाक–इस सृष्टि रचना की तुलना में विद्वान बाद के है।

इस वास्तविकता, सत्य से ही प्रथम सत्य की स्थापना हो जाती है। अथ को वेद, यतः आबभूव – और कौन जानता है, जहाँ से संसार प्रकट हुआ।

(अर्थात कोई भी नहीं जानता)

(ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 129, ऋचा 6)

इस प्रकार वेद स्पष्ट कर देता है कि सृष्टि रचना प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अनुमान और शब्द प्रमाण ही इसमें प्रधान है। इसी लिये आगे इसी सूक्त की 7 वीं ऋचा में कहा है–

"यह विशेष रचना जहाँ से प्रकट हुई, व जो इसे धारण करता है अथवा नहीं धारण करता है, जो इस सृष्टि का स्वामी परम व्योम में है, हे मित्र, जिज्ञासु, वह जानता है (फिर स्वयं ही प्रश्न करता है) क्या नहीं जानता है? और उत्तर भी स्वयं ही दे देता है–अपश्यत्, अर्थात जानता है

इस लिये यह सत्य स्थापित हो जाता है कि सत्य की स्थापना के लिये श्रद्धा चाहिये। बिना श्रद्धा के सत्य की स्थापना नहीं हो सकती और न ज्ञान की ही प्राप्ति होती है। अतः सत्य ज्ञान के लिये श्रद्धा आवश्यक है। इसी मूल प्रश्न–उत्तर के आधार पर उपनिषद कहता है 'तस्मिन् ह विज्ञाने सर्वमिदं विज्ञानं भवति'–सृष्टि का मर्म जानने की अपेक्षा ब्रह्मा को जानो। उसके जान लेने पर सब का ज्ञान हो जायेगा। इस सूक्त में दर्शन के मौलिक विचार भगवान ने मनुष्य मात्र को दिये हैं। इन्हीं का विकास मनुष्य नाना रूप में करता रहा है। यही वास्तविक ज्ञान है। दर्शन का मूल रूप तो सृष्टि और उसकी रचना का विचार ही है।

एक लोकोक्ति है–'ज्ञानी ज्ञानी से लड़ै, ज्ञान सवाया होय। ज्ञानी मूरख से लड़ै, तुरत लड़ाई होय'। अर्थात जब सत्य का खोजी विद्वान किसी दूसरे सत्य के खोजी सत्यान्वेषक से तर्क करता है तो सत्य ज्ञान की वृद्धि होती है, किन्तु किसी दुराग्रही अन्वेषक से तर्क करने पर केवल विवाद उत्पन्न होते हैं। अंग्रेज तथा अनेक योरोपीय विद्वानों के सम्बन्ध में तथा उनके भारतीय अनुयायियों के साथ यही वास्तविकता यथार्थ में घटित होती है।

पूर्व के तो छोड़ दीजिये, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में भारतीय इतिहास के आज के एक विद्वान प्रोफेसर सी0 कालिन डेवीज का एक उदाहरण लीजिये।

एक ओर तो वे भारतीय पौराणिक इतिहास को ही नकारते हैं और उसे कल्पना मानते हुए कहते हैं:

"वेदों, आख्यानों और पौराणिक साहित्य के आधार पर भारत का मानचित्र बनाना उचित नहीं है क्योंकि इतिहास को विभिन्न काल की घटनाओं से अलग नहीं किया जा सकता। उत्तरी भारत का तथ्यात्मक इतिहास तो ईसा पूर्व की सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है और दक्षिण भारत का तो उसके भी काफी बाद से। भारतीय इतिहास क्रम तो स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही प्रारम्भ होता है जिनके बारे में यूनानी लेखकों ने लिखा है। [1]

अर्थात यूनानी लेखकों द्वारा सिकन्दर के समय लिखे गये विवरणों के अलावा उसके पूर्व का सारा विवरण अमान्य है। आगे वह पुनः लिखते है:

"भारतीय इतिहास की निश्चित रूप से ज्ञात तारीख सिकन्दर महान का 326 ईसवी पूर्व में हुआ आक्रमण है–सातवीं सदी ईसा पूर्व में उत्तरी भारत तथा दक्षिण भारत का कुछ अंश 16 महाजनपदों (बौद्धिक अंगुत्तर निकाय) में बंटा था। दक्षिण भारत के बारे में निश्चित रूप से कोई तथ्य सामने नहीं आया है पर हम यह मान सकते है कि वहाँ पारम्परिक तमिल राज्य विद्यमान थे। उत्तरी भारत में 16 प्रमुख शक्तियाँ थीं।" [1]

"बौद्ध धर्म का उदय होने के समय कोई प्रमुख शक्ति नहीं थी किन्तु बड़े साम्राज्य छोटे राज्यों को निगल रहे थे। सबसे अधिक महत्वपूर्ण राज्य मगध, कोशल, वत्स और अवन्ती थे जिनमें मगध राज्य ही बाद में उत्तरी भारत का सर्वशक्तिमान राज्य बना। इनके अलावा छोटे–छोटे गणराज्य भी थे जिन पर

1- "Though much valuable research has been done by F. G. Pragiter in his Ancient Indian Historical Tradition (1922) and by H. Ray Chaudhary in the Political History of Ancient India (1932) , it has been thought inadvisable to include maps based on a knowledge of Vedic, Epic and Pauranic literature, as history can not be divorced from chronology. Approximate chronology for Northern India begins in the seventh century B.C. for Southern India at a much later date. The chronology of India has been built up from the identification of the Sandracottus of the Greek writers with Chandragupta Maurya. The earliest date known for certain in Indian History is the invasion of Alexander the Great in 326 B.C."

"In the seventh centuary B.C. Northern India and part of the Deccan were divided into sixteen principalities, the sixteen Mahajanapadas of the Buddhist Anguttara Nikaya. Of Southern India nothing definite has come to light, but we may suppose that the traditional Tamil Kingdoms were in existence. The sixteen great powers of Northern India were"
1. Anga, 2- Magadha, 3. Kasi, 4, Kosala, 5. Vajji, 7. Malla, 8. Vatsa, 9. Kuru, 10. Panchala, 11. Matsya, 12. Surasena, 13. Asmaka, 14. Avanti, 15. Gandhara, 16. Kamboja
-An Historical Atlas of the Indian Peninsula
- C- Collin Davies-Page(6) (Oxford University Press)

जनता के प्रतिनिधि शासन करते थे। छठी शताब्दी ईसवीं पूर्व में कोशल के पूर्व में हिमालय तथा गंगा के बीच शाक्य, बुली, कलमास, भग्ग, कौलिय, मौर्य, पव तथा कुशीनारा के मल्य, मिथिला के विदेह और वैशाली की लिच्छवी जातियाँ थीं। गांधार, फारस, के दारूस के साम्राज्य में मिला लिया गया था जिसमें 20 सत्रपियाँ थीं। इन भारतीय सत्रपों के राज्य की सीमाओं का ठीक–ठीक छायांकन तो नहीं किया जा सकता किन्तु संभवतः इनमें सिंधु नदी की घाटी तथा पंजाब के कुछ अंश सम्मिलित थे। यह सत्रप करीब 10 लाख पौण्ड से अधिक की रकम सालाना नज़र के रूप में दारूस को भेंट करते थें।'' आगे वह यह भी कहते हैं कि ''विद्वान कम्बोज को किसी निश्चितता के साथ नहीं खोज सके हैं। लगभग 500 ई0पू0 में लिखी पुस्तक ''निरुक्त'' हमें बताती है कि कम्बोजों की बोली साधारण भारतीय बोलियों से भिन्न थी। यह कम्बोज जातियाँ भारत की उत्तर पश्चिमी सीमा पर बसती थीं और कम्बोज कहलाती थीं।[1] ऐसा दृष्टिकोण अपनाते हुए भी यही सी0 कालिन डेवीज जब स्वयं अपने अन्तविरोधों का सामना करते हैं, तो लिखते हैं :

कभी–कभी पाठ्य पुस्तकों में कहा जाता है कि यूनानियों के आक्रमण से भारत के बड़े भू–भाग में एक छत्र साम्राज्य स्थापित करने की भावना को बल मिला। इस कथन का खण्डन तो इसी सत्य से हो जाता है कि चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना का स्वरूप वैदिक काल में काफी परिचित था और अश्वमेध यज्ञ का प्रचार सिकन्दर से बहुत पहले हो चुका था।''

1. "When Buddhism arose there was no paramount power, but the larger kingdoms were beginning to absorb the smaller. The most important kingdoms were Magadha, Kosala, Vatsa and Avanti. Eventually, as we shall see, Magadha was to become the paramount power in Northern India. In addition to the Kingdoms we learn of the existence of republican clans ruled by popular assemblies. In the sixth centuary B.C. the country to the east of Kosala, between the Himalayas and the Ganges, was the home of the following clans: the Sakiyas, Bulis, Kalamas, Bhaggas, Koliyas, Moriyas, the Mallas of Pava and Kusinara, the Videhas of Mithilla and the Licchavis of Vesali.

Gandhara had been annexed to the Persian Empire of Darius which consisted of twenty Satrapies. The exact limits of the Indian Satrapy can not be determined, but it probably comprised the Indus Valley and parts of Punjab. It was the richest of the Satrapies, paying an annual tribute in gold dust of 360 Euboic talents, equivalent to over a million pounds sterling.

Scholars have been unable to indentify Kambooja with any certainty. The Nirukta a text of about 500 B.C. tells us that the speech of the Kambojas differed from ordinary Indian speech, referring doubtless to the tribes living north-west of the Indus who bore that name. (Cambridge History of India, Vol. 1, Page, 117)

- An Historical Atlas of the Indian Peninsula

-C-Collin Davies -Introduction page(6)

वे यह भी मानते है कि ''भौगोलिक स्थिति के कारण एवं दूरी की वजह से उत्तरी भारत तथा दक्षिण भारत का इतिहास भी तब तक भिन्न–भिन्न रहा जब तब विदेशी राष्ट्रों ने समुद्री मार्ग से भारत पर हमला नहीं किया। अंग्रेजो ने समुद्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर के ही भारत में अपना राज्य स्थापित किया और सन 1849 तक भारत की भौगोलिक दूरियों को उत्तर पश्चिम सीमा तक साम्राज्य का विस्तार कर के दोनों की एक ही सीमा रेखा कायम कर दी।''[1]

ऐसे कथनों का तात्पर्य तो यही निकलता है कि भारत का प्राचीन इतिहास प्रमाणिक नहीं है फिर भी उसी इतिहास में पूर्व घटित चक्रवर्ती साम्राज्य का स्वरूप एवं अश्वमेघ यज्ञ द्वारा उसकी स्थापना का प्रयास झुठलाया नहीं जा सकता। भौगोलिक दूरियों को खत्म करने वाले अंग्रेज ही थे। भारत में छोटे–छोटे गणराज्यों की स्थिति तो उस समय भी स्वयं सी0 कालिन डेवीज ने स्वीकार की है, जब चारों ओर राजतंत्र का ही बोलबाला था पर कदाचित यह तथ्य भी किसी महान विचारधारा का सूचक नहीं है। इन्हीं लेखक ने इसी पुस्तक के पृष्ठ 2 पर यहाँ तक कहा है कि भारत की जाति व्यवस्था में वैदिक भारत के क्षत्रियों का तो अब अस्तित्व ही नहीं रह गया है। भारतीय मान्यता संदेहास्पद वंश परम्परा पर आधारित है। प्राचीन क्षत्रिय तो इतिहास से लुप्त ही हो गये क्योंकि विदेशी आक्रामक जातियाँ भारत में आ कर स्थानीय निवासियों से घुल मिल कर अपने को क्षत्रिय कहने लगीं और उन्हीं को क्षत्रिय या राजपूत मान लिया गया जिसमें आदिवासी जनजातियाँ भी शामिल हो गयीं [2] किन्तु उन्होंने प्रिवी कौंसिल, हाई कोर्ट आदि के निर्णयों को, अंग्रेजों द्वारा लिखी गयी जातियों की उत्पत्ति सम्बन्धी पुस्तकों के निष्कर्षों को तथा भारत की सन 1901 की जनगणना में उठे

1.It is often suggested in text books that the Greek invasion under Alexnder gave the impetus to the foundations of a single sovereignty embrassing the greater part of India. This is refuted by the fact that the conception of a Universal Empire is quite familiar in Vedic period. The conception of Chakravartin or Universal Emperor and the implications of the Ashvamedha Sacrifice existed long before Alexander's time-

The influence of geography upon history is very clearly marked in the case of the Deccan and Southern India, which, because of distance and geographical isolation, have a seperate history from that of Northern India, until the intusion of foreign nations by sea-It was not until 1849 that the advance to the north-west frontier made the British political frontier co-terminous with the geographical.

-An Historical Atlas of the IndianPeninsula

-C-Collin Davies-Introduction page (3)

2 मणिपुर की अपने को क्षत्रिय कहने वाली मंगोल जाति, अपने को राजपूत कहने वाली कुछ कोल जातियों के परिवार तथा नेपाल, कांगड़ा एवं उड़ीसा की कुछ जातियाँ ऐसी ही जातियाँ हैं।

–ए0 बेन्स–एथनोलाजी (कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स) 1976 संस्करण–पृष्ठ 30

विवाद एवं अंतिम निर्णय को देखने की आवश्यकता नहीं समझी कि आखिर इनमें किन्हें क्षत्रिय माना गया है और शुद्ध रक्त के क्षत्रिय (खत्रिय) कहा गया है। शायद यह उन्हें पता ही नहीं है कि भारत में कोई खत्रिय (क्षत्रिय) जाति भी बसती है जिसकी संख्या करोड़ों में पहुंचती है। विडम्बना तो यह है कि सी0 कालिन डेवीज अंग्रेजी में भारत का यही इतिहास पढ़वा रहे हैं। अतः ऐसे विद्वानों के मत पर तर्क करने से कोई लाभ नहीं क्योंकि ये ऐसी अंग्रेज जाति के विद्वान के तर्क हैं जो खुद रोमन, डेन, एन्जिल, सैक्सन और नार्मन सभी जाति मिल जुल कर अंग्रेज जाति (इंगलिश नेशन) की ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी बन गयी है। वे खुद अपनी पहचान भूल चुके हैं और जो जाति स्वयं अपनी रक्त शुद्धता का दावा नहीं कर सकती वह दूसरों की जाति पर यदि उंगली उठाये तो इस में आश्चर्य की बात ही क्या है। ऐसे विद्वानों के तर्कों पर तर्क करने से केवल कुंठा और मतिभ्रम उत्पन्न होता है। अतः इनकी उपेक्षा करना और अपने विश्वास पर कायम रहना ही उचित विकल्प है। भारतीय संस्कृति के एक अनन्य विद्वान श्री मधुसूदन जी ने अपने 'पुराणोत्पत्ति प्रसंग' में पुराण शब्द से परिभाष्य अर्थ का निर्देश 'विश्वसृष्टेरितहासः पुराणम्' इस प्रकार किया है। उनके मत में 'पुराण' शब्द केवल पुरातन अर्थ मात्र का ही वाचक नहीं, बल्कि वह विश्वसृष्टि–इतिहास रूप अर्थ में भी परिभाषित है, अर्थात विश्व का इतिहास ही पुराण है। उनके इस मत की स्थिरता आर्य संस्कृति ग्रन्थ से भी होती है।

वास्तव में मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जायगा, जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से ले कर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक किसी देश या जाति की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय, तब तक उस कथा को अधूरी ही समझना चाहिये। इतिहास की यह वास्तविक कल्पना पुराणों में ही घटित होती है। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास–लेखन शैली में उक्त प्रणाली की चिर काल से उपेक्षा कर रखी थी किन्तु इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विचारशील विद्वान एच0 जी0 वेल्स ने ऐसा नहीं किया। उन्हों ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "आउट लाइन आफ हिस्ट्री" में अपने इतिहास की रूपरेखा रचने में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुसरण किया। उन्हों ने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ में मानव समाज का इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनि को प्राप्त करने के पहले मानव को कौन सा रूप धारण करना पड़ा था तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ, इसका अत्यंत रोचक एवं सुन्दर वर्णन उन्हों ने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का या किसी मानव जाति का इतिहास लिखना हो तो सृष्टि के प्रारम्भ तथा उसके मूल तत्व से ही उसके विकास की कथा लिखना ठीक है। इतिहास लिखने का यही आदर्श पौराणिक प्रकार है।

पुराणों की ज्ञानशास्त्रता और विज्ञानशास्त्रता तो पुरंजनोपाख्यान आदि के वचनों से प्रसिद्ध ही है और पुराण को ही "आर्य–सर्वस्व" माना जाता है। काल भेद से इतिहास तथा पुराणों में भेद हो जाता है। अतः अज्ञान के कारण

उनकी अवेहलना महान अज्ञान तथा धर्म की भाषा में पाप भी कही जाती है। सांगोपांग चारों वेदों में पुराणों के बिना यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि वेदों का विज्ञान खगोल, भूगोल एवं लोक वृत्त से सम्बन्ध रखता है। इन विषयों का विज्ञान पुराणों में सुस्पष्टतया वर्णित है। जिन गहन विषयों का विज्ञान वेद तथा स्मृतियों से सहसा ध्यान में नहीं आता, उन विषयों का वर्णन अत्यंत सरल रूप में पुराणों में उपलब्ध हो जाता है। अन्तर इतना है कि वेदों में वर्णित विज्ञान को यहाँ चरित्र का रूप दे दिया गया है तथा इतिहास और पुराणों से वेदार्थ को सरलतया समझा कर वैदिक विज्ञान की दृढ़ प्रतिष्ठा की गयी है।

यह तो सर्वविदित है कि सर्वविधि सृष्टि विज्ञान वेदों में जहाँ तहाँ वर्णित है किन्तु वह प्रकरण बन्धन से छन्दित नहीं है, इसी लिये कोमल बुद्धि वालों के लिये भगवान वेद व्यास ने "इदं प्रथमतया" विभिन्न –विषयक वेद वाक्यों से ज्ञान (आत्म ज्ञान), विज्ञान (प्रकृति विद्या) प्रतिपादक वाक्यों को पृथक कर के एक पुराण संहिता का प्राकट्य किया था और उसी में सृष्टि के इतिहास की शुद्धि के लिये सृष्टि विज्ञान से सम्बद्ध अन्य चार विषयों का समावेश किया था। तदनुसार अपने काल में दृष्ट इतिवृत्त "आख्यान" है। परोक्ष में अचिर काल में वृत्त इतिवृत्त "उपाख्यान" है। परम्परा से श्रुत किंतु जिनके कर्ता का ज्ञान नहीं, ऐसी इतिवृत्त–वाणियाँ "गाथा" कहलाती हैं। ऐतिहासिक विषय से सम्बद्ध पौराणिक इतिहास–विभाग में अनूदित धर्मशास्त्र आदि शास्त्रों में प्रतिपादित ज्ञान एवं कर्त्तव्य विषयक वचन "कल्प शुद्धि" है। श्रौत–स्मार्त–समयाचार, धर्म के भेद, नाना उपासना भेद, नीति एवं दर्शन भेद भी कल्प शुद्धि के अन्तर्गत ही है। इसी प्रकार–1 मन्वन्तर विज्ञान 2–सृष्टि विज्ञान 3. प्रतिसृष्टि विज्ञान 4. वंश विज्ञान 5. वंश्यानुचरित विज्ञान, यही पुराणों के पांच लक्षण माने जाते हैं। पुराणों के लक्षण रूप यह पाँच विषय भी निम्न पाँच–पाँच प्रकार से भिन्न–भिन्न माने जाते हैं–

(1) मन्वन्तर–1. युग, 2. दिव्य युग, 3. नित्य कल्प, 4. सप्त कल्प, 5. त्रिंशतकल्प–भेद से पाँच प्रकार का है।

(2) सृष्टि– 1. सृष्टिक्रम, 2, सृष्टि के विषय में भिन्न–भिन्न मत, 3. अवतार, 4. आयति और 5. ब्रह्माण्ड–भेद से सृष्टि अंश भी पांच प्रकार का है।

(3) प्रतिसृष्टि– 1. शास्त्रावतरण, 2. कल्प शुद्धि, 3. सृष्टि संहार, 4. ज्योतिषचक्र और 5. भूगोल–भेद से प्रतिसृष्टि भी पंचविध है।

(4) वंश– 1. ऋषि वंश, 2. पितृ वंश, 3. सूर्य वंश, 4. चन्द्र वंश, 5. अग्नि वंश–भेद से वंश विषय भी पाँच प्रकार का है।

(5) वंश्यानुचरित– 1. ऋषि चरित, 2. देव योनि चरित, 3. सूर्यादि वंश चरित, 4. देव वंश चरित और 5. असुर वंश चरित भेद– से वंश्यानुचरित भी पाँच प्रकार का है। अन्यों के चरित्र का भी अन्तर्भाव वंश्यानुचरित में ही है और इन्हीं के आधार पर अपने देश का ही नहीं बल्कि क्षत्रिय या खत्रिय जाति का इतिहास

या यों कहे कि मानव जाति इतिहास भी निर्मित होता है किन्तु पुराणों को आधुनिक मानने वाले और बतलाने वाले विद्वान केवल बाहरी प्रमाणों पर ही ध्यान देते हैं और तारीखें ढूँढ़ते हैं। तारीखें कठिनाई मे डाल देती हैं। इन विद्वानों ने पुराणों के अन्तस्तल में प्रवेश कर के उनको नहीं देखा। सनातन तो अनन्त और अजन्मा है। उसकी कोई तारीख नहीं होती, कोई सन और संवत् नहीं होता। पुराणों की ज्ञान परम्परा तो सनातन है। वस्तुतः पुराणों में जो कहीं कहीं कुछ न्यूनाधिक अंतर है उसका कारण है कि विदेशियों तथा विधर्मियों के आक्रमण –अत्याचार से प्राचीन ग्रन्थों की जो दुर्दशा हुई, उसके कारण उसके बहुत से अंश आज उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी इससे पुराण की मूल महत्ता एवं प्राचीनता में कोई बाधा नहीं आती। इसी भावना से आस्तिक बुद्धि का श्रद्धालु मन इस ज्ञान परम्परा में तर्क करने का साहस नहीं करता और सनातन की धाराओं को अनन्त मानता है। इसी भावना से इतिहास पुराण बन जाता है और सभी विचारधारायें एक साथ चलने लगती हैं। उनमें खण्डन की नहीं मण्डन की प्रवृत्ति होती है। वे तारीख नहीं ढूँढ़ती, विचार प्रवाह संजोती हैं। इसी लिये सन्यासी भी अपनी जन्मभूमि बताने में संकोच करता है और जाति पूछने पर दुखी होता है। वह जानता है कि विष्णु क्षीर सागर में शयन करते हैं और भगवान का अवतार स्थल मध्य देश है। महाभारत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार जगत्पालक भगवान विष्णु अपनी एक कला से श्वेतद्वीप में चार भुजाधारी रमापति रूप से निवास करते हैं और नारद को भक्ति श्वेतद्वीप में ही भगवान से प्राप्त हुई थी तथा मालावती के शाप से बचने के लिये समस्त देवताओं ने श्वेतद्वीप में ही जा कर श्री हरि की स्तुति की थी (ब्रह्मवैवर्त पुराण–ब्रह्मखण्ड–अध्याय 17 तथा 28)। यह श्वेतद्वीप बद्रिकाश्रम के आस पास है। हिमालय का यह श्वेत धवल स्थान कभी समुद्र से घिरा रहा होगा पर महाभारत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में वर्णित श्वेतद्वीप कहाँ है, यह वह नहीं जानता पर नारद का नाम सही है, यह वह मानता है। ऐसी मान्यताओं की भारतीय मानस में अजस्र धारा चला करती है। अतः इनके मात्र खण्डनात्मक तर्कों को छोड़ दें और श्रद्धा का आश्रय लें तो अपनी प्राचीन संस्कृति हमें बताती है कि अयोध्या नगरी को महाराज वैवस्वत मनु ने ही बसाया था और उन्हीं से सूर्य वंश तथा चन्द्र वंश के राज्यों का विस्तार हुआ।

*****

अध्याय–2 भारत की प्राचीन परम्परा

(1) सृष्टि की रचना के समय का विचार

हमारी प्राचीन परम्परा वेदों और पुराणों में सृष्टि का जो क्रम बताती है, वह इस प्रकार है :

सृष्टि रचना के समय का विचार ऋग्वेद के मण्डल 10, सूक्त 129–सृष्टि सूक्त में किया गया है जिसमें कहा गया है :

"तब न मृत्यु थी, न अमरत्व था। (अर्थात न जीवन था न मृत्यु) रात का, दिन का चिन्ह नहीं था, सूर्य चन्द्र व काल विभाग का कोई चिन्ह नहीं था। बिना वायु अर्थात प्राण के अपनी शक्ति से तथा अयनों से धारण की गयी सूक्ष्म प्रकृति के साथ वह एक था। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं था–अर्थात ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन तत्व थे–वह जो कुछ अव्यक्त था, था अवश्य, पर हमारे लिये वह अज्ञेय, अवर्णनीय है।

सृष्टि के व्यक्त रूप में आने से पहले अन्धकार से ढंका हुआ अंधकार था। लक्षण में न आने वाला यह सब व्यापक हुआ। गतिशील पदार्थ था। सूक्ष्म से सब ओर से ढंका हुआ था। वह तप ज्ञान के महत्व से एक प्रकट हुआ।

(अग्ने) प्रथम (कामः) संकल्प वर्तमान हुआ जो मन में प्रथम वीर्य वह था (कवयः मनीषाः) क्रांतिदर्शी विद्वानों ने हृदय में विचार कर (असति) अभाव में (सती बंधुयं) भाव को बांधने वाले सत् को (निरनिन्दिन) जाना–अर्थात फिर ईश्वर का संकल्प सृष्टि रचना का हुआ और अव्यक्त जगत व्यक्त रूप में आ गया।[1]

1. आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी–ये क्रमशः शब्दादि उत्तरोत्तर गुणों से युक्त हैं, अर्थात आकाश का गुण शब्द, वायु के गुण शब्द और स्पर्श, तेज के गुण शब्द, स्पर्श और रूप, जल के शब्द, स्पर्श, रूप और रस तथा पृथ्वी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध–ये सभी गुण हैं। उक्त पाँचों भूत शान्त, घोर–एवं मूढ़ हैं (एक दूसरे से मिलने पर सभी भूत शान्त, घोर और मूढ़ प्रतीत होते हैं। पृथक–पृथक देखने पर तो पृथ्वी और जल शान्त हैं, तेज और वायु घोर है तथा आकाश मूढ है।) अर्थात सुख, दुख और मोह से युक्त है अतः ये विशेष कहलाते हैं। ये पाँचों भूत अलग–अलग रहने पर भिन्न–भिन्न प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न हैं, अतः परस्पर संगठित हुए बिना–पूर्णतया मिले बिना ये प्रजा की सृष्टि करने में समर्थ न हो सके। इस लिये (परम पुरुष परमात्मा ने संकल्प द्वारा इनमें प्रवेश किया। फिर तो) महत्तत्व से ले कर विशेष पर्यन्त सभी तत्व पुरुष द्वारा अधिष्ठित होने के कारण पूर्ण रूप से एकत्व को प्राप्त हुए। इस प्रकार परस्पर

इन पदार्थों की किरणें तिरछी फैली, कदाचित् नीचे, कभी ऊपर थीं। वीर्य धारण करने वाला ईश्वर था ओर उसकी महिमायें थी। प्रकृति छोटी थी, रचना का प्रयत्न बड़ा था–अर्थात् जब पदार्थ प्रकट रूप में आने लगे तब भी प्रकृति सीमित थी और ब्रह्मा जी का रचना गुण महान था।

इसी सूक्त में इसी के पश्चात आगे वह प्रश्न पूछा गया है जिसका उल्लेख पीछे किया गया है और उत्तर बताया गया है कि :

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुल इयं विसृष्टिः।

अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाऽथा को वेद यत आबभूव ।।6।।" 1

अर्थात ठीक ठीक कौन जानता है? इस विषय में कौन कह सकता है? कहाँ से उत्पन्न हुए? कहाँ से यह विशेष रूप वाली सृष्टि हुई? इस सृष्टि रचना की तुलना में विद्वान बाद के हैं और कौन जानता है जहाँ से यह संसार प्रकट हुआ।।6।।

अर्थात सृष्टि रचना प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। अनुमान और शब्द प्रमाण ही इसमें प्रधान है।

(2) ब्रह्मा जी की उत्पत्ति

"सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण विश्व जल में डूबा हुआ था। उस समय एक मात्र श्री नारायण देव शेष शय्या पर पौढ़े हुए थे। वे अपनी ज्ञान शक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए ही योग निद्रा का आश्रय ले, अपने नेत्र मूंदे हुए थे। सृष्टि कर्म से अवकाश ले कर वे आत्मानंद में मग्न थे। उनमें किसी भी क्रिया का उन्मेष नहीं था। जिस प्रकार अग्नि अपनी दाहिका आदि शक्तियों को छिपाये हुए काष्ठ में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार श्री भगवान ने सम्पूर्ण प्राणियों के सूक्ष्म शरीरों को अपने शरीर में लीन कर के अपने आधार भूत उस जल में शयन किया, उन्हें सृष्टि काल आने पर पुनः जगाने के लिए केवल काल शक्ति को जाग्रत रखा। इस प्रकार अपनी स्वरूपभूता चिच्छत्ति के साथ एक सहस्त्र चतुर्युग पर्यन्त जल में शयन करने के अनन्तर जब उन्हीं के द्वारा नियुक्त उनकी काल शक्ति ने उन्हें

मिल कर तथा एक दूसरे का आश्रय ले उन्होंने अण्ड की उत्पत्ति की। उस अण्ड में ही पर्वत और द्वीप आदि के सहित समुद्र, ग्रहों और तारों सहित सम्पूर्ण लोक तथा देवता, असुर और मनुष्यों सहित समस्त प्राणी उत्पन्न हुए हैं। वह अण्ड पूर्व पूर्व की अपेक्षा दस गुने अधिक जल, अग्नि, वायु, आकाश और भूतादि अर्थात तामस अंधकार से आवृत है। भूतादि महत्तत्व से घिरा है तथा इन सब के सहित महत्तत्व भी अव्यक्त (प्रधान या मूल प्रकृति) के द्वारा आवृत्त है।
–पद्म पुराण – सृष्टि खण्ड

1. ऋग्वेद–दशम मंडल– सूक्त 129–ऋचा 6

जीवों के कर्मों की प्रवृत्ति के लिये प्रेरित किया तब उन्हों ने अपने शरीर में लीन हुए अनन्त लोक देखे। जिस समय भगवान की दृष्टि अपने में निहित लिंग शरीरादि सूक्ष्म तत्व पर पड़ी, तब वह कालाश्रित रजोगुण से क्षुभित हो कर सृष्टि रचना के निमित्त उनके नाभि देश से बाहर निकला। कर्मशक्ति को जागृत करने वाले काल के द्वारा विष्णु भगवान की नाभि से प्रकट हुआ वह सूक्ष्म तत्व कमल कोश के रूप में सहसा ऊपर उठा और उसने सूर्य के समान अपने तेज से उस अपार जल राशि को देदीप्यमान कर दिया। सम्पूर्ण गुणों को प्रकाशित करने वाले उस सर्वलोक मय कमल में वे विष्णु भगवान ही अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट हो गये। तब उसमें से बिना पढ़ाये ही स्वयं सम्पूर्ण वेदों को जानने वाले साक्षात वेदमूर्ति श्री ब्रह्मा जी प्रकट हुए जिन्हें लोग स्वयम्भू कहते हैं। उस कमल की कर्णिका (गद्दी) में बैठे हुए ब्रह्मा जी को जब कोई लोक दिखायी नहीं दिया, तब वे आँखे फाड़ कर आकाश में चारों ओर गर्दन घुमा कर देखने लगे। इससे उनके चारों दिशाओं में चार मुख हो गये। उस समय प्रलय कालीन पवन के थपेड़ों से उछलती हुई जल की तरंग मालाओं के कारण उस जल राशि से ऊपर उठे हुए कमल पर विराजमान आदि देव ब्रह्मा जी को अपना तथा उस लोक तत्व रूप कमल का कुछ भी रहस्य न जान पडा।" ।।10–17।

वे सोचने लगे, 'इस कमल की कर्णिका पर बैठा हुआ मैं कौन हूँ? यह कमल भी बिना किसी अन्य आधार के जल में कहाँ से उत्पन्न हो गया? इसके नीचे अवश्य कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिये, जिसके आधार पर यह स्थित है।' ।।18।।

ऐसा सोच कर वे उस कमल की नाल के सूक्ष्म छिद्रों में हो कर उस जल में घुसे किन्तु उस नाल के आधार को खोजते–खोजते नाभि देश के समीप पहुँच जाने पर भी वे उसे पा न सके। उस अपार अंधकार में अपने उत्पत्ति स्थान को खोजते–खोजते ब्रह्मा जी को बहुत काल बीत गया। यह काल ही भगवान का चक्र है जो प्राणियों को भयभीत (करता हुआ उनकी आयु को क्षीण) करता रहता है। अन्त में विफल मनोरथ हो वे वहाँ से लौट आये और पुनः अपने आधारभूत कमल पर बैठ कर धीरे–धीरे प्राण वायु को जीत कर चित्त को निःसंकल्प किया और समाधि में स्थित हो गये। इस प्रकार पुरुष की पूर्ण आयु के बराबर काल तक (अर्थात दिव्य सौ वर्ष तक) अच्छी तरह योगाभ्यास करने पर ब्रह्मा जी को ज्ञान प्राप्त हुआ, तब उन्हों ने अपने उस अधिष्ठान को, जिसे वे पहले खोजने पर भी नहीं देख पाये थे, अपने ही अन्तः करण में प्रकाशित होते देखा। उन्हों ने देखा कि उस प्रलयकालीन जल में शेष जी के कमल नाल सदृश गौर और विशाल विग्रह की शय्या पर पुरुषोत्तम भगवान अकेले ही लेटे हुए हैं। शेष जी के दस हजार फण छत्र के समान फैले हुए हैं। उनके मस्तकों पर किरीट शोभायमान हैं। उनमें जो मणियाँ जड़ी हुई हैं उनकी कान्ति से चारों ओर का अंधकार दूर हो गया है। 19–23।।

उनका वह श्री विग्रह अपने परिमाण से लम्बाई चौड़ाई में त्रिलोकी का संग्रह किये हुए है। वे सम्पूर्ण चराचर के आश्रय हैं। सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्नि आदि देवताओं की भी आप तक पहुँच नहीं है तथा त्रिभुवन में बे रोक–टोक विचरण करने वाले सुदर्शन चक्रादि आयुध भी प्रभु के आस–पास ही घूमते रहते हैं, उनके लिये भी आप अत्यन्त दुर्लभ हैं। ।।25–31।।

तब विश्व रचना की इच्छा वाले लोक विधाता ब्रह्मा जी ने भगवान के नाभि सरोवर से प्रकट हुआ वह कमल, जल, आकाश, वायु और अपना शरीर– केवल ये पांच ही पदार्थ देखे, इनके सिवा और कुछ उन्हें दिखायी न दिया। रजो गुण से व्याप्त ब्रह्मा जी प्रजा की रचना करना चाहते थे। जब उन्होंने सृष्टि के कारण रूप केवल ये पाँच ही पदार्थ देखे तब लोक रचना के लिये उत्सुक होने के कारण वे अचिन्त्यगति श्री हरि में चित्त लगा कर उन परम पूजनीय प्रभु की स्तुति करने लगे। ।।32–33।।

(3) ब्रह्मा जी द्वारा भगवान की स्तुति एवं भगवान श्री नारायण का ब्रह्मा जी को सृष्टि रचना का आदेश

"अपने तप, विद्या और समाधि के द्वारा अपने उत्पत्ति स्थान श्री भगवान को देख कर तथा अपने मन और वाणी की शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार से उनकी स्तुति कर ब्रह्मा जी थके से हो कर मौन हो गये। श्री मधुसूदन भगवान ने देखा कि ब्रह्मा जी इस प्रलय राशि से बहुत घबराये हुए हैं तथा लोक रचना के विषय में कोई निश्चित विचार न होने के कारण उनका चित्त बहुत खिन्न है। तब उनके अभिप्राय को जान कर वे अपनी गम्भीर वाणी से उनका खेद शान्त करते हुए कहने लगे।।26–28।।

श्री भगवान ने कहा–वेद गर्भ ! तुम विषाद के वशीभूत हो आलस्य न करो, सृष्टि रचना के उद्यम में तत्पर हो जाओ। तुम मुझ से जो कुछ चाहते हो, उसे तो मैं पहले ही कर चुका हूँ। तुम एक बार फिर तप करो और भागवत–ज्ञान का अनुष्ठान करो। उनके द्वारा तुम सब लोकों को स्पष्टतया अपने अंतःकरण में देखोगे। फिर भक्तियुक्त और समाहित चित्त हो कर तुम सम्पूर्ण लोक और अपने में मुझ को व्याप्त देखोगे तथा मुझ में सम्पूर्ण लोक और अपने आप को देखोगे। जिस समय जीव काष्ठ में व्याप्त अग्नि के समान समस्त भूतों में मुझे ही स्थित देखता है, उसी समय वह अपने अज्ञान रूप मल से मुक्त हो जाता है। जब वह अपने को भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तकरणः से रहित तथा स्वरूपतः मुझ से अभिन्न देखता है, तब मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मा जी ! नाना प्रकार के कर्म संस्कारों के अनुसार अनेक प्रकार की जीव सृष्टि रचने की इच्छा होने पर भी तुम्हारा चित्त मोहित नहीं होता, यह मेरी अतिशय कृपा का ही फल है। तुम सब से पहले मन्त्रदृष्टा हो। प्रजा उत्पन्न करते समय भी तुम्हारा मन मुझ में ही

1. श्रीमद्भागवत्–तृतीय स्कन्ध–अध्याय–8 श्लोक 10–33 (संक्षिप्त) भाषानुवाद श्रीभागवत–सुधासागर पृष्ठ 121–122–गीता प्रेस, गोरखपुर।

लगा रहता है इसी से पाप मय रजोगुण तुम को बांध नहीं पाता। तुम मुझे भूत, इन्द्रिय, गुण और अन्तःकरण से रहित समझते हो, इससे जान पड़ता है कि यद्यपि देहधारी जीवों को मेरा ज्ञान होना बहुत कठिन है, तथापि तुमने मुझे जान लिया है। 'मेरा आश्रय कोई है या नहीं', इस संदेह से तुम कमलनाल के द्वारा जल में उसका मूल खोज रहे थे, सो मैंने तुम्हें अपना यह स्वरूप अन्तःकरण में ही दिखलाया है।। 29–37।।

तुमने जो मेरी कथाओं के वैभव से युक्त मेरी स्तुति की है और तपस्या में जो तुम्हारी निष्ठा है वह भी मेरी ही कृपा का फल है। लोक रचना की इच्छा से तुम ने सगुण प्रतीत होने पर भी जो निर्गुण रूप से मेरा वर्णन करते हुए स्तुति की है, उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। मैं समस्त कामनाओं और मनोरथों को पूर्ण करने में समर्थ हूँ। अतः मुझ से ही प्रेम करना चाहिये। ब्रह्माजी ! त्रिलोकी को तथा जो प्रजा इस समय मुझ में लीन है उसे तुम पूर्व कल्प के समान मुझ से उत्पन्न हुए अपने सर्ववेदमय स्वरूप से स्वयं ही रचो।।38–43।।

प्रकृति और पुरुष के स्वामी कमल नाभ भगवान सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी को इस प्रकार जगत की अभिव्यक्ति करवा कर अपने उस नारायण रूप से अदृश्य हो गये।।44।।'[1]

(4) ब्रह्मा जी द्वारा दस प्रकार की सृष्टि की रचना

अजन्मा भगवान श्री हरि ने जैसा कहा था, ब्रह्मा जी ने उसी प्रकार चित्त को अपने आत्मा श्री नारायण में लगा कर सौ दिव्य वर्षों तक तप किया। ब्रह्मा जी ने देखा कि प्रलयकालीन प्रबल वायु के झोकोरों से, जिससे वे उत्पन्न हुए हैं तथा जिस पर वे बैठे हुए हैं, वह कमल तथा जल काँप रहे हैं। प्रबल तपस्या एवं हृदय में स्थित आत्मज्ञान से उनका विज्ञान–बल बढ़ गया और उन्हों ने जल के साथ वायु को पी लिया। फिर जिस पर स्वयं बैठे हुए थे, उस आकाशव्यापी कमल को देख कर उन्हों ने विचार किया कि "पूर्व कल्प में लीन हुए लोकों को मैं इसी से रचूँगा" तब भगवान के द्वारा सृष्टि कार्य में नियुक्त ब्रह्मा जी ने उस कमल कोश में प्रवेश किया और उस एक के ही भूः, भुवः, स्वः– ये तीन भाग किये, यद्यपि वह कमल इतना बड़ा था कि उसके चौदह भुवन या इससे भी अधिक लोकों के रूप में विभाग किये जा सकते थे। जीवों के भोग स्थान के रूप में इन्हीं तीन लोकों का शास्त्रों में वर्णन हुआ है। जो निष्काम कर्म करने वाले हैं, उन्हें महः, तपः, जनः और सत्य लोक रूप ब्रह्म–लोक की प्राप्ति होती है।।4–9।।

विषयों का रूपांतर (बदलना) ही काल का आकार (शक्ति) है। स्वयं तो वह अद्भुत कर्मा विश्वरूप श्री हरि निर्विशेष, अनादि और अनन्त है। उसी को

1. श्रीमद्भागवत्–तृतीय स्कन्ध–अध्याय–9 श्लोक 26–44 (संक्षिप्त) भाषानुवाद श्रीभागवत–सुधासागर पृष्ठ 124–126–गीता प्रेस, गोरखपुर।

निमित्त बना कर भगवान खेल–खेल में अपने आप को ही सृष्टि के रूप में प्रकट कर देते हैं।

पहले यह सारा विश्व भगवान की माया से लीन हो कर ब्रह्म रूप से स्थित था। उसी को अव्यक्त मूर्ति काल के द्वारा भगवान ने पुनः पृथक रूप से प्रकट किया है। यह जगत जैसा अब है वैसा ही पहले था और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा। इसकी सृष्टि नौ प्रकार की होती है तथा प्राकृत वैकृत भेद से एक दसवीं सृष्टि और भी है और इसका प्रलय काल, द्रव्य तथा गुणों के द्वारा तीन प्रकार से होता है।

- पहली सृष्टि महत्तत्व की है। भगवान की प्रेरणा से सत्वादि गुणों में विषमता होना ही इसका स्वरूप है।
- दूसरी सृष्टि अहंकार की है, जिसमें पृथ्वी आदि पंचभूत एवं ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।
- तीसरी सृष्टि भूत सर्ग है, जिसमें पंचमहाभूतों को उत्पन्न करने वाला तन्मात्र वर्ग रहता है।
- चौथी सृष्टि इन्द्रियों की है, यह ज्ञान और क्रिया–शक्ति से सम्पन्न होती है।
- पाँचवी सृष्टि सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न हुए इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं की है, मन भी इसी सृष्टि के अन्तर्गत है।
- छठी सृष्टि अविद्या की हैं। इसमें तामिस्र, अंध तामिस्र, तम, मोह और महामोह–ये पाँच गाँठें है। यह जीवों की बुद्धि का आवरण और विक्षेप करने वाली है।

ये छः प्राकृत सृष्टियाँ हैं।। 11–17।।

छः प्रकार की प्राकृत सृष्टियों के बाद वैकृत सृष्टियों में सातवीं प्रधान वैकृत सृष्टि इन छः प्रकार के स्थावर वृक्षों की होती है :

1. वनस्पति 2. औषधि 3. लता 4. त्वकसार 5. वीरुध और 6. द्रुम। इनका संचार नीचे (जड़) से ऊपर की ओर होता है। इनमें प्रायः ज्ञान शक्ति प्रकट नहीं रहती। ये भीतर ही भीतर केवल स्पर्श का अनुभव करते हैं तथा इनमें से प्रत्येक में कोई विशेष गुण रहता है।

1. जो बिना मौर आये ही फलते हैं, जेसे गूलर, बड़, पीपल आदि।
2. जो फलों के पक जाने पर नष्ट हो जाते हैं जैसे धान, गेहूँ, चना आदि।
3. जो किसी का आश्रय ले कर बढ़ते हैं जैसे ब्राह्मी, गिलोय आदि।
4. जिनकी छाल बहुत कठोर होती है, जैसे बाँस आदि।
5. जो लता पृथ्वी पर ही फैलती है किन्तु कठोर होने से ऊपर की ओर नहीं चढ़ती, जैसे खरबूजा, तरबूज आदि।
6. जिनमें पहले फूल आ कर फिर उन फूलों के स्थान में ही फल लगते हैं, जैसे आम, जामुन आदि।

आठवीं सृष्टि तिर्यग योनियों (पशु–पक्षियों) की है। वह अठ्ठाइस प्रकार की मानी जाती है। इन्हें काल का ज्ञान नहीं होता। तमोगुण की अधिकता के कारण ये केवल खाना–पीना, मैथुन करना, सोना आदि ही जानते हैं। इन्हें सूंघने मात्र से ही वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इनके ह्रदय में विचार शक्ति या दूरदर्शिता नहीं होती। इन तिर्यकों में गौ, बकरा, भैंसा, कृष्णमृग, सुअर, नीलगाय रूरु नाम का मृग, भेड़ और ऊँट–ये द्विशफ (दो खुरों वाले) पशु कहलाते हैं। गधा, घोड़ा, खच्चर, गौर मृग, शरफ और चमरी–ये एक शफ (एक खुर वाले) हैं। कुत्ता, गीदड़, भेड़िया, बाघ, बिलाव, खरगोश, साही, सिंह, बंदर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि पाँच नख वाले (पशु) हैं। कक (बगुला), गिद्ध, बटेर, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, चकवा, कौआ और उल्लू आदि उड़ने वाले जीव पक्षी कहलाते हैं।

नवीं सृष्टि मनुष्यों की है। यह एक ही प्रकार की है। इसके आहार का प्रवाह ऊपर (मुँह) से नीचे की ओर होता है। मनुष्य रजोगुण प्रधान, कर्मपरायण और दुःख रूप विषयों में ही सुख मानने वाले होते हैं।

स्थावर, पशु–पक्षी और मनुष्य ये तीनों प्रकार की सृष्टियाँ तथा देवसर्ग वैकृत सृष्टि हैं। महत्तत्व आदि रूप वैकारिक देव सर्ग की गणना प्राकृत सृष्टि में की जाती है। इनके अतिरिक्त सनत्कुमार आदि ऋषियों का जो कौमार सर्ग है, वह प्राकृत–वैकृत दोनों प्रकार का है।।18–26।।

देवता, पितर, असुर, गन्धर्व–अप्सरा, यक्ष–राक्षस, सिद्ध–चारण–विद्याधर, भूत–प्रेत–पिशाच और किन्नर–किम्पुरुष– अश्वमुख आदि भेद से देव सृष्टि आठ प्रकार की है। इस प्रकार जगतकर्ता श्री ब्रह्मा जी की रची हुई यह दस प्रकार की सृष्टि है। इस प्रकार सृष्टि करने वाले सत्य संकल्प भगवान हरि ही ब्रह्मा के रूप से प्रत्येक कल्प के आदि में रजोगुण से व्याप्त हो कर स्वयं ही जगत के रूप में अपनी ही रचना करते हैं।।18–29।। [1]

इसी प्रकरण को संत कबीर ने महाठगनी माया के रूपक से भी व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि लोग जिन्हें देवी देवता समझते हैं, उन्हें भी महाठगनी माया ठग रही है। केशव, शिव, ब्रह्मा, पंडा, योगी, राजा, धनवान, गरीब, भक्त, आदि सब को ठग रही है। सब के घर में माया कहीं लक्ष्मी, कहीं पार्वती और कहीं ब्रह्माणी बनी बैठी है। माया को छोड़ना कठिन है। 'माया तजूं तजी' फिर नहिं जाई, फिर माया मोहि लपटाई।' सांख्य वाले कहते हैं सृष्टि करने वाला पुरुष नहीं प्रकृति है। प्रकृति ही पुरुष का आकर्षण करती है। प्रकृति सत्व, रज व तम तीन गुणों वाली है। ये गुण जब अलग हो कर काम करते हैं तो संसार सरकता है। तीनों समान रूप से इकट्ठे हो जाते हैं, साम्यावस्था को प्राप्त करते हैं, तब प्रलय हो जाती है। सृष्टि प्रक्रिया अव्यक्त हो जाती है। वेदान्ती इसी प्रकृति को माया कहते हैं। यहाँ भी रचना, रखना और संहार का कार्य माया का

1. श्रीमद्भागवत्–तृतीय स्कन्ध–अध्याय–10 श्लोक 4–29 (संक्षिप्त) भाषानुवाद श्रीभागवत–सुधासागर पृष्ठ 125–127–गीता प्रेस, गोरखपुर।

है। यह माया स्वतंत्र दीखती है किंतु यह पूर्ण स्वतंत्र नहीं है। यह चेतना के अधीन है। इस चेतन को ही ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म माया से भी व्यापक है, बड़ा है, फैलता है और फैला हुआ है। ब्रह्म बृंह धातु से बना है। बृंह का अर्थ है बढ़ना। प्रकृति या माया ब्रह्म की शक्ति है। इसी लिये ब्रह्म ही शक्ति का उपादान, निमित्त एवं कारण है। इसी से एक मात्र सत्य ब्रह्म है। बाकी सारे दृश्य–अदृश्य मिथ्या माया हैं, ब्रह्म ही सब कुछ का आधार और अधिष्ठान है। सभी संत इसी ब्रह्म की खोज करते हैं।

(5)(एक) मन्वन्तरादि काल विभाग

"पृथ्वी आदि कार्य वर्ग का जो सूक्ष्मतम अंश है– जिसका और विभाग नहीं हो सकता तथा जो कार्यरूप को प्राप्त नहीं हुआ है और जिसका अन्य परमाणुओं के साथ संयोग भी नहीं हुआ है, उसे परमाणु कहते हैं। इन अनेक परमाणुओं के परस्पर मिलने से ही मनुष्यों को भ्रम वश उनके समुदाय रूप एक अवयवी की प्रतीति होती है। यह परमाणु जिसका सूक्ष्मतम अंश है, अपने सामान्य स्वरूप में स्थित उस पृथ्वी आदि कार्यों की एकता (समुदाय अथवा समग्र रूप) का नाम परम महान् है। इस समय उसमें न तो प्रलय आदि अवस्था भेद की स्फूर्ति होती है, न नवीन –प्राचीन आदि काल भेद का ज्ञान होता है और न घट–पटादि वस्तुभेद की कल्पना ही होती है। इस प्रकार यह वस्तु के सूक्ष्मतम और महत्तम स्वरूप का विचार होता है। इसी के सादृश्य से परमाणु आदि अवस्थाओं में व्याप्त हो कर व्यक्त पदार्थो को भोगने वाले सृष्टि आदि में समर्थ, अव्यक्तस्वरूप भगवान काल की भी सूक्ष्मता और स्थूलता का अनुमान किया जा सकता है। जो काल प्रपंच की परमाणु जैसी सूक्ष्म अवस्था में व्याप्त रहता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है, और जो सृष्टि से ले कर प्रलय पर्यन्त उसकी सभी अवस्थाओं का भोग करता है, वह परम महान है।।1–4।।

दो परमाणु मिल कर एक 'अणु' होता है और तीन अणुओं के मिलने से एक 'त्रसरेणु' होता है जो झरोखे में से हो कर आयी हुई सूर्य की किरणों के प्रकाश में आकाश में उड़ता देखा जाता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना समय लगता है, उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौ गुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेध का एक 'लव' होता है। तीन लव को एक 'निमेष' और तीन निमेष को एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षण की एक 'काष्ठा' होती है और पन्द्रह काष्ठा का एक 'लघु'। पन्द्रह लघु की एक 'नाडिका' (दण्ड) कही जाती है। दो नाडिका का एक "मुहूर्त' होता है और दिन के घटने बढ़ने के अनुसार (दिन और रात्रि की दोनों संधियाँ के दो मुहूर्तों को छोड़ कर) छः या सात नाडिका का एक 'प्रहर' होता है। यह 'याम' कहलाता है, जो मनुष्य के दिन या रात का चौथा भाग होता है। छः पल तांबे का ऐसा बरतन बनाया जाय जिसमें एक प्रस्थ जल आ सके और चार माशे सोने की चार अंगुल लम्बी सलाई बनवा कर उसके द्वारा उस बरतन के पेंदे में छेद कर के उसे जल में छोड़ दिया जाय।

जितने समय में एक प्रस्थ जल उस बरतन में भर जाय, वह बरतन जल में डूब जाय, उतने समय को एक 'नाडिका' कहते हैं। चार–चार पहर के मनुष्य के 'दिन' और 'रात' होते है और 15 दिन रात का एक 'पक्ष' होता है, जो शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का माना गया है। इन दोनों पक्षों को मिला कर एक 'मास' होता है, जो पितरों का एक दिन–रात है। दो मास का एक 'ऋतु' और छः मास का एक "अयन" होता है। अयन "दक्षिणायन" और "उत्तरायण" भेद से दो प्रकार का है। यह दोनों अयन मिल कर देवताओं के एक दिन रात होते है तथा मनुष्य लोक में ये 'वर्ष' या बारह मास कहे जाते हैं। ऐसे 100 वर्ष की मनुष्य की परम आयु बतायी गयी है। चन्द्रमा आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र और समस्त तारा मण्डल के अधिष्ठाता काल स्वरूप भगवान सूर्य, परमाणु से ले कर संवत्सर पर्यन्त काल में द्वादश राशि रूप सम्पूर्ण भुवन कोश की निरन्तर परिक्रमा किया करते हैं। सूर्य, बृहस्पति, सवन, चन्द्रमा और नक्षत्र सम्बन्धी महीनों के भेद से यह वर्ष ही संवत्संर, परिवत्सर, इडावत्सर, अनुवत्सर और वत्सर कहा जाता हैं। इन पाँच प्रकार के वर्षों की प्रवृत्ति करने वाले भगवान सूर्यदेव पंच भूतों में तेजःस्वरूप हैं और अपनी काल शक्ति से बीज आदि पदार्थों की अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति को अनेक प्रकार से कार्योंन्मुख करते हैं। ये पुरूषों की मोह निवृत्ति के लिये उनकी आयु का क्षय करते हुए आकाश में विचरते रहते हैं तथा ये ही सकाम–पुरुषों को यज्ञादि कर्मों से प्राप्त होने वाले स्वर्ग आदि मंगलमय फलों का विस्तार करते हैं। ।।5–15।।

जो सनक आदि ज्ञानी मुनि जन त्रिलोकी से बाहर कल्प से भी अधिक काल तक रहने वाले हैं, उनकी आयु का वर्णन (जो ज्ञानी लोगों ने अपनी योग सिद्ध दिव्य दृष्टि से देखा) इस प्रकार है।।16–17।।

सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि–ये चार युग अपनी सन्ध्या और सन्ध यांशों के सहित देवताओं के बारह सहस्त्र वर्ष तक रहते हैं, ऐसा बतलाया गया है। इन सत्य आदि चारों युगों में क्रमशः चार, तीन दो और एक सहस्त्र दिव्य वर्ष होते हैं और प्रत्येक में जितने सहस्त्र वर्ष होते हैं उससे दुगने सौ वर्ष उनकी संध या और सन्ध्यान्शों में होते हैं।[1] युग की आदि में सन्ध्या होती है और अन्त में सन्ध्यांश, इनकी वर्ष गणना सैकड़ों की संख्या में बतलायी गयी है। इनके बीच का जो काल होता है, उसी को काल–वेत्ताओं ने युग कहा है। प्रत्येक युग में एक–एक विशेष धर्म का विधान पाया जाता है। सत्य युग के मनुष्यों में धर्म अपने चारो चरणों से रहता है, फिर अन्य युगों में अधर्म की वृद्धि होने से उसका

1. अर्थात सत्य युग में 4000 दिव्य वर्ष युग के और 800 सन्ध्या एवं संध्यान्श के–इस प्रकार 4,800 वर्ष होते हैं। इस प्रकार त्रेता में 3,600, द्वापर में 2,400 और कलियुग में 1,200 दिव्य वर्ष होते है। मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन होता है, अतः देवताओं का एक वर्ष मनुष्यों के 360 वर्ष के बराबर हुआ। इस प्रकार मानवीय मान से कलियुग में 4,32,000 वर्ष हुए तथा इससे दुगने द्वापर में, तिगुने त्रेता में और चौगुने सत्य युग में होते हैं।

एक–एक चरण क्षीण होता जाता है। त्रिलोकी से बाहर महर्लोक से ब्रह्म लोक पर्यन्त यहाँ की एक सहस्त्र चतुर्युगी का एक दिन होता है और इतनी ही बड़ी रात्रि होती है, जिसमें जगत्कर्ता ब्रह्मा जी शयन करते हैं। उस रात्रि का अन्त होने पर इस लोक का कल्प आरम्भ होता है, उसका क्रम जब तक ब्रह्मा जी का दिन रहता है तब तक चलता रहता है। उस एक कल्प में चौदह मनु हो जाते है। प्रत्येक मनु इकहत्तर चतुर्युगी से कुछ अधिक काल (71–6/14 चतुर्युगी) तक अपना अधिकार भोगता है। प्रत्येक मन्वन्तर में भिन्न–भिन्न मनुवंशी राजा लोग, सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र और उनके अनुयायी गन्धर्व आदि साथ–साथ ही अपना अधिकार भोगते हैं यह ब्रह्मा जी की प्रति दिन की सृष्टि है, जिसमें तीनों लोकों की रचना होती है। उसमें अपने–अपने कर्मानुसार पशु–पक्षी, मनुष्य, पितर और देवताओं की उत्पत्ति होती है। इन मन्वन्तरों में भगवान सत्त्वगुण का आश्रय ले, अपनी मनु आदि मूर्तियों के द्वारा पौरुष प्रकट करते हुए इस विश्व का पालन करते हैं। कालक्रम से जब ब्रह्मा जी का दिन बीत जाता है, तब वे तमोगुण के सम्पर्क को स्वीकार कर अपने सृष्टि रचना रूप पौरुष को स्थगित कर के निश्चेष्ट भाव से स्थित हो जाते हैं। उस समय सारा विश्व उन्हीं में लीन हो जाता है। जब सूर्य और चन्द्रमा आदि से रहित वह प्रलय रात्रि आती है तब वे भूः, भुवः, स्वः– तीनों लोक उन्हीं ब्रह्मा जी के शरीर में छिप जाते हैं। उस अवसर पर तीनों लोक शेष जी के मुख से निकली हुई अग्नि रूप भगवान की शक्ति से जलने लगते हैं। इस लिये उस के ताप से व्याकुल हो कर भृगु आदि मुनीश्वर गण महर्लोक से जन लोक को चले जाते हैं। इतने में ही सातों समुद्र प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन से उमड़ कर अपनी उछलती हुई तरंगों से त्रिलोकी को डुबो देते हैं। तब उस जल के भीतर भगवान शेषशायी योग निद्रा से नेत्र मूंद कर शयन करते हैं। उस समय जन लोक निवासी मुनिगण उनकी स्तुति किया करते हैं। इस प्रकार काल की गति से एक–एक सहस्त्र चतुर्युग के रूप में प्रतीत होने वाले दिन–रात के हेर–फेर से ब्रह्मा जी की सौ वर्ष की परमायु भी बीती हुई सी दिखलायी देती है।। 18–32।।

ब्रह्मा जी की आयु के आधे भाग को परार्ध कहते हैं। अब तक पहला परार्ध तो बीत चुका है, दूसरा चल रहा है। पूर्व परार्ध के आरम्भ में ब्राह्म नामक महान कल्प हुआ था। उसी में ब्रह्मा जी की उत्पत्ति हुई थी। पण्डित जन इन्हें शब्द ब्रह्म कहते हैं। उसी परार्ध के अन्त में जो कल्प हुआ था, उसे पाद्म कल्प कहते हैं। इसमें भगवान के नाभि सरोवर से सर्व लोक मय कमल प्रकट हुआ था। इस समय जो कल्प चल रहा है, वह दूसरे परार्ध का आरम्भक बताया जाता है। यह वाराह कल्प के नाम से विख्यात है। इसमें भगवान ने सूकर रूप धारण किया था। यह दो परार्ध का काल अव्यक्त, अनन्त, अनादि, विश्वात्मा श्री हरि का एक निमेष माना जाता है। यह परमाणु से ले कर द्वि परार्ध पर्यन्त फैला हुआ काल सर्व समर्थ होने पर भी सर्वात्मा श्री हरि पर किसी प्रकार की प्रभुता नहीं रखता। यह तो देह आदि में अभिमान रखने वाले जीवों का ही शासन करने में समर्थ है। ।।33–38।।

प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार और पंचतन्मात्र–इन आठ प्रकृतियों के सहित दस इन्द्रियाँ, मन और पंचभूत–इन सोलह विकारों से मिल कर बना हुआ यह ब्रह्माण्ड कोश भीतर से पचास करोड़ योजन विस्तार वाला है तथा इसके बाहर चारों ओर उत्तरोत्तर दस–दस गुने सात आवरण हैं। उन सब के सहित यह, जिसमें परमाणु के समान पड़ा हुआ दीखता है और जिसमें ऐसी करोड़ों ब्रह्माण्ड राशियाँ हैं, वह इन प्रधान आदि समस्त कारणों का कारण अक्षर ब्रह्म कहलाता है और यही पुराण पुरुष परमात्मा श्री विष्णु भगवान का श्रेष्ठ धाम (स्वरूप) है।।39–41।।[1]

(दो) स्वायम्भुव मनु की कथा परम्परा

देवता, मनु, सप्तर्षि तथा मनुपुत्र और देवताओं के भी अधिपति इन्द्रगण ये सभी भगवान श्री विष्णु की ही विभूतियाँ हैं, यथा :

सर्वे च देवा मनवः समस्ताः सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेषभूतो विष्णो शेषास्तु विभूतयस्ताः।।

स्वायम्भुव मनु आदि मनु हैं। भगवान विष्णु के नाभिकमल से आविर्भूत चतुर्मुख प्रजापति ब्रह्मा सृष्टि के अधिष्ठाता हैं। सृष्टि रचना में जब उन्हों ने देखा कि उनकी मानसी सृष्टि से उद्भूत सप्तर्षिगण सृष्टि विस्तार से विरत हो गये तब वे विस्मित हुए और चिन्ता करने लगे– क्या आश्चर्य है? मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ, इस पर भी मेरी प्रजा की नित्य वृद्धि नहीं हो रही है। इससे मालूम होता है कि प्रतिकूल दैव ही इसमें कारण है। इस प्रकार उनके चिन्ता करते ही उनके शरीर से एक स्त्री पुरुष का जोड़ा प्रकट हुआ जो सभी दिव्य लक्षणों से सम्पन्न था। आत्म सम्भूत यही पुरुष तथा स्त्री स्वायम्भुव मनु तथा महारानी शतरूपा के नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वायम्भुव मनु ने इस शतरूपा को ब्रह्मा की आज्ञा से अपनी ध र्मपत्नी के रूप में ग्रहण किया।

ब्रह्मा ने स्वायम्भुव मनु को सृष्टि करने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञानुसार स्वायम्भुव मनु तथा महारानी शतरूपा मैथुनी सृष्टि कर्म में प्रवृत्त हुए तभी से मैथुनी सृष्टि का प्रारम्भ हुआ और मिथुन धर्म द्वारा प्रजा की वृद्धि हुई। इन्हीं मनु से मानव, मनुज और मनुष्य आदि शब्द बने। हम सभी स्वायम्भुव मनु की संतान हैं, इस लिये मनुष्य तथा मानव कहलाते हैं।

इन्हीं मनु शतरूपा की वंश परम्परा में मनु पुत्र प्रियव्रत की दूसरी स्त्री से उत्तम, तामस और रैवत–ये तीन पुत्र उत्पन्न हुए, जो अपने नाम वाले मन्वन्तरों के अधिपति हुए।

अन्त में महाराज स्वायम्भुव मनु ने समस्त कामनाओं और भोगों से विरक्त हो कर राज्य छोड़ दिया और वे अपनी पत्नी शतरूपा के साथ तपस्या करने वन

1. श्रीमद्भागवत्–तृतीय स्कन्ध–अध्याय–11 श्लोक 1–41 (संक्षिप्त) भाषानुवाद श्रीभागवत–सुधासागर पृष्ठ 127–129–गीता प्रेस, गोरखपुर।

में चले गये। परम प्रभु की कृपा से वे इन्द्र के पद पर प्रतिष्ठित हो कर स्वर्ग का शासन करने लगे। महाराज मनु और महारानी शतरूपा ने नैमिषारण्य नामक पवित्र तीर्थ में गोमती नदी के किनारे भी बहुत समय तक तपस्या की थी। उस स्थान पर इन दोनों की समाधियाँ बनी हुई हैं। मनु स्मृति इन्हीं भगवान मनु की रचना है। सभी धर्म कर्म मनु स्मृति के अनुसार ही होते हैं। स्वयं मनु कहते हैं– इदं शास्त्रं तु कृत्वासो मामेव स्वयमादितः। विधिवद् ग्राह्ययामास मरीच्यादीस्त्वहं मुनीन।। (मनु स्मृति–1 –58)।। ब्रह्मा ने स्वयं ही इस शास्त्र को रच कर सृष्टि के आरम्भ में मुझे विधिवत् सिखाया तब मैंने मरीचि आदि मुनियों को बताया।

तत्पश्चात वरुणा नदी तट वासी एक सदाचारी ब्राह्मण इस विस्तृत पृथ्वी के दर्शन को निकले और एक उदार हृदय अतिथि की कृपा से प्राप्त पादलोप औषधि की सहायता से विश्व दर्शन में समर्थ हुए, किन्तु हिमालय पर्वत पर बर्फ के प्रभाव से औषधि पिघलने से वे विह्वल हो गये। इसी समय उन्हों ने एक दिव्य अप्सरा का काम अनुरोध भी ठुकरा दिया तथा गार्हपत्य अग्नि को प्रणाम किया। वह अग्नि उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी और वे पुनः अपने घर पहुँच गये। तब उक्त अप्सरा पर आसक्त एक गन्धर्व ने उस ब्राह्मण का रूप धारण कर उस अप्सरा को अपने प्रेम जाल में बांध लिया। समय बीतने पर उस अप्सरा वरूचिनी से अग्नि देव एवं सूर्य के समान तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ जो स्वारोचिष कहलाया। समय बीतने पर उसके जो पुत्र हुआ वह स्वारोचिष मनु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इनका समय ही स्वारोचिष मन्वन्तर कहलाता है, जो द्वितीय मन्वन्तर है।

इसी प्रकार उत्तम (औत्तम), तामस, रैवत, चाक्षुस मनु[1] क्रमशः तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे मनु हुए। सातवें वैवस्वत मनु हुए। आठवें सावर्णि मनु तथा नवें मनु दक्षसावर्णि होंगे। श्रीमद्भागवत् के अनुसार ये वरुण के पुत्र होंगे। इसी मन्वन्तर में आयुष्मान की पत्नी अम्बुधारा के गर्भ से ऋषभ के रूप में भगवान का कलावतार होगा।

वर्तमान समय के पूर्व चाक्षुस तक छः मनुओं या मन्वन्तरों का समय व्यतीत हो चुका है और वर्तमान में सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर के 27 चतुर्युग (महायुग) बीत चुके हैं और 28 वें महायुग के सत्य, त्रेता, द्वापर बीत कर 28 वाँ कलियुग का समय चल रहा है। वैवस्वत मन्वन्तर के बाद 7 मनु और होंगे, जिनके नाम इस प्रकार हैं– 8 सूर्यसावर्णि, 9. दक्षसावर्णि, 10. ब्रह्म सावर्णि, 11. धर्म सावर्णि, 12 रुद्रसावर्णि, 13. रौच्य और 14. भौत्य। इनका वर्णन मार्कन्डेय पुराण में है। मनुओं के नामानुसार ही 14 मन्वन्तरों के भिन्न–भिन्न नाम पड़े हैं।

इन मन्वन्तरों का समय बीत जाने पर सृष्टि में प्रलय होता है। चौदह मन्वन्तरों का पूर्ण समय एक कल्प (ब्रह्मा का एक दिन जिसमें 14 मनु होते हैं) के बराबर होता है। इस कल्प के अन्त में होने वाला प्रलय नैमित्तिक, दैनिन्दिन

1. चन्द्र वंश में दिया गया विवरण देखिये।

या कल्प प्रलय कहलाता है। ब्रह्मा के दोनों परार्धों की समाप्ति पर प्राकृतिक महाप्रलय होता है जिसमें सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का लय होता है। तदनन्तर समस्त ब्रह्माण्ड का पूर्ण ब्रह्म परमात्मा में लय होता है जो आत्यन्तिक प्रलय कहलाता है। पुनः काल, कर्म और स्वभाव से उस निराकार से साकार की सृष्टि होती है। यही सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि काल से चला आ रहा है। इसे स्वयं भगवान ने भी स्पष्ट किया है :

स्वयं भगवान विष्णु प्रजापति दक्ष के स्तुति करने पर उनके समक्ष प्रकट हुए थे और उन्हें अपना आश्चर्यमय और अलौकिक रूप दिखाते हुए श्री भगवान ने उनसे कहा था–"प्रजापति, तुमने इस विश्व की वृद्धि के लिये तपस्या की है, इस लिये मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, क्योंकि यह मेरी ही इच्छा है कि जगत के समस्त प्राणी अभिवृद्ध और समृद्ध हों। ब्रह्मा, शंकर, तुम्हारे जैसे प्रजापति, स्वायम्भुव आदि मनु तथा इन्द्रादि देवेश्वर–ये सब मेरी विभूतियाँ हैं और सभी प्राणियों की अभिवृद्धि करने वाले हैं। ब्रह्मन ! तपस्या मेरी हृदय है, विद्या शरीर है, कर्म आवृत्ति है, यज्ञ अंग है, धर्म मन है और देवता प्राण हैं। जब यह सृष्टि नहीं थी तब केवल मैं ही था और वह भी निष्क्रिय रूप में। बाहर भीतर कहीं भी और कुछ न था। न तो कोई दृष्टा था और न दृश्य। मैं केवल ज्ञान स्वरूप और अव्यक्त था। ऐसा समझ लो, मानों सब ओर सुषुप्ति छा रही हो। प्रिय दक्ष, मैं अनन्त गुणों का आधार एवं स्वयं अनन्त हूँ। जब गुणमयी माया के क्षोभ से यह ब्रह्माण्ड शरीर प्रकट हुआ, तब इसमें अयोनिज आदि पुरुष ब्रह्मा उत्पन्न हुए। जब मैने उनमें शक्ति और चेतना का संचार किया, तब देव शिरोमणि ब्रह्मा सृष्टि करने के लिये उद्यत हुए परन्तु उन्हों ने अपने को सृष्टि कार्यों में असमर्थ सा पाया। उस समय मैंने उन्हें आज्ञा दी कि तप करो। तब उन्हों ने घोर तपस्या की और उस तपस्या के प्रभाव से पहले पहल तुम नौ प्रजापतियों की सृष्टि की।

प्रिय दक्ष ! अब देखो, यह पंचजन प्रजापति की कन्य असिक्नी है। इसे तुम अपनी पत्नी के रूप में ग्रहण करो। अब तुम गृहस्थोचित स्त्री सहवास रूप धर्म को स्वीकार करो। यह असिक्नी भी उसी धर्म को स्वीकार करेगी। तब तुम इसके द्वारा बहुत सी प्रजा उत्पन्न कर सकोगे। प्रजापते! अब तक तो मानसी सृष्टि होती थी। परन्तु अब तुम्हारे बाद सारी प्रजा मेरी माया से स्त्री–पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न होगी तथा मेरी सेवा में तत्पर रहेगी।

विश्व के जीवनदाता श्रीहरि यह कह कर दक्ष के सामने ही इस प्रकार अर्न्तध्यान हो गये जैसे स्वप्न में देखी हुई वस्तु स्वप्न टूटते ही लुप्त हो जाती है।"[1]

(6) ब्रह्मा जी द्वारा सृष्टि का विस्तार

हमारे वेद पुराण आगे कहते हैं कि –

"जगत की रचना करने के उद्देश्य से सबसे पहले ब्रह्मा जी ने अज्ञान

1. श्रीमद्भागवत् महापुराण–6/4/43–54 पृष्ठ 341–गीता प्रेस, गोरखपुर

की पाँच वृत्तियाँ तम (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश) रचीं। किन्तु इस पापमयी सृष्टि को देख कर उन्हें प्रसन्नता नहीं हुई। तब उन्हों ने अपने मन को भगवान के ध्यान से पवित्र कर उससे दूसरी सृष्टि रची। इस बार ब्रह्मा जी ने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार–ये चार निवृत्ति परायण उर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न किये और उनसे सृष्टि उत्पन्न करने को कहा किन्तु वे जन्म से ही (निवृत्ति मार्ग) मोक्ष मार्ग का अनुसरण करने वाले और भगवान के ध्यान में तत्पर थे इस लिये उन्हों ने ऐसा करना नहीं चाहा। अपने पुत्रों को उदासीन एवं अपनी आज्ञा न माने जाते देख ब्रह्मा जी को असहय क्रोध हुआ किन्तु बुद्धि द्वारा उनके बहुत रोकने पर भी वह न रुका। वह क्रोध तत्काल प्रजापति की टेढ़ी भृकुटि और क्रोध संतप्त ललाट (भौहों की बीच में) से एक नीले और लाल रंग के सूर्य के समान प्रकाशमान बालक के रूप में प्रकट हो गया।

वे देवताओं के पूर्वज भगवान भव (रूद्र) रो रो कर कहने लगे–जगत्पिता, मेरे नाम और रहने के स्थान बतलाइये। तब ब्रह्मा ने उस बालक की प्रार्थना पूर्ण करने के लिये कहा, रोओ मत! तुम जन्म लेते ही बालक के समान फूट–फूट कर रोने लगे, इस लिये प्रजा तुम्हें रुद्र नाम से पुकारेगी। तुम्हारे रहने के लिये मैंने पहले से ही हृदय, इन्द्रिय, प्राण, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और तप ये स्थान रच दिये है। तुम्हारे नाम मन्यु, महिनस, महान, शिव, ऋतध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतवृत होंगे तथा धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती, सुधा और दीक्षा–ये ग्यारह रुद्राणियाँ तुम्हारी पत्नियाँ होंगी। तुम उपर्युक्त नाम, स्थान और स्त्रियों को स्वीकार करो और इनके द्वारा बहुत सी प्रजा उत्पन्न करो, क्योंकि तुम प्रजापति हो।

रुद्र का अति प्रचण्ड शरीर आधा नर और आधा नारी रूप था। [2] ब्रह्मा जी ने तब 'अपने शरीर का विभाग कर'–ऐसा कह कर अर्न्तध्यान हो गये। ऐसा कहे जाने पर रुद्र ने अपने शरीरस्थ स्त्री और पुरुष भागों को अलग–अलग कर दिया और फिर पुरुष भाग को ग्यारह भागों में तथा स्त्री भाग को भी सौम्य, क्रूर, शान्त–अशान्त, और श्याम–गौर आदि कई रूपों में विभक्त कर दिया। लोक पिता ब्रह्मा जी से आज्ञा पा कर भगवान नील लोहित बल, आकार और स्वभाव में अपने ही जैसी प्रजा उत्पन्न करने लगे। भगवान रुद्र के द्वारा उत्पन्न हुए उन रुद्रों को असंख्य यूथ बना कर संसार को भक्षण करते देख ब्रह्मा जी को बड़ी शंका हुई। तब उन्हों ने रुद्र से कहा–'सुर श्रेष्ठ, तुम्हारी प्रजा तो अपनी भयंकर दृष्टि से मुझे और सारी दिशाओं को भस्म किये डालती है।'' चूंकि वामदेव ने इन्हें जरा मरण रहित रचा था इस लिये ब्रह्मा जी ने उनसे कहा–ऐसी सृष्टि और

1. श्री विष्णु पुराण अध्याय–7 पृष्ठ 29–30, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. भगवान शिव का यह रूप ही अर्ध–नारीश्वर कहलाता है जिसका विशद वर्णन पुराणों तथा शिव पुराण में दिया है।

न रचो। (और कहा कि) इस प्रकार जरा मरण रहित विवर्जित सृष्टि नहीं होती, अपितु जो सृष्टि शुभ और अशुभ से युक्त होती है, वही प्रशंसनीय है। तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम समस्त प्राणियों को सुख देने के लिये तप करो। फिर उस तप के प्रभाव से ही तुम पूर्ववत इस संसार की रचना करना। पुरुष तप के द्वारा ही इन्द्रियातीत सर्वान्तर्यामी ज्योति स्वरूप श्री हरि को सुगमता से प्राप्त कर सकता है। ''तब रुद्र ब्रह्मा जी का आज्ञा शिरोधार्य कर फिर उनकी अनुमति ले कर तथा उनकी परिक्रमा कर के तपस्या करने के लिये वन में चले गये।''[1]

इसके पश्चात जब भगवान की शक्ति से सम्पन्न ब्रह्मा जी ने सृष्टि के लिये संकल्प किया, तब उनके दस पुत्र (मानस संकल्प से उत्पन्न होने के कारण मानस पुत्र) और उत्पन्न हुए। उनसे लोक की बहुत वृद्धि हुई। उनके नाम 1.मरीचि, 2. अत्रि, 3. अंगिरा, 4. पुलस्त्य, 5. पुलह, 6. क्रतु, 7. भृगु, 8. वशिष्ठ, 9.दक्ष, 10. नारद [2] थे। [3]

1. वर्तमान समय में धरती की गोद में दबे लाखों वर्ष पूर्व के प्राचीन भीमकाय कंकालों से अब पता चल गया है कि किसी समय मांसाहारी तथा शाकाहारी दोनों प्रकार के अत्यंत भीमकाय विशाल जीव, जिन्हें डायनासोर आदि नाम दिये गये है, इस धरती पर विचरण करते थे। इनकी संख्या बढ़ने से इस पृथ्वी पर सम्पूर्ण प्राणि मात्र तथा वनस्पति का विनाश होने लगा था क्योंकि ये विशालकाय जीव अत्यन्त भंयकर थे और सर्व प्राणि मात्र एवं वनस्पति को भक्षण करने में समर्थ थे। किसी कारणवश, जिसका पता अभी तक विज्ञान नहीं लगा सका है, ये धरती में विनाश को प्राप्त कर लुप्त हो गये किन्तु भूमि में दबे उनके अवशेष अभी तक कभी–कभी मिल जाते हैं। यह तथ्य स्वयं भगवान रुद्र द्वारा सृजित उस भयंकर सर्वभक्षी सृष्टि की ओर इंगित करता है जिसे और अधिक रचने से ब्रह्मा जी ने रुद्र को विरत किया था।
2. मत्स्य पुराण अध्याय 3 में क्रम इस प्रकार है : सातवें प्रचेता, आठवें वशिष्ठ, नवें भृगु पुत्र रूप में उत्पन्न हुए तथा शीघ्र ही नारद का आविर्भाव हुआ। इन्हीं दस पुत्रों को ब्रह्मा जी ने अपने मन से उत्पन्न किया जो सभी मुनि रूप से विख्यात हुए। प्रचेता की वंश परम्परा में दक्ष ब्रह्मा के शरीर (अंगूठे) से उत्पन्न मातृविहीन पुत्र हैं जिन्हों ने मैथुनी सृष्टि प्रारम्भ की।
3. प्रारम्भ में ब्रह्मा जी के जड़ शरीर से ही चेतन जीवों को प्रादुर्भाव हुआ। देवताओं से ले कर स्थावर पर्यन्त वे सभी त्रिगुणात्मक चर और अचर जीव इसी प्रकार उत्पन्न हुए। जब महाबुद्धिमान प्रजापति की यह प्रजा पुत्र पौत्र क्रम से और न बढ़ी तब उन्हों ने अपने ही सदृश अन्य मानस पुत्रों की सृष्टि की। पुराणों में ये नौ ब्रह्मा माने गये गये हैं। (दसवें देवर्षि नारद हैं) फिर ख्याति, भूति, सम्भूति, क्षमा, प्रीति, सन्नति, ऊर्जा, अनुसूया तथा प्रसूति इन नौ कन्याओं का उत्पन्न कर, उन्हें इन महात्माओं को ''तुम इनकी पत्नी हो'' ऐसा कह कर सौंप दिया। (श्री विष्णु पुराण–प्रथम अंश, सातवां अध्याय श्लोक 1–9)

ऋषि कर्दम जी के मनु पुत्री देवहूति से उत्पन्न नौ कन्यायें, कला अनुसूया, श्रृद्धा, हर्विर्भू, गति, क्रिया, ख्याति, अरुन्धती एवं शान्ति थीं जिन्हें उन्हों ने ब्रह्मा जी की आज्ञानुसार नौ प्रजापतियों क्रमशः मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ एवं अथर्वा ऋषि से ब्याह दिया।—श्रीमद्भागवत महापुराण, तृतीय स्कन्ध, अध्याय 24, श्लोक 21–24, पृष्ठ 162, गीता प्रेस, गोरखपुर।

ब्रह्मा के मानस पुत्र इन नौ ऋषियों की वंश शाखाये इस प्रकार है :

1. **मरीचि ऋषि**— को कर्दम जी की बेटी कला ब्याही थी जिससे कश्यप जी और पूर्णिमा नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए (श्रीमद्भागवत 4/1/13)। इन्हीं कश्यप के विवस्वान (सूर्य), मनु और इक्ष्वाकु हुए तथा सूर्य वंश चला। (मरीचि कश्यप वंश परम्परा का विवरण 'गोत्र निरूपण' प्रसंग में मत्स्य पुराण अध्याय 199 में दिया गया है।)

2. **अत्रि** की पत्नी कर्दम पुत्री अनुसूया से दत्तात्रेय, दुर्वासा और चन्द्रमा (सोम) नाम के तीन परम यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुए जो क्रमशः भगवान विष्णु, शंकर और ब्रह्मा के अंश से उत्पन्न हुए थे। (श्रीमद्भागवत 4/1/15) इन्हीं चन्द्रमा से चन्द्र वंश का आविर्भाव हुआ। अत्रि के ही वंश में चन्द्रमा हुए। उनके वंश में विश्वामित्र उत्पन्न हुए जिन्हों ने अपनी तपस्या के बल से ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया। (इनकी वंश परम्परा को 'गोत्र प्रवर निरूपण' प्रसंग में मत्स्य पुराण–अध्याय–198 में दिया गया हैं।)

3. **अंगिरा** की पत्नी कर्दम पुत्री ऋद्धा ने सिनीवाली, कुहू, राका और अनुमति इन चार कन्याओं को जन्म दिया। इसके सिवा उनके शुभा से साक्षात भगवान उतथ्य जी और ब्रह्मनिष्ठ बृहस्पति जी– ये दो पुत्र हुए (श्रीमद्भागवत 4/1/34)। इन्हीं से अग्नि वंश चला। (मत्स्य पुराण–अध्याय–196 में महर्षि अंगिरा के वंश का वर्णन दिया है, जिसके अनुसार इस वंश में बृहस्पति, गौतम, संवर्त, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य तथा ऋषिज ये सभी गोत्र प्रर्वतक ऋषि हुए। इनके गोत्रों में उत्पन्न हुए गोत्र प्रवर्तकों में उतथ्य, गौतम, कौशल्य, तौलेय, पार्थिव, मूलक आदि कई ऋषि हैं। इनके प्रवर अंगिरा, सुवोचतथ्य, उशिज, भरद्वाज, दमवाह, उरुक्षय, गर्ग, सैत्य, ब्रहदश्व, पुरुकुत्स, मौद्गल्य, अजमीढ़, रथीतर, कठय, तित्तिर, कपिभू, मैत्रवर, शैशिर आदि हैं जिनका विस्तृत विवरण मत्स्य पुराण के अध्याय 196 में तथा बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास पृष्ठ 121 में भी दिया गया हैं। अग्नि वंश का वर्णन तथा उनके भेदोपभेद भी मत्स्य पुराण के अध्याय–51 में दिये हैं)

4. **पुलस्त्य जी** के उनकी पत्नी कर्दम पुत्री हविर्भू से महर्षि अगस्त्य और महा तेजस्वी विश्रवा ये दो पुत्र हुए। इनमें अगस्त्य जी दूसरे जन्म में जठराग्नि हुए। विश्रवा मुनि के इडविडा के गर्भ में यक्षराज कुबेर का जन्म हुआ और उनकी दूसरी पत्नी केशिनी से रावण, कुम्भकरण एवं विभीषण उत्पन्न हुए (श्रीमद्भागवत 4/1/36–37)। मत्स्य पुराण अध्याय 202 में महर्षि पुलस्त्य के गोत्र प्रवर का वर्णन करते हुए लिखा है कि पुलस्त्य ऋषि अपनी संतति को राक्षसों से उत्पन्न होते देख कर अत्यन्त दुखी हुए। तब उन बुद्धिमान ने अगस्त्य के पुत्र को पुत्र रूप में वरण कर लिया। तभी से पुलस्त्य वंशी भी अगस्त्य वंशी कहलाने लगे। सगोत्र होने के कारण इन सभी में परस्पर विवाह सम्बन्ध वर्जित है।

5. **महर्षि पुलह** की स्त्री परम साध्वी कर्दमपुत्री गति से कर्मश्रेष्ठ, वरीयान और सहिष्णु ये तीन पुत्र हुए (श्रीमद्भागवत 4/1/38)। मत्स्य पुराण के अध्याय 202 में कहा है कि महर्षि पुलह का मन अपनी संतान को देख कर प्रसन्न नहीं रहता था अतः उन्हों ने अगस्त्य के पुत्र दृढ़ास्य को वरण कर लिया। इसी लिये पुलह वंशी अगस्त्य वंशी के नाम से कहे जाते हैं।

6. **महात्मा क्रतु** की पत्नी कर्दमपुत्री क्रिया ने ब्रह्मतेज से देदीप्यमान बालखिल्यादि साठ हजार ऋषियों को जन्म दिया (श्रीमद्भागवत/4/1/39) किन्तु वैवस्वत मन्वन्तर में जब वे संतान हीन हो गये तब उन ऋषि श्रेष्ठ क्रतु ने अगस्त्य के पुत्र इध्यवाह को पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया। तभी से अगस्त्य वंशी क्रतु वंशी कहलाने लगे।

इस प्रकार महर्षि अगस्त्य की गोत्र शाखा में पुलस्त्य, पुलह, और क्रतु की शाखायें हुईं। सगोत्र होने के कारण इन सभी में परस्पर विवाह सम्बन्ध वर्जित है।

7. **भृगु** जी ने अपनी भार्या कर्दमपुत्री ख्याति से धाता और विधाता नामक पुत्र तथा श्री नाम की एक भगवत्परायण कन्या उत्पन्न की। (श्रीमद्भागवत 4/1/43) धाता की चार पत्नियां थीं। कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति। उनसे क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास–ये चार पुत्र हुए। विधाता के उसकी पत्नी क्रिया से पुरीष नाम के पाँच अग्नियों की उत्पत्ति हुई। वरुण जी की पत्नी का नाम चर्षणी था। उससे भृगु जी ने पुनः जन्म ग्रहण किया। इससे पहले वे ब्रह्मा जी के पुत्र थे। महायोगी बाल्मीकि जी भी वरुण के पुत्र थे। बाल्मीकि से पैदा होने के कारण उनका नाम बाल्मीकि पड़ गया था। (श्रीमद्भागवत 6/18/3–4)

धाता के अन्य पुत्र मृकण्ड तथा विधाता के प्राण नामक पुत्र हुए। इनमें मृकण्ड के मार्कण्डेय और प्राण के मुनिवर वेदशिरा का जन्म हुआ। इन्हीं भृगु जी के एक कवि नामक पुत्र भी थे। उनके भगवान उशना (शुक्राचार्य) हुए। (श्रीमद्भागवत 4/1/44–45)

मत्स्य पुराण के अध्याय 195 में 'गोत्र प्रवर निरूपण' प्रसंग में भृगु वंश की परम्परा का वर्णन किया गया है। उसमें कहा गया है कि महादेव जी के शाप से अपने शरीर का परित्याग कर ऋषिगण वैवस्वत मन्वन्तर में महात्मा ब्रह्मा द्वारा अग्नि से उत्पन्न हुए। उसी अग्नि से परम तेजस्वी तपोनिधि भृगु उत्पन्न हुए। अंगारों से अंगिरा, शिखाओं से अत्रि और किरणों से महातपस्वी मरीचि उत्पन्न हुए। केशों से कपिश रंग वाले महातपस्वी पुलस्त्य प्रकट हुए। तत्पश्चात लम्बे केशों से महातेजस्वी पुलह ने जन्म लिया। अग्नि की दीप्ति से तपोनिधि वशिष्ठ उत्पन्न हुए। महर्षि भृगु ने पुलोमा ऋषि की दिव्य पुत्री को भार्या रूप से ग्रहण किया। उस पत्नी से उनके यज्ञ करने वाले बारह देव तुल्य पुत्र हुए जो देवभृगु के नाम से विख्यात हुए। इसके बाद भृगु ने पौलोमी के गर्भ से देवताओं से कुछ निम्न कोटि के ब्राह्मणों को उत्पन्न किया। उनके नाम हैं–महाभाग्यशाली च्यवन और आप्नुवान। आप्नुवान के पुत्र और्व हैं, और्व के पुत्र जमदग्नि हुए। और्व उन महात्मा भार्गवों के गोत्र प्रवर्तक हुए। भृगु के गोत्र प्रवर्तको में साधारण रूप से पाँच प्रवर कहे जाते हैं–भृगु, च्यवन, आप्नुवान, और्व और जमदग्नि। जमदग्नि के

ही पुत्र परशुराम थे।

8. **वशिष्ठ जी** की पत्नी कर्दमपुत्री उर्जा से चित्रकेतु, सुरोचि, विरजा, मित्र, उल्वण, वृसभृद्यान और द्युमान आदि सात विशुद्ध चित्त ब्रह्मर्षियों का जन्म हुआ। इसके सिवा उनकी दूसरी पत्नी अरुन्धती से शक्ति आदि और भी कई पुत्र हुए। (श्रीमद्भागवत 4/1/40)। इन शक्ति के पराशर हुए। स्वयं भगवान विष्णु पराशर के पुत्र रूप में द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुए। इन सभी वशिष्ठ वंशी शाखा का वर्णन मत्स्य पुराण के अध्याय 200 तथा 201 में 'गोत्र प्रवर निरूपण' के सम्बन्ध में दिया गया है।

इसी परम्परा में अथर्वा मुनि की पत्नी चित्रि से दध्यंग (दधीचि) नाम का तपोनिष्ठ पुत्र भी हुआ।

9. **ब्रह्मा जी** के शरीर (अंगूठे) से उत्पन्न हुए प्रचेता पुत्र **दक्ष प्रजापति** ने मनु नन्दिनी देवहूति की बहन प्रसूति से विवाह किया। उससे उन्हों ने सुन्दर नेत्रों वाली सोलह कन्यायें उत्पन्न कीं। उनमें से तेरह धर्म को, एक अग्नि को, एक समस्त पितृगण को और एक संसार का संहार करने वाले तथा जन्म मृत्यु से छुड़ाने वाले भगवान शंकर को दी। (श्रीमद्भागवत–4/1/47)। इन्हीं दक्ष ने भगवान विष्णु की आज्ञा शिरोधार्य कर पंचजन प्रजापति की पुत्री असिक्नी को अपनी भार्या स्वीकार कर स्त्री सहवास के द्वारा मिथुन धर्म का पालन कर के बहुत सी प्रजा उत्पन्न की। (ब्रह्मा जी की दसवीं संतान (एक) कन्या है, जो अंगजा नाम से विख्यात हुई। (मत्स्य पुराण 3/12)। जिस प्रकार ब्रह्मा सारे वेदों के अधिष्ठाता हैं उसी प्रकार यह कन्या (शतरूपा रूपी) गायत्री ब्रह्मा के अंग से उत्पन्न (अंगजा) हुई बतलायी जाती है, इस लिये यह मिथुन रूप (जोड़ा) अमूर्त (अव्यक्त) या मूर्तिमान (व्यक्त) दोनों ही कहा जाता है। धूप (सूर्य) के छाया से विलग हो कर कहीं भी दिखायी न देने के समान गायत्री भी ब्रह्मा के सामीप्य को नहीं छोड़ती है। (मत्स्य पुराण–4/7–9)

10. **ब्रह्मा जी** के दसवें मानस पुत्र देवर्षि नारद हैं जो सर्वदा भगवान नारायण का कीर्तन करते एवं संसार के कल्याण में निमग्न रहते हैं। सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, अरुणि और गति, ब्रह्मा जी के इन नैष्ठिक ब्रह्मचारी पुत्रों ने गृहस्थ आश्रम में प्रवेश नहीं किया। अतः उनके कोई संतान नहीं हुई। (श्रीमद्भागवत–4/8/1–2)

इस प्रकार प्रथमतः मानसी सृष्टि रची गयी किन्तु उससे सृष्टि का अधिक विस्तार न होते देख ब्रह्मा जी ने मनु–शतरूपा के माध्यम से मैथुनी सृष्टि द्वारा प्रजा का विस्तार किया। प्रचेता पुत्र दक्ष से पूर्व उत्पन्न हुए लोगों की सृष्टि संकल्प, दर्शन और स्पर्श मात्र से हुई है, ऐसा कहा जाता है, किन्तु दक्ष के पश्चात स्त्री–पुरुष के संयोग द्वारा सृष्टि प्रचलित हुई है। (मत्स्य पुराण 5/2)

आधुनिक युग में वैज्ञानिक अपनी मानसिक शक्ति से परखनली शिशु (टेस्ट ट्यूब बेबी तथा कोनिंग) उत्पन्न कर के इसी मानसी सृष्टि के प्रयोग को दोहरा रहे हैं जिसे ब्रह्मा जी ने सृष्टि के प्रसार में पर्याप्त न पा कर ही मैथुनी सृष्टि रची थी। आज के वैज्ञानिक इस प्रयोगावस्था में भी यह मानने लगे हैं कि इस से सृष्टि का अधिक विस्तार होने वाला नहीं है और इन प्रयोगों में वह

इनमें नारद जी ब्रह्मा जी की गोद से, दक्ष अंगूठे से, वशिष्ठ प्राण से, भृगु त्वचा से, क्रतु हाथ से, पुलह नाभि से, पुलस्त्य ऋषि कानों से, अंगिरा मुख से, अत्रि नेत्रों से और मरीचि मन से उत्पन्न हुए। फिर उनके दायें स्तन से धर्म उत्पन्न हुआ जिसकी पत्नी मूर्ति से स्वयं नारायण अवतीर्ण हुए तथा उनकी पीठ से अधर्म का जन्म हुआ। इसी प्रकार ब्रह्मा जी के हृदय से काम, भौंहो से क्रोध, नीचे के होंठ से लोभ, मुख से वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती, लिंग से समुद्र, गुदा से पाप का निवास स्थान (राक्षसों का अधिपति) निऋति, छाया से देवहूति के पति भगवान कर्दम जी उत्पन्न हुए। इस तरह यह सारा जगत ब्रह्मा जी के शरीर और मन से उत्पन्न हुआ।

भगवान ब्रह्मा जी की कन्या सरस्वती बड़ी ही सुकुमारी और मनोहर थी।[1] एक बार उसे देख कर ब्रह्मा जी काम मोहित हो गये। यद्यपि वह स्वयं वासनाहीन थी। उन्हें ऐसा अधर्ममय संकल्प करते देख उनके पुत्र मरीचि आदि ऋषियों ने उन्हें समझाया कि आप समर्थ हो कर भी अपने मन में उत्पन्न हुए काम के वेग को न रोक कर पुत्री गमन जैसा दुष्कर पाप करने का संकल्प कर रहे हैं। ऐसा तो आप से पूर्ववर्ती किसी भी ब्रह्मा ने नहीं किया और न आगे ही कोई करेगा। आप जैसे तेजस्वी पुरुषों को ऐसा काम शोभा नहीं देता, क्योंकि आप लोगों के आचरणों का अनुसरण करने से ही तो संसार का कल्याण होता है। अपने पुत्र मरीचि आदि प्रजापतियों को अपने सामने इस प्रकार कहते देख प्रजापतियों के पति ब्रह्मा जी बड़े लज्जित हुए और उन्हों ने उस शरीर को उसी समय छोड़ दिया। तब उस घोर शरीर को दिशाओं ने ले लिया। वही कुहरा हुआ जिसे अंधकार भी कहते हैं।[2]

ब्रह्मा जी ने पहला कामासक्त शरीर जिससे कोहरा बना था–छोड़ने के बाद दूसरा शरीर धारण कर के विश्व विस्तार का विचार किया। वे देख चुके थे कि मरीचि आदि महान शक्तिशाली ऋषियों से भी सृष्टि का विस्तार अधिक नहीं हुआ, अतः वे मन ही मन पुनः चिन्ता करने लगे कि बड़ा आश्चर्य है! मेरे निरन्तर प्रयत्न करने पर भी प्रजा की वृद्धि नहीं हो रही है। मालूम होता है इसमें दैव ही कुछ विघ्न डाल रहा है।

तब भगवान विष्णु ने उन्हें आज्ञा दी कि तुम पृथ्वी पर सबसे पवित्र स्थल उत्पलारण्य के वन में यज्ञ करो। ब्रह्मा जी ने तब वहाँ भगवान शिव की मूर्ति की स्थापना कर उस स्थान का नाम ब्रह्मावर्त महादेव रखा और वहाँ यज्ञ किया।

विभीषिका भी छिपी है जब कुछ देशों के वैज्ञानिक असाधारण विनाशक प्रतिभा सम्पन्न शिशु/पुरूष उत्पन्न कर के इस सम्पूर्ण सृष्टि का ही विनाश कर सकने में समर्थ हो जायेंगें और केवल उच्च विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न, संसार कल्याणकारी शिशु/पुरूष उत्पन्न करना ही किसी को भी मान्य न होगा क्योंकि मानवी (मानव विकृत सृष्टि) ईर्ष्या, द्वेष को मानव जाति से पूर्ण रूप से मिटा पाना सम्भव नहीं है।

1. यह सरस्वती शतरूपा नाम से विख्यात हुई। वही सावित्री, गायत्री और ब्रह्माणी कही जाती है।–मत्स्य पुराण 3/31–32–पृष्ठ–10 गीता प्रेस, गोरखपुर।

2. श्रीमद्भागवत–तृतीय स्कन्ध–अध्याय–10–श्लोक 4–33 (संक्षिप्त) भाषानुवाद श्रीमद्भागवत–सुधासागर पृष्ठ 129–131–गीता प्रेस, गोरखपुर।

यज्ञ पूर्ण होने पर अकस्मात ब्रह्मा जी के शरीर के दो भाग हो गये। "क" ब्रह्मा जी का नाम है। उन्हीं से विभक्त होने के कारण शरीर को "काय" कहते है। उन दोनों विभागों से एक स्त्री पुरुष का जोड़ा उत्पन्न हुआ।" उसमें अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वायम्भुव मनु को ब्रह्मा जी ने प्रजापालन के लिये प्रथम मनु बनाया। उन स्वायम्भुव मनु ने (अपने ही साथ उत्पन्न हुई) तप के कारण निष्पाप शतरूपा [1] नाम की स्त्री को अपनी पत्नी के रूप से ग्रहण किया।"[2] यही सार्वभौम सम्राट स्वायम्भुव मनु हुए और उनसे महारानी शतरूपा हुई। तब से मिथुन धर्म (स्त्री–पुरुष सहवास) से प्रजा की वृद्धि होने लगी। महाराज मनु ने शतरूपा से पाँच संताने उत्पन्न की, उनमें प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र थे तथा आकूति, देवहूति और प्रसूति तीन कन्यायें थीं। मनु जी ने आकूति का विवाह रुचि प्रजापति से किया, मझली कन्या देवहूति कर्दम जी को दी और प्रसूति दक्ष प्रजापति को दी। आकूति का, यद्यपि उसके भाई थे तो भी महारानी शतरूपा की अनुमति से उन्हों ने रुचि प्रजापति से पुत्रिका धर्म [3] के अनुसार विवाह किया। इन तीनों कन्याओं की संतति से सारा संसार भर गया। [4]

1. यह सरस्वती 'शतरूपा' के नाम से विख्यात हुई। वही सावित्री, गायत्री और ब्रह्माणी कही जाती है।–मत्स्य पुराण 3–31–32–पृष्ठ 10–गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. श्री विष्णु पुराण–1/7/16–17। 'स्वायम्भुव मनु की कथा परम्परा' शीर्षक के अन्तर्गत अग्रेतर विवरण पीछे देखिये।
3. 'पुत्रिका धर्म' के अनुसार किये जाने वाले विवाह में यह शर्त होती है कि कन्या के जो पहला पुत्र होगा, उसे कन्या के पिता ले लेंगे। (श्रीमद्भागवत 4/12/2) साधारतया ऐसा नियम अपनी पुत्र संतान न होने पर अपनी वंश परम्परा चलाने के लिये अपनाया जाता था जैसा कि मनु स्मृति के निम्न श्लोक से स्पष्ट है:

अपुत्रोऽनेन विधिनां सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्।
यदपत्य भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधारकम्।।127।।
(अभ्रातृकां प्रादस्यामितुभ्युकन्यामलंकृताम्।
अस्यां यो जायते पुत्रसः मे पुत्रो भवेदिति।।)
अनेन तु विधानेन पुत्र चक्रेऽथा पुत्रिकाः।
विवृद्ध्यर्थ स्ववंशस्य स्वंय दक्ष प्रजापतिः।।128।।

पुत्रहीन पुरुष इस विधि से पुत्री को पुत्रिका बनावे कि इससे जो सन्तान उत्पन्न हो वही मेरा श्राद्ध करे। (मैं यह भ्रातृहीना एवं अलंकृता कन्या तुम्हें प्रदान करता हूँ। इससे उत्पन्न होने वाला पुत्र मेरे पुत्र के स्थान पर होगा।) इसी विधि से दक्ष प्रजापति ने अपनी वंश वृद्धि के लिये पूर्व काल में अपनी पुत्रिका दी थी।–मनु स्मृति–अध्याय–9–श्लोक 127–128

दक्ष ने दस कन्यायें धर्म को, तेरह कश्यप को और सत्ताइस चन्द्रमा को प्रसन्न मन से प्रदान की थीं। जैसे आत्मा और पुत्र में भेद नहीं होता वैसे ही पुत्र और पुत्री में भी भेद नहीं होता। आत्मस्वरुपा पुत्री के विद्यमान रहते हुए कोई अन्य धन कैसे ले सकता है? माता के विवाह के समय उसके पिता या भाई का धन उसकी अविवाहिता पुत्री को मिले। पुत्रहीन नाना के धन का अधिकारी दौहित्र होता है। अन्य पुत्र न होने पर पिता का भी सब धन दौहित्र लेगा और वही पिता तथा नाना को पिंड देगा। (मनु स्मृति–अध्याय–9–श्लोक 129–132)

ब्रह्मा जी ने यज्ञ स्थल पर यज्ञ के अश्व के पैर की नाल की एक कील भूमि में ठोंक दी थी। जन श्रुति कहती है कि कानपुर से उत्तर पश्चिम में लगभग 20 किलोमीटर की दूरी पर स्थित बिठूर (ब्रह्मावर्त) घाट की सीढ़ियों पर जो कील आज भी गड़ी दिखायी देती है, वह वही कील है जो ब्रह्मा जी ने लगायी थी तथा गंगा के किनारे ब्रह्मेश्वर महादेव का मन्दिर भी वही प्राचीन स्थल है जहाँ ब्रह्मा जी ने यज्ञ किया था। मेले, त्यौहार तथा अन्य स्नानादिक उत्सवों पर लोग यहाँ इस कीली की पूजा करते हैं तथा धन एवं पुष्प आदि अर्पित करते हैं।

यज्ञ पूर्ण होने पर वह जंगल ब्रह्मावर्त नगर कहलाया और मनु शतरूपा की नगरी बर्हिषमती पुरी कहलाने लगी। वही ब्रह्मावर्त नगर आज प्रचलित लोक नाम 'बिठूर' की संज्ञा से ज्ञात है। यह बिठूर भी पूर्व ब्रह्मावर्त का ही अपभ्रंश रूप है।

4. श्रीमद्भागवत–तृतीय स्कन्ध–अध्याय–12 तथा चतुर्थ स्कन्ध, प्रथम अध्याय (सृष्टि का विस्तार) तथा चतुर्थ स्कन्ध, प्रथम अध्याय (स्वायम्भुव मनु के वंश की कन्याओं का वर्णन)

अध्याय–3 मैथुनी सृष्टि एवं सूर्य वंश का विस्तार

(1) विवस्वान का जन्म

"पूर्व काल में महर्षि कश्यप जी को अदिति के गर्भ से विवस्वान (सूर्य) नामक पुत्र हुए। विवस्वान के तीन स्त्रियाँ थीं। संज्ञा, राज्ञी और प्रभा। उनमें रेवत की कन्या राज्ञी ने रैवत नामक पुत्र को तथा प्रभा ने प्रभात नाम पुत्र को उत्पन्न किया। संज्ञा त्वाष्ट्र (विश्वकर्मा) की पुत्री थी। उसने वैवस्वत मनु और यम नामक दो पुत्र एवं यमुना नाम की एक कन्या को उत्पन्न किया। इनमें यम और यमुना जुड़वें पैदा हुए थे।[1] कुछ समय बाद जब सुन्दरी त्वाष्ट्री (संज्ञा) विवस्वान (सूर्य) के तेजोमय रूप को सहन न कर सकी तब उसने अपने शरीर से अपने ही रूप के समान एक अनिन्ध सुन्दरी नारी को उत्पन्न किया। वह 'छाया' के नाम से प्रसिद्ध हुई। उस 'छाया' को अपने सामने खड़ी देख कर संज्ञा ने उससे कहा –'वरानने छाये! तुम हमारे पतिदेव की सेवा करना, साथ ही मेरी संतानों का माता के समान स्नेह से पालन–पोषण करना।' तब 'बहुत अच्छा ऐसा ही होगा'– कह कर वह सुव्रता पति की सेवा भावना से विवस्वान देव के निकट गयी। इध र विवस्वान (सूर्य) देव भी 'यह संज्ञा ही है''– ऐसा समझ कर छाया के साथ आदरपूर्वक पूर्ववत व्यवहार करते रहे। यथा समय उन्हों ने उसके गर्भ से मनु के समान रूप वाले एक पुत्र को उत्पन्न किया। वे वैवस्वत मनु के सवर्ण (समान रूप रंग वाला) होने के कारण 'सांवर्णि ' नाम से प्रसिद्ध हुए। तदुपरान्त सूर्य ने 'यह संज्ञा ही है'– ऐसा मान कर छाया के गर्भ से क्रमशः शनि नाम का पुत्र और तपती एवं विष्टि नाम की दो कन्याओं को भी उत्पन्न किया। छाया अपने पुत्र मनु के प्रति अन्य सन्तानों से अधिक स्नेह रखती थी। उसके इस व्यवहार को संज्ञानन्दन मनु तो सहन कर लेते थे परन्तु यम (एक दिन सहन न होने के कारण) क्रुद्ध हो उठे और अपने दाहिने पैर को उठा कर छाया को मारने की धमकी देने लगे। तब छाया ने यम को शाप देते हुए कहा–''तुम्हारे इस एक पैर को कीड़े काट खायेंगे और इससे पीब और रुधिर टपकता रहेगा।'' इस शाप को सुन कर अमर्ष से भरे हुए यम पिता के पास जा कर निवेदन करते हुए बोले–'देव! क्रुद्ध हुई माता ने मुझे अकारण ही शाप दे दिया है। बाल चापल्य के कारण मैंने एक बार अपना दाहिना पैर कुछ ऊपर उठा दिया था, (इस तुच्छ अपराध पर) भाई मनु के मना करने पर भी उसने मुझे ऐसा शाप दे दिया है। चूंकि इसने हम पर शाप द्वारा प्रहार किया है, इस लिये यह हम लोगों की माता नहीं प्रतीत होती (अपितु बनावटी माता है)।' यह सुन कर विवस्वान देव ने पुनः यम से कहा–'महाबुद्धे! मैं क्या करूं? अपनी मूर्खता के कारण किसको दुःख नहीं भोगना पड़ता। अथवा (जन्मान्तरीय शुभाशुभ) कर्म परम्परा का फल भोग अनिवार्य

1. इसका मूल ऋग्वेद 10/17/1–2 में ''त्वष्टा दुहित्रे–यमस्य माता–कृत्वी सवर्णा'' आदि में है।

है। यह नियम तो शिव जी पर भी लागू है, फिर अन्य प्राणियों के लिये तो कहना ही क्या है। इस लिये बेटा! मैं तुम्हें यह एक मुर्गा (या मोर) दे रहा हूँ जो पैर में पड़े हुए कीड़ों को खा जायेगा और उससे निकलते हुए मज्जा (पीब) एवं खून को भी दूर कर देगा।'।।2–17।।

पिता द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर महायशस्वी यम के मन में विराग उत्पन्न हो गया । वे गोकर्णतीर्थ में जा कर कठोर तपस्या में संलग्न हो गये। काफी समय तक तपस्या करने के पश्चात त्रिशूलधारी महादेव उनकी तपस्या से संतुष्ट हो कर प्रकट हुए। तब यम ने उनसे वर रूप में लोकपालत्व, पितरों का आधिपत्य और जगत के धर्म–अधर्म का निर्णायक–पद प्राप्त करने की इच्छा व्यक्त की। महादेव जी ने उन्हें सभी वरदान दे दिये। इधर विवस्वान संज्ञा की उस कर्म चेष्टा को जान कर त्वष्टा (विश्वकर्मा) के निकट गये और क्रुद्ध हो कर उनसे सारा वृत्तांत कह सुनाया। तब त्वष्टा ने सांत्वनापूर्वक विवस्वान से कहा–भगवन! अंधकार का विनाश करने वाले आप के प्रचण्ड तेज को सहन न कर सकने के कारण संज्ञा यहाँ मेरे समीप अवश्य आयी थी परन्तु मैंने उसे यह कहते हुए (घर में घुसने से) मना कर दिया–''चूंकि तू अपने पति देव की जानकारी के बिना छिप कर यहाँ मेरे पास आयी है, इस लिसे मेरे भवन में प्रवेश नहीं कर सकती। इस प्रकार मेरे निषेध करने पर आप के और मेरे दोनों स्थानों से निराश हो कर वह अनिन्दिता संज्ञा मरु देश को चली गयी। इस लिये दिवाकर! यदि मैं आप का अनुग्रह भाजन हूँ तो आप मुझ पर प्रसन्न हो जाइये (और मेरी एक प्रार्थना स्वीकार कीजिये)। प्रभो, मैं आप के इस असहय तेज को (खरादने वाले) यन्त्र पर चढ़ा कर कुछ कम कर दूंगा। इस प्रकार आप के रूप को लोगो के लिये आनन्ददायक बना दूंगा।'' सूर्य द्वारा उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लिये जाने पर त्वष्टा ने सूर्य को अपने (खराद) यन्त्र पर बैठा कर उनके कुछ तेज को छाँट कर अलग कर दिया। उस छाँटे हुए तेज से उन्हों ने विष्णु के सुदर्शन चक्र का, भगवान रुद्र के त्रिशूल का और दैत्यों एवं दानवों का संहार करने वाले इन्द्र के वज्र का निर्माण किया। इस प्रकार त्वष्टा ने पैरों के अतिरिक्त सूर्य के सहस्त्र किरणों वाले रूप को अनुपम सौंदर्यशाली बना दिया। उस समय वे सूर्य के पैरों के तेज को देखने में समर्थ न हो सके (इस लिये वह तेज ज्यों का त्यों बना ही रह गया)। अतः अर्चा–विग्रहों में भी कोई सूर्य के चरणों का निर्माण नहीं (करता) कराता। यदि कोई वैसा करता है तो उसे (मरने पर) अत्यन्त निन्दित पापिष्ठ गति प्राप्त होती है तथा इस लोक में वह दुःख भोगता हुआ कुष्ठ रोगी हो जाता है।।18–32।।[1]

त्वष्टा द्वारा संज्ञा का पता बतला दिये जाने पर वे देवेश्वर भगवान सूर्य भू–लोक में जा पहुँचे। वहाँ उनके द्वारा संज्ञा से अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति हुई। कुछ दिनों बाद अश्वरूपधारी सूर्य देव को पहचान कर त्वाष्ट्री (संज्ञा) परम संतुष्ट हुई और हर्ष पूर्ण चित्त से पति के साथ विमान पर बैठ कर स्वर्गलोक

1. मत्स्य पुराण–11/2–3–पृष्ठ 34–36, गीता प्रेस, गोरखपुर।

(आकाश को) चली गयी। (छाया की संतानों में) तपोधन सावर्णि मनु आज भी सुमेरु गिरि पर विराजमान हैं। शनि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से ग्रहों की समता प्राप्त की। बहुत दिनों के बाद यमुना और तपती– ये दोनों कन्यायें नदी रूप में परिणत हो गयीं। उसी प्रकार भयंकर रूप वाली तीसरी कन्या विष्टि (भद्रा) काल (करण) रूप में अवस्थित हुई। ।।34–39।। [1]

वैवस्वत मनु के दस महाबली पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनमें इल ज्येष्ठ थे, जो पुत्रेष्टि–यज्ञ के फलस्वरूप पैदा हुए थे। [2] शेष नौ पुत्रों के नाम हैं–इक्ष्वाकु, कुशनाभ (कृषनाभ), अरिष्ट, धृष्ट, नरिष्यन्त, करुष, शर्याति, पृषध्र और नाभाग। ये सब के सब महान बल–पराक्रम से सम्पन्न एवं दिव्य पुरुष थे। वृद्धावस्था आने पर महाराज मनु अपने ज्येष्ठ पुत्र इल को राज्य पर अभिषिक्त कर के स्वयं तपस्या करने के लिये महेन्द्र पर्वत के वन में चले गये। तदनन्तर नये भूपाल इल दिग्विजय करने की इच्छा से पृथ्वी पर विचरण करने लगे। वे भूपालों को पराजित करते हुए सभी द्वीपों में घूम रहे थे। इसी बीच इल घोड़ा दौड़ाते हुए शिव जी के उपवन के निकट जा पहुँचे जो 'शरवण' के नाम से प्रसिद्ध था। उसमें देवेश्वर शम्भु उमा के साथ क्रीड़ा करते हैं। उन्हों ने इस शरवण के विषय में पहले ही उमा के साथ यह 'समय' (शर्त) निर्धारित कर दिया था कि "तुम्हारे इस दस योजन विस्तार वाले वन में जो कोई भी पुरुषवाचक जीव प्रवेश करेगा, वह स्त्रीत्व को प्राप्त हो जायेगा।[3] राजा इल को पहले से इस 'समय' (शर्त) के विषय में जानकारी नहीं थी, अतः वे स्वच्छंद गति से शरवण में प्रविष्ट हुए और प्रवेश करते ही वे स्त्रीत्व को प्राप्त हो गये।

1. मत्स्य पुराण–11/34–39–पृष्ठ 36, गीता प्रेस, गोरखपुर।
2. वैवस्वत मनु पहले सन्तान हीन थे। उस समय सर्वसमर्थ भगवान वशिष्ठ ने उन्हें संतान प्राप्त कराने के लिये मित्रावरुण का यज्ञ कराया था। यज्ञ के आरम्भ में केवल दूध पी कर रहने वाली वैवस्वत मनु की धर्मपत्नी श्रद्धा ने अपने होता के पास जा कर प्रणाम पूर्वक याचना की कि मुझे कन्या प्राप्त हो। तब अध्वर्यु की प्रेरणा से होता बने हुए ब्राह्मण ने श्रद्धा के कथन का स्मरण कर के एकाग्र चित्त से वषट्कार का उच्चारण करते हुए यज्ञ कुण्ड में आहुति दी। जब होता ने इस प्रकार विपरीत कर्म किया, तब यज्ञ के फलस्वरूप पुत्र के स्थान पर इला नाम की कन्या हुई। उसे देख कर श्राद्ध देव मनु का मन कुछ विशेष प्रसन्न नहीं हुआ। मनु द्वारा वशिष्ठ से इस वैदिक कर्म के ऐसा विपरीत फल देने वाला होने का कारण पूछे जाने पर गुरु वशिष्ठ ने होता के विपरीत संकल्प की बात जान ली और अपने तप के प्रभाव से उस इला नाम की कन्या को ही भगवान श्री हरि से वर प्राप्त कर उसके प्रभाव से सुद्युम्न नामक श्रेष्ठ पुत्र बना दिया।
—श्रीमद्भागवत्–नवम स्कन्ध–अध्याय एक–श्लोक 13–22।।
3. एक दिन भगवान शंकर का दर्शन करने के लिये बड़े–बड़े व्रतधारी ऋषि अपने तेज से दिशाओं का अन्धकार मिटाते हुए उस वन में गये। उस समय अम्बिका देवी वस्त्रहीन थीं। ऋषियों को सहसा आया देख वे अत्यंत लज्जित हो गयीं, झटपट उन्हों ने भगवान शंकर की गोद से उठ कर वस्त्र धारण कर लिया।

उसी समय वह घोड़ा भी घोड़ी के रूप में परिवर्तित हो गया। इल के शरीर से सारा पुरुषत्व नष्ट हो गया। इस प्रकार स्त्री रूप हो जाने पर राजा को परम विस्मय हुआ।। 34–47 [1]

अतः वह नारी इला के नाम से प्रख्यात हुई। अब सुद्युम्न स्त्री हो गये थे। इस लिये वे अपने स्त्री बने हुए अनुचरों के साथ एक वन से दूसरे में विचरने लगे। उसी समय शक्तिशाली बुध ने देखा कि मेरे आश्रम के पास ही बहुत सी स्त्रियों से घिरी हुई एक सुंदर स्त्री विचर रही है। उन्हों ने इच्छा की कि यह मुझे प्राप्त हो जाय। उस सुन्दरी स्त्री ने भी चन्द्रकुमार बुध को पति बनाना चाहा। इस पर बुध ने उसके गर्भ से पुरुरवा नाम का पुत्र उत्पन्न किया। इस प्रकार मनुपुत्र राजा सुद्युम्न स्त्री हो गये। ऐसा सुना जाता है कि उन्हों ने उस अवस्था में अपने कुल पुरोहित वशिष्ठ जी का स्मरण किया। सुद्युम्न की यह दशा देख कर वशिष्ठ जी के ह्रदय में कृपावंश अत्यंत पीड़ा हुई। उन्हों ने भगवान शंकर की आराधना की (सुद्युम्न के छोटे भाई इक्ष्वाकु के माध्यम से अश्वमेध यज्ञ करवा कर उसका फल भगवान शंकर को अर्पित किया)। भगवान शंकर ने वशिष्ठ जी पर प्रसन्न हो कर अपनी वाणी को सत्य रखते हुए ही कहा– तुम्हारा यह यजमान एक महीने तक पुरुष रहेगा और एक महीने तक स्त्री। इस व्यवस्था से सुद्युम्न इच्छानुसार पृथ्वी का पालन करे। तब सुद्युम्न पृथ्वी का पालन करने लगे परन्तु प्रजा उनका अभिनन्दन नहीं करती थी।।33–40।।[2]

तभी से इल के नाम पर उस वर्ष का नाम इलावृत वर्ष पड़ गया। इस प्रकार चन्द्र वंश और सूर्य वंश के आदि में सर्वप्रथम मनु नन्दन इल ही राजा हुए थे। जैसे इल की पुरुषावस्था में उत्पन्न हुए राजा पुरुरवा चन्द्र वंश की वृद्धि करने वाले थे, वैसे ही महाराज इक्ष्वाकु सूर्य वंश के विस्तारक कहे गये हैं। किम्पुरुष–योनि में रहते समय इल सुद्युम्न नाम से कहे जाते थे। उन सुद्युम्न के पुनः उत्कल, गय और हरिताश्व नामक तीन पुत्र उत्पन्न हुए। इल ने (अपने इन चारों पुत्रों में से) उत्कल को उत्कल (उड़ीसा), गय को गया प्रदेश और हरिताश्व को कुरुप्रदेश की सीमावर्तिनी पूर्व दिशा का प्रदेश (राज्य) समर्पित किया। तत्पश्चात (वशिष्ठ के कहने से) अपने ज्येष्ठ पुत्र पुरुरवा का प्रतिष्ठानपुर (वर्तमान झूसी, जिला इलाहाबाद) में अभिषेक कर के वे स्वयं दिव्य फलाहार का उपभोग करने के लिये इलावृतवर्ष में चले गये। (सुद्युम्न के बाद) मनु के ज्येष्ठ

ऋषियों ने भी देखा कि भगवान शंकर इस समय विहार कर रहे हैं, इस लिये वहाँ से लौट कर वे भगवान नर–नारायण के आश्रम पर चले गये। उसी समय भगवान शंकर ने अपनी प्रिया भगवती अम्बा को प्रसन्न करने के लिये कहा कि "मेरे सिवा जो भी पुरुष इस स्थान मे प्रवेश करेगा वही स्त्री हो जायेगा।" तभी से पुरुष उस स्थान में प्रवेश नहीं करते थे।
—श्रीमद्भागवत नवम् स्कन्ध–अध्याय–1–श्लोक 29–32 गीता प्रेस, गोरखपुर
1. मत्स्य पुराण, अध्याय–11–श्लोक 34–47–पृष्ठ 37–गीता प्रेस गोरखपुर।
2. श्रीमद्भागवत 9/2/33–40–गीता प्रेस, गोरखपुर

पुत्र इक्ष्वाकु मध्य देश के अधिकारी हुए। (मनु के अन्य पुत्रों में) नरिष्यन्त के शुच नामक महाबली पुत्र हुआ। नाभाग के अम्बरीष और धृष्ट के धृष्टकेतु, चित्रनाथ और रणधृष्ट नामक तीन पराक्रमी पुत्र हुए। शर्याति के आनर्त नामक एक पुत्र तथा सुकन्या नाम्नी एक पुत्री हुई। आनर्त के रोचमान नामक पुत्र हुआ।आनर्त द्वारा शासित देश का नाम आनर्त (गुजरात) पड़ा और कुशस्थली (द्वारका) नगरी उसकी राजधानी हुई। रोचमान का पुत्र रेव हुआ जो रैवत और कुकुद्मी नाम से भी पुकारा जाता था। वह रोचमान के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ था। उसके रेवती नाम की एक कन्या हुई जो बलराम जी की भार्या के रूप से विख्यात है। करूष के बहुत से पुत्र थे जो भूतल पर कारूष नाम से विख्यात हुए। पृषध्र गौ की हत्या कर देने के कारण गुरु के शाप से शूद्र हो गये।।14–24।। •

एतत्पश्चात इक्ष्वाकु वंश के मुख्य–मुख्य राजाओं का वर्णन आगे वंश या वली में दिया जा रहा है।

सूर्य वंश–प्रधान प्रधान राजाओं का वर्णन

स्वायम्भुव नारायण भगवान (मार्तण्ड) प्रजापति चतुर्मुख लोक पितामह ब्रह्मा जी

|

मरीचि (1)

(मानस पुत्र)

|

कश्यप (2)

(गोत्र प्रवर्तक सप्तर्षि दक्ष पुत्री (पत्नी) अदिति से हुआ वंश विस्तार)

• मत्स्य पुराण अध्याय–12– श्लोक 14–24 पृष्ठ संख्या 40–41 – गीता प्रेस, गोरखपुर।

(1) इन्हें कर्दम ऋषि की पुत्री कला ब्याही थी जिससे कश्यप जी उत्पन्न हुए।

(2) ब्रह्मा जी ने मरीचि सहित जिन नौ प्रजापतियों की मानसी सृष्टि की थी (दसवें नारद थे) उनमें नवें दक्ष प्रजापति थे। दक्ष प्रजापति ने पहले जल, थल और आकाश में रहने वाले देवता, असुर, एवं मनुष्य आदि प्रजा की सृष्टि अपने संकल्प से ही की। जब उन्हों ने देखा कि वह सृष्टि बढ़ नहीं रही है तब उन्हों ने विंध्याचल के निकटवर्ती पर्वतों पर बड़ी घोर तपस्या कर भगवान की स्तुति की। उनकी स्तुति से प्रसन्न हो कर भगवान ने उन्हें दर्शन दे कर आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम पंचजन प्रजापति की कन्या असिक्नी को ग्रहण करो और गृहस्थोचित स्त्री सहवास रूप धर्म को स्वीकार करो और इसके द्वारा बहुत सी प्रजा उत्पन्न करो। अब तक मानसी सृष्टि होती थी परन्तु अब तुम्हारे बाद सारी प्रजा मेरी माया से स्त्री–पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न होगी। (श्रीमद्भागवत 6/4/19–53) तदनन्तर इस असिक्नी के गर्भ से दक्ष ने साठ कन्यायें उत्पन्न कीं जिसमें से 10 कन्यायें धर्म को, 13 कश्यप को, 27 चन्द्रमा को, 2 भूत को,

कश्यप (2)

- अवत्सार
  - रैभः
  - निध्रुव
- असितः
  - शण्डिल (4)
- विवस्वान
  - बारह आदित्य (6)
- मित्र वरुण (3)
  - वशिष्ठ
    - शक्ति
    - पराशर
    - व्यास
    - (द्वैपायन (5)
  - अगस्त्य

---

2 अंगिरा को, 2 कृशाश्व को और शेष 4 तार्क्ष्य नाम धारी कश्यप को ब्याह दीं। (श्रीमद्भागवत् 6/6/1–2)। दक्ष प्रजापति की कश्यप जी को दी गयी 13 कन्याओं में से प्रथम, दक्ष पुत्री अदिति के गर्भ से उत्पन्न विवस्वान (सूर्य) द्वारा जिस सूर्य वंश का विस्तार हुआ वही उपरोक्त वंशावली में दिया जा रहा है। दक्ष प्रजापति की कश्यप जी को ब्याही इन तेरह कन्याओं से हुआ वंश विस्तार इस प्रकार है: (कश्यप की पत्नी यही तेरह दक्ष कन्यायें लोक मातायें कहलाती हैं। उन्हीं से यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है।)

1. **अदिति**– से विवस्वान, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, इन्द्र और त्रिविक्रम (वामन अवतार) हुए। यही बारह आदित्य कहलाये। (श्रीमद्भागवत् 6/6/38–39) इन्हीं से बारह आदित्य (सूर्य) वंशों का विस्तार हुआ।

2. **दिति**– के दैत्यों और दानवों के वन्दनीय दो ही पुत्र हुए–हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष। हिरण्याक्ष के कोई संतान नहीं थी। वह युवावस्था में ही भगवान वाराह के हाथों मारा गया। हिरण्यकशिपु की पत्नी दानवी कयाधु के चार पुत्र हुए– संहाद, अनुहाद, हाद और प्रहलाद, तथा सिंहिका नाम की एक पुत्री हुई। इनमे संहाद के पंचजन, अनुहाद के बाष्कल और महिषासुर, हाद के वातापि और इल्वल तथा प्रहलाद के विरोचन, विरोचन के बलि और बलि के वाणासुर हुआ। सिंहिका (पत्नी विप्रचित्ति) के सबसे बड़े पुत्र का नाम राहु था जिसकी गणना ग्रहों में हो गयी तथा उसके सौ पुत्र और थे जिनका नाम केतु हुआ। सिंहिका का दूसरा नाम निर्ऋति भी था इसी लिये राहु को नैऋत कहते हैं। दिति के हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष के अतिरिक्त उनचास पुत्र और थे। उन्हें मरुद्गण कहते है। वे सब निस्संतान रहे। (श्रीमद्भागवत् 6/18/10–19 तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण–ब्रह्म खण्ड अध्याय–9) (इन मरुद्गणों की कथा श्रीमद्भागवत् 6/18/20–78 में दी गयी है।)

3. **दनु**– के स्वर्भानु, वृषपर्वा, विप्रचित्ति, वैश्वानर आदि 61 पुत्र हुए। वैश्वानर की चार सुंदरी कन्यायें थीं। इनके नाम थे उपदानवी, हयशिरा, पुलोमा और कालका। इनमें से उपदानवी के साथ हिरण्याक्ष का और हयशिरा के साथ ब्रह्मा के मानस

पुत्र क्रुत का विवाह हुआ। ब्रह्मा जी की आज्ञा से प्रजापति भगवान कश्यप ने ही वैश्वानर की शेष दो पुत्रियों – पुलोमा और कालका के साथ विवाह किया। उनसे पौलोम और कालकेय नाम के साठ हजार रणवीर दानव हुए। इन्हीं का दूसरा नाम निवातकवच था। ये यज्ञ कर्म में विध्न डालते थे, इस लिये पांडुपुत्र अर्जुन ने अकेले ही उन्हें इन्द्र को प्रसन्न करने के लिये मार डाला। (श्रीमद्भागवत् 6/6/33–37)

4. **काष्ठा**– से घोड़े आदि एक खुर वाले पशु उत्पन्न हुए।

5. **अरिष्टा**– से गन्धर्व उत्पन्न हुए।

6. **सुरसा**– से यातुधान (राक्षस) उत्पन्न हुए (सुरसा नाम अहिन की माता– रामचरित मानस)

7. **इला**– से वृक्ष, लता आदि पृथ्वी में उत्पन्न होने वाली वनस्पतियां उत्पन्न हुईं।

8. **मुनि**– से अप्सरायें उत्पन्न हुईं।

9. **क्रोधवशा**–के पुत्र साँप, बिच्छू आदि विषैले जन्तु हुए।

10. **ताम्रा**– की सन्तान बाज, गीध आदि शिकारी पक्षी हुए।

11. **सुरभि**– के पुत्र हैं–भैंस, गाय तथा दूसरे दो खुर वाले पशु।

12. **सरमा**– के बाघ आदि हिंसक जीव हुए।

13. **तिमि**– के पुत्र हैं जलचर जन्तु (श्रीमद्भागवत् 6/6/24–29)

(3) श्रीमद्भागवत् स्कन्ध 6,अध्याय–18 श्लोक 1–8 में इनकी कथा दी गयी है।

(4) इन्हीं शण्डिल ऋषि के नाम से शाँडिल्य गोत्र चला है–खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 113, श्रीमद्भागवत् महात्म्य अध्याय–1, श्लोक 16 में यह भी कहा गया है कि ये ही महर्षि शाण्डिल्य पहले नन्द आदि गोपों के पुरोहित थे।

(5) स्वयं भगवान विष्णु पराशर के पुत्र रूप में द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुए जिन्हों ने इस लोक में भारत रूपी चन्द्रमा को प्रकाशित किया। (मत्स्य पुराण अध्याय 201/31)

(6) **बारह आदित्य**– महाभारत (आदि पर्व 1 : 40) के अनुसार द्वादश आदित्य (सूर्य) के नाम (1) दिवस्पुत्र (2) ब्रहदभानु (3) चक्षु (4) आत्मा (5) विभावसु (6)सवितृ (7) ऋचीक (8) अर्क (9) भानु (10) आशावह (11) रवि तथा (12) विवस्वत हैं। वे द्वादश सूर्य वर्ष के 12 मासों के ही रूप हैं। सूर्य से 12 की संख्या का भी बोध होता है। मान्यता है कि प्रलय काल मे ये द्वादश सूर्य अपनी पूर्ण गरिमा में तपते हैं जिसमे संसार भस्म हो जाता है।

महाप्रलय के समय का अवसान होने पर यह सारा स्थावर–जंगम रूप जगत सोये हुए की भाँति अंधकार से आच्छन्न था। न तो इसके विषय में कोई कल्पना ही की जा सकती थी, न कोई वस्तु जानी ही जा सकती थी, न किसी

वस्तु का कोई चिन्ह ही अवशेष था। सभी वस्तुयें विस्मृत हो चुकी थीं। कोई ज्ञातव्य वस्तु रह ही नहीं गयी थी। तदनन्तर जो पुण्यकर्मों के उत्पत्ति स्थान तथा निराकार हैं, वे स्वयंभू भगवान इस समस्त जगत को प्रकट करने के अभिप्राय से अन्धकार का भेदन कर के प्रादुर्भूत हुए। उस समय जो इन्द्रियों से परे, परात्पर, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, महान से भी महान, अविनाशी और नारायण ही आविर्भूत हुए, उन्हों ने अपने शरीर से अनेक प्रकार के जगत की सृष्टि करने की इच्छा से (पूर्व सृष्टि का) भली भांति ध्यान कर के प्रथमतः जल की ही रचना की (जल को आपः–स्त्री भी कहते हैं) और उसमें (अपने वीर्य स्वरूप) बीज का निक्षेप किया। वही बीज एक हजार वर्ष व्यतीत होने पर सुवर्ण एवं रजतमय अण्डे के रूप में परिणत हो गया। उसकी कांति दस सहस्त्र सूर्यों के सदृश थी। तत्पश्चात महातेजस्वी स्वयम्भू स्वयं ही उस अण्डे के भीतर प्रविष्ट हो गये तथा अपने प्रभाव से एवं उस अण्डे में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण वे पुनः विष्णु–भाव को प्राप्त हो गये। तदनन्तर उस अण्डे के भीतर सर्वप्रथम ये भगवान सूर्य उत्पन्न हुए, जो आदि से प्रकट होने के कारण "आदित्य" और वेदों का पाठ करने से "ब्रह्मा" नाम से विख्यात हुए। उन्हों ने ही उस अण्डे को दो भागों में विभक्त कर स्वर्ग लोक और भूतल की रचना की तथा उन दोनों के मध्य में सम्पूर्ण दिशाओं और अविनाशी आकाश का निर्माण किया। उस समय उस अण्डे के जरायु–भाग से मेरु आदि सातों पर्वत प्रकट हुए और जो उल्ब (गर्भाशय) था, वह विद्युत्समूह सहित मेघमण्डल के रूप में परिणत हुआ तथा उसी अण्डे से नदियाँ, पितृगण और मनु समुदाय उत्पन्न हुए। नाना रत्नों से परिपूर्ण जो ये लवण, इक्षु, सुरा आदि सातों समुद्र हैं, वे भी उस अण्डे के अन्तः स्थित जल से प्रकट हुए। जब उन प्रजापति देव को सृष्टि रचने की इच्छा हुई, तब वहीं उनके तेज से ये मार्तण्ड (सूर्य) प्रादुर्भूत हुए। चूंकि ये अण्डे के मृत हो जाने के पश्चात उत्पन्न हुए थे, इस लिये "मार्तण्ड" नाम से प्रसिद्ध हुए। उन महात्मा का जो रजोगुणमय रूप था, वह लोकपितामह चतुर्मुख भगवान ब्रह्मा के रूप में प्रकट हुआ। जिन्हों ने देवता, असुर और मानव सहित समस्त जगत की रचना की, वह रजोगुण रूप प्रसिद्ध महान सत्त्व है।। 25–37।।

मत्स्य पुराण–अध्याय–2–श्लोक 25–37– पृष्ठ–6–7, ऋग्वेद के मण्डल 10 का सूक्त 121 इन्हीं भगवान हिरण्यगर्भ की स्तुति में है।

देवताओं के पितामह ब्रह्मा ने पहले बड़ा ही कठोर तप किया था, जिसके प्रभाव से अंग, उपांग, पद और क्रम सहित वेदों का प्रादुर्भाव हुआ। सम्पूर्ण शास्त्रों की उत्पत्ति के पूर्व ब्रह्मा ने उस पुराण का स्मरण किया, जो अविनाशी, शब्दमय, पुण्यशाली एवं सौ करोड़ श्लोकों में विस्तृत है। तदन्तर ब्रह्मा के मुखों से वेद, आठ प्रमाणों (पौराणिकी के आठ प्रमाण ये हैं– प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द (आप्तवचन), अनुपलब्धि, अर्थापत्ति, ऐतिह्य और स्वभाव–सर्वदर्शन संग्रह) सहित मीमांसा और न्याय शास्त्र का आविर्भाव हुआ। तत्पश्चात वेदाभ्यास में

निरत रहने वाले ब्रह्मा ने दस मानस पुत्रों को उत्पन्न किया। मानसिक संकल्प से उत्पन्न होने के कारण वे सभी मानस पुत्र के नाम से प्रख्यात हुए। ।2–5।।

ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न हुए मातृ विहीन पुत्रों में दक्ष, धर्म, कामदेव, क्रोध, लोभ, मोह, मद, प्रमोद, और मृत्यु की उत्पत्ति हुई। ब्रह्मा की दसवीं संतान (एक) कन्या है जो अंगजा नाम से विख्यात हुई। ।6–12।।

जब ब्रह्मा जी ने जगत की सृष्टि करने की इच्छा से हृदय में सावित्री का ध्यान कर के तपश्चरण प्रारम्भ किया, उस समय जप करते हुए उनका निष्पाप शरीर दो भागों में विभक्त हो गया। उनमें आधा भाग स्त्री रूप तथा आधा भाग पुरुष रूप हो गया। वह स्त्री सरस्वती, "शतरूपा" नाम से विख्यात हुई। वही सावित्री, गायत्री और ब्रह्माणी भी कही जाती है। इस प्रकार ब्रह्मा ने अपने शरीर से उत्पन्न होने वाली सावित्री को अपनी पुत्री के रूप में स्वीकार किया परन्तु तत्काल ही उस सावित्री को देख कर सर्वश्रेष्ठ प्रजापति ब्रह्मा मुग्ध हो उठे। ब्रह्मा को सावित्री के मुख की ओर अवलोकन करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दीखता था। जब सावित्री झुक कर उन्हें प्रणाम करने लगी, तब ब्रह्मा पुनः उसे देखने लगे। तदनन्तर सुन्दरी सावित्री ने अपने पिता ब्रह्मा की प्रदक्षिणा की। इसी समय सावित्री के रूप का अवलोकन करने की इच्छा होने के कारण ब्रह्मा के मुख के दाहिने पार्श्व में पीले गण्डस्थलों वाला (एक दूसरा) नूतन मुख प्रकट हो गया। पुनः विस्मययुक्त एवं फड़कते होठों वाला दूसरा (तीसरा) मुख पीछे की ओर उद्भूत हुआ तथा उनकी बायीं ओर कामदेव के वाणों से व्यथित से दीखने वाले एक अन्य (चौथे) मुख का आविर्भाव हुआ। सावित्री की ओर बार–बार अवलोकन करने के कारण ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रचना के लिये जो अत्यन्त उग्र तप किया गया था, उसका सारा फल नष्ट हो गया तथा उसी पाप के परिणामस्वरूप बुद्धिमान ब्रह्मा के मुख के ऊपर पाँचवा मुख आविर्भूत हुआ, जो जटाओं से व्याप्त था। ऐश्वर्यशाली ब्रह्मा ने उस मुख को भी वरण (स्वीकार) कर लिया। ।30–40।।

तदनन्तर ब्रह्मा ने अपने उन मरीचि आदि मानस पुत्रों को आज्ञा दी कि तुम लोग भूतल पर चारों ओर देवता, असुर और मानव रूप प्रजाओं की सृष्टि करो। पिता द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर उन पुत्रों ने अनेकों प्रकार की प्रजाओं की रचना की। सृष्टि कार्य के लिये अपने उन पुत्रों के चले जाने पर विश्वात्मा ब्रह्मा ने प्रणाम करने के लिये चरणों में पड़ी हुई उस अनिन्दिता शतरूपा का पाणिग्रहण किया। तदनन्तर अधिक समय व्यतीत होने के उपरान्त शतरूपा के गर्भ से मनु नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो स्वायम्भुव नाम से विख्यात हुआ। उसे विराट भी कहा जाता है तथा अपने पिता ब्रह्मा के रूप और गुण की समानता के कारण उसे लोग अधिपुरुष भी कहते हैं–ऐसा सुना गया है। ।41–45।।–मत्स्य पुराण–अध्याय 4–श्लोक 25–45 पृष्ठ 8 से 11।

इन ब्रह्मा द्वारा अपनी पुत्री की ओर बार–बार अवलोकन करने से भी ब्रह्मा को दोषभागी नहीं माना जाता क्योंकि रजोगुण से उत्पन्न हुई यह शतरूपा रूपी

आदि सृष्टि दिव्य है। जिस प्रकार इस (मूल प्रकृति) की इंद्रियाँ, इंद्रियों के विषयों से अतीत हैं, उसी प्रकार इस (शतरूपा, सहस्त्र रूपा नारी) का शरीर भी इंद्रियातीत है। यह दिव्य तेज से सम्पन्न एवं दिव्य ज्ञान से समुद्भूत है, अतः माँस पिन्ड रूप नेत्र धारी मानवों द्वारा इसका भली भांति वर्णन नहीं किया जा सकता। जैसे सर्पों के मार्ग को सर्प तथा सम्पूर्ण पक्षियों के मार्ग को आकाशचारी पक्षी ही जान सकते हैं, वैसे ही (शतरूपा आदि) दिव्य जीवों के (अचिन्त्य) मार्ग को दिव्य जीव ही समझ सकते हैं, मानव कदापि नहीं जान सकते। चूंकि देवताओं के कार्य (करने योग्य अर्थात उचित) तथा अकार्य (न करने योग्य अर्थात् अनुचित) शुभ एवं अशुभ फल देने वाले नहीं होते, इस लिये उनके विषय में विचार करना मानवों के लिए श्रेयस्कर नहीं है। दूसरा कारण यह है कि जिस प्रकार ब्रह्मा सारे वेदों के अधिष्ठाता हैं, उसी प्रकार (शतरूपा रूपी) गायत्री ब्रह्मा के अंग से उत्पन्न हुई बतलायी जाती है। इस लिये यह मिथुन रूप (जोड़ा) अमूर्त (अव्यक्त) या मूर्तिमान (व्यक्त) दोनों ही रूपों में कहा जाता है। यहाँ तक कि जहाँ–जहाँ भगवान ब्रह्मा हैं, वहाँ–वहाँ (गायत्री रूपी) सरस्वती देवी भी हैं और जहाँ–जहाँ सरस्वती देवी हैं, वहाँ–वहाँ ब्रह्मा भी हैं। जिस प्रकार धूप (सूर्य) छाया से विलग हो कर कहीं भी दिखायी नहीं पड़ती, उसी प्रकार गायत्री भी ब्रह्मा के सामीप्य को नहीं छोड़ती हैं। यद्यपि ब्रह्मा वेद समूह रूप हैं और सावित्री (या सरस्वती) उनकी अधिष्ठात्री देवी हैं इस लिये ब्रह्मा को सावित्री पर कुदृष्टि डालने से कोई दोष नहीं लगा, तथापि उस समय अपने उस कुकर्म से प्रजापति ब्रह्मा लज्जा से अभिभूत हो गये और कामदेव को शाप देते हुए यों बोले–'चूंकि तुमने अपने बाणों द्वारा मेरे भी मन को भली भांति क्षुब्ध कर दिया है इस लिये भगवान रुद्र शीघ्र ही तुम्हारे शरीर को भस्म कर डालेंगे।' तदनन्तर कामदेव ने बड़ी अनुनय–विनय से ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया। वह बोला–'मानद! इस विषय में आप का मुझे निष्कारण ही शाप देना उचित नहीं है। आप ने ही तो मुझे इस प्रकार सम्पूर्ण देह– धारियों की इन्द्रियों को क्षुब्ध करने के लिये पैदा किया है। आप ने ही पहले मुझे ऐसी आज्ञा दी है कि स्त्री–पुरुष का कोई विचार न कर के तुम प्रयत्नपूर्वक सर्वत्र सर्वदा उनके मन को क्षुब्ध किया करो। इस लिये मैं निरपराध हूँ, तदापि आप ने मुझे वैसा शाप दे डाला है, अतः मुझ पर कृपा कीजिये, जिससे मैं पुनः अपने पूर्व शरीर को प्राप्त कर सकूं।'

तब ब्रह्मा जी ने उस पर कृपा करते हुए कहा कि–कामदेव! वैवस्वत मन्वन्तर के प्राप्त होने पर मेरे बल पराक्रम से सम्पन्न हो कर बलराम कृष्ण के मानव रूप में अवतार लेने पर श्री कृष्ण के पुत्र रूप में उत्पन्न होने के पश्चात तुम भरत वंश में महाराज वत्स के पुत्र होगे। तत्पश्चात विद्याधरों के अधिपति हो कर महाप्रलय पर्यन्त धर्मपूर्वक सुखों का उपभोग कर के मेरे समीप वापस आ जाओगे। इस प्रकार शाप और कृपा से संयुक्त कामदेव शोक और आनन्द से अभिभूत हो कर जैसे आया था, वैसे ही चला गया।

– मत्स्य पुराण–4/3–21 पृष्ठ संख्या 12–13 गीता प्रेस, गोरखपुर।
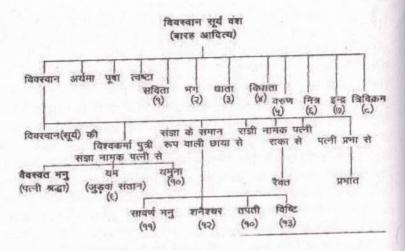
(1) सविता की पत्नी पृश्नि के गर्भ से आठ सन्तानें हुईं—सावित्री, व्याहृति, त्रयी, अग्नि–होत्र, पशु चातुर्मास्य और पंच महायज्ञ।

(2) भग की पत्नी सिद्धि ने महिमा, विभु और प्रभु ये तीन पुत्र और आशिष नाम की एक कन्या उत्पन्न की।

(3) धाता की चार पत्नियां थीं– कुहू, सिनीवाली, राका और अनुमति। उनसे क्रमशः सायं, दर्श, प्रातः और पूर्णमास ये चार पुत्र हुए। ये चारों ऋषि अंगिरा की पत्नी श्रद्धा से उत्पन्न पुत्रियाँ थीं।

(4) विधाता की पत्नी क्रिया थी। उससे पुरीष नाम के पाँच अग्नियों की उत्पत्ति हुई।

(5) वरुण जी की पत्नी का नाम चर्षणी था। उससे भृगु जी ने पुनः जन्म ग्रहण किया। इसके पहले वे ब्रह्मा जी के पुत्र थे। महायोगी बाल्मीकि जी भी वरुण के पुत्र थे। वल्मीकि से पैदा होने के कारण ही उनका नाम बाल्मीकि पड़ गया था।

(6) मित्र और वरुण दोनों बद्रिकाश्रम में दुष्कर तपस्या में तत्पर थे। उनके तपस्या मे रत रहने पर किसी समय बसन्त में सुन्दरी उर्वशी महीन लाल वस्त्र धारण किये पुष्पों को चुनती हुई संयोगवश उन दोनो तपस्वियों की आँखों के सामने आ गयी। उर्वशी को देख कर उसके रूप पर मोहित हो उन दोनों तपस्वियों का मन क्षुब्ध हो उठा और तपस्या करते ही उन दोनों का वीर्य मृगासन पर स्खलित हो गया। तब शाप से भयभीत हुई सुन्दरी उर्वशी ने उस वीर्य को जल पूर्ण मनोरम कलश में रख दिया। उस कलश से वशिष्ठ और अगस्त्य नामक दो ऋषि श्रेष्ठ उत्पन्न हुए जो भू–तल पर अनुपम तेजस्वी थे। वे मित्र और वरुण के पुत्र कहलाये।

(7) इन्द्र की पत्नी पुलोम नन्दिनी शची थीं, उससे उन्हों ने तीन पुत्र उत्पन्न किये–जयन्त, ऋषभ और मीढवान।

(8) स्वयं भगवान विष्णु ही (बलि पर अनुग्रह करने और इन्द्र का राज लौटाने के लिये) माया से वामन (उपेन्द्र) के रूप में अवतीर्ण हुए थे। उन्हों ने तीन पग पृथ्वी मांग कर तीनों लोक नाप लिये थे। उनकी पत्नी का नाम था कीर्ति। उससे बृहच्छलोक नाम का पुत्र हुआ। उससे सौभाग्य आदि कई सन्तानें हुईं।

— श्रीमद्भागवत षष्ठ स्कन्ध– अठारहवां अध्याय– श्लोक 1–8

(9) यम को अपनी तपस्या के प्रभाव से ब्रह्मा जी से लोक पाल की पदवी प्राप्त कर पितृलोक का राज्य और धर्माधर्म के निर्णय का अधिकार मिल गया और वे यमराज कहलाने लगे।

(10) यमुना और तपती दोनों सूर्य कन्यायें नदी हो गयीं।

(11) इन मनु का वर्ण वैवस्वत मनु के समान होने के कारण इनका नाम सावर्ण मनु पड़ गया।

(12) छाया के पुत्र शनैश्चर भी तप के प्रभाव से ग्रहों की समानता को प्राप्त हुए।

(13) विष्टि का स्वरूप बड़ा भयंकर था। वह काल रूप से स्थित हुई।
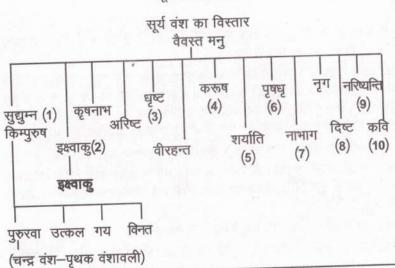
(1) किम्पुरुष रूप से इला–चन्द्रमा पुत्र बुध के संसर्ग से पुरुरवा का जन्म हुआ जिससे चन्द्र वंश चला।

(2) इक्ष्वाकु द्वारा ही सूर्य वंश का अधिकाधिक विस्तार हुआ। इनके पोते मिथिल ने मिथिला बसाया था। मिथिला में आज भी जितने खत्री हैं उतने सारे बिहार प्रान्त में भी नहीं हैं। इन्हीं के वंश में भगवान रामचन्द्र जी ने जन्म लिया। अयोध्या इक्ष्वाकु की बसायी कही जाती है। (खत्रिय इतिहास–'बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 218)

(3) इनके धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए जो उग्र तपस्या से इस शरीर से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए (श्रीमद्भागवत 9/2/17) तथा ब्रह्म क्षत्रिय के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हीं के नाम से ब्रह्मक्षत्रियों की उत्पत्ति कही जाती है। इनसे धार्ष्टत क्षत्रिय राजवंश की स्थापना हुई। इस वंश की व्युत्पत्ति कथा आगे दी गयी है तथा इसका विवरण खत्री जाति परिचय (पृष्ठ 59–63) में भी दिया गया है। इन्हें वाहीक प्रदेश मिला था।

(4) करुष (रेवा प्रदेश–करुष वंश) के कारूष नामक क्षत्रिय उत्पन्न हुए। वे बड़े ही ब्राह्मणभक्त, धर्म प्रेमी एवं उत्तरापथ के रक्षक थे। (श्रीमद्भागवत 9/2/16) इनकी अलग शाखा चली। यह माना जाता है कि इन्हीं करुष का अपभ्रंश रूप करुखे, कुरुसिये, कुर्छिय या कुर्षिय, कल्ख या कारुस है जो क्षत्रियों (खत्रियों) की वर्तमान अल्लें हैं।

(5) इनकी पुत्री सुकन्या च्यवन ऋषि को ब्याही थी तथा इन्हीं के पुत्र आनर्त के बेटे रेवत ने कुशस्थली (द्वारकापुरी) को बसाया था (खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद– पृष्ठ 218)। इन्हें आनर्त देश (गुजरात) का राज्य मिला था और इनसे शर्याति राजवंश चला।

(6) गुरू वशिष्ठ ने प्रषध्र को गायों की रक्षा में नियुक्त कर रखा था अतः वह रात्रि के समय बड़ी सावधानी से वीरासन से बैठा रहता और गायों की रक्षा करता। एक दिन रात में वर्षा हो रही थी। उस समय गायों के झुण्ड मे एक बाघ घुस आया। उससे डर कर सोयी हुई गौएं उठ खड़ी हुईं। वे गौशाला में ही इधर उधर भागने लगीं। बलवान बाघ ने एक गाय को पकड़ लिया। वह अत्यंत भयभीत हो कर चिल्लाने लगी। उसका वह क्रन्दन सुन कर प्रषध्र गाय के पास दौड़ आया। एक तो रात का समय और दूसरे घनघोर घटाओं से आच्छादित होने के कारण तारे भी नहीं दिखते थे। उसने हाथ में तलवार उठा कर अनजान में ही बड़े वेग से गाय का सिर काट दिया। वह समझ रहा था कि यही बाघ है। तलवार की नोक से बाघ का भी कान कट गया। वह अत्यन्त भयभीत हो कर रास्ते में खून गिराता हुआ वहाँ से निकल भागा। शत्रुदमन पृषध्र ने यह समझा कि बाघ मर गया परन्तु रात बीतने पर उसने देखा कि मैंने तो गाय को ही मार डाला है। इससे उसे बड़ा दुख हुआ। यद्यपि पृषध्र ने जान बूझ कर अपराध नहीं किया था, फिर भी कुलपुरोहित वशिष्ठ ने उसे शाप दिया कि तुम इस कर्म से क्षत्रिय नहीं रहोगे। जाओ, शूद्र हो जाओ। पृषध्र ने अपने गुरुदेव को यह शाप अंजलि बांध कर स्वीकार कर लिया और इसके बाद सदा के लिये मुनियों को प्रिय लगने वाले नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत को धारण किया। वह आत्मज्ञान से संतुष्ट एवं अपने चित्त को परमात्मा में स्थित कर के प्रायः समाधिस्थ रहता। वह एक दिन वन में गया। वहाँ उसने देखा कि दावानल धधक रहा है। मननशील पृषध्र अपनी इन्द्रियों को उसी अग्नि में भस्म कर के परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो गया (श्रीमद्भागवत 9/2/3–14)। इसे कोई राज्य नहीं मिला था।

(7) मनुपुत्र नभग का पुत्र था नाभाग। वह अपने कर्म के कारण वैश्य हो गया। इसे भगवान रुद्रदेव ने यज्ञ में बचा हुआ धन दिया था। (श्रीमद्भागवत 9/4/1–13)। इसे मध्य देश मिला था और इससे नाभाग राजवंश की स्थापना हुई।

(8) मनुपुत्र दिष्ट के पुत्र का नाम था नाभाग। यह उस नाभाग से अलग है जो मनुपुत्र नभग का पुत्र था। इस नाभाग का उसके पुत्र भलन्दन के वंश का विस्तार श्रीमद्भागवत–नवम स्कन्ध–दूसरा अध्याय– श्लोक 23–36 में दिया है। इसे उत्तर बिहार का राज्य मिला था और इससे वैशाल राजवंश चला।

(9) नरिष्यन्त (शक वंश) से चित्रसेन आदि तथा इसी परम्परा में देवदत्त के अग्निवेश्य नामक पुत्र हुए जो स्वंय अग्निदेव ही थे। आगे चल कर वे ही कानीन एवं महर्षि जातूकर्ण्य के नाम से विख्यात हुए। ब्राह्मणों का 'अग्निवेश्यायन' गोत्र उन्हीं से चला है। (श्रीमद्भागवत 9/10/19–22)

(10) मनु के 100 पुत्रों में सबसे छोटा पुत्र था कवि। विषयों से वह अत्यन्त निस्पृह था। वह राज्य छोड़ कर अपने बन्धुओं के साथ वन में चला गया और अपने हृदय में स्वयं प्रकाश परमात्मा को विराजमान मान कर किशोर अवस्था में ही परम पद को प्राप्त हो गया।

सूर्य वंश विस्तार

मनु पुत्र इक्ष्वाकु

- निमि
  - वीतहय
  - (भृगुकुल गतः)
- कुकुत्सत्थ
  - सुयोधन
  - पृथु
  - विश्वावसु
  - आर्द्र
  - युवनाश्व
  - (अंगिरा कुले गतः)
  - श्रावस्त[1] या शावस्त
  - (वत्सक)
  - वृहदश्व
  - कुवलाश्व
    - दृढाश्व
      - प्रमोद
      - हर्यश्व
      - निकुम्भ
      - संहताश्व
        - अकृताश्व
        - रणाश्व
          - युवनाश्व
          - मान्धाता
            - पुरुकुत्स
              - सम्भूत्ति
              - त्रिधन्वा
              - त्रैधारुण
              - सत्यव्रत (त्रिशंकु)
              - सत्यरथ
            - धर्मसेतु
            - मुचकुन्द
    - दण्ड
    - कपिलाश्व

सत्यरथ
हरिश्चन्द्र
रोहिताश्व
वृक
बाहु
सगर
(और्व ऋषि ने रक्षा की और पुरोहित हुए)
अंशुमान
दिलीप
भगीरथ [2]
(गंगा को पृथ्वी पर लाये)
नाभाग
अम्बरीष [3]
सिन्धुद्वीप
अयुतायु
ऋतुपर्ण
कल्माषपाद
सर्वकर्मा
आरण्य
विघ्न

- अनुमित्र
- रघु [4]
  - दिलीप
  - अज
  - दीर्घबाहु
  - प्रजापाल
  - दशरथ
    - राम
      - कुश [5]
      - लव
    - लक्ष्मण
    - भरत
    - शत्रुघ्न

कुश

कुशनाभ[3] — अतिथि — कुशांव

निषध

नल [6]

नभा

पुण्डरीक

क्षेमधन्वा

देवानीक

अहीनगु

सहस्त्रास्व

चन्द्रावलोक

तारापीड़

चन्द्रगिरि

चन्द्र

श्रुतायु

(महाभारत युद्ध में मारे गये)

यह सूर्य वंश की वंशावली है जिसमें सुद्युम्न की स्त्री रूप से उत्पन्न संतान पुरुरवा के रूप में चन्द्रमा के पुत्र बुध के संसर्ग से चन्द्र वंश प्रारम्भ हुआ। अतः सूर्य वंश, पुरूरवा से चन्द्र वंश का मातामह वंश (ननिहाल) सिद्ध होता है।

---

1. श्रावस्त ने गौड़ देश में श्रावस्ती (सहेत महेत) नाम की नगरी बसायी थी। —मत्स्य पुराण 4/30

2. पौराणिक मान्यता के अनुसार इक्ष्वाकु वंश की 54 वीं पीढ़ी में भगीरथ हुए थे। इनके समकालीन सोम कुरुवंशीय प्रतिष्ठान के राजा अजमीढ़, सोमवंशीय हैहया महिष्मती के राजा द्विपीढ़, सोम यदुवंशीय राजा एकादशरथ थे। वे सम्राट दिलीप के पुत्र थे। प्रपितामह राजा असमंज, पितामह अंशुमान एवं पिता दिलीप ने श्री गंगा जी को लाने का प्रयत्न किया था परन्तु गंगावतरण की सफलता भगीरथ को ही प्राप्त हुई अतएव गंगा का लाक्षणिक नाम 'भगीरथ' से 'भागीरथी' पड़ गया। गंगा के तीव्र प्रवाह को शंकर ने भगीरथ की प्रार्थना पर धारण किया और फिर उनके अनुरोध पर बिंदु सरोवर में विसर्जित कर दिया। गंगा का प्रथम क्षीण प्रवाह जो पृथ्वी पर आया उसे अलकनन्दा नदी के नाम से पुकारा गया। तत्पश्चात गंगा भगीरथ के निर्देशित मार्ग का अनुसरण करती पृथ्वी पर चलीं। गंगा 'जन्हु ऋषि के कानों द्वारा निकलीं इस लिये उनका नाम जान्हवी प्रख्यात हुआ। गंगा को भगीरथ सागर अर्थात समुद्र तक लाये थे।

आधुनिक विद्वानों तथा इंजीनियरों द्वारा भगीरथ के गंगावतरण की कथा रूपकात्मक मानी गयी है। उनके अनुसार गंगा पूर्व काल में तिब्बत में, पूर्व से उत्तर की ओर बहती थी। उत्तर भारत जलभाव के कारण प्रायः अकालग्रस्त हो

श्रीमद्भागवत् नवम स्कन्ध—अध्याय 13 में इक्ष्वाकु वंश के शेष राजाओं का वर्णन इस प्रकार दिया है : (पिता—पुत्र क्रम से) कुश का पुत्र हुआ अतिथि—निषध—नाभ पुण्डरीक—क्षेमधन्वा—देवानीक—अनीह—परियात्र—बलस्थल—बज्रनाभ (यह सूर्य का अंश था) बज्रनाभ से रवगण—विधृति—हिरण्यनाभ (यह जैमिनि का शिष्य और योगाचार्य था। कौसल देशवासी याज्ञवल्क्य ऋषि ने उसकी शिष्यता स्वीकार कर उससे अध्यात्मयोग की शिक्षा ग्रहण की थी।) हिरण्यनाभ का पुष्य—ध्रुवसन्धि—सुदर्शन अग्निवर्ण —शीघ्र मरु। मरु ने योग साधना से सिद्धि प्राप्त कर ली है और वह इस समय भी कलाप ग्राम में रहता है। कलियुग के अंत में सूर्य वंश के नष्ट हो जाने पर 'वह उसे फिर से चलायेगा। मरु से प्रसुश्रुत—सन्धि —अमर्षण महस्वान—विश्वसाह—प्रसेनजित—तक्षक और तक्षक का पुत्र बृहद्बल हुआ जिसे अर्जुन ने महाभारत के युद्ध में मार डाला था।

इसी अध्याय में इक्ष्वाकु वंश के आने वाले नरपतियों के नाम गिनाये गये हैं और बृहद्बल के आगे की वंश परम्परा बताते हुए कहा गया है कि इक्ष्वाकु के वंश में सुरथ के पुत्र सुमित्र का जन्म होगा। इक्ष्वाकु का वंश सुमित्र तक ही रहेगा क्योंकि सुमित्र के राजा होने पर कलियुग में यह वंश समाप्त हो जायेगा।

(2) चन्द्रमा का जन्म एवं चन्द्र वंश की उत्पत्ति कथा

"पूर्व काल में ब्रह्मा जी ने अपने मानसपुत्र महर्षि अत्रि को सृष्टि रचने की आज्ञा दी। तब उन्हों ने सृष्टि की शक्ति प्राप्त करने के लिये अनुत्तर[1] नाम का

जाता था। अकाल से बचने तथा सिंचायी व्यवस्था के लिये भगीरथ के पूर्वजों ने अथक परिश्रम किया था। भगीरथ को अपने प्रयास में सफलता मिली। गंगा का प्रवाह उत्तर से दक्षिण की ओर हो गया है। इस प्रकार गंगा मूलतः आधुनिक शब्दों में विश्व की प्रथम जल प्रणाली है। उसके कारण पश्चिमी उत्तर प्रदेश का विशाल भूखण्ड हरा भरा हो गया है। आज भी गंगा का जल हरिद्वार से कानपुर तक विशाल भूखण्ड में जल पहुँचाता है।

3. इसी कुशनाभ ने महोदप (कन्नौज) नगर बसाया। पंडित गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा के अनुसार कन्नौज को पांचाल की राजधानी पहले हर्ष वर्धन ने 7वीं शताब्दी में, फिर मिहिरभोज और महेन्द्र पाल ने 9वीं और 10 वीं शताब्दी में बनाया। टाड का यह भी कहना है कि सूर्य वंश के राजा अम्बरीष ने कन्नौज बसाया था। इसी नगर का नाम गाधिपुर व गाधिनगर भी था।

(टाड राजस्थान—हिन्दी अनुवाद—खत्रिय इतिहास—बाल कृष्ण प्रसाद—पृष्ठ 217)

4. रघु की शाखा रघुकुल के नाम से अलग शाखा चली।

5. पुराणों के अनुसार रामचन्द्र जी के पुत्र कुश के वंश में 54 पीढ़ी राज्य रहा। इसी कुश वंश में सिक्ख धर्म प्रचारक गुरु नानक जी वेदी खत्री (क्षत्रिय/खत्रिय) हुए हैं।

6. इतिहास प्रसिद्ध राजा नल जिनकी नल—दमयन्ती कथा प्रसिद्ध है।

1. जिससे बड़ा दूसरा कोई तप न हो, वह लोकोत्तर तपस्या ही 'अनुत्तर' तप के नाम से कही गयी है।

तप किया। वे अपने मन और इन्द्रियों के संयम में तत्पर हो कर परमानन्दमय ब्रह्म का चिन्तन करने लगे। उस तप के प्रभाव से जगत के कष्टों का विनाशक, शांतिकर्ता, इन्द्रियों से परे ब्रह्म उन प्रशान्त मन वाले महर्षि के (मन एवं) नेत्रों के भीतर स्थित हो गया। चूंकि उस समय उमा सहित उमापति शंकर ने भी अत्रि के मन नेत्रों को अधियम बनाया था अतः उन्हें देख कर शिव के या उनके अष्टयांश से शिशु (ललाटस्थ चन्द्र के) रूप में चन्द्र प्रकट हो गये। उस समय महर्षि अत्रि के नेत्रों से जल सम्भूत धाम (तेज) नीचे की ओर बह चला और महर्षि के नेत्रों से कुछ बूँदें जल की टपकने लगीं जो अपने प्रकाश से सम्पूर्ण चराचर जगत को प्रकाशित कर रही थीं। दिशाओं (की अधिष्ठात्री देवियों) ने स्त्री रूप में आ कर पुत्र पाने की इच्छा से उस जल को ग्रहण कर लिया। वह जल उनके उदर में गर्भ रूप हो कर स्थित हुआ। जब दिशायें उसे धारण करने में असमर्थ हो गयीं तब उन्हों ने उस गर्भ का परित्याग कर दिया। तब ब्रह्मा जी ने उन के छोड़े हुए गर्भ को एकत्रित कर के उसे एक तरुण पुरुष के रूप में प्रकट किया जो सब प्रकार के आयुधों को धारण करने वाला था। फिर वे उस तरुण पुरुष को देव शक्ति सम्पन्न सहस्र नामक रथ पर बिठा कर अपने लोक में ले गये। वहाँ (उस पुरुष को देख कर) ब्रह्मर्षियों ने कहा–'ये हम लोगों के स्वामी हैं। तदनन्तर ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सरायें सोम दैवत्य सूक्त' से उनकी स्तुति करने लगे । उस समय उनका तेज बहुत बढ़ गया। उस तेज के विस्तार से इस पृथ्वी पर दिव्य औषधियां उत्पन्न हुईं (इसी कारण रात्रि में उन औषधियों की कान्ति सर्वदा अधिक हो जाती है)। इसी से चन्द्रमा औषधियों के स्वामी हुए और द्विजों में भी उनकी गणना हुई। कुछ काल के बाद प्रचेताओं के पुत्र प्रजापति दक्ष ने अपनी सत्ताईस कन्यायें, जो रूप और लावण्य से युक्त तथा अत्यंत तेजस्विनी थीं, चन्द्रमा को पत्नी रूप में अर्पण कीं। तत्पश्चात चन्द्रमा ने केवल श्री विष्णु के ध्यान में तत्पर हो कर चिर काल तक बड़ी भारी तपस्या की। इससे प्रसन्न हो कर परमात्मा श्री नारायण देव ने उनसे वर मांगने को कहा। तब चन्द्रमा ने यह वर मांगा कि "मैं इन्द्र लोक को जीत लेना चाहता हूँ जिससे देवता लोग प्रत्यक्ष रूप से मेरे भवन में आ कर अपना–अपना भाग ग्रहण करें। मैं राजसूय यज्ञ करूंगा। उसमें आप के साथ ही सम्पूर्ण देवता मन्दिर में प्रत्यक्ष प्रकट हो कर यज्ञ भाग ग्रहण करें और शूलधारी भगवान श्री शंकर मेरे यज्ञ की रक्षा करें। "तथास्तु" कह कर भगवान श्री विष्णु ने स्वयं ही राजसूय यज्ञ का समारोह किया। उसमें अत्रि होता (ऋग्वेद के पाठक) भृगु अध्वर्यु (यजुर्वेद के पाठक) और ब्रह्मा जी उद्गाता (सामवेद के गायक) हुए। साक्षात भगवान श्री हरि उस यज्ञ के उपदृष्टा (अथर्ववेद का पाठक) हो कर ब्रह्मा बन कर यज्ञ के दृष्टा हुए तथा सम्पूर्ण देवताओं ने सदस्य का काम सम्भाला।

ऐसा सुना जाता है कि उस समय चन्द्रमा ने ऋत्विजों को तीनों लोक दक्षिणा के रूप में प्रदान कर दिये थे। तत्पश्चात यज्ञान्त में होने वाले स्नान की समाप्ति पर चन्द्रमा के रूप पर मुग्ध हो कर उनके सौंदर्य के अवलोकन करने की इच्छा से युक्त सिनीवाली, लक्ष्मी आदि नौ देवियाँ अपने पतियों को छोड़ कर

1. ऋग्वेद के 1/91, 9/1–114, 10/85 जिसे विवाह सूक्त भी कहते हैं, आदि सोम दैवत्य सूक्त हैं।

उनकी सेवा में नियुक्त हुईं। यज्ञ पूर्ण होने पर चन्द्रमा को दुर्लभ ऐश्वर्य मिला और वे अपनी तपस्या के प्रभाव से सातों लोकों के एकक्षत्र अधिपति हुए।"[1]

चन्द्र (सोम) वंश का विस्तार

"सम्पूर्ण जगत के रचयिता भगवान नारायण के नाभि कमल से उत्पन्न हुए भगवान ब्रह्मा जी के पुत्र अत्रि प्रजापति थे जिनके पुत्र चन्द्रमा हुए। कमलयोनि भगवान ब्रह्मा जी ने उन्हें सम्पूर्ण औषधि, द्विज जन और नक्षत्रगण के आधिपत्य पर अभिषिक्त कर दिया था। चन्द्रमा ने राजसूय यज्ञ का अनुष्ठान किया। अपने प्रभाव और अति उत्कृष्ट आधिपत्य के अधिकारी होने से चन्द्रमा पर राजमद सवार हुआ। तब मदोन्मत्तता हो जाने (घमंड बढ़ जाने) के कारण उसने समस्त देवताओं के गुरु भगवान बृहस्पति जी की भार्या तारा को हरण कर लिया। देवगुरु बृहस्पति ने अपनी पत्नी को लौटा देने के लिये उन से बार–बार याचना की। बृहस्पति जी की प्रेरणा से भगवान ब्रह्मा जी के बहुत कुछ कहने सुनने पर और देवर्षियों के कहने पर भी उसने तारा को न छोड़ा।"**(1–11)**

"बृहस्पति जी से द्वेष करने के कारण शुक्र जी भी (असुरों के साथ) चन्द्रमा के सहायक हो गये और बृहस्पति के पिता अंगिरा से विद्या लाभ करने के कारण भगवान रुद्र ने भी स्नेहवश अंगिरा पुत्र बृहस्पति की सहायता की **(12–13)**। देवराज इन्द्र ने भी समस्त देवताओं के साथ अपनी देव सेना, सहित गुरु बृहस्पति जी का ही पक्ष लिया। शुक्र जी के कारण जम्भ और कुम्भ आदि समस्त दैत्य दानवादि ने भी (सहायता देने में) बड़ा उद्योग किया। इस प्रकार तारा के निमित्त उनमें तारकामय नामक अत्यन्त घोर युद्ध छिड़ गया। तब रुद्र आदि देव गण दानवों, के प्रति और दानव देवताओं के प्रति नाना प्रकार के शस्त्र छोड़ने लगे। इस युद्ध में चन्द्रमा भी क्रोधाविष्ट हो नक्षत्रों, दैत्यों और असुरों के साथ शनैश्चर और मंगल के सहयोग के कारण उद्दीप्त तेज से सम्पन्न हो रण भूमि में आ डटे। शिव जी ने प्रकाशवान एवं विशाल आग्नेयास्त्र को ले कर चन्द्रमा पर आक्रमण किया तो दोनों सेनाओं में अत्यंत भीषण युद्ध छिड़ गया। उसमें सम्पूर्ण जीवों का संहार हो रहा था तथा अग्नि के समान प्रज्जवलित हथियार चमक रहे थे। एक दूसरे के प्रति अत्यंत तीखे शस्त्रों के प्रहार से दोनों सेनायें समग्र रूप से नष्ट होने लगीं। उसी समय ऐसे जाज्वल्यमान शस्त्रों की वर्षा हो रही थी,जो स्वर्ग लोक, भूतल और पाताल को भस्म कर डालते थे। यह देख रुद्र ने क्रुद्ध हो कर ब्रह्मशीर्ष नामक अस्त्र चलाया, तब चन्द्रमा ने अपने अचूक लक्ष्य वाले सोमास्त्र का प्रयोग किया। उन दोनों अस्त्रों के टकराने से समुद्र, भूमि और अन्तरिक्ष आदि सभी कांप उठे। तब अंगिरा ने ब्रह्माजी के पास जा कर युद्ध बंद कराने की प्रार्थना की। तब इस प्रकार उन दोनों अस्त्रों को जगत का विनाश करने के लिये बढ़ता हुआ देख कर देवताओं के साथ ब्रह्मा ने उनके भीतर प्रवेश कर के किसी प्रकार से उनका निवारण किया [1] और कहा–सोम! तुमने अकारण ही ऐसा कार्य क्यों किया? यह तो लोगों का विनाशक है। सोम! चूंकि तुमने दूसरे की स्त्री का अपहरण करने के लिये इतना भयंकर युद्ध किया है, इस लिये शान्त

1. पद्म पुराण–सृष्टि खंड एवं मत्स्य पुराण–अध्याय **13/2–8**

स्वरूप होने पर भी तुम शुक्ल पक्ष के अन्त में, कृष्ण पक्ष में निश्चय ही जनता में पाप ग्रह के रूप में प्रसिद्ध होओगे। तुम बृहस्पति की इस भार्या को उन्हें समर्पित कर दो। दूसरे का धन ले कर उसे लौटा देने में अपमान नहीं होता। तब चन्द्रमा ने 'तथेति–ऐसा ही हो' यों कह कर ब्रह्मा की आज्ञा स्वीकार कर ली और वे शांत हो कर युद्ध से हट गये।

बृहस्पति जी अपनी पत्नी तारा को ग्रहण कर के शिव जी के साथ प्रसन्नता पूर्वक अपने घर को चले गये। वहाँ कुछ समय पश्चात तारा को गर्भिणी देख कर बृहस्पति जी ने उससे कहा– दुष्टे, मेरे क्षेत्र में तुझ को दूसरे का पुत्र धारण करना उचित नहीं है, इसे दूर कर, अधिक धृष्टता करना ठीक नहीं। डर मत, मैं तुझे जलाऊँगा नहीं। क्योंकि एक तो तू स्त्री है और मुझे भी संतान की कामना है। देवी होने के कारण तू निर्दोष भी है ही।[2] बृहस्पति जी के ऐसा कहने पर उस पतिव्रता ने पति के वचनानुसार वह गर्भ (सोने के समान चमकता हुआ एक बालक) अपने गर्भ से अलग कर इषीका स्तम्भ (सींक की झाड़ी) में छोड़ दिया। उस छोड़े हुए गर्भ ने अपने तेज से समस्त देवताओं के तेज को मलिन कर दिया। वह बारहों आदित्यों (सूर्यो) के समान तेजस्वी, दिव्य पीताम्बरधारी, दिव्य आभूषणों से विभूषित तथा चन्द्रमा के सदृश कान्तिमान था। वह सम्पूर्ण अर्थशास्त्र का ज्ञाता, उत्कृष्ट बुद्धि सम्पन्न तथा हस्तिशास्त्र (हाथी के गुण दोष तथा चिकित्सा आदि विवेचनापूर्ण शास्त्र) का प्रवर्तक था। वही शास्त्र राजपुत्रीय नाम से विख्यात है। इसमें गज चिकित्सा का विशद वर्णन है। सोम राजा का पुत्र होने के कारण वह राजकुमार राजपुत्र[3] तथा बुध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। तदनन्तर उस बालक की सुन्दरता के कारण बृहस्पति और चन्द्रमा दोनों मोहित हो गये और चाहने लगे कि यह हमें मिल जाय। दोनों उसे लेने के लिये उत्सुक थे। अब वे एक दूसरे से इस प्रकार जोर–जोर से झगड़ा करने लगे कि " यह तुम्हारा नहीं, मेरा है।" ऋषियों और देवताओं ने संदेह हो जाने के कारण तारा से पूछा–हे सुभगे! तू हमको सच सच बता। यह पुत्र बृहस्पति का है या चन्द्रमा का? उनके ऐसा कहने पर तारा ने लज्जावश कुछ भी नहीं कहा, जब बहुत

---

1. इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।यह घटना बृहस्पति, तारा, चंद्रमा प्रसंग में बुध के जन्म (उत्पत्ति) के समय की है। हो सकता है जिस समय चंद्रमा के अपनी कक्षा से हट कर बृहस्पति की आवृत्ति कक्षा में आ जाने से सम्पूर्ण सृष्टि में उथल पुथल हो रही थी और विनाश ही विनाश हो रहा था उस समय भगवान रुद्र द्वारा रचित सर्वभक्षी भयंकर सृष्टि (डायनासोर आदि) का विनाश हुआ हो जिसके अवशेष अब मिलते हैं। यही उथल पुथल जिसके कारण बुध का जन्म हुआ, रौद्र सृष्टि के विनाश के कारण की ओर भी संकेत करती है।

2. पूर्व में कहा भी गया है कि देवताओं के कार्य किसी परम उद्‌देश्य के लिये ही होते है जिसे समझना कठिन है। उनके कार्य पाप पुण्य का फल देने वाले नहीं होते क्योंकि वे दिव्य पुरुषों के कार्य होते हैं।

3. इन्हीं राजपुत्र से 'राजपूत' शब्द भी प्रचलित हुआ।

कहने पर भी वह देवताओं से न बोली तो वह बालक उसे शाप देने के लिये उद्यत हो कर बोला–"अरी दुष्टा माँ! तू मेरे पिता का नाम क्यों नहीं बतलाती! तुझ व्यर्थ लज्जावती की मैं अभी ऐसी गति करूंगा जिससे तू आज ही इस प्रकार अत्यंत धीरे धीरे बोलना भूल जायेगी। अतः तू अपना कुकर्म मुझे शीघ्र से शीघ्र बतला दे।"

तदन्तर पितामह श्री ब्रह्मा जी ने उस बालक को रोक कर तारा को एकांत में बुला कर बहुत कुछ समझा बुझा कर स्वयं ही पूछा– "बेटी ! ठीक ठीक बता, यह पुत्र किसका है– बृहस्पति का या चन्द्रमा का ? इस पर उसने लज्जापूर्वक धीरे से कहा, "चन्द्रमा का" । तब तो नक्षत्रपति भगवान रुद्र ने उस बालक को हृदय से लगा कर कहा– "बहुत ठीक, बहुत ठीक बेटा, तुम बड़े बुद्धिमान हो और तब ब्रह्मा जी ने उसका नाम बुध रख दिया क्योंकि उसकी बुद्धि बड़ी गम्भीर थी।[1]

---

1. मत्स्य पुराण अध्याय **23** एवं **24** एवं पद्म पुराण–सृष्टि खण्ड में अंकित विवरण तथा श्री विष्णु पुराण–चतुर्थ अंश–अध्याय **6** सोम वंश का वर्णन, एवं श्रीमद्‌भागवत **9/14**।

महर्षि दयानन्द के ऋग्वेद के किये गये भाष्य के अनुसार यह पौराणिक कथा वास्तव में सृष्टि रचना के समय की एक प्राकृतिक घटना का अलंकारिक निरूपण है। सृष्टि बनने के समय चन्द्रमा प्राकृतिक आकर्षण– विकर्षण वश किसी कारण से घूमता घूमता अपनी कक्षा से हट कर बृहस्पति की कक्षा में आ गया था जिससे सम्पूर्ण सृष्टि में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी। तब चन्द्रमा पुनः बृहस्पति की भ्रमण कक्षा से हट कर अपनी कक्षा में आ गया और प्रकृति में पुनः संतुलन स्थापित हो गया किंतु तब तक घर्षण–आकर्षण–विकर्षण के प्रभाव से चन्द्रमा का एक भाग अलग हो कर एक नया बालक गृह बुध बन चुका था जो आकाश मंडल में सूर्य चन्द्र के समीप ही रह कर अपने भ्रमण पथ में परिक्रमा करने लगा। यही आदि सृष्टि कथा प्रतीक रूप में पुराण कथा के रूप मे कही गयी है जिसका मूल ऋग्वेद के मंडल **10**, सूक्त **109** के मन्त्र **1–7** में है, जिसका कुछ विस्तार से अर्थ इस प्रकार है :

"चन्द्रमा क्षत्रिय ने बृहस्पति की स्त्री का अपहरण कर लिया और चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी तारा में एक पुत्र बुध को उत्पन्न किया और फिर देवताओं के विरोध पर बृहस्पति की पत्नी लौटा दी।"

(प्रारम्भिक युवावस्था में स्त्री के शरीर मे सोम तत्व का उदय होता है, फिर अग्नि तत्व का उदय, रजो धर्म के समय फिर वरुण तत्व का उदय, यही विवाह का समय है। प्राकृतिक घटना में बृहस्पति की कक्षा को मित्र, वरुण आदि ने फिर यथावत चन्द्रमा से ले कर बृहस्पति को दे दिया। बुध ग्रह बनाने के लिये वह हलचल ईश्वरीय शक्ति ने दी थी–यह इस सूक्त के दूसरे मन्त्र का भावार्थ है।)

वैवस्वत मनु के वंश का वर्णन–विष्णु पुराण का पौराणिक आख्यान

(विष्णु पुराण–चतुर्थ अंश–प्रथम अध्याय)

सकल संसार के आदि कारण भगवान विष्णु हैं। वे अनादि तथा ऋक–साम यजुः स्वरूप हैं। उन ब्रह्मस्वरूप भगवान विष्णु के मूर्तरूप ब्रह्माण्डमय हिरण्यगर्भ भगवान ब्रह्मा जी सबसे पहले प्रकट हुए। ब्रह्मा जी के दायें अंगूठे से दक्ष प्रजापति हुए, दक्ष से अदिति हुई तथा अदिति से विवस्वान (सूर्य) और विवस्वान से मनु का जन्म हुआ। मनु के इक्ष्वाकु, नृग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्रांशु, नाभाग, दिष्ट, करुष और पृषध्र नामक दस पुत्र हुए। ।5–7।।

मनु ने पुत्र की इच्छा ये मित्रवरुण नामक दो देवताओं के यज्ञ का अनुष्ठान किया किंतु होता के विपरीत संकल्प से यज्ञ में विपर्यय हो जाने से उनके 'इला' नाम की कन्या हुई। [1]

इस कथा का भावार्थ यह है कि सृष्टि प्रक्रिया के समय भूगोल, नक्षत्र और ग्रह बन रहे थे। चन्द्रमा बृहस्पति की कक्षा में जा पहुँचा था तब सूर्य, वायु, जल आदि में हलचल हुई। विकृति होने लगी। इतने में बुध भी बन कर तैयार हो गया था। फिर सब ग्रह यथावत हो गये और जो नक्षत्र बृहस्पति की कक्षा के थे, चन्द्रमा उन्हें छोड़ कर इन वर्तमान नक्षत्रों में आ गया। फिर ऋतु के अनुसार काम होने लगा।

ऋग्वेद की इस कविता का ध्वन्यार्थ यह है कि ब्राह्मण की स्त्री की सम्पत्ति को राजा न छीने। वस्तुतः ब्रह्म जाया ब्राह्मण की स्त्री है ब्राह्मण की वाणी, राजा ब्राह्मण की वाणी, जो वस्तुतः प्रजा की और तीसरी वाणी है, उसे न दबावे, न अपहरण करे। ब्राह्मण की वाणी पर बल से अधिकार न किया जाय तो क्षत्रिय का राज्य सुरक्षित रहेगा और यदि बलात राजा ब्राह्मण अर्थात विद्वान की वाणी को दबायेगा तो क्रान्ति अवश्य होगी। विद्वान ब्राह्मण की वाणी अपने स्वार्थ के लिये प्रवृत्त नहीं होती, वह प्रजा के हितार्थ बोलता है। उसकी वाणी में बल होता है। कोई शासक उसकी वाणी को बल से नहीं दबा सकता। महात्मा गाँधी की वाणी को अंग्रेज शासक दबा नहीं पाये और उनका प्रभाव जमता ही गया। तपस्वी विद्वान की वाणी आकाश में भर जाती है व ईश्वर तक पहुँचती है। इसी लिये देव, मनुष्य, सत्यप्रिय राजा ब्राह्मण की वस्तु का अपहरण नहीं करते और जो मनुष्य अत्याचार नहीं करते, दिव्य शक्तियाँ उन पर प्रसन्न होती हैं और उनका पर–लोक उत्तम बनता है।

1. इस इला के जन्म का विस्तृत विवरण श्रीमद्भागवत् महापुराण 9/1/1–42 में दिया है।

मित्रावरुण की कृपा से वह इला ही मनु का 'सुद्युम्न'' नामक पुत्र हुई। फिर महादेव जी के कोप (कोप प्रयुक्त शाप) से वह स्त्री हो कर चन्द्रमा के पुत्र बुध के आश्रम के निकट घूमने लगी। बुध ने अनुरक्त हो कर उस स्त्री से पुरुरवा नामक पुत्र उत्पन्न किया। पुरुरवा के जन्म के अनन्तर भी परमर्षि गण ने सुद्युम्न को पुरुषत्व लाभ की आकांक्षा से क्रतुमय, ऋग्युजःसामाथर्वमय, सर्ववेदमय, मनोमय, ज्ञानमय, अन्नमय और परमार्थतः अकिंचन्मय, भगवान यज्ञपुरूष का यथावत यजन किया। तब उनकी कृपा से इला फिर भी सुद्युम्न हो गयी। उस (सुद्युम्न) के भी उत्कल, गय और विनत नामक तीन पुत्र हुए। पहले स्त्री होने के कारण सुद्युम्न को राज्याधिकार प्राप्त नहीं हुआ। वशिष्ठ जी के कहने से उनके पिता ने उन्हें प्रतिष्ठान नामक नगर दे दिया था, वही उन्हों ने पुरुरवा को दिया। ।।8–16।।

(इस कथा का विस्तार पद्म पुराण–सृष्टि खण्ड में इस प्रकार दिया है।)

वैवस्वत मनु के 10 महाबली पुत्र उत्पन्न हुए। उन सबमें "इल" ज्येष्ठ थे। राजा मनु अपने ज्येष्ठ और धर्मात्मा पुत्र 'इल' को राज्य पर अभिषिक्त कर के स्वयं पुष्कर तपोवन में तपस्या करने के लिये चले गये। तदनन्तर उनकी तपस्या को सफल करने के लिये आये ब्रह्मा जी से उन्हों ने वर मांगा कि पृथ्वी के सम्पूर्ण राजा धर्मपरायण, ऐश्वर्यशाली तथा मेरे अधीन हों। ब्रह्मा जी "तथास्तु" कह कर अर्न्तधान हो गये। तदनन्तर मनु अपनी राजधानी में आ कर पूर्ववत रहने लगे।

इसके बाद राजा 'इल' अर्थ सिद्धि के लिये इस भूमंडल पर विचरने लगे। वे सम्पूर्ण द्वीपों में घूम घूम कर वहाँ के राजाओं को अपने वश में करते थे और एक दिन घूमते घूमते भगवान शंकर के "शरवण" नामक एक महावन उपवन में चले गये जहाँ भगवान शंकर पार्वती के साथ क्रीड़ा करते थे। पूर्वकाल में महादेव जी ने उमा के साथ "शरवण" के भीतर प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कही थी कि "पुरुष नामधारी जो कोई भी जीव हमारे वन में आ जायेगा, वह इस दस योजन के घेरे में पैर रखते ही स्त्री रूप हो जायेगा।" राजा इल इस प्रतिज्ञा को नहीं जानते थे इसी लिये "शरवण" में चले गये। वहाँ पहुँचने पर वे सहसा स्त्री हो गये तथा उनका घोड़ा भी उसी समय घोड़ी हो गया। राजा के जो जो पुरूषोचित अंग थे, वे सभी स्त्री के आकार में परिणत हो गये। इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। अब वे "इला" नाम की स्त्री थे।

भ्रमित हो कर वन में घूमते हुए इला को चन्द्रमा के पुत्र बुध ने देखा और इला की भी दृष्टि बुध पर पड़ी। दोनों एक दूसरे को देख कर काम पीड़ित हो गये और वन के बाहर जा कर रमण करने लगे। धीरे धीरे काफी समय व्यतीत हो गया तो इला के भाई इक्ष्वाकु आदि मनु कुमार अपने राजा की खोज करते हुए 'शरवण' वन के निकट आ पहुँचे। उन्हों ने नाना प्रकार के स्त्रोतों से पार्वती और महादेव जी का स्तवन किया, तब वे दोनों प्रकट हो कर बोले–'राजकुमारों!

मेरी यह प्रतिज्ञा तो टल नहीं सकती, किन्तु इस समय एक उपाय हो सकता है। इक्ष्वाकु अश्वमेध यज्ञ करें और उसका फल हम दोनों को अर्पण कर दें। ऐसा करने से वीरवर इल 'किम्पुरूष' हो जायेंगे, इसमें तनिक भी संदेह की बात नहीं है।" महादेव जी की बात मान कर मनु कुमार लौट गये और इक्ष्वाकु ने अश्वमेध यज्ञ किया। इस से इला 'किम्पुरूष' हो गयी। वे एक महीने पुरुष और एक महीने स्त्री के रूप में रहने लगे। विवेक बुद्धि के स्वामी बुध के भवन में (स्त्री रूप से) रहते समय इल ने गर्भ धारण किया था। उस गर्भ से उन्हों ने अनेक गुणों से युक्त पुत्र को जन्म दिया। उस पुत्र को उत्पन्न कर के बुध स्वर्ग लोक को चले गये और वह प्रदेश इल के नाम पर "इलावृत' वर्ष' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इला (स्त्री रूप) के यही पुत्र ऐल (पुरुष रूप) चन्द्रमा के वंशज तथा चन्द्र वंश का विस्तार करने वाले राजा हुए। 'इल' किम्पुरुष–अवस्था में 'सुद्युम्न' भी कहलाते थे। तदनन्तर सुद्युम्न से तीन पुत्र और हुए जो किसी से परास्त होने वाले नहीं थे। उनका नाम उत्कल, गय और विनत (हरिताश्व) था।

इन्हीं इल या ऐल के बुध से उत्पन्न पुत्र पुरुरवा थे, जो अति दानशील, अति याज्ञिक और तेजस्वी थे। "मित्रावरुण के श्राप से मुझे मर्त्यलोक में रहना पड़ेगा" ऐसा विचार करते हुए उर्वशी अप्सरा की दृष्टि उस अति सत्यवादी, रूप के धनी और मतिमान राजा पुरुरवा पर पड़ी। देखते ही वह सम्पूर्ण मान तथा स्वर्ग सुख की इच्छा को छोड़ कर तन्मय भाव से उसी के पास आयी और पुरुरवा को भी अपने वशीभूत देख कर उनसे पाणिग्रहण के पूर्व तीन प्रतिज्ञायें करवायीं– (1– मेरे पुत्र रूप इन दो मेषों (भेड़ों) को धरोहर के रूप में रख कर आप इनकी रक्षा करें। इन्हें आप कभी मेरी शय्या से दूर न कर सकेंगे। 2– मैं मैथुन के अतिरिक्त किसी भी समय आप को नग्न न देखने पाऊँ। 3– केवल घृत ही मेरा आहार होगा।)

इन उर्वशी पुरुरवा का उल्लेख ऋग्वेद में भी है। वास्तव में हमारे प्राचीन इतिहास का उल्लेख केवल वेदों, पुराणों तथा उपाख्यानों में ही है जिन सब का मूल अनादि ग्रन्थ ऋग्वेद ही है। ऋग्वेद से ही हमारे इतिहास की लिखित सामग्री का आरम्भ होता है। इसी इतिहास सामग्री का विस्तार ब्राह्मण ग्रन्थों, पुराणों आदि में किया गया है। फलतः वेद ही अपनी सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक सामग्री के कारण हमारी सबसे महान और अनमोल निधि है। रावण, महीधर, व्याकरणाचार्य सायण आदि अनेक मनीषियों ने बुद्धिपूर्वक वेदाध्ययन करने के बाद वेद का पूर्व में भाष्य किया और वर्तमान काल मे भी अंतिम गंभीर (पर मृत्यु के कारण अपूर्ण) प्रयत्न महर्षि दयानन्द ने भी अपने दृष्टिकोण के अनुसार किया परन्तु कोई भी मानव अपने भाष्य की पूर्णता का दावा आज तक नहीं कर सका। यहाँ तक कि सायण के वेद भाष्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माने जाने पर भी उसमें अनेक दोष निकाले जाते हैं। अतः तुलसीदास जी के अनुसार "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी", जो जिस भावना से वेद को देखता है अपनी श्रद्धा के अनुसार वेद के मन्त्रों का वैसा ही अर्थ करता है।

महर्षि दयानन्द तक वेद को अपौरुषेय (मनुष्य की रचना सामर्थ्य के बाहर) मानते हैं। वर्तमान काल में हर बात को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने वाले लोग, जो वेदों को शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से देखते हैं, वे अपना अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। ऐसा ही एक शुद्ध ऐतिहासिक पर अत्यंत संक्षिप्त एवं अधूरा अध्ययन, ऋग्वेद की ऋचाओं के करीब छठे भाग का, प्रसिद्ध भारतीय मनीषी राहुल सांकृत्यायन ने भी अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक आर्य' में प्रस्तुत किया था।

ऋग्वेद के मंडल 10 के सूक्त 95 की ऋचा 1,3,6,8,9,10,12,14,17 के ऋषि पुरुरवा ऐलः और ऋचा 2,4,5,7,11,13,15,16,18 की उर्वशी उल्लिखित हैं और इस 18 ऋचा वाले सूक्त को ही पुरुरवा–उर्वशी संवाद–सूक्त कहा जाता है। यही पुरुरवा–उर्वशी चन्द्र वंश के प्रथम विस्तारक माने जाते हैं। इसी सूक्त को आधार बना कर महाभारत तथा पुराणों में इस कथा का विस्तार किया गया है किन्तु शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसे देखने पर राहुल सांकृत्यायन कहते हैं–"उर्वशी अप्सरा थी, जिसने पुरुरवा से प्रेम किया। जैसे आज पंजाब में हीर–राँझा, सोहनी महीवाल की प्रेम कथायें प्रचलित हैं, उसी तरह उर्वशी और पुरुरवा की प्रेम कथा सप्त सिन्धु में उस समय प्रचलित थी। सम्भव है, वह मानुष प्रेमी और प्रेमिका रहे हों जिन्हें मानव देवी बना दिया गया।[1] आदिम आर्य राजाओं के वर्णन के प्रसंग में पुरुरवा का उल्लेख करते हुए राहुल सांकृत्यायन ने पुरुरवा को "एक रंगीला राजा" बताया है और कहा है कि "अप्सरा उर्वशी के साथ उसका प्रेम कुछ ऐसी रोमांचक घटना थी जिसे ऋग्वेद के संग्रहकर्ता नहीं भूल सके। यह प्रेम–गाथा वास्तविक घटना हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। पर तब उर्वशी अप्सरा नहीं, मानवी होगी। हो सकता है, वह किसी ऐसे पराक्रमी जन की कन्या रही हो जो पुरुरवा के प्रभाव को नहीं मानता था। दोनों प्रेमी हृदयों को अग्नि–परीक्षा से गुजरना पड़ा था। पुरुरवा अपनी प्रेमिका के हृदय पर अधिकार प्राप्त करने में सफल हुआ, लेकिन सदा के लिये नहीं। इसी का वर्णन ऋग्वेद के दसवें मंडल के सूक्त 95 में है। यह सूक्त पुरुरवा और उर्वशी के संवाद के रूप में है।[2] आगे उन्हों ने इस सूक्त की ऋचाओं को इस प्रेम कथा में पिरो पर उनका हिन्दी अनुवाद भी दिया है। इन सब का अपना दृष्टिकोण वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, पौराणिक या चाहे जो भी हो, वह चन्द्र वंश के प्रथम वंश विस्तारक के रूप में क्षत्रिय राजा पुरुरवा तक श्रृंखला की कड़ी जोड़ने में बाधक नहीं है।

प्रसंगानुसार पुरुरवा के उपरोक्त तीनों वचन दे देने पर उर्वशी कामशास्त्रोक्त पद्धति से पुरुष–श्रेष्ठ पुरुरवा के साथ विहार करने लगी और वे भी देवताओं की विहार स्थली में उसके साथ स्वच्छन्द विहार करने लगे और बहुत वर्षों तक उन्हों ने उसके साथ आनन्द विहार किया। इधर जब इन्द्र ने उर्वशी को नहीं

1. ऋग्वेदिक आर्य–राहुल सांकृत्यायन–पृष्ठ 225 (प्रकाशन 1957–किताब महल, इलाहाबाद, दिल्ली।
2. ऋग्वेदिक आर्य–राहुल सांस्कृत्यायन–पृष्ठ 88–89 (प्रकाशन 1957–किताब महल, इलाहाबाद, दिल्ली।

देखा, तब उन्हों ने गन्धर्वों को उसे लाने के लिये भेजा और कहा–"उर्वशी के बिना मुझे यह स्वर्ग फीका जान पड़ता है।" वे गन्धर्व आधी रात के समय घोर अंधकार में वहाँ गये और उर्वशी के दोनों भेड़ों को जिन्हें उसने राजा के पास धरोहर रक्खा था, चुरा कर चलते बने। उर्वशी ने जब गन्धर्वों के द्वारा ले जाये जाते हुए अपने पुत्र के समान प्यारे भेड़ों की 'बें–बें' सुनी, तब वह कह उठी कि 'अरे, इस कायर को अपना स्वामी बना कर मैं तो मारी गयी। यह नपुसंक अपने को बड़ा वीर मानता है। यह मेरे भेड़ों को भी न बचा सका। इसी पर विश्वास करने के कारण लुटेरे मेरे बच्चों को लूट कर लिये जा रहे हैं। मैं तो मर गयी। देखो तो सही, यह दिन में तो मर्द बनता है और रात में स्त्रियों की तरह डर कर सोया रहता है। इस प्रकार जैसे कोई हाथी को अंकुश से बेध डाले, वैसे ही उर्वशी ने अपने वचन–वाणों से राजा को बींध दिया। राजा पुरुरवा को बड़ा क्रोध आया और हाथ में तलवार ले कर वस्त्रहीन अवस्था में ही वे उस ओर दौड़ पड़े। गंधर्वों ने उनके झपटते ही भेड़ों को तो वहीं छोड़ दिया और स्वयं बिजली की तरह चमकने लगे। जब राजा पुरुरवा भेड़ों को ले कर लौटे, तब उर्वशी ने उस प्रकाश में उन्हें वस्त्रहीन अवस्था में देख लिया। (बस, वह उसी समय उन्हें छोड़ कर चली गयी)। ।22–31।।

राजा पुरुरवा ने जब अपने शयानागार मे अपनी प्रियतमा उर्वशी को नहीं देखा, तो वे अनमने हो गये। उनका चित्त उर्वशी में ही बसा हुआ था। वे उसके लिये शोक से विह्वल हो गये और उन्मत्त की भांति पृथ्वी में इधर–उधर भटकने लगे। एक दिन कुरुक्षेत्र में सरस्वती नदी के तट पर उन्हों ने उर्वशी और उसकी पाँच प्रसन्नमुखी सखियों को देखा और बड़ी मीठी वाणी से कहा–"प्रिये ! तनिक ठहर जाओ। एक बार मेरी बात मान लो। निष्ठुर ! अब आज तो मुझे सुखी किये बिना मत जाओ। क्षण भर ठहरो, आओ हम दोनों कुछ बातें तो कर लें। देवि! अब इस शरीर पर तम्हारा कृपा–प्रसाद नहीं रहा, इसी से तुम ने इसे दूर फेंक दिया है। अतः मेरा यह सुन्दर शरीर अभी ढेर हुआ जाता है और तुम्हारे देखते–देखते इसे भेड़िये और गीध खा जायेंगे। ।32–35।।

उर्वशी ने कहा–"राजन तुम पुरुष हो, इस प्रकार मत मरो। देखो, सचमुच ये भेड़िये तुम्हें खा न जायें। स्त्रियों की किसी के साथ मित्रता नहीं हुआ करती। स्त्रियों का ह्रदय और भेड़ियों का ह्रदय बिलकुल एक जैसा होता है। स्त्रियाँ निर्दय होती हैं। क्रूरता तो उनमें स्वाभाविक रहती है। तनिक सी बात में चिढ़ जाती हैं और अपने सुख के लिये बड़े–बड़े साहस के काम कर बैठती हैं, थोड़े से स्वार्थ के लिये विश्वास दिला कर पति और भाई तक को मार डालती हैं। इनके ह्रदय में सौहार्द तो है ही नहीं। भोले भाले लोगों को झूठ–मूठ का विश्वास दिला कर फाँस लेती हैं और नये–नये पुरुष की चाह से कुलटा और स्वच्छन्दचारिणी बन जाती हैं। तो फिर धीरज धरो। तुम राजराजेश्वर हो। घबराओ मत। प्रति एक वर्ष के बाद एक रात तुम मेरे साथ रहोगे। तब तुम्हारे और भी संतानें होंगी। ।36–39।।

राजा पुरुरवा ने देखा कि उर्वशी गर्भवती है, इस लिये वे अपनी राजधानी में लौट आये। एक वर्ष बाद वे फिर वहाँ गये। तब तक उर्वशी एक वीर पुत्र की माता हो चुकी थी। उर्वशी के मिलने से पुरुरवा को बड़ा सुख मिला और वे एक रात उसी के साथ रहे। प्रातः काल जब वे विदा होने लगे, तब विरह के दुःख से वे अत्यन्त दीन हो गये। उर्वशी ने उनसे कहा–'तुम इन गन्धर्वों की स्तुति करो, ये चाहें तो तुम्हें मुझे दे सकते हैं। तब राजा पुरुरवा ने गन्धर्वों की स्तुति की। ।40–42।।

उर्वशी के गर्भ से राजा पुरुरवा के छः पुत्र हुए– आयु, श्रतायु, रय, विजय और जय। श्रुतायु का पुत्र था वसुमान, सत्यायु का श्रुतंजय, रय का एक और जय का अमित। विजय का भीम, भीम का कांचन, कांचन का होत्र और होत्र का पुत्र था जह्नु। ये जह्नु वही थे, जो गंगा जी को अपनी अंजलि में ले कर पी गये थे। जह्नु का पुत्र था पूरू, पूरू का बलाक और बलाक का अजक, अजक का पुत्र कुश था। कुश के चार पुत्र थे–कुशाम्बु, तनय, वसु, और कुशनाभ। इनमें से कुशाम्बु के पुत्र गाधि हुए। गाधि की कन्या का नाम था सत्यवती। ऋचीक ऋषि ने गाधि से उनकी कन्या मांगी। गाधि ने यह समझ कर कि ये कन्या के योग्य वर नहीं है, ऋचीक से कहा–'मुनिवर ! हम लोग कुशिक वंश के हैं। हमारी कन्या मिलनी कठिन है। इस लिये आप एक हजार ऐसे घोड़े ला कर मुझे शुल्क रूप में दीजिये जिनका सारा शरीर तो श्वेत हो परन्तु एक–एक कान श्याम वर्ण का हो।" जब गाधि ने यह बात कही तब ऋचीक मुनि उनका आशय समझ गये और वरुण के पास जा कर वैसे घोड़े ले आये तथा उन्हें दे कर सत्यवती से विवाह कर लिया। इसी सत्यवती से ही जमदग्नि हुए और उनसे परशुराम का जन्म हुआ। ।9/15/1–13।। □

तदनुसार पुरुरवा के आयु, अमावसु, श्रुतायु, शतायु और अयुतायु आदि पुत्रों से इस वंश का विस्तार हुआ और इसी वंश की यदु वंश की शाखा में श्रीकृष्ण का भी अवतार हुआ जिसमें कुशिक, यदु, हैहय, वृष्णि, भोजक, अन्धक, तालजंघ आदि अनेक शाखायें निकलीं। इस वंश के प्रमुख प्रमुख राजाओं की वंशावली इस प्रकार है :

चन्द्र वंश–प्रधान प्रधान राजाओं का वर्णन

प्रजापति ब्रह्मा (स्वायम्भुव मनु)
अत्रि (मानस पुत्र)

अर्चनातसः सोम (चन्द्रमा) (1) प्रियव्रत उत्तानपाद (2)

अर्चनातसः → अतिथिः, वागमूलक, वामरथ, पुत्रिल □□

उत्तानपाद → उत्तम, ध्रुव

□ श्रीमद्भागवत्–नवम स्कन्ध–अध्याय–15–श्लोक 22–42 एवं नवम स्कन्ध अध्याय 15–श्लोक 1–13। (श्रीमद्भागवत् सुधासागर–भाषानुवाद, गीता प्रेस गोरखपुर।

(1) दक्ष प्रजापति ने अपनी कृत्तिका आदि सत्ताइस नक्षत्राभिमानी पुत्रियों का विवाह चन्द्रमा के साथ किया था। रोहिणी से विशेष प्रेम करने के कारण चन्द्रमा को दक्ष ने शाप दे दिया, जिससे उन्हें क्षय रोग हो गया था। चन्द्रमा ने दुखी हो कर भगवान शंकर की शरण ली और शंकर ने उन्हें आश्रय दे कर अपने मस्तष्क में स्थान दिया। तब से उनका नाम 'चन्द्रशेखर' हो गया पर उन्हें कोई सन्तान नहीं हुई। उन्हों ने दक्ष को फिर से प्रसन्न कर के कृष्ण पक्ष की क्षीण कलाओं के शुक्ल पक्ष में पूर्ण होने का वर तो प्राप्त कर लिया परन्तु नक्षत्राभिमानी देवियों से उन्हें कोई सन्तान न हुई।
–श्रीमद्भागवत–6/6/23–24 एवं ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्मखंड, अध्याय 9

(2) परम बुद्धिमान स्वायम्भुव मनु ने महारानी शतरूपा को पत्नी रूप में प्राप्त किया। मनु ने उसके गर्भ से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्र उत्पन्न किये। इन उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव और ध्रुव के कल्प, वत्सर और उत्कल हुए। उत्कल ने आसक्तिशून्य होने के कारण राज्य सिंहासन को इनकार कर दिया और वत्सर राजा हुआ। वत्सर के पुष्पार्ण, पुष्पार्ण के व्युष्ट, व्युष्ट के सर्वतेजा और सर्वतेजा के चक्षुः नामक पुत्र हुआ। चाक्षसु मन्वन्तर में वही मनु हुआ। इन चक्षसु मनु की पत्नी पुष्करिणी से अंग हुए। अंग की पत्नी सुनीथा ने क्रूर कर्मा वेन को जन्म दिया जिसकी दुष्टता से उद्विग्न हो कर राजर्षि अंग नगर छोड़ कर चले गये। उन्हों ने कुपित हो कर वेन को शाप दिया और जब वह मर गया, तब राजा न रहने के कारण लोक में लुटेरों द्वारा प्रजा को बहुत कष्ट होने लगा। यह देख कर उन्हों ने वेन की दाहिनी भुजा का मंथन किया जिससे भगवान विष्णु के अंशावतार आदि सम्राट महाराज प्रथु प्रकट हुए। इन महाराज प्रथु के विजिताश्व (अंतर्धान), अन्तर्धान के हर्विधान, उनके प्राचीनवर्हि और उनकी पत्नी शतद्रुति के गर्भ में प्रचेता नाम के दस पुत्र हुए जो बड़े धर्मज्ञ थे। इन्हीं प्रचेताओं ने भगवान शंकर जी की कृपा से भगवान विष्णु का दर्शन किया। भगवान विष्णु ने प्रसन्न हो कर उन्हें एक बड़ा ही विख्यात पुत्र प्राप्त करने का वरदान दिया तथा प्रम्लोचा अप्सरा की पुत्री, वृक्षों द्वारा पालित कन्या, मारिषा से विवाह करने का आदेश दिया जो उन सभी की पत्नी हुई और उन सभी में उसका समान अनुराग हुआ। इसी के गर्भ से ब्रह्मा जी के पुत्र दक्ष ने श्री महादेव जी की अवज्ञा के कारण अपना पूर्व शरीर त्याग कर जन्म लिया। इन्हीं दक्ष ने चाक्षुस मन्वन्तर आने पर जब काल क्रम से पूर्व सर्ग नष्ट हो गया, भगवान की प्रेरणा से इच्छानुसार नवीन प्रजा उत्पन्न की। ये कर्म करने में बड़े दक्ष (कुशल) थे, इसी से इनका नाम दक्ष हुआ। इन्हें ब्रह्मा जी ने प्रजापतियों के नायक पद पर अभिषिक्त कर सृष्टि की रक्षा के लिये नियुक्त किया और इन्हों ने मरीचि आदि दूसरे प्रजापतियों को अपने कार्य में नियुक्त किया।
–श्रीमद्भागवत्–चतुर्थ स्कन्ध–अध्याय 4 से 30

□□ अतिथि, वागमूलक, वामरथ, पुत्रिल इन चारों के पृथक वंश चले।

चन्द्र वंश विस्तार
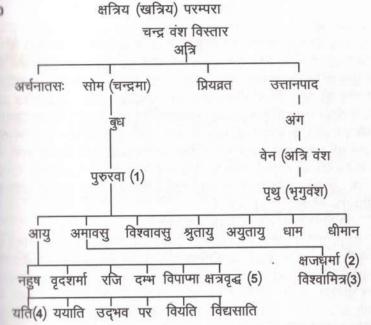
(1) इला, इल, सुद्युम्न के स्त्री रूप से उत्पन्न होने से चन्द्रमा का वंश, इनका अपना बाबा चन्द्रमा वंश हुआ तथा माँ इला (सुद्युम्न) के सूर्य वंश की होने के कारण सूर्य वंश इनका ननिहाल हुआ।

(2) क्षत्रिय से ब्राह्मण हुए।

(3) अमावसु की वंश–परम्परा में जहनु नामक पुत्र हुआ था जिसने अपनी सम्पूर्ण यज्ञशाला को गंगा जल का आप्लावित देख क्रोध में रक्त नयन हो भगवान यज्ञ पुरुष को परम समाधि द्वारा अपने में स्थापित कर सम्पूर्ण गंगा जी को पी लिया था। तब देवर्षियों ने इन्हें प्रसन्न किया और गंगा जी को इनकी पुत्री रूप से पा कर ले गये (इसी से गंगा जहनु की पुत्री जाह्नवी भी कही जाती है।) जहनु की वंश परम्परा में हुए कुशाम्ब के उग्र तप को देख कर 'बल में कोई अन्य मेरे समान न हो जाय' इस भय से इन्द्र स्वयं ही इनका पुत्र हो गया। वह 'गाधि' नामक पुत्र कौशिक कहलाया। इन्हीं गाधि की कन्या सत्यवती थी जिसे अति क्रोधी एवं अति वृद्ध भृगु पुत्र ऋचीक ने वरण किया। तदुपरान्त विवाह के पश्चात एक समय भृगु पुत्र ऋचीक ने सन्तान की कामना से अपनी पत्नी सत्यवती के लिये चरु (यज्ञीय खीर) तैयार किया और उसके द्वारा प्रसन्न किये जाने पर एक क्षत्रिय श्रेष्ठ पुत्र की उत्पत्ति के लिये एक और चरु उसकी माता के लिये भी बनाया। किन्तु अपनी माँ के कहने से उसने चरु आपस में बदल लिये। इस विपरीत आचरण के कारण सत्यवती के ब्राह्मण के स्थान पर क्षत्रिय के समान आचरण वाले पुत्र तथा उसकी माता (गाधि पत्नी) के शान्तिप्रिय ब्राह्मणाचार युक्त पुत्र होने की भविष्यवाणी ऋषि ने की। यह सुनते ही सत्यवती ने उनके

चरण पकड़ लिये और प्रणाम कर के कहा–'भगवन्! अज्ञान से ही मैने ऐसा किया है, अतः प्रसन्न होइये और ऐसा कीजिये जिससे मेरा पुत्र ऐसा न हो, भले ही पौत्र ऐसा हो जाये।' इस पर मुनि ने कहा–'ऐसा ही हो।' तदनन्तर सत्यवती ने जमदग्नि को जन्म दिया और उसकी माता (गाधि पत्नी) ने विश्वामित्र को उत्पन्न किया। जमदग्नि ने इक्ष्वाकु कुलोद्भव रेणु की कन्या से विवाह किया। उससे जमदग्नि के सम्पूर्ण क्षत्रियों का ध्वंस करने वाले भगवान परशुराम जी उत्पन्न हुए जो सकल लोक गुरु भगवान नारायण के अंश थे। देवताओं ने विश्वामित्र जी को भृगुवंशी शुनः शेप पुत्र रूप से दिया था। उसके पीछे उनके और भी पुत्र हुए। उनसे अन्यान्य ऋषि वंशों में विवाहने योग्य बहुत से कौशिक गोत्रीय पुत्र–पौत्रादि हुए।।1–39)।

–श्री विष्णु पुराण–चतुर्थ अंश–अध्याय 8

श्रीमद्भागवत् पुराण, नवम स्कन्ध, अध्याय 16, श्लोक 37 के अनुसार इस प्रकार विश्वामित्र की संतानों से कौशिक गोत्र में कई भेद हो गये और देवरात (शुनःशेप) को बड़ा भाई मानने के कारण उसका प्रवर ही दूसरा हो गया। 'खत्री जाति परिचय' में दी गयी चन्द्र वंश की वंशावली में डा0 प्रेम शंकर टंडन ने पुराणों के आधार पर इसी से कहा है कि 'कक्कड़ और कपूरों में सम्भवतः इसी हेतु विवाह नहीं होता।'

(4) यति कुमारावस्था में ही वानप्रस्थ योगी हो गया।

(5) क्षत्रवृद्ध राजा के वंश में राजा काश हुए। राजा काश से ही काशेय अथवा काश्य संज्ञा का जन्म हुआ। काश के पुत्र काशिराज तथा काशिराज के पुत्र धन्वन्तरि हुए। काशिराज की छठी पीढ़ी में प्रसिद्ध राजा दिवोदास हुए। इनके पुत्र प्रतर्दन थे। इन्हें शत्रुजित, ऋतध्वज, कुवलाश्व वत्स भी कहते हैं। पिता के अत्यन्त प्रिय पुत्र होने से ही यह वत्स कहलाये। इन प्रतर्द्धन वत्स से ही वंश 'श्रेष्ठकुल' नाम की उपाधि से प्रसिद्ध हुआ। विष्णु पुराण में यह कथा विस्तार से लिखी है। श्रेष्ठ कुल की यह 'वत्स' संज्ञा प्रसिद्धि को प्राप्त हुई। इनके पुरोहित भार्गव 'वत्स गोत्रीय' थे। पुरोहितों का इस राजधानी से बड़ा घनिष्ठ सम्पर्क था। यही कारण था कि राजा प्रतर्द्धन के दोनों पुत्रों के नाम वत्स तथा मार्ग रखे गये। इस वंश में सभी पैदा होने वाले वत्स कुल के कहलाये। प्रतर्द्धन से ही वत्स कुल प्रसिद्ध हुआ। इन वत्स वंशीय राजाओं की राजधानी प्रयाग थी। इन वत्सों का गोत्र भी वत्स कहलाया। क्षत्रिय राजवंशों का गोत्र प्रवर अपने कुल पुरोहितों के ही अनुसार होता है। सूर्य वंशी राजाओं से इन के अनेक बार विवाह सम्बन्ध हुए। अतः यद्यपि वत्स वंशी चन्द्र वंशी थे किन्तु इनकी शाखाओं का सूर्य वंशियों से समय समय पर सम्पर्क होता रहा अतः यह कहीं कहीं सूर्य वंशी भी कहलाये। हैहय कुल तथा वत्स कुल के राजाओं को इसी से कहीं कहीं पुराण में सूर्य वंशी भी लिखा है। इसी लिये सेठ, सूर्य वंशी भी माने जाते हैं और कुछ इन्हें चन्द्र वंशी भी मानते हैं। (खत्री जाति परिचय–पृष्ठ 35–36)

(1) नहुष अपने बड़े पुत्र यति को राज्य देना चाहते थे परन्तु उसने स्वीकार नहीं
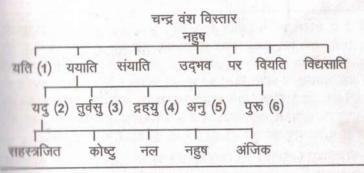
किया क्योंकि वह राज्य पाने का परिणाम जानता था। जब इन्द्र पत्नी शची से सहवास करने की चेष्टा करने के कारण नहुष को ब्राह्मणों ने इन्द्र पद से गिरा दिया, तब राजा के पद पर ययाति बैठे और स्वयं शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी और दैत्यराज वृषपर्वा को पुत्री शर्मिष्ठा को पत्नी रूप में स्वीकार कर के राज्य करने लगे। देवयानी ने शर्मिष्ठा द्वारा अनजान में अपने वस्त्र पहन लेने पर गाली दी थी जिस पर क्षत्रिय कन्या शर्मिष्ठा ने उसे कुएं में ढकेल दिया। ययाति संयोगवश उधर आ निकले और उन्हों ने वस्त्रहीन देवयानी को हाथ पकड़ कर बाहर निकाला। कच के शाप से देवयानी ब्राह्मण वर का पाणिग्रहण नहीं कर सकती थी। देवयानी के अनुरोध पर उन्हों ने यह प्रतिलोम सम्बन्ध स्वीकार कर लिया। बाद में देवयानी की जिद पर शर्मिष्ठा ने भी अपने परिवार वालों का संकट देख कर देवयानी की दासता स्वीकार कर ली।

(2) कूर्म पुराण के 22वें अध्याय में चन्द्र वंश के वर्णन में इस यदु वंश के जिन प्रतापी राजाओं का वर्णन दिया है इसमें प्रतापी राजा नहुष की संतति परम्परा दिखा कर लिखा गया है–"यदोरप्य भवन पुत्राः पंचदेव सुतोपमाः सहस्त्रजित्तथ श्रेष्ठः कोष्टुनीलो जिनो रघुः" राजा यदु के पाँच पुत्रों के नाम सहस्त्रजित, कोष्टु, नील, जिन और रघु हैं। 'श्रेष्ठ' यह सामान्यतः इनका विशेषण है क्योंकि श्रेष्ठ शब्द इस वंश में उपाधि का जाति वाचक ही है।' इसी से उस अध्याय के आदि में भी 'दक्षिण परयो राजा यदु श्रेष्ठ न्ययोजयत्' स्पष्ट लिखा है। 'दक्षिण और पश्चिम के देशों का राज्य यदु 'श्रेष्ठ' को दिया।' यहाँ पिता की आज्ञा न मानने पर भी श्रेष्ठ कुल के कारण यदु को भी श्रेष्ठ लिखना पड़ा। यह विशेषण गुणों की श्रेष्ठता से होता तो आज्ञाकारी पुत्र पुरु ही उक्त श्रेष्ठ पद वाच्य था। यदु और तुर्वसु देवयानी (गुरु पुत्री) के पुत्र थे तथा द्रह्यु, अनु और पुरु शर्मिष्ठा (क्षत्रिय वृषपर्वा की पुत्री) के पुत्र थे। शर्मिष्ठा के पुत्रवती होने की बात जान कर देवयानी क्रोध से बेसुध हो कर अपने पिता के घर चली गयी थी। कामी ययाति ने देवयानी को मनाने की बहुत चेष्टा की पर मना न सके। शुक्राचार्य जी ने भी क्रोध में भर कर उसे स्त्रीलम्पट, मन्द बुद्धि और झूठा कहते हुए उसके शरीर में बुढ़ापा आने का श्राप दे दिया परन्तु उस श्राप से अपनी पुत्री का भी अनिष्ट जान ययाति को क्षमा करते हुए कह दिया कि–"जाओ, जो प्रसन्नता से तुम्हें अपनी

जवानी दे दे, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो।' ययाति के अपने पुत्रो से उनकी जवानी मांगे जाने पर सबसे पहले उनके बड़े पुत्र यदु ने, फिर अन्य ने भी अस्वीकार कर दिया किन्तु उनके सबसे छोटे पुत्र पुरु ने सहर्ष अपनी युवावस्था दे कर बड़े आनन्द से अपने पिता का बुढ़ापा स्वीकार किया। इसी कारण से ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार प्राप्त होने पर भी साम्राज्य के सर्वप्रधान राजसिंहासन पर पिता ने यदु का अभिषेक नहीं किया था बल्कि अभिशाप ही दिया था। आज्ञा भंग के दोष से दूषित यदु की गुण से श्रेष्ठता तो कदापि संभव नहीं थी।

—श्रीमद्भागवत् स्कन्ध 9— अध्याय—18—19

हरिवंश के 30 वें अध्याय में भी यदु को श्रेष्ठ ही लिखा है—प्रतर्द्दन वत्स से ही इस श्रेष्ठ कुल की वत्स संज्ञा का प्रारम्भ हुआ। इस राज—वंश के मातामह के उत्तराधिकारी सूत्र से दत्तक हो गोद बैठने से अथवा 'वंश ह्रास—वृद्धि' तथा सूर्य वंश एवं चन्द्र वंश की कई एक शाखाओं से भी सम्बन्ध समय समय पर हुआ है। इसी से पुराणों में कहीं—कहीं इस हैहय कुल और श्रेष्ठ वत्स कुल के राजाओं को सूर्य वंशी भी वर्णन किया है। इतना निश्चित है कि इस कुल की उपाधि ही श्रेष्ठ प्रसिद्ध थी।

सम्भव है कि महाराजा पुरुरवा के सर्व ज्येष्ठ पुत्र आयु राजा के वंशज ही बड़े पुत्र की सन्तान होने के कारण गद्दीधारी सब पुत्रों में श्रेष्ठ थे। इसी से इन्हीं के कुल की श्रेष्ठ संज्ञा भी प्रसिद्ध हुई। 'किमर्थ पौरवो वंशः श्रेष्ठत्वं प्राप भूतले', 'बभ्रु श्रेष्ठो मनुष्याणां', 'तेषां दुर्योधनः श्रेष्ठः सर्व क्षत्रस्य वै प्रभुः' इत्यादि देख कर यही निश्चित होता है कि कुल विशेष की उपाधि ही श्रेष्ठ प्रसिद्ध थी। इसी से यदु, पुरु, वभ्रु और कुरु वंशी आदि इस वंश के सभी को स्थल विशेष में श्रेष्ठ लिखा है। कूर्म पुराण में भी इसी श्रेष्ठ वंश के प्रधान राजाओं के नाम गिना कर 'रुद्रभक्ता महात्मानः पूज्यन्तिसम शंकरम्' सब को शिवभक्त ही लिखा है। इस सुविशाल वंश के वत्स, कौक्कुर और तालजन्घ जो रह गये थे, वे सभी आज भी अपने को 'सेठ' ही कहते हैं। श्रेष्ठों का गोत्र परम्परा से 'वत्स' गोत्र ही है। वत्स कुल के यजमान श्रेष्ठ राजवंश प्रसूत वर्तमान सेठों की उक्त सभी संज्ञा आज भी ज्यों की त्यों वर्तमान है।

वत्स कुल के सेठ और कक्कड़, इन दोनों अल्लों के कुल पुरोहित जामदग्न्य वत्स गोत्रीय कुमडिये सारस्वत हैं। तालजन्घ कुल के खत्रिय महर्षि और्व के समय से वशिष्ठ कुल को मानने लगे। कोई कोई तो असहनशीलता के कारण सेठी तालवाड़ कहते हैं। वशिष्ठ वंशज पराशर गोत्र के तिक्खे इन तालजन्घ या तालवाड़ खत्रियों के पुरोहित हैं।

—खत्रिय इतिहास—बाल कृष्ण प्रसाद — पृष्ठ 202—205

(3) तुर्वसु की वंश परम्परा में वह्नि, भर्ग, भानुमान, त्रिभानु, करन्धम और मरुत हुए। मरुत के कोई पुत्र न था इस लिये उसने पुरुवंशी दुष्यन्त को अपना पुत्र बना कर रखा, परन्तु दुष्यन्त राज्य की कामना से अपने ही वंश मे लौट गया।

—श्रीमद्भागवत् 9/23/14—17

(4) द्रहयु की वंश परम्परा में वभ्रु, सेतु, आरब्ध, गन्धार, धर्य, धृत, दुर्मना और प्रचेता हुए। प्रचेता के सौ पुत्र हुए जो उत्तर दिशा में म्लेच्छों के राजा हुए।

—श्रीमद्भागवत् 9/23/14—17

(5) अनु की वंश परम्परा में सभानर, कालनर, महामना, उशीनर, शिनि, चित्ररथ या रोमपाद थे जो अयोध्यापति दशरथ का मित्र था। रोमपाद के सन्तानहीन होने के कारण दशरथ ने अपनी कन्या शान्ता उन्हें गोद दी थी (जिसका विवाह ऋष्यश्रंग मुनि से हुआ)। ऋष्यश्रंग मुनि की कृपा से उन्हें सन्तान हुई और पुत्रहीन दशरथ ने भी उन्हीं के प्रयत्न से राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चार पुत्र प्राप्त किये। रोमपाद को पुत्र चतुरंग की वंश परम्परा में ही ब्रह्द्रथ, ब्रहनयना, जयद्रथ और उसी की वंश परम्परा में सत्कर्मा का पुत्र अधिरथ हुआ जो सन्तानहीन था। उसी ने गंगा तट पर पिटारी में बहते शिशु कर्ण को प्राप्त किया और अपना पुत्र बना लिया।

—श्रीमद्भागवत् 9/23/1—13

(6) ययाति पुत्र पुरु के वंश में बहुत से राजर्षि और ब्रह्मर्षि हुए। पुरु का पुत्र हुआ जनमेजय। उसकी वंश परम्परा में प्रचिन्वान, रौद्राश्व, रन्तिभार, कण्व, मेधातिथि हुए। इन्हीं कण्व पुत्र मेधातिथि से प्रस्कण्व आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए। सुमति, रैभ्य, दुष्यन्त और उनके विश्वामित्र की पुत्री शकुन्तला से भरत उत्पन्न हुए जो भारत के चक्रवर्ती सम्राट हुए। इन्हों ने दिग्विजय के समय किरात, हूण, यवन, अन्ध्र, कंक, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मण द्रोही राजाओं को मार डाला। भरत द्वारा संसार से उदासीन हो जाने और पत्नियों से यह कहने पर कि तुम्हारे पुत्र हमारे अनुरूप नहीं हैं, उनकी पत्नियों ने सम्राट द्वारा त्यागे जाने के भय से अपने बच्चों को मार डाला, तब मरुद्गणों ने उन्हें वंश नष्ट होने से बचाने के लिये संतान रूप में भरद्वाज नाम पुत्र दिया जो उनका दत्तक पुत्र था।

—श्रीमद्भागवत् 9/20/1—39

भरद्वाज की वंश परम्परा में मन्यु, रन्तिदेव, गर्ग, शिनि और उनके गार्ग्य हुए। (गार्ग्य क्षत्रिय था फिर भी उससे ब्राह्मण वंश चला) मन्यु पुत्र महावीर्य के तीनों पौत्र ब्राह्मण हो गये। मन्यु का एक अन्य पुत्र था बृहत्क्षत्र, उसका पुत्र हस्ती। उसी ने हस्तिनापुर बसाया। उनके अजमीढ़ एवं ब्रह्मदत्त हुए। ब्रह्मदत्त योगी था। उसके विष्वकसेन और उसकी परम्परा में मुद्गल, यवीनर, वृहदिषु, काम्पिल्य और संजय हुए जो पाँच देशों का शासन करने में समर्थ होने से पांचाल कहलाये। मृद्गल से दिवोदास और उसकी जुड़वाँ बहन अहल्या हुई जो गौतम को ब्याही थी। गौतम के शतानन्द तथा उनके वंश में सत्यधृति, शरद्वान और उनके कृपाचार्य हुए। उन्हीं की बहन कृपी द्रोणाचार्य की पत्नी थी।

—श्रीमद्भागवत् 9/21/1—39

दिवोदास की वंश परम्परा में उसका पुत्र था मित्रेयु। मित्रेयु के चार पुत्र थे। च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक। सोमक के सौ पुत्रों में सबसे बड़ा जन्तु और

सबसे छोटा पृणत था। पृणत के पुत्र द्रुपद थे और द्रुपद के द्रौपदी नाम की एक पुत्री थी जो युधिष्ठिर आदि पाँच पांडवों को ब्याही थी। द्रुपद का ही पुत्र धृष्टद्युम्न था और उसका पुत्र था धृष्टकेतु। भर्याश्व के वंश में उत्पन्न हुए ये नरपति 'पाँचाल' कहलाये और द्रौपदी भी इसी लिये पाँचाली कही जाती है।

अजमीढ़ का दूसरा पुत्र था ऋक्ष। उनके पुत्र हुए संवरण। संवरण का विवाह सूर्य की कन्या तपती से हुआ। उन्हीं से कुरुक्षेत्र के स्वामी कुरु का जन्म हुआ। कुरु के चार पुत्र हुए। परीक्षित, सुधन्वा, जह्नु और निषधाश्च। सुधन्वा की वंश परम्परा से बृहद्रथ आदि हुए। बृहद्रथ की दूसरी पत्नी के गर्भ से एक शरीर के दो टुकड़े उत्पन्न हुए। उन्हें माता ने बाहर फिंकवा दिया। तब 'जरा' नाम की राक्षसी ने 'जियो जियो इस प्रकार कह कर खेल खेल में उन टुकड़ों को जोड़ दिया। उसी जोड़े हुए बालक का नाम हुआ 'जरासन्ध'। इन्हीं महाराज कुरु का वंश (आगे चल कर) उन्हीं के नाम से 'कौरव' कहलाया।

कुरू के ज्येष्ठ पुत्र परीक्षित के कोई सन्तान न हुई। कुरु के पुत्र जह्नु की वंश परम्परा में सुरथ, विद्वरथ, प्रतीप हुए। प्रतीप के तीन पुत्र थे। देवापि, शन्तनु, और बाहलीक। देवापि अपना पैत्रक राज्य छोड़ वन में चला गया। इस लिये उनके छोटे भाई शन्तनु राजा हुए। वे अपने हाथों से जिसे छू देते थे वह बूढ़े से जवान हो जाता था। उसे परम शान्ति मिल जाती थी। इसी करामात के कारण उनका नाम 'शन्तनु' हुआ। देवापि इस समय भी योग साधना कर रहे हैं और योगियों के प्रसिद्ध निवास स्थान कलाप ग्राम में रहते हैं। जब कलियुग में चन्द्र वंश का नाश हो जायेगा तब सत्य युग के प्रारम्भ में वे फिर उसकी स्थापना करेंगे। शन्तनु द्वारा ही गंगा जी के गर्भ से नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म का जन्म हुआ था। शन्तनु के द्वारा दाशराज की कन्या के गर्भ से दो पुत्र हुए । चित्रांगद और विचित्रवीर्य। चित्रांगद को चित्रांगद नामक गन्धर्व ने मार डाला और दाशराज की कन्या सत्यवती से स्वयं भगवान श्री कृष्ण द्वैपायन व्यास जी अवतीर्ण हुए जिनके पुत्र शुकदेव जी थे।

विचित्रवीर्य ने अम्बा अम्बालिका से विवाह किया किन्तु अति विषय भोग से उसे राज यक्ष्मा हो गया और उसकी मृत्यु हो गयी। अतः माता सत्यवती के कहने से भगवान व्यास जी ने अपने सन्तानहीन भाई की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र उत्पन्न किये। उनकी दासी से तीसरे पुत्र विदुर भी हुए। पाण्डु के युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नकुल, सहदेव ये पाँच पुत्र हुए। महाभारत के युद्ध में उस समय कुरु वंश का नाश हो गया और पाण्डु वंश में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल जाने के बाद भी श्री कृष्ण की कृपा से अभिमन्यु पुत्र परीक्षित बच गये। यह वंश कलियुग में राजा क्षेमक के साथ समाप्त हुआ।

—श्रीमद्‌भागवत् 9/22/1–44

(टिप्पणी—अत्यधिक विस्तार के कारण यह पुरु वंशावली तालिका में छोड़ कर यहाँ अलग से दे दी गयी है)

ययाति के बड़े पुत्र यदु के वंश को परम पवित्र और मनुष्य के समस्त पापों

को नष्ट करने वाला माना जाता है। इस वंश में स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने अवतार लिया था। यदु की वंश परम्परा में सहस्त्रजित, कोष्टु, नल और रिपु आदि थे। सहस्त्रजित से शतजित का जन्म हुआ और उसके पुत्र हैहय की वंश परम्परा में कृतवीर्य पुत्र महाबली अर्जुन का जन्म हुआ जिसे बड़ी बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त थी और जो सहस्त्रार्जुन कहलाता था। उसके हजारों पुत्रों में केवल पाँच ही जीवित रहे। शेष सब परशुराम जी की क्रोधाग्नि में भस्म हो गये। (श्रीमदभागवत् 9/23/19–27)। कहते है कि हैहय वंश का अन्त करने के लिये स्वयं भगवान ने ही परशुराम के रूप में अंशावतार ग्रहण किया था। उन्हों ने इस पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय विहीन कर दिया। यद्यपि क्षत्रियों ने उनका थोड़ा सा ही अपराध किया था फिर भी वे लोग बड़े दुष्ट, ब्राह्मणों के अभक्त, रजोगुणी और विशेष कर के तमोगुणी हो रहे थे। यही कारण था कि वे पृथ्वी पर भार हो गये थे और इसी के फलस्वरूप परशुराम ने उनका नाश कर के पृथ्वी का भार उतार दिया।

—श्रीमद्‌भागवत— 9/15/14–15

परशुराम के प्रकोप से सहस्त्रार्जुन के जो पुत्र बच गये थे उनके नाम थे जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और अर्जित।

जयध्वज के पुत्र का नाम था तालजंघ। तालजंघ के सौ पुत्र हुए। वे तालजंघ—नामक क्षत्रिय कहलाये। महर्षि और्व की शक्ति से राजा सगर ने उन सब का संहार कर डाला। इन सौ पुत्रों में सबसे बड़ा था वीति होत्र जिसका पुत्र मधु हुआ। मधु के सौ पुत्र थे। उनमें सबसे बड़ा वृष्णि था। इन्हीं मधु, वृष्णि और यदु के कारण यह वंश माधव, वार्ष्णेय और यादव के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

यदुनन्दन कोष्ट्र के पुत्र का नाम था वृजिनीवान। वृजिनीवान की वंश परम्परा में उशना, ज्यामघ, विदर्भ हुए। विदर्भ के रोमपाद, चेदि, शिशुपाल हुए। विदर्भ के दूसरे पुत्र क्रथ के वंश में कुन्ति, जीमूत, आयु और आयु से सात्वत हुए। सात्वत के सात पुत्रों में महाभोज बड़ा धर्मात्मा था। उसी के वंश में भोजवंशी यादव हुए।

सात्वत के पुत्र वृष्णि की वंश परम्परा में सत्राजित, सात्यिक, अक्रूर आदि हुए। सात्वत के पुत्र अन्धक की वंश परम्परा में कुकुर, आहुक, देवक, उग्रसेन, कंस आदि हुए। कोष्टु पुत्र वृजिनीवान के पुत्र चित्ररथ की वंश परम्परा में शूर, वसुदेव आदि हुए। यही वसुदेव आनक दुन्दभि भी कहलाये। वे ही भगवान श्री कृष्ण के पिता हुए जिन्हें स्वयं भगवान श्री हरि का अवतार माना जाता है।

—श्रीमद्‌भागवत् 9/23/19–39 एवं 9/24/1–59

इस प्रकार यह चन्द्र वंश सबसे अधिक वैविध्य एवं वैचित्र्यपूर्ण है।

चन्द्र वंश विस्तार

चन्द्र वंश विस्तार
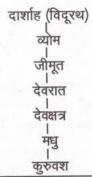
(1) जयध्वज के तालजंघ और उसके 100 पुत्र हुए जो सभी तालजंघ क्षत्रिय कहलाये।

—श्रीमद्भागवत् 9/23/28

इन्हीं मधु, वृष्णि और यदु के कारण यह वंश माधव, वार्ष्णेय और यादव वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ।—श्रीमद्भागवत् 9/23/29

(2) हैहय के वंश वाले हैहय वंशी कहलाये। इसी वंश परम्परा में महापराक्रमी अर्जुन भी था जो सहस्त्रार्जुन कहलाया। यह महान योगी भी था। इसी ने रावण को भी कैद कर लिया था। इसी ने जमदग्नि ऋषि की कामधेनु को बलपूर्वक उठवा लिया था जिससे क्रुद्ध हो कर परशुराम ने उसका वध किया और कामधेनु को ले आये। पिता के वध का बदला अर्जुन के पुत्र हैहय वंशियों ने जमदग्नि का वध कर के लिया था जिस पर प्रण कर के परशुराम ने इन्हीं चन्द्र वंशी हैहय वंशी क्षत्रियों का 21 बार संहार किया था। परशुराम स्वयं सूर्यवंशी क्षत्रिय रामचन्द्र जी के सामने जनक के धनुष यज्ञ में अपने क्रूर कर्म को छोड़ कर तपस्या करने चले गये थे। पुराणों में इसका विस्तृत विवरण है।

(3) तालजंघ कुल के क्षत्रिय महर्षि और्व के समय से ही वशिष्ठ कुल को मानने लगे थे। और्व ऋषि के क्रोध से इनकी विशेष वृद्धि भी नहीं हुई। सेठ खत्री इन्हें पुरोहित बदलने के कारण सेठी खत्री कहते हैं किन्तु आज भी सेठ, कक्कड़ और तालवाड़ खत्रियों की संज्ञा सेठ ही है। वशिष्ठ वंशज पराशर गोत्र सारस्वत, जो पूर्व में पुरोहित थे, वही सारस्वत ब्राह्मण इन तालजंघ या तालवाड़ों के पुरोहित आज तक चले आते हैं। अंग के यजमान न होने के कारण ही इनका गोत्र वशिष्ठ तथा पराशर से भिन्न रहा और हंसलस (हंसल) हैं। वर्तमान समय में तिक्खे सारस्वत ब्राह्मणों के यजमान एकमात्र तालवाड़ हैं। इसी तालवाड़ कुल के सगर राजा के समय के क्षत्रियों के वंशज ही अब तालवाड़ के नाम से विख्यात हैं। भीष्म पितामह और बलदेव जी ने उस कुल का स्मारक ताल वृक्ष मात्र अपनी ध्वजा में रखा था। इसी से ये तालकेतु के नाम से प्रसिद्ध थे। जिस तरह हिन्दी में कोठी में रहने वाले को कोठीवाल कहते हैं, उसी तरह ताल वृक्ष के नाम पर ताल वाले और तालवाल कहा जाता है। वही शब्द प्रयोग द्वारा विकृत हो तालवाड़ शब्द (अल्ल या लौकिक गोत्र) की सृष्टि हुई है। (देखिये खत्रिय इतिहास—बाल कृष्ण प्रसाद —पृष्ठ 206)

- कुरुवंश
  - अनु
    - पुरुहोत्र
      - आयु
        - सात्वत
          - भजमान
          - भजि
          - दिव्य
          - वृष्णि
            - श्वामल्क
              - सत्राजित
                - सात्यिक
                  - अक्रूर
            - चित्ररथ
              - वभ्रु
              - दार्शाह (विदूरथ) की दूसरी पत्नी ऐक्ष्वाकी से
                - मीढुष या शूर
                  - वसुदेव तथा 9 अन्य पुत्र
                    - बलराम
                    - श्रीकृष्ण (विष्णु अवतार)
                      - प्रद्युम्न
                        - अनिरुद्ध (5)
                          - मृगकेतन
                  - राजाधिदेवी
                    - अभिमर्दता (कन्या)
                  - पृथा (2)
                    - युधिष्ठिर
                    - भीम
                    - अर्जुन
                  - श्रुतिकीर्ति
                    - सन्तनि
                  - श्रुतिदेवी
                    - कारुष
                  - श्रुतश्रवा (पाँच पुत्रियाँ)
                    - सुनीथ (शिशुपाल)
          - देवावृध
          - अन्धक महाभोज (1)
            - कुकुर (4)
              - वह्नि
                - अनु
                  - आहुक (3)
                    - देवक
                    - उग्रसेन
                      - कंस
            - भजमान

---
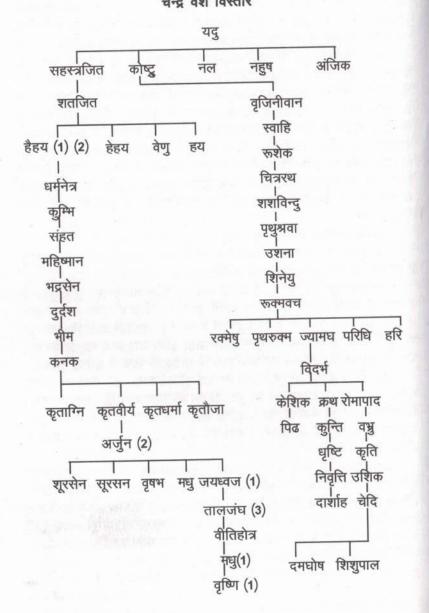
(1) इसी महाभोज के वंश में भोजवंशी यादव हुए। (श्रीमद्भागवत् 9/24/11)
(2) शूर की राजा कुन्तिभोज से मैत्री होने के कारण उन्हों ने अपनी कन्या पृथा को उन्हें गोद दे दिया था। अतः राजा कुन्तिभोज की कन्या होने के कारण वह पृथा ही कुन्ती कहलाई।
(3) आहुक की एक पुत्री थी जिसके दो पुत्र हुए, देवक और उग्रसेन। देवक के चार पुत्र व सात बहने थीं। उसने सातों बहनों का विवाह वसुदेव जी से कर

दिया। उग्रसेन के 9 पुत्र हुए, जिनमें कंस सब से बड़ा था।
(4) इनसे कौक्कुर या कक्कड़ों की उत्पत्ति कही जाती है।
(5) वाणासुर की पुत्री उषा से विवाह किया।

टिप्पणी– यह चन्द्र वंश के प्रमुख राजाओं की वंशावली है जो पुराणों में विस्तार से दी गयी है। इन चन्द्र वंशी क्षत्रियों (खत्रियों) का विस्तार अत्यन्त वैविध्यपूर्ण है। इस वंशावली से यह भी सिद्ध होता है कि चन्द्र वंश का विस्तार तथा सूर्य वंश और चन्द्र वंश (सूर्य पुत्र सुद्युम्न (इला) तथा चन्द्रमा पुत्र बुध) का विस्तार दोनों के सहयोग से ही हुआ जिनका पूर्वतम पूर्वज एक ही है। इस वंश की यादव, हैहय, तालजंघ, भोजक, अंधक आदि अनेक उपशाखायें हैं और आधुनिक काल में भी "(1) करौली के राजा ब्रज में ही हैं जो सम्मानीय यदु वंशी माने जाते हैं। (2) जैसलमेर के भाटी भी यादव हैं और उनसे अपना सम्बन्ध जोड़ने वाले नाहन (सिरमौर) के भूतपूर्व राजा भी यादव कहे जाते हैं। (3) मुसलमानों द्वारा ध्वस्त देवगिरि (दौलताबाद) महाराष्ट्र का एक शक्तिशाली राज्य भी यादव था। इस प्रकार मथुरा, राजस्थान, हिमालय ही नहीं, सूदूर– दक्षिण तक यदुओं का विस्तार रहा।"

– ऋग्वेदिक आर्य–राहुल सांकृत्यायन–पृष्ठ 19

अनुवर्ती परम्परा

जैसा कि सर्वविदित है महाभारत के युद्ध में भारत के प्रायः सभी क्षत्रिय राजाओं का विनाश हो गया। कौरवों और पांडवों के इस युद्ध में भारत के ही नहीं बल्कि भारत के बाहर से आये अनेक क्षत्रिय राजा भी हताहत हुए और उनके साथ ही उनकी असंख्य सेनायें भी नाश को प्राप्त हुईं जिससे चारों ओर अराजकता फैलने लगी और रागद्वेष का बोलबाला हो गया। देश में किसी की एकक्षत्र सत्ता न रही। क्षत्रियों का सौभाग्य सूर्य इसी समय से अस्ताचल गामी हो जाने से कुछ समय बाद भारतीय राज्य शूद्र तथा वृषल जातियों के वंश में जाने लगे जिन्हों ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों से जम कर बदला लिया। भारत में फैली अराजकता को देखते हुए विदेशी शक्तियों की ललचायी निगाह भी भारत पर पड़ने लगी अतः उत्तर महाभारत काल में क्षत्रियों (खत्रियों) के छिटपुट राज्यों का ही वर्णन इधर–उधर बिखरा मिलता है और इनमें से एक प्रमुख राज्य था अवन्तिका नरेश विक्रमादित्य का जिसने राम जन्म भूमि सहित अयोध्या का उद्धार किया। यह खत्री सम्राट विक्रमादित्य महाराज गंधर्वसेन का पुत्र तथा महाराज भर्तहरि का छोटा भाई था जिन्हों ने स्वयं राज सत्ता अपने छोटे भाई को सौंप दी थी। महाभारत के बाद इस सम्राट विक्रमादित्य की ही इतिहास कथायें भारत में सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि ईरान के सिस्तान प्रांत निवासी शकों और हूणों ने सन 64 ईसा पूर्व में उज्जैन पर आक्रमण कर राजा दर्पण गंधर्व सेन को विंध्य की पहाड़ियों में शरण लेने को मजबूर किया था। उस समय उसका पुत्र विक्रम केवल 10 वर्ष का था पर उसने शीघ्र ही विदेशी शक एवं हूणों को भारत की भूमि से खदेड़ दिया और उसकी उसी विजय के उपलक्ष में सन 57 ईसवीं पूर्व में विक्रम संवत प्रचलित हुआ।

भारतीय सम्राट चन्द्रगुप्त का समय 322–298 ईसवीं पूर्व था और उसके बाद आया महान अशोक का समय। सम्राट अशोक की भी सन 232 ईसवीं पूर्व में मृत्यु हो गयी। उसके बाद शताब्दियों तक भारत में पूर्ण राजनीतिक एकता न रही और हिमालय से ले कर केप कमोरिन तक भारत देश की सम्पूर्ण धरती कभी भी किसी एक केन्द्रीय सरकार या एक हिन्दू राजा के अधीन नहीं रही। यहाँ तक कि समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त भी सम्पूर्ण भारतीय उप महाद्वीप को अपने अधीन न कर सके। सातवीं शताब्दी के मध्य में जिस समय अरब पैगम्बर मुहम्मद अपने नये जुझारू धर्म का प्रचार कर रहे थे उसी समय भारतीय हिन्दू सम्राट हर्ष वर्धन उत्तर पश्चिमी भारत में एक महान साम्राज्य की आधारशिला भी रख रहे थे पर वह भी सम्पूर्ण उत्तरी भारत तो जीत नहीं पाये उलटे विंध्य पर्वतों के दक्षिण में भी उनका दिग्विजय अभियान सफल नहीं हुआ। सन 647 ईसवीं में उनकी मृत्यु होते ही उनका सम्पूर्ण साम्राज्य टुकड़े टुकड़े हो कर बिखर गया। इससे देश के छोटे–छोटे राजाओं में अपनी प्रभुता स्थापित करने की होड़ सी मच गयी

तथा अगले 50 वर्षों तक अराजकता फैली रही। आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में यशोवर्मन के समय स्थिति कुछ संभली पर उस शताब्दी के उत्तरार्ध में विभिन्न प्रकार के छोटे बड़े शासकों का ही बोलबाला रहा जो अपना प्रभुत्व बढ़ाने एवं राज्य विस्तार के लिये परस्पर युद्ध किया करते थे। देश में कोई केन्द्रीय सत्ता न थी, सभी राज्य पूर्णतः स्वतंत्र एवं प्रभुसत्ता सम्पन्न थे अतः देश की उत्तरी सीमान्तों की किसी केन्द्रीय या एक जुट राज्यों द्वारा रक्षा का भी सवाल न था। देश की उत्तर पश्चिमी तथा उत्तरी पूर्वी सीमाओं पर छोटे–छोटे स्वतंत्र राज्य ही थे।

भौगोलिक एवं राजनीतिक रूप से उत्तर महाभारत काल के भारत के राज्यों को अरबों के आक्रमण के पूर्व के समय तक चार भागों में बाँटा जा सकता है अर्थात :

(1) हिमालय राज्य समूह (2) गंगा यमुना के मैदान के राज्य
(3) दक्षिण के राज्य और (4) दक्षिणी पठार के राज्य

(1) हिमालय राज्य समूह

हिमालय राज्य समूह के अंतर्गत अफगानिस्तान, काश्मीर, नेपाल और आसाम के राज्य थे। इनमें अफगानिस्तान अनेकों राजनीतिक उतार चढ़ाव के बावजूद चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से भारत का ही एक अंग था। चंद्रगुप्त मौर्य ने इसे सेल्यूकस से लगभग 385 ईसवी पूर्व में जीता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही सम्पूर्ण आधुनिक अफगानिस्तान भौगोलिक एवं सांस्कृतिक रूप से भारत का ही एक भाग था और एक समय चिनाब नदी से ले कर हिन्दुकुश पर्वत तक काबुल सहित सम्पूर्ण क्षेत्र पर हिन्दू शाही वंश का ही राज्य था। इस वंश के राजाओं ने अकेले ही लगभग तीन सौ वर्षों तक पहले अरब और बाद में तुर्क आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए आत्मरक्षा की थी परन्तु सन 664 ईसवी में अरब आक्रमणकारी इस क्षेत्र के कुछ भाग पर कब्जा करने में सफल हो गये और वहाँ के 12,000 निवासियों को उन्हों ने मुसलमान बना लिया। नवीं शताब्दी में ह्वेन सोंग की यात्रा के समय काबुल घाटी में हिन्दू शाही वंश के खत्रियों (क्षत्रियों) का राज्य था जो पाँचवीं शताब्दी से राज्य कर रहे थे तथा वहाँ हिन्दू और बौद्ध ही बसते थे। हिन्दू क्षत्रिय शाही राज्य को लल्लिय ब्राह्मण द्वारा स्थापित ब्राह्मण राजवंश ने समाप्त किया और उसे भी शीघ्र ही अरबों ने समाप्त कर दिया तथा सम्पूर्ण जनता को भी इस्लाम धर्म में दीक्षित कर लिया।

काश्मीर मूलतः अशोक, कनिष्क एवं मिहिरकुल के ही साम्राज्य का अंग था किंतु हर्ष के समय स्वतंत्र राज्य बन गया था। सातवीं शताब्दी में ही स्थानीय राजा दुर्लभवर्धन ने इस शक्तिशाली राज्य की नींव डाली थी और उसके वंशज ललितादित्य (725–55 ईसवी) ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन को हराया था तथा प्रसिद्ध मार्तण्ड मंदिर (वर्तमान मातन मंदिर) भी बनवाया था।

नेपाल– अपनी सीमान्तवर्ती भौगोलिक पर्वतीय स्थिति के कारण नेपाल ने

भारतवर्ष के इतिहास को अधिक प्रभावित नहीं किया किंतु प्राचीन काल में वह भारत का भाग अवश्य था और सम्राट अशोक के साम्राज्य में सम्मिलित था। बाद में वहाँ लिच्छवी क्षत्रियों का राज्य हुआ तथा समुद्रगुप्त के समय में भी वह भारत का भाग था किंतु पाँचवीं शताब्दी में गुप्त साम्राज्य के बिखरने पर वह स्वतंत्र हो गया तथा कुछ समय तक तिब्बत के भी प्रभाव में रहा।

आसाम– एक अन्य पर्वतीय राज्य था जिसका बंगाल से संघर्ष बना रहा। हर्ष के समय यहाँ भास्करवर्मन राज्य करता था और उसने हर्षवर्धन की अधीनता स्वीकार की थी किंतु उसकी मृत्यु के बाद वह स्वतंत्र हो गया।

(2) गंगा यमुना के मैदान के राज्य :

कन्नौज– मध्य भारत क्षेत्र में कन्नौज को राजधानी बना कर हर्षवर्धन का साम्राज्य उत्तर पश्चिम में पूर्व पंजाब तक तथा पूर्व में कामरूप, उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में नर्मदा तक विस्तृत था। उसके उत्तराधिकारी इस साम्राज्य को स्थिर न रख सके क्योंकि उत्तरी भारत का प्रत्येक राज्य कन्नौज पर ही आंख गड़ाये रहता था। सन 672 ईसवीं में मालवा और मगध के आदित्य सेन ने कन्नौज को पराजित किया तथा आठवीं शताब्दी में चन्द्र वंशी क्षत्रिय यशोवर्मन कन्नौज में सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने राज्य को बंगाल से थानेश्वर, पूर्व पंजाब, हिमालय तथा नर्मदा तक पुनः विस्तृत कर दिया पर काश्मीर के ललितादित्य से हुए युद्ध में वह मारा गया।

सिंध– हिंदू शाही काबुल राज्य के दक्षिण पश्चिम में सिंध का राज्य था जहाँ शूद्र राजा राज्य करते थे जिनका राज्य 140 वर्ष तक रहा। ह्वेन सांग के समय यह राज्य विद्यमान था। इसे प्रभाकर वर्धन ने जीता और हर्ष ने अपने अधीन किया पर हर्ष की मृत्यु के पश्चात वह स्वतंत्र हो गया। तत्पश्चात वहाँ ब्राह्मण मंत्री छाछ एवं तत्पश्चात दाहिर का राज्य हुआ जिसे अरबों ने परास्त किया।

बंगाल– ईसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में बंगाल गौड़ एवं वंग दो स्वतंत्र भागों में बंटा था किंतु दोनों मौर्य एवं गुप्त साम्राज्य के अंग थे। इन साम्राज्यों के पतन के साथ बंगाल भी स्वतंत्र हो गया। बाद में एक समय आसाम के राजा भास्करवर्धन ने गौड़ पर अधिकार कर लिया। यद्यपि कन्नौज के राजा यशोवर्मन ने आठवीं सदी के प्रारम्भ में बंगाल को रौंद डाला पर शीघ्र की पाल वंश के राजा गोपाल ने दोनों बंगाल में अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

मालवा– आठवीं शताब्दी में उज्जैन की राजधानी वाला मालवा भी एक महत्वपूर्ण राज्य था जहाँ प्रतिहार राजपूतों का राज्य था। इनका अरब आक्रामकों

से संघर्ष भी हुआ और सन 725–35 ईसवी में अरबों ने राज्य के पश्चिमी भाग पर आधिपत्य भी स्थापित किया किंतु नागभट्ट (725–40 ईसवीं) ने शीघ्र ही उन्हें खदेड़ कर अपना क्षेत्र वापस ले लिया तथा उत्तर भारत में उज्जैन की प्रभुता स्थापित कर दी।

(3) दक्षिण के राज्य

चौथी शताब्दी में दक्षिण भारत में वाकाटक और पल्लव दो सुदृढ़ राजवंशों का राज्य स्थापित था। गुप्त वंश के चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शक्तिशाली वाकाटक राजवंश में अपनी पुत्री प्रभावती का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से कर के अपने संबंधों को सुदृढ़ किया था। वाकाटक राजवंश ने दक्षिण में कई पीढ़ी तक राज्य किया।

वाकाटक राज्य के दक्षिण में पल्लवों का कांची राज्य था। चौथी शताब्दी के मध्य में समुद्रगुप्त ने यहाँ के राजा विष्णुगोप को बंदी बना कर बाद में छोड़ दिया था। इस वंश में अनेक योग्य शासक हुए। उन्हों ने छठी शताब्दी के अंत में चोल राज्य को जीत कर श्री लंका सहित अपने अनेक दक्षिणी पड़ोसी राज्यों को जीता पर शीघ्र ही आठवीं शताब्दी में चालुक्य वंश के विक्रमादित्य द्वितीय ने पल्लव राज्य को जीत कर कांची में अपना राज्य स्थापित कर लिया। इसी समय सिंध में अरब भी अपनी स्थिति सुदृढ़ कर रहे थे। धीरे–धीरे नवीं शताब्दी के अंत तक पल्लव राज्य भी कमजोर पड़ कर समाप्त हो गया।

(4) दक्षिणी पठार के राज्य

प्राचीन समय से ही यहाँ पांड्य, चोल एवं केरल के चेरा राज्य थे। पांड्य राज्य में आधुनिक मदुरै एवं तेनेवेल्ली तथा त्रिचरापल्ली के कुछ भाग, चोल राज्य में वर्तमान मैसूर राज्य, मद्रास तथा उसके पास के कुछ जिले तथा केरल के चेरा राज्य में कोचीन तथा टज्रावनकोर एवं मालाबार जिले थे। इन राज्यों पर पल्लवों ने अधिकार कर लिया था और वस्तुतः वे ही दक्षिणी पठार के राज्यों के मालिक थे।

इतिहास को देखने से महाभारत काल के बाद अरबों के भारत में प्रवेश के समय तक के काल तक भारत के राज्यों की कमो–बेश यही स्थिति देखने को मिलती है।

भारतीय सम्राट चन्द्रगुप्त का समय 322–298 ईसवीं पूर्व था और उसके बाद आया अशोक का समय और फिर सीथियन और तुर्क हिमालय के उत्तरी दर्रों से हो कर भारत में आने लगे। उन्हों ने उत्तर भारत पर हमले कर वहाँ अपने

राज्य स्थापित कर लिये। धीरे–धीरे समय बीतता गया और सीथियन तथा तुर्क दोनों भारत की हिन्दू जातियों में मिल गये।

ईसा के बाद चौथी और पाँचवीं शताब्दी का समय हिन्दू गुप्त सम्राटों का स्वर्ण युग था किंतु उनके अवसान के साथ ही भारत प्रवेश के उत्तरी मार्गों पर नियंत्रण ढीला होते ही मध्य एशिया से जंगली जातियों की लहर की लहर भारत में प्रवेश करने लगी और खूंख्वार श्वेत–हूणों ने भारत में प्रवेश किया। जमीन और दौलत के भूखे ये भेड़िये तो कब से मौके की ताक में बैठे थे अतः सीमा पर नियंत्रण ढीला होते ही वे सीमावर्ती दर्रों से भारत में घुस कर लूट पाट मचाने लगे और उन्हों ने शीघ्र ही सारी सामाजिक व्यवस्था तहस नहर कर दी।

छठी शताब्दी की शुरूआत तक उत्तरी भारत का सम्पूर्ण क्षेत्र इन श्वेत हूणों के साम्राज्य के रूप में बदल चुका था। इसके बाद भी इनकी लहर की लहर उत्तर सीमावर्ती खुले दर्रों से भारत में आती गयी और धीरे–धीरे मूल भारतीय राज्य इतने ध्वस्त हो गये कि किसी भी भारतीय राज परिवार या कबीले का उनके बीच अस्तित्व ढूंढ़ पाना अब अत्यंत दुसाध्य एवं दुष्कर कार्य है।

धीरे–धीरे सीथियनों और तुर्कों की तरह ये हूण भी भारतीय समाज में घुल मिल गये। अब तक बौद्ध धर्म का हिन्दू धर्म से जो विरोध चला आ रहा था उसमें हिन्दू धर्म को शक्ति मिलने लगी। हिन्दू धर्म के सिद्धांत और उनके असंख्य देवी–देवता प्रधानता पाने लगे। ब्राह्मणों ने भी हिन्दू धर्म के उत्थान के लिये अनेक विदेशी मिश्रित जातियों को क्षत्रिय वर्ण की मान्यता दे दी जिससे उत्साहित हो कर इन नव क्षत्रिय जातियों ने भारत से बौद्ध धर्म का ही सम्पूर्ण विनाश कर दिया और अपने नये नये राज्य स्थापित कर लिये पर सातवीं शताब्दी के सम्राट हर्षवर्धन के राज्यकाल के कुछ वर्षों को छोड़ कर उत्तरी या दक्षिणी भारत में कोई भी ऐसा राजा न हुआ जिसने कोई भी सुदृढ़ या स्थायी राज्य स्थापित किया हो। इसी काल में मौरवरी खत्री राज वंश तथा हर्षवर्धन आदि के राज्यों का वर्णन तो मिलता है पर इनमें से कोई भी राज्य स्थायी न रहे। नतीजा यह हुआ कि छोटे–छोटे राज्य बढ़ गये और सभी अपनी अपनी शक्ति मजबूत करने लगे।

इसके बाद सातवीं शताब्दी से ले कर अगले पाँच सौ वर्षों का उत्तरी भारत का इतिहास छोटे–छोटे राज्यों और कबीलों की आपसी लड़ाई झगड़ों का ही इतिहास है। इन लड़ाइयों से कभी किसी राज्य की सीमायें बढ़ जातीं कभी किसी की। कभी कोई हारता, कभी कोई जीत जाता। छोटे–छोटे राज्यों के राजा कभी एक राज्य पर चढ़ाई कर देते, कभी दूसरे पर हमला कर उसे नष्ट कर देते और उन्हें भी उनसे अधिक शक्तिशाली राजा नष्ट कर देते। राजाओं की हत्या, उनका राज्य अपने राज्य में मिला लेना, आपसी जलन, ईर्ष्या, द्वेष का ही

उत्तरी भारत के राज्यों में बोलबाला था। हर आदमी केवल अपने लिये जीता था। देश की किसी को सुध न थी किंतु विंध्य पहाड़ियों के दक्षिण में भारत का दक्षिणी भाग इन सब गतिविधियों से बहुत कुछ बचा रहा। वहाँ के निवासी अपनी ही लड़ाइयाँ लड़ते रहे और अपने धर्म पर दृढ़ रहे किन्तु भारत के समुद्री किनारों के मार्ग से हिन्दू धर्माचार्यों ने वहाँ भी प्रवेश किया और वहाँ के स्थानीय देवी देवताओं को भी शामिल कर उन्हें हिन्दू धर्म में आत्मसात कर लिया। इससे उनकी संस्कृति तो विकसित हुई पर उत्तर तथा दक्षिण भारत के राज्यों में चलने वाले आपसी संघर्ष न रुके और सामान्य जनता में राजनीतिक चेतना न जागी। जब भी कोई राजा अपने क्षेत्र में शक्तिमान हो उठता वह अपने तथा पास पड़ोस के क्षेत्र में जैसी चाहता वैसी लूट–पाट, अत्याचार तब तक मचाता रहता जब तक कोई दूसरा शक्तिशाली राजा स्वयं उसे नष्ट न कर देता।

इसी काल में पहले अरब भारत में आये जिन्हों ने लगभग **800** ईसवी में सिंध और मुलतान में अपने राज्य स्थापित किये। उस समय तक तातार, तुर्क जातियाँ मुसलमान हो चुकी थीं और इस्लाम के झंडे तले तुर्कों ने अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ कर दिया था तथा कुस्तुनतुनियाँ में उनकी सत्ता स्थापित हो चुकी थी।

सन **997** ईसवी में तुर्की सरदार महमूद भारत में घुसा। वह बुतशिकन (मूर्ति–भंजक) के रूप में मशहूर हो चुका था। वह भारत पर बार–बार हमले कर के भारतीय शहरों, दुर्गों को ढहाता, मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ता तथा जमीन पर लाशों के ढेर लगाता भारत की दौलत लूट कर ले जाता रहा। हर साल भारत की भूमि पर जेहाद (धर्मयुद्ध) बोल कर वह लूट का सारा माल अफगानिस्तान ले गया।

सन **1000** ईसवीं से ले कर अगले पाँच सौ वर्षो तक इन लालची तुर्क, अफगानी और मंगोल भूखे भेड़ियों ने एक दूसरे के पीछे भारत आ कर इस देश को खूब रौंदा और भारत में अपनी जड़ें जमाने के लिये लड़ाइयाँ लड़ीं। इस काल के अन्त में तुर्की सरदार बाबर सन **1526** ईसवी में भारत में मुगल साम्राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। इसी समय से भारत में प्रवेश के उत्तरी मार्ग के दर्रे अगले दो सौ वर्षों के लिये बन्द हो गये और बाबर के उत्तराधिकारी इन दर्रों की दृढ़ता से रक्षा करते रहे। इन मुगलों के आने से भारत की स्थिति में कोई अंतर नहीं पड़ा। यहाँ तो पहले जो विदेशी राज्य करते थे उनकी जगह दूसरे विदेशी आ गये। अंतर केवल इतना हुआ कि इन नये सम्राटों ने एशिया की सर्वाधिक लड़ाकू जातियों से सैनिक भर्ती कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली।

इस्लाम की इस लहर को दक्षिण भारत में बढ़ने से रोकने के लिये विजयनगर का हिन्दू राज्य एक सुदृढ़ दीवार बन कर खड़ा हो गया पर यह राज्य भी जनता की दरिद्रता एवं अत्याचार की नींव पर ही अपनी वैभव विलासिता का महल बनाये खड़ा था इस लिये स्वयं अपनी रक्षा न कर सका।

सन 1565 ईसवीं में इस राज्य के चारों ओर फैले छोटे छोटे इस्लामी राज्यों के सुलतानों ने इस पर हमला कर जनता में भीषण मार काट मचा दी और राज्य को खण्डहरों में बदल दिया किन्तु मुगलों ने विदेशी विजेताओं की तरह शासन किया। अपने शासन को स्थायित्व देने के लिये यद्यपि उन्हों ने हिन्दू धर्म को बर्दाश्त किया, हिन्दू सरदारों की योग्यताओं का उपयोग किया, उनसे संबंध बढ़ाये तथा काफी राजकीय एवं सैनिक पदों पर उन्हें नियुक्त किया पर अपने हाथ मजबूत रखने के लिये वे मुसलमानों को ही प्रमुखता देते रहे।

इसके पश्चात सन 1659 ईसवीं में मुगल सम्राट औरंगजेब ने कट्टर इस्लामी धार्मिकता की राह पकड़ी और इस्लाम को राज्य धर्म बना दिया। अपनी धर्मान्धता के चलते उसने हिन्दू मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ना फोड़ना तथा हिन्दू प्रजा को जबरदस्ती मुसलमान बनाना प्रारम्भ कर दिया जिससे राजपूत सरदार उससे अलग हो गये और दक्षिण भारत के हिन्दू मराठे भी भड़क उठे। जब औरंगजेब ने अपनी शक्ति और दौलत बढ़ाने के लिये दक्षिण के छोटे छोटे मुसलमान राजाओं पर भी आक्रमण कर दिया तो मराठे गुरिल्लाओं की भांति आस पास के राज्यों पर भी टूट पड़े और उन्हें नष्ट–भ्रष्ट कर दिया। औरंगजेब के 50 वर्ष के इस उथल पुथल वाले शासन काल ने मुगल साम्राज्य को इतना कमजोर कर दिया कि उसके मरते ही मुगल साम्राज्य बिखर गया और मराठे दिल्ली पर टूट पड़े।

मुगल साम्राज्य के बिखरते ही उत्तरी भारत का प्रहरी भी ढह गया और मध्य एशिया से भारत में प्रवेश के रास्ते फिर खुल गये। धीरे–धीरे विदेशी पुनः भारत में घुसने लगे जिनमें पहले आये ईरानी और फिर अफगानी जिन्हों ने सन 1761 ईसवी में मराठों को फिर दक्षिण की पहाड़ियों के पीछे भगा दिया। इस काल का इतिहास छोटे छोटे राजाओं और छोटे छोटे सरदारों के जीवन का, उनकी धन दौलत, वैभव, आपसी ईर्ष्या, द्वेष, युद्ध, उन्नति, अवनति का ही इतिहास है जिसमें जनता अपने मालिक, चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान, के ही लालच का शिकार होती थी। वह हमेशा ही भूखी नंगी रही और सैनिकों द्वारा रौंदी जाती रही। उसकी मेहनत की थोड़ी बहुत उपज भी राज्य का शासक लूट लेता था। समय असमय पर दुर्भिक्ष और महामारी भी उसे नष्ट करने में कोई कसर नहीं छोड़ते थे जिससे गरीब तो हर जगह गरीब ही होता गया और धनवान और भी धनवान होता गया पर वह धनवान भी हर समय अपनी असुरक्षा से भयभीत रहता। उस समय जितने भी रईस थे, संख्या में कम होते हुए भी प्रायः सभी ईरानी तूरानी विदेशी थे। उस समय लुटेरे, डाकुओं के जुल्म, लूट–मार और राज्य द्वारा लगाये गये करों की जबरन वसूली के बीच कोई भी कल पर भरोसा नहीं करता था अतः एक तरफ तो धनवान अपनी विलासिता की कभी न मिटने वाली भूख की शांति के लिये अपरिमित साधन जुटाते, दूसरी ओर

राज्य को उनकी रईसी की भनक न लगे, इसका भी ध्यान रखते। उस समय दरबार के सभी पद और सहूलियतें केवल भारी रिश्वत से ही प्राप्त होती थीं और जिस आदमी के पास अपनी मृत्यु के समय जो कुछ धन दौलत होती थी उसके मरने के साथ ही शाही खजाने में जमा हो जाती थी। यही कारण था कि लोग अपने जीवनकाल में ही विलासिता तथा शौकों पर ही अधिक धन खर्च करते थे। व्यापारी अगर धनवान होते तो उनका आराम से रहना, अच्छा खाना–पीना संभव न था। वे अपना सोना चाँदी जमीन के अंदर छिपा कर रखते क्योंकि उसकी जरा सी भनक पड़ते ही लुटेरे उसका पता पाने के लिये उन पर अत्याचारों की सीमा न बांधते थे। पेट की रोटी के अतिरिक्त किसानों के पास कुछ बचता ही न था और अगर कभी कुछ पैदा भी कर लिया तो सरकारी लगान के नाम पर हुक्मरान लूट ले जाते थे। जिसकी बन पड़ती वही मनमानी करता और दूसरे को लूटता था। बादशाह तक इससे अछूते न थे। छोटे छोटे राजे, सरदार राहगीरों को लूट कर चौथ वसूल करते थे। चोर सूबेदारों को रिश्वत दे कर उन का मुँह बन्द रखते थे और सूबेदार फौज रखने के बजाय अपने रंगमहलों में सुंदरियों की सेना का जमावड़ा लगा कर स्वर्ग सुख का उपभोग करते थे।

उस समय राज्य की अपनी अलग व्यवस्था थी। सारी जमीन का मालिक राजा होता था। वह अपनी सेना के सरदारों को उनके वेतन के बदले कुछ जमीन दे देता था। ऐसी ही जमीनें सूबेदारों को भी उनके वेतन के बदले तथा एक निश्चित फौज का खर्च उठाने के लिये इस शर्त पर दे दी जाती थीं कि वे बादशाह को सालाना एक निश्चित रकम खिराज के रूप में अदा करते रहें। शेष जमीनें खुद बादशाह की होती थीं जिनके प्रबन्ध के लिये बादशाह ठेकेदार रखता था जो उसे सालाना खिराज अदा करते थे। इन प्रबंधों के चलते सर्वत्र खेती की तो दुर्दशा थी क्योंकि दुर्दान्त मालिकों के चलते किसानों का कोई भविष्य न था और मालिक भी स्वयं अपने स्वामित्व के प्रति आश्वस्त न थे क्योंकि उनकी मिल्कियत बादशाह की मर्जी पर थी और किसी भी वक्त उनसे छिन सकती थी जिससे उनके बीबी बच्चों को कोई लाभ न था और क्षणमात्र में वे दर दर के भिखारी हो सकते थे। ऐसी स्थिति में वे कृषि सुधार की तरफ ध्यान दे कर अपने लिये व्यर्थ व्यय और बेकार का झंझट मोल लेना नहीं चाहते थे। ऐसी ही परिस्थितियों में जब कभी केन्द्रीय शासन कमजोर पड़ जाता तो इन क्षेत्रों में जमे बैठे सरदार और हुक्मरान नये नये राजा, जमींदार और ताल्लुकेदार बन कर उभर आया करते थे जिनका अपनी पूर्व परम्परा से कोई ताल्लुक न था।

अकबर के समय सन 1556 ईसवी में पुर्तगाली समुद्र के मार्ग से भारत आ कर दक्षिणी सुलतानों की बदौलत गोआ में अपने पैर जमा चुके थे। अरब सागर तथा खाड़ी के मध्य व्यापार पर उनका एकाधिकार था। उस समय तक अंग्रेजों के पैर भारत की धरती पर नहीं पड़े थे पर शीघ्र ही उन्हों ने पुर्तगालियों को भारत में चुनौती देना प्रारम्भ कर दिया। अपनी धोखाधड़ी और क्रूरता के कारण

पुर्तगाली सत्ता सोलहवीं सदी के प्रारम्भ मे ही स्वयं कमजोर हो गयी और उस पर शीघ्र ही डचों ने अधिकार कर लिया। पुर्तगाली केवल गोआ में रह गये। उस समय डच और अंग्रेज दोनों पूर्व से व्यापार के प्रति उत्सुक थे किन्तु डचों का ध्यान जावा और मसालों के टापुओं की तरफ अधिक था जिससे अंग्रेजों को भारत में खुला क्षेत्र शीघ्र ही मिल गया और उन्हों ने अपनी सम्राज्ञी एलिजाबेथ तथा मुगल सम्राट से अनुमति प्राप्त कर समय समय पर भारत के पश्चिमी किनारों पर अपनी व्यापारिक चौकियाँ बना लीं। शीघ्र ही उन्हें कलकत्ता और मद्रास (चेन्नई) तक कम्पनी की ओर से अपनी व्यापारिक चौकियाँ स्थापित करने और किलेबन्दियाँ करने के अधिकार भी मिल गये।

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में फ्रांसीसी भी भारत के दक्षिणी किनारों पर अपने पैर जमाने में सफल हो गये पर उनका व्यापार कभी भी अंग्रेजों की बराबरी न कर सका। अपनी महत्वाकांक्षा के कारण उनका अंग्रेजों से संघर्ष निरन्तर जारी रहा। सन 1746 में मद्रास में शुरू हुआ यह संघर्ष भी सन 1761 ईसवीं में फ्रांस द्वारा पांडिचेरी के आत्मसमर्पण के बाद शांत भी हो गया।

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अंग्रेजों के पैर भारत में केवल मद्रास, बम्बई (चेन्नई, मुम्बई) के टापू तथा तीन चार अन्य जगहों पर कुछ वर्ग मीलों में ही जमे थे और वे केवल व्यापार ही करते थे तथा स्थानीय युद्धों एवं राजनीति में कोई भाग न लेते थे किंतु औरंगजेब की मृत्यु और मुगल साम्राज्य के पतन तथा उसके बाद प्रारम्भ हुई राजाओं, बादशाहों और सुलतानों की आपसी लड़ाई के कारण अंग्रेजों ने अपनी यूरोपीय सेना तथा कुछ भारतीय सहायक सेना रखना प्रारम्भ की। इसके बाद अंग्रेजों की शक्ति हुकूमत की तरफ बढ़ने लगी और सन 1784 में ब्रिटिश गवर्नमेंट ने एक कानून पास कर के कम्पनी का शासन अपने हाथ में ले लिया जिससे अराजकता के इस देश में अंग्रेजों को अपनी राजनीतिक जड़ें जमाने का अवसर मिल गया। इसका मतलब था मुगल साम्राज्य के महत्वाकांक्षी सरदारों को अपने–अपने नये राज्य स्थापित करने से रोकना, लुटेरों पर काबू करना तथा देश में शांति स्थापित करना। इसमें जब भारतीय राजे महाराजे, शहजादे भी उनसे मदद मांगने लगे तो अंग्रेजो को उनमें से किसी न किसी का पक्ष ले कर अपनी ताकत बढ़ाने व मध्यस्थता के बहाने अपने राज्य का विस्तार करने का अवसर मिल गया। शीघ्र ही केवल व्यापार करने वाली ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत पर हुकूमत करने वाली अंग्रेज सरकार बन गयी। सन 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात अंग्रेजों ने अपना व्यापारिक लिबास भी छोड़ दिया और देश में सुव्यवस्था स्थापित करने के बहाने प्रत्यक्ष हुकूमत के अपने अधिकार की घोषणा कर दी। यह प्रत्यक्ष हुकूमत भी केवल 90 वर्ष और चली और स्वतंत्रता आन्दोलन के चलते अंग्रेजों को सन 1947 में भारत छोड़ कर जाना पड़ा। भारत एक गणराज्य बन गया जिसमें शीघ्र ही समस्त देशी राजे, महाराजे, बादशाह अपना अस्तित्व विलीन कर भारतीय गणराज्य का अंग बन गये।

इस प्रकार महाभारत काल के बाद ईसा के जन्म के आस पास से प्रारम्भ कर वर्तमान बीसवीं शताब्दी तक भारत का इतिहास विश्रंखलताओं की ही कहानी है जिसमें से क्षत्रियों (खत्रियों) के राज्य ढूंढ़ना, इतिहास क्रम में उनकी कड़ी संजोना और इसे क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा से सम्बद्ध करना सीपियों के ढेर में मोती खोजने से कम दुसाध्य नहीं है, विशेष रूप से तब जब कि इनमें पुराणकाल की तरह सर्वोपरि चमकते दमकते मोतियों की गणना की संभावना भी नहीं है और इस काल को सर्वोपरि आघात तो विदेशी आक्रामकों द्वारा लिखित इतिहास ग्रन्थ साहित्य की होली जलाने के कारण ही हुआ है जिससे अनेक दुर्लभ प्राचीन ग्रन्थ नष्ट हो गये। इन विदेशी बर्बरों ने धार्मिक जेहाद के नाम पर सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को नष्ट करने की जो चेष्टा की उससे प्राचीन इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण कड़ियां अतीत के अंधेरों के गर्भ में समा गयी हैं और जो कुछ इधर उधर बिखरी कड़ियाँ मिलती हैं उनमें क्रमबद्धता नहीं बल्कि छिटपुट इतिहास ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसे ही कुछ विवरणों में छिटपुट खत्रिय (क्षत्रिय) राज्यों का उल्लेख इधर उधर मिल जाता है जिससे पता चलता है कि महाभारत काल के बाद भी इन राजाओं के राज्य पूर्णतः समाप्त नहीं हो गये थे बल्कि देश में ही इधर उधर छोटे छोटे राज्यों के रूप में रह गये थे और उनका पहले जैसा प्राधान्य नहीं रह गया था। इन बिखरती धाराओं में से महाभारत कालीन राजा युधिष्ठिर के राज्य वंश का उल्लेख कुछ अनुवर्ती संस्कृत ग्रन्थों एवं उनके अन्य भाषायी अनुवादों तथा बचे खुचे परवर्ती साहित्य में मिल जाता है जिनमें चन्द्र वंश तथा सूर्य वंश परम्परा का भी उल्लेख प्रमुख रूप से मिलता है।

इस सम्बन्ध में इतिहास में उल्लेख मिलता है कि नेपाल में किरात वंश का राज्य था और उस वंश के संस्थापक राजा जिस्तेदास्ति ने महाभारत युद्ध में पांडवों का पक्ष लिया था तथा उसी कुरुक्षेत्र युद्ध में वह मारा गया। इसी किरात वंश के राज्य के समय महात्मा बुद्ध नेपाल गये और उनके प्रभाव से किरात जाति बौद्ध हो गयी थी। इस वंश के राजा त्थुङ के समय (400–300 ईसवी पूर्व) सम्राट अशोक नेपाल गये तो उनके भय से किरात राजा ने प्राणरक्षा के लिये कोणार्क के जंगलो में शरण ली और नेपाल में किरातों के छोटे छोटे रजवाड़े ही रह गये। फिर नेपाल के दक्षिण क्षेत्र में कुछ शाक्य राजाओं ने राज्य किया और सम्राट अशोक ने उस सारे शाक्य शासित क्षेत्र को अपने साम्राज्य में मिला लिया। इन किरातों के बाद नेपाल की शासन परम्परा का उत्तराधिकार सोम वंश को मिला। पश्चिम से सोमवंशीय निमि ने किरात राजा गस्ती पर आक्रमण कर के शासन पर अपना अधिकार किया। राजा निमि का तीसरा वंशज पशुप्रेक्षदेव हुआ जिसने कलि संवत 1224 वर्ष में पशुपति नाथ मन्दिर का पुनरुद्धार किया। इन्हीं के वंशजों के प्रभावशाली राजाओं में पाँचवें शासक राजा भास्कर वर्मा का नाम मिलता है। भास्कर वर्मा के कोई सन्तान न थी। अतः उन्हों ने अपने बाद शासन का उत्तराधिकार लिच्छवी वंशीय क्षत्रिय (खत्रिय) युवक भूमि वर्मा को दिया।

इस प्रकार बिना संघर्ष, सहज रूप में नेपाल के महान लिच्छवी क्षत्रिय वंश का उदय हुआ। लिच्छवियों का मूल वैशाली था। इन्हीं के प्रभावशाली वंशधर प्रभाकरवर्धन ने सन 34 ईसवीं में लिच्छवी सम्वत को प्रचलित किया था। प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्वज्ञ विद्वान भगवान लाल इन्द्र तथा मिस्टर बेण्डल आदि द्वारा खोजे गये शिलालेखों के आधार पर डाक्टर फ्लिट एवं डाक्टर हार्वली ने लिच्छवी राजवंश का धारावाहिक इतिहास लिखा है जिससे ज्ञात होता है कि इस लिच्छवी क्षत्रिय राजवंश का शासन नेपाल में ईसा की प्रथम शताब्दी में उसके प्रथम शासक जयदेव से प्रारम्भ हो कर उसके अन्तिम शासक जयदेव द्वितीय (पत्नी राज्यमती) के समय 759–760 ईसवी तक रहा। इन खोजों के अनुसार लिच्छवी क्षत्रिय वंश के लगभग 35 राजाओं ने नेपाल पर राज्य किया। यही लिच्छवी वंश सूर्य वंश भी कहलाता था और राजा हर्षदेव को लिच्छवी वंश का अंतिम शासक कहा जाता है। इस वंश की एक शाखा मानगृह में (अंशु वर्मा 655–665 ईसवी) भी थी और वहाँ लिच्छवियों के बाद नेपाल की राजगद्दी पर कैलाशकूट भवन के ठाकुरी वंश का उदय हुआ। इस लिच्छवी वंश के एक राजा शिवदेव द्वितीय का विवाह मगधराज आदित्य सेन की पौत्री एवं मौखरी खत्री राजा भोज वर्मा की पुत्री वत्सा देवी के साथ हुआ था। बाद में आगे चल कर आठवीं शती में जयदेव गुणकाम या पराचक्रकाम गद्दी पर बैठा। इसी जयदेव गुणकाम ने कलिंग के राजा हर्षदेव की पुत्री राज्यमती से विवाह किया था। इस जयदेव गुणकाम के कोई संतान न थी अतः उसने अपना उत्तराधिकार स्वकुलीन महासामन्त श्री भास्कर वर्मा को सौंप दिया।

लिच्छवी वंश के अंतिम शासक राजा हर्षदेव के बाद नेपाल में नये राजवंश का उदय हुआ जिसे सूर्य वंश या मल्ल वंश के नाम से कहा जाता है। इस वंश का संस्थापक वामदेव था। उसकी राजधानी चम्पा थी। इस राजवंश ने कई शताब्दियों तक नेपाल में सार्वभौम शासन किया। ये सूर्य वंशी राजा धार्मिक, सहिष्णु, कलाप्रेमी और विद्वान होने के साथ साथ मल्ल विद्या के अतिशय अनुरागी थे और इनकी वंश परम्परा में अरिदेव को सूर्य वंश का बड़ा प्रतापी राजा कहा जाता है। उसके बाद इस वंश के जितने राजा हुए उनके नाम के आगे 'मल्ल' शब्द जुड़ा हुआ मिलता है। उनके मल्ल विद्या–व्यसन के कारण ही उनको इस नाम से कहा गया और यह उनकी एक अल्ल बन गयी। तभी से इस वंश को 'मल्ल वंश' के नाम से कहा जाने लगा। इन मल्ल वंशीय राजाओं में अन्य मल्ल, जयदेव मल्ल, अनन्त मल्ल या आनन्द मल्ल, अभय मल्ल, जयभद्र मल्ल, जयस्थिति मल्ल, जयार्जुन मल्ल, ज्योतिर्मल्ल, जयवर्धन मल्ल, जगज्योतिर्मल्ल और यक्ष मल्ल क्रमशः प्रभावशाली शासक हुए। इस वंश के राजाओं ने लगभग 9 वीं शताब्दी से ले कर लगभग 18 वीं शताब्दी तक नेपाल पर राज्य किया।

जिस समय नेपाल पर राजा आनन्द मल्ल का शासन था उस समय सन 1072 ईसवी के लगभग कर्णाटक के राजा नान्यदेव ने नायेरा क्षत्रियों की एक

विशाल सेना ले कर नेपाल पर आक्रमण कर सूर्य वंश को उखाड़ फेंका था पर उसके उत्तराधिकारी ने पुनः अपना राज्य प्राप्त कर लिया। (इन्हीं नायेरा क्षत्रियों को बाद में नेवार कहा जाने लगा।) इसी वंश के राजा यक्षमल्ल या जयमल्ल ने दक्षिण भारत से महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों को बुला कर भगवान पशुपति नाथ मन्दिर में प्रवेश करने और पूजा सेवा करने का अधिकार दिया। इसकी तत्स्थानी व्यवस्था के अन्तर्गत अतीत काल से अब तक यह नियम चला आ रहा है कि रामेश्वरम के शिव मन्दिर में नेपाल, श्रृंगवेरी मठ के जगद्गुरू शंकराचार्य और मन्दिर में मुख्य पुजारी को ही अन्दर प्रवेश करने का अधिकार है तथा इन्हीं तीन व्यक्तियों को भगवान शंकर की पूजा करने का अधिकार है। पुराणों में वर्णित द्वादश ज्योतिर्लिंगों में भगवान पशुपति नाथ का मन्दिर भी एक है।

नेपाल में इस सूर्य वंश या मल्ल वंश की अवनति के बीज इसी राजा यक्षमल्ल के समय में बोये गये। इस राजा यक्षमल्ल के तीन पुत्र थे। उनके नाम थे रायमल्ल, रणमल्ल और रत्नमल्ल। अपने जीवनकाल में ही उसने रायमल्ल को भातगाँव, रणमल्ल को बनेपा (राजधानी पाटन) और रत्नमल्ल को काठमाण्डू का राज्य दे दिया जिससे संगठित केन्द्रीय शासन सत्ता का विकेन्द्रीकरण हो गया और मल्ल वंश की शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होने लगी। भातगाँव में मल्ल वंश की परम्परा राजा रणजीत मल्ल (1772–1754 ईसवी) के पुत्र नृसिंह मल्ल का स्वर्गवास हो जाने पर समाप्त हो गयी। बनेपा (पाटन) में रणमल्ल अच्छा शासक सिद्ध न हुआ अतः उसके बाद बनेपा की शासन परम्परा पारस्परिक वैमनस्य और फूट के कारण क्षीण होने लगी। काठमाण्डू में रत्नमल्ल ने अपने दोनों बड़े भाईयों की प्रतिस्पर्धा में अपनी शक्ति को बढ़ाया और कान्तिपुर के बारह ठाकुरी राजाओं को परास्त कर अपने राज्य में मिला लिया। इसके बाद लगभग 18वीं शती ईसवी के मध्य तक काठमाण्डू में राजा रत्नमल्ल के वंशजों ने राज्य किया।

काठमाण्डू की गद्दी पर राजा सदाशिवमल्ल के शासन काल के समय कुछ नयी बातें भी घटित हुईं। इस राजा के चारित्रिक अधःपतन के कारण उसे जान से मारने की योजना बनी तो वह अपनी जान बचा कर नेपाल से भाग गया। तब लोगों ने उसके सौतेले भाई शिवराज सिंह को गद्दी पर बैठाया पर बाद में उसका पौत्र प्रतापमल्ल भी बड़ा विलासी और चरित्रहीन निकला। इसी परम्परा में राजा तेज नरसिंह मल्ल तक तो इस वंश का राज्य चला पर उसके बाद मल्ल वंशीय राजाओं की कीर्ति सदा के लिये अस्त हो गयी।

ईसा की बारहवीं तेरहवीं शताब्दी में भारत पर यवनों के भयंकर आक्रमण होने लगे थे। मुहम्मद तुगलक के आतंकों एवं अत्याचारों से भयभीत हो कर अयोध्या के सूर्य वंशी राजा हरिसिंह देव ने सन 1335 ईसवी में भाग कर नेपाल में शरण ली उस समय नेपाल में वैश्य ठाकुरी वंश अपने अन्तिम दिनों में था। ऐसे समय में हरि सिंह देव का नेपाल की प्रजा ने स्वागत किया और उसको अपना राजा बना दिया। उसी के राज्यकाल में बंगाल के शमसुद्दीन ने सन

1349 ईसवी में नेपाल पर आक्रमण कर दिया। मुगलों की सेना चीन होते हुए नेपाल में आयी और उसने काठमाण्डू को तहस नहस कर डाला तथा मन्दिरों एवं भव्य मूर्तियों का विध्वंस करते हुए भगवान पशुपति नाथ की मूर्ति को भी तोड़ डाला पर बाद में राजा हरि सिंह देव ने नेपाल का और विशेष रूप से काठमाण्डू का फिर से निर्माण करवाया। इसने नेपाल पर लगभग 28 वर्ष राज्य किया तथा उसके पुत्र मोती सिंह एवं पौत्र शक्ति सिंह देव ने भी क्रमशः 15 और 22 वर्ष तक राज्य किया और सन 1418 ईसवी तक नेपाल पर इसी राजवंश का शासन बना रहा। इस वंश के अंतिम राजा श्याम सिंह ने भी 15 वर्ष तक राज्य किया। अपने राज्यकाल के दौरान इस हरिसिंह देव ने पाल्पा के राजा धर्मसेन के भगवान पशुपति नाथ के दर्शनार्थ नेपाल आने पर उसे सर्वथा योग्य एवं कुलीन क्षत्रिय समझ कर उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर के सेन वंश से भी अपना सम्बन्ध स्थापित किया। यह सेन वंश भी नेपाल में सन 1732 ईसवी तक बना रहा।

उक्त अवधि के दौरान नेपाल लगभग 24 गढ़ियों या ठकुरातियों में बंटा हुआ था। एक एक गाँव का ठाकुर अपने को स्वतंत्र राजा घोषित कर चुका था। जैसे वे राजा थे, वैसे ही उनकी सत्ता और शक्ति भी थी। 13 वीं शताब्दी में मुगलों के आक्रमण के समय चित्तौड़ के अधिकतर राजपूत भाग कर उत्तर पूर्व की ओर चले गये थे और वहीं बस गये। इन्हीं राजपूतों ने आगे चल कर नेपाल में सर्वांगीण प्रभुता सम्पन्न गोरखा वंश राज्य की स्थापना की जिसके संस्थापक हव्यशाह थे। इन हव्यशाह ने गुरूङ गणराज्य को पराजित कर लीगलीग के सिंहासन पर अपना अधिकार किया। उनकी परम्परा में एक योग्य उत्तराधिकारी राजा पृथ्वी नारायण शाह (1742–1774 ईसवी) ने गोरखा राजवंश की कीर्ति को शीर्ष पर पहुंचा दिया। अपनी योग्यता, सूझबूझ और परिश्रम से उसने भातगाँव, काठमाण्डू और पाटन राज्यों पर आक्रमण कर के सारे नेपाल पर गोरखा शासन की ध्वजा को फहरा दिया। उसी ने सर्वप्रथम काठमाण्डू को राजधानी बनाया।

नेपाल में गोरखा वंश का राज्य स्थापित हो जाने पर पृथ्वी नारायण शाह के उत्तराधिकारी राजगद्दी पर बैठे पर सन 1816 ईसवी में उनके वंशज वीर विक्रम शाह का देहान्त होने पर उनका तीन वर्षीय पुत्र राजकुमार राजेन्द्र विक्रम शाह गद्दी पर बैठाया गया और भीमसेन थापा प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ। इस समय तक अंग्रेजों का भी नेपाल की राजनीति में प्रवेश होने लगा था पर भीमसेन थापा ने अपने जीवित रहते नेपाल में उनकी एक न चलने दी किन्तु उसकी मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने अपनी कूटनीतिक चालों से तत्कालीन प्रधान मंत्री भीम सेन थापा के पुत्र जनरल मातवर सिंह थापा को उसके ही भांजे राणा जंग बहादुर के द्वारा मरवा दिया तथा अन्य अंग्रेज विरोधी राष्ट्र प्रेमी नेपालियों की भी चुन चुन कर हत्यायें करवायीं जिनमें नेपाल की तत्कालीन महारानी का भी बड़ा हाथ था। यह हत्याकांड 'कोत हत्याकांड' के नाम से जाना जाता है। अपनी सहायता

करने के पुरस्कार स्वरूप अंग्रेजों ने राणा जंग बहादुर को सेनापति एवं प्रधानमंत्री का सम्मानित पद दिया। इस राणा जंगबहादुर ने तत्कालीन महाराज राजेन्द्र वीर विक्रम शाह को पदच्युत कर के कारागार में बंद कर दिया तथा उनके पुत्र सुरेन्द्र वीर विक्रमशाह को नेपाल का महाराज घोषित कर के राजा की स्थिति सर्वथा गौण तथा नाम मात्र की कर दी और राजा का जनता से सीधा सम्बन्ध प्रायः समाप्त कर दिया। धीरे–धीरे वही नेपाल का सर्वाधिकार सम्पन्न शासक बन गया और उसने अपने नाम के आगे 'राणा' की पदवी जोड़ कर नेपाल में राणाशाही की नींव डाल दी। इसी ने भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में सन 1857 में अंग्रेजों की सहायता के लिये अपनी गोरखा सेना भेजी थी तथा अंग्रेजों के बहकावे में आ कर सन 1856 ईसवी में तिब्बत पर भी आक्रमण कर के महान अपयश अर्जित किया था। इस राणा जंग बहादुर की सन 1877 ईसवी में मृत्यु हो गयी पर उससे नेपाल में राणाशाही का अन्त न हुआ और लगभग 104 वर्षों तक (1847–1951 ईसवी) नेपाल पर राणाओं का निरंकुश शासन बना रहा। इस क्रम में राणा मोहन शमशेर सन 1948 ईसवीं में प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुआ। उसने यद्यपि पड़ोसी देशों से अपने देश के सम्बन्ध सुधारने की कोशिश की पर तत्कालीन महाराज त्रिभुवन वीर विक्रम से उसके मतभेद बढ़ते गये जिससे मजबूर हो कर उन्हें 17 नवम्बर, 1950 को भारतीय दूतावास में शरण ले कर दिल्ली पलायन करना पड़ा। इस घटना से नेपाल की जनता में राणाशाही के विरुद्ध क्रान्ति का तूफान आ गया और खुले आम आन्दोलन शुरू हो गया जिससे मजबूर हो कर राणा मोहन शमशेर को भारत की मध्यस्थता में महाराज त्रिभुवन वीर विक्रम से समझौता करना पड़ा। इसके फलस्वरूप नेपाल में नेपाली कांग्रेस और राणापक्षीय लोगों का संयुक्त मंत्रिमण्डल बना पर अधिक दिनों तक उनमें एकता न रह सकी और अंततः महाराज ने सम्पूर्ण शासन सत्ता अपने हाथ में ले कर राणाओं की प्रभुसत्ता पूर्णतः समाप्त कर दी। शीघ्र ही नेपाल में 18 फरवरी, 1951 को जनतंत्र की स्थापना हो गयी।

इस प्रकार भारत में तो क्षत्रियों (खत्रियों) के छिटपुट राज्य थे ही, भारत के बाहर नेपाल में भी काफी समय तक क्षत्रियों के राज्य शासन छिटपुट रूप से बने रहे जो पूर्व परम्परा की ही बिखरी कड़ियाँ हैं।

इतना ही नहीं इतिहास की अनुवर्ती कड़ियों को देखने से यह भी पता चलता है कि महाभारत कालीन राजा युधिष्ठिर के पौत्र अभिमन्यु पुत्र राजा परीक्षित ने भी कुछ समय तक राज्य किया और उनके बाद उनके पुत्र राजा जनमेजय ने राज्य किया। इस जनमेजय ने जो इतिहास प्रसिद्ध नागयज्ञ किया था उसके आयोजक मंडल ऋषि तथा जगदेव जोगी नामक ब्राह्मण थे। इन दोनों को यज्ञ की दक्षिणा स्वरूप जनमेजय ने लखनऊ के आस पास की कुछ जमीनें जागीर में दे दीं जहाँ वे अपना आश्रम बना कर रहने लगे। वही स्थान उनके नाम पर आज लखनऊ जिले के मँडियाँव और जुग्गौर के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इस वंश में राजा युधिष्ठिर के बाद उनके वंश में हुए कुछ क्षत्रिय (खत्रिय) राजाओं का उल्लेख संस्कृत पुस्तक 'राजावली'[1] में मिलता है जिसका बादशाह औरंगजेब के जमाने में अनुवाद "मोआसरुल उमरा" के नाम से सन 1084 हिजरी में हुआ था। इसी विषय पर अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समय में मुंशी हर चरण दास अग्रवाल, निवासी मेरठ ने सन 1201 हिजरी में एक पुस्तक "बहार गुलजार शुजाई' फारसी में लिखी। उस समय उनकी उम्र 82 साल की हो चुकी थी। इसमें भी राजा युधिष्ठिर के समय से हुए राजाओं की सूची दी है। इन दोनों पुस्तकों में राजाओं की सूची में कहीं कहीं कुछ अंतर है पर इनके आधार पर कुछ लेख खत्री हितकारी, आगरा के सन 1891 के जून, अक्टूबर व नवम्बर अंकों में प्रकाशित हुए थे (पृष्ठ 69–71, 161–168 तथा 193–212) और उनका संक्षिप्त विवरण बाल कृष्ण प्रसाद ने अपने खत्रिय इतिहास में पृष्ठ 178–182 में दिया था। इनके अतिरिक्त इसका पर्याप्त विवरण डा0 रघुनाथ सिंह ने कल्हण कृत राजतरंगिणी के अपने भाष्य में भी विस्तार से दिया है। कल्हण की राजतंरगिणी भी युधिष्ठिर के बाद से सन 1149 ईसवी तक हुए राजाओं का ही इतिहास हैं।

इन विवरणों से ज्ञात होता है कि राजा युधिष्ठिर के खानदान में इन्द्रप्रस्थ की गद्दी पर राजा कर्मपाल का पुत्र विक्रमपाल दिल्ली का राजा हुआ। इसने बहराइच के खत्री राजा त्रिलोक चन्द से युद्ध किया किन्तु युद्ध में मारा गया, फलतः त्रिलोक चन्द खत्री ने दिल्ली को जीत कर वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। इसके वंश में सन 271 ईसवी से 394 ईसवी तक 10 पीढ़ी में कुल लगभग 123 वर्ष तक राज्य रहा।

इस वंश में राजा त्रिलोक चन्द खत्री ने लगभग 2 साल राज्य किया। इसके बाद उसके पुत्र राजा विक्रमपाल ने 12 वर्ष, उसके पुत्र राजा रामचन्द ने लगभग 14 वर्ष, उसके पुत्र कार्तिक चन्द ने एक वर्ष तथा उसके पुत्र अधर चन्द ने 20 वर्ष तक राज्य किया जिसके राज्यकाल में उसकी क्रूरता, सितम व जुल्म के कारण राज्य तबाह व वीरांन हो गया। जनता राज्य छोड़ कर चली गयी। 20 वर्ष से कुछ अधिक समय तक राज्य करने के बाद जब वह स्वर्गवासी हुआ तो उसका पुत्र कल्याण चन्द खत्री राजा हुआ। लगभग 10 वर्ष तक राज्य कर के उसकी मृत्यु हुई तो उसका पुत्र भीम चन्द खत्री राजा हुआ। यह सातवां राजा भीम चन्द अत्यंत प्रतापी, नीतिवान, धर्मवान और दयावान था। इसने जनता की भलाई के अनेक कार्य किये और अपने राज्य को फिर से आबाद करने का पूरा प्रयास किया। उसने प्रजा को अन्न वस्त्र की तकलीफ होने पर राजकीय खजाने से सहायता देना, मालगुजारी बजाये छठे हिस्से के ग्यारहवां हिस्सा लेना प्रारम्भ

1. काश्मीर के इतिहास से सम्बन्धित ग्रन्थ श्रीवर कृत जैन राजतरंगिणी श्लोक 116 में तथा शुक कृत राजतरंगिणी में जोनराज कृत राजतरंगिणी तथा श्रीवर कृत राजतरंगिणी दोनों संस्कृत ग्रन्थों का नाम भी राजावली लिखा है।

किया तो उसकी प्रजा बड़ी प्रसन्नता से कर आदि अदा करने लगी और देश इतना खुशहाल हो गया कि न केवल वीरान कस्बे और शहर ही आबाद हो गये बल्कि राजकोष भी मालामाल हो गया, जिससे प्रसन्न हो कर राजा ने भी प्रजा में, सरकारी पदाधिकारियों को, दीनों दुखियों को खूब खैरात बांटी। वह 20 वर्ष से कुछ अधिक समय तक राज्य कर स्वर्गवासी हुआ। उनके पश्चात राजा केतु चन्द ने 2 वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात उसका पुत्र राजा गोविन्द चन्द राजा हुआ। उसके कोई पुत्र न था। लगभग 21 वर्ष तक राज्य करने के पश्चात जब उसकी मृत्यु हुई तो उसके बाद उसकी रानी प्रेमवती ने राज्य की बागडोर संभाली।

राज्य का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण मंत्रियों व दरबारियों ने प्रजा की राय से यह निर्णय लिया कि किसी न किसी को राजसिंहासन पर बैठालना ही चाहिये, अन्यथा सिंहासन खाली देख कर अन्य राजा राज्य को हड़प करने के मंसूबे बांधने लगते हैं। अंत में काफी बहस मुबाहसे के बाद निश्चय हुआ कि रात्रि को शहर देहली का फाटक बंद होने के बाद प्रातः खुलने पर जो व्यक्ति सबसे पहले देहली शहर में फाटक से दाखिल हो, उसी को राजा बनाया जाय। उस समय महात्मा हरि प्रेम खत्रिय पूरे राज्य में अपनी धार्मिकता, न्यायप्रियता व हकपरस्ती के लिये प्रसिद्ध थे। संयोग से वही प्रातः काल जंगल की तरफ से घुमते घूमते शहर देहली में दाखिल हुए अतः सर्वसम्मति से उन्हें ही राजा बनाया गया और इस प्रकार देहली का राज्य राजा त्रिलोक चन्द के वंश से निकल कर महात्मा हरि प्रेम खत्रिय के वंश में आ गया।

महात्मा हरि प्रेम खत्रिय ने 7 वर्ष 5 माह 7 दिन, उनके पुत्र राजा गोविन्द प्रेम खत्रिय ने 20 वर्ष 2 माह 7 दिन, उनके पुत्र गोपाल प्रेम खत्रिय ने 15 वर्ष 7 माह 8 दिन राज्य किया और उनके पश्चात उनके पुत्र राजा महाप्रेम राजा हुए। यह राजा अत्यंत धार्मिक प्रवृत्ति का था और उसे शासन प्रबन्ध, राजकार्य, ऐशो इशरत, किसी चीज में रुचि न थी और उस पर वह कोई ध्यान न देता था। एक दिन उसे ऐसा वैराग्य उत्पन्न हुआ कि वह राजपाट छोड़ कर फकीराना लिबास पहन कर जंगल को तपस्या करने को निकल गया और अपनी शेष आयु तपस्या में ही व्यतीत कर दी।

देहली के सिंहासन के रिक्त होने का समाचार जब बंगाल के ब्रह्मक्षत्रिय राजा वहिसेन को मिला तो उसने तुरन्त फौज ले कर दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। राज्य कर्मचारियों ने उसके आने की खबर सुन कर 12 पलटनों के साथ उसका स्वागत किया और शहर में ला कर सिंहासनरूढ़ कर दिया। वहिसेन बोहरे अल्ल के ब्रह्म खत्रिय थे।[1] इनके वंश में ग्यारह (11) पीढ़ी तक राज्य रहा। वहिसेन के पश्चात बल्लाल सेन, अत्यंत प्रसिद्ध हुआ। फिर राजा शिवसेन, माधोसेन, शूरसेन

1. 'सारस्वत खत्रिय सेवक' में प्रकाशित अन्वेषण लेख के अनुसार।

राजा हुए। शूरसेन अत्यन्त प्रतापी हुआ। उसने एक लाख गायें, अकूत धन, अन्न, वस्त्र आदि दान किया। उसके पश्चात भीमसेन, कनकसेन और हरिसेन राजा हुए।

हरिसेन ने ग्वालियर राज्य पर चढ़ाई की। वह दो बार हारा, पर पुनः तीन साल तक तैयारी करने के बाद उसने ग्वालियर राज्य पर पुनः हमला किया और 7 दिन तक लगातार युद्ध करने के पश्चात विजय प्राप्त की। पर इसके बाद उसे 6 माह तक ग्वालियर किले का घेरा डाले रहना पड़ा क्योंकि ग्वालियर का राजा किले के अन्दर जा कर छिप गया था। अंत में ग्वालियर राज्य ने अपनी पराजय स्वीकार की और शूरसेन को सम्राट स्वीकार करते हुए खिराज देना कबूल किया। अत्यंत प्रसिद्धि प्राप्त करने के पश्चात हरिसेन भी गोलोक वासी हुआ। उसके पश्चात खनसेन राजा हुआ जो सिंहासनारूढ़ होते ही बुरी सोहबत में पड़ गया और उसका राज प्रबन्ध अत्यन्त शिथिल हो गया जिससे विद्रोहियों तथा स्वार्थी लोगों ने सर उठाया, पर वह उनका दमन न कर सका। 8 वर्ष 11 महीने 5 दिन राज्य करने के पश्चात जब वह स्वर्गवासी हुआ तो नारायन सेन राजा हुआ पर उसका राज्य 2 वर्ष 10 माह 19 दिन तक ही रहा। इनके पश्चात राजा लक्ष्मण सेन ने 26 वर्ष 10 माह और राजा दामोदर सेन ने 11 वर्ष 5 माह 16 दिन राज्य किया।

जिस समय राजा दामोदर सेन ने राज्य सम्हाला, उस समय तक शासन प्रबंध बिल्कुल बिगड़ चुका था। उसने कुछ दिन तो ठीक से राज्य किया पर सत्ता के मद से उसका मिजाज़ बिगड़ गया और वह विलासिता में डूबने लगा तथा रिआया पर जुल्म करने लगा। जब राज्य कर्मचारी उसे प्रयत्न कर के भी सुधार न सके और तंग आ कर जनता भी दूसरे राज्यों में जा कर बसने लगी तो मंत्रियों ने कोहिस्तान के राजा दीप सिंह को आक्रमण के लिये आमंत्रित किया। राजा दीप सिंह ने उनका आमंत्रण स्वीकार कर के देहली आ कर राजा दामोदर सेन पर आक्रमण कर दिया। राजा दामोदर सेन ने घमासान युद्ध किया पर पराजित हो कर मारा गया और इस प्रकार बोहरे खत्रिय अल्ल के राजा वहिसेन के वंश से भी राज्य समाप्त हो गया और राज्य माधो सिंह चौहान के वंश में चला गया जिसमें राजा दीप सिंह था।

इस बोहरे खत्रिय अल्ल वंशी वहिसेन के वंश में लगभग 149 वर्ष राज्य रहा। यह वंश अपने को चन्द्र वंशी ब्रह्मक्षत्रिय (खत्रिय) मानता था[1] जिसे सोम वंशी या वर्तमान में कर्पूर या कपूर वंश भी कहा जाता है। इस ब्रह्मक्षत्रिय वंश की उत्पत्ति कथा अन्यत्र दी गयी है तथा इनके कुछ शिलालेखों का विवरण भी इतिहास में मिलता है।

---

1. पंडित गौरी शंकर ओझा ने भी शिला लेखों एवं दान पत्रों के आधार पर इन्हें चन्द्र वंशी क्षत्रिय लिखा है।

हाल ही में रांची विश्वविद्यालय में डा0 चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित 'ललित' ने एक शोध प्रबंध प्रस्तुत किया है जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि 'पृथ्वीराज रासो' के प्रसिद्ध कवि चन्द वरदाई पृथ्वीराज चौहान के दरबारी एवं चारण कवि नहीं बल्कि गुरू गोविन्द सिंह के समकालीन और आनन्दपुर (कहलूर) के राजा थे। यह हिन्दी साहित्य का सर्वाधिक चौंकाने वाला तथ्य है जिसका रहस्योद्घाटन 'चंददास साहित्य शोध संस्थान' बांदा के निदेशक डा0 चन्द्रिका प्रसाद दीक्षित 'ललित' ने किया है। उन्हों ने चन्द के अनेक ग्रंथों पर एक दशक से अधिक समय तक शोध कर के बताया है कि वस्तुतः चन्द चारण नहीं बल्कि सहगल खत्री जाति के थे। इसके प्रमाण में उन्हों ने रासो के संदर्भ–''जहाँ सुचन्द खत्रिये'' तथा चन्द के महाग्रन्थ 'राम विनोद' के संदर्भ अंश ''सहगल खत्री वंश में कृत शरीर सुख पाय'' का हवाला दिया है। डा0 ललित ने दावा किया है कि चंद कहलूर के राजा थे और इन्हीं को सिख इतिहास में भीमचंद भी कहा गया है। डा0 ललित के पूर्व बहुत कम लोगों ने चन्द को अनुसंधान के लिये चुना था और उनमें से जिन्हों ने चंद को चुना भी था उनमें कलकत्ता विश्वविद्यालय से 'चन्द वरदायी और उनका काव्य' विषय पर डाक्ट्रेट प्राप्त करने वाले डा0 विपिन बिहारी त्रिवेदी भी इस कवि पर कोई निर्णायक बात नहीं कह पाये थे। इसके पूर्व भी कुछ अन्य विद्वान उन्हें 16 वीं शताब्दी के आस पास का कवि सिद्ध करने का प्रयास करते रहे परन्तु डा0 ललित ने उन्हें 18वीं शताब्दी का कवि इस आधार पर भी सिद्ध किया है कि रासो में अरबी फारसी शब्दों का प्रयोग तथा मुगल युद्ध, 18वीं शताब्दी के ऐतिहासिक पात्र भूषण, शिवाजी, औरंगजेब, गुरू गोविन्द सिंह, शाह आलम आदि का उल्लेख है तथा रासो की सभी उपलब्ध प्रतियाँ भी 18वीं शताब्दी की हैं। इसके अलावा हस्वा (फतेहपुर) में स्थित चंद की समाधि भी 18वीं शताब्दी में बनी ईटों की है। फतेहपुर ही वह स्थान है जहाँ रह कर चंद ने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। अतः इस शोध के आधार पर आनन्दपुर (कहलूर) में सहगल खत्री वंश परम्परा में चन्द का राज्य होना सिद्ध होता है। इस राज्य के राजा किस पूर्ववर्ती क्षत्रिय परम्परा से थे अब इस विषय पर शोध से ही कुछ जाना जा सकता है और उसी से यह भी पता चल सकता है कि इस खत्री राज्य की कड़ी पूर्व में किस वंश से जा कर जुड़ती है किंतु अभी जो जानकारी उपलब्ध है उससे पता चलता है कि पूर्व परम्परा में बोहरे अल्ल के राजाओं के पश्चात चन्द्र वंशी खत्रियों का राज्य समाप्त हो गया और यह परम्परा छिन्न भिन्न हो गयी। फिर भी सृष्टि के विधान से और विधाता की इच्छा से आधुनिक काल में चन्द्र वंश का राज्य बर्दवान में पुनः स्थापित हुआ और वहाँ चन्द्र वंशी कपूर अल्ल के परिवार के राज्य की पुनः स्थापना हुई किन्तु भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात इस बर्दवान राज्य का भी राज्य प्रशासन में विलय हो गया और भारत में राजाओं के निजी राज्य न रहे। भारत एक गणराज्य बन गया जिसमें सभी भूतपूर्व राजाओं के राज्य विलीन हो गये।

सूर्य वंश, सोम (चन्द्र) वंश तथा अग्नि वंश परम्परा एवं उनके राज्य स्थान

भारत के मुख्य राजवंश अपनी वंश परम्परा सूर्य एवं सोम (चन्द्र) वंश से सम्बन्धित करते हैं जो राजा के दैवत्य राजवंश के सिद्धान्त को उद्दिष्ट करता है। सूर्य तथा सोम वंशीय राजाओं की तालिकायें रामायण, पुराण तथा महाभारत में दी गयी हैं।

सोम वंश (चन्द्र वंश)

पुराणों में सोम वंशी राजाओं के इतिहास का अत्यधिक वर्णन मिलता है। प्रारम्भ में सूर्य वंशी राजाओं के इतिहास एवं कथानकों का बाहुल्य है। उत्तर कालीन इतिहास में सूर्य वंशीय राजाओं का इतिहास अयोध्या, विदेह एवं वैशाली राज्यों तक ही सीमित रह गया था। उत्तर कालीन काल में केवल मान्धाता एवं सगर दो ही सूर्य वंशीय राजा ऐसे हुए हैं जिनका राज्य उत्तर भारत में विस्तृत था। पुराणों की मान्यता के अनुसार इक्ष्वाकु इस वंश के आदि पुरुष थे। पुराणानुसार कश्यप के पुत्र सूर्य थे। सूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु थे। मनु के पुत्र इक्ष्वाकु थे। इक्ष्वाकु त्रेता युग में अयोध्या के राजा थे। दाशरथी राम सूर्य वंशी थे। (भागवत पुराण 9:10:3)

उत्तर भारत, उत्तर पश्चिम एवं दक्षिण भारत पर सोम वंशी राजाओं का ही आधिपत्य था। सोम वंश अनेक उपवंशों में विभाजित हो गया था। इनमें पौर वंश का राज्य ब्रह्मावर्त अर्थात गंगा–यमुना मध्य, हस्तिनापुर, पांचाल, चेदि, वत्स, करुष, मगध एवं मस्त्स्यादि राज्य, यादव शाखा में पश्चिम राजस्थान से पूर्व उत्तर यमुना नदी तक विस्तृत था। अनु शाखा का राज्य पंजाब में था। उनमें सिन्धु, सौवीर, कैकेय, मद्र, वाहीक, शिवि, अम्बष्ठ प्रमुख थे। इनकी एक दूसरी शाखा का राज्य पूर्व बिहार, बंगाल एवं उत्कल में था। उनमें अंग, वंग, पुण्ड्र सुह्म एवं कलिंग मुख्य थे। द्रह्यु वंश का राज्य गांधार अथवा भारत की पश्चिमोत्तर सीमा म्लेच्छ देश तक विस्तृत था। तुर्वसु वंश के राज्य का उत्तर भारत में अस्तित्व नहीं था। दक्षिण भारत में पाण्ड्य, चोल एवं केरल राजवंश इसी के अन्तर्गत थे। काश्य शाखा का राज्य काशि देश में था।

बुध का इला पत्नी द्वारा उत्पन्न पुत्र पुरुरवा ऐल सोम वंश (चन्द्र वंश) का संस्थापक माना जाता है। इसका राज्य प्रतिष्ठान (झूसी) प्रयाग में था। पुरूरवस के आयु एवं अमावसु नामक दो पुत्रों के पुत्र एवं पौत्रों में राज्य विभाजित हो गया था। अमावसु शाखा कान्यकुब्ज में राज्य करती थी। आयु के अनेनस, नहुष, क्षत्रवृद्ध, रम्भ एवं रजि आदि पुत्र थे। अनेनस ने आयु नामक स्वतंत्र राजवंश स्थापित किया था। आयु के अन्य पुत्रों ने पुरु राजवंश स्थापित किये थे। उनमें क्षत्रवृद्ध, यदु, तुर्वसु, द्रुह्य, अनु, पुरु वंश था। पुरु वंश आयु राजा के पौत्र पुरु द्वारा स्थापित किया गया था। यदु वंश की उपशाखायें (1) सहस्त्रजित तथा (2) कोष्टु थीं। सहस्त्रजित के वंशजों ने हैहय सामूहिक नाम प्राप्त किया और

कोष्ट के वंशजों ने यादव सामूहिक नाम प्राप्त किया। अनु वंश की उपशाखायें (1) उशीनर तथा (2) तितुक्षु थीं। उशीनर शाखा में सौवीर, केकय, मद्रक आदि प्रमुख थे। तितुक्षु वंश में अंग वंग आदि अनेक शाखायें थी। पुरु वंश की उपशाखायें (1) अजमीढ़ तथा (2) द्विमीढ़ थीं। अजमीढ़ में हस्तिनापुर के कुरू, उत्तर पांचाल की नील शाखायें प्रसिद्ध थीं। द्विमीढ़ शाखा भरत वंशोत्पन्न द्विमीढ़ द्वारा स्थापित की गयी थी। सोम वंश की अनेक शाखायें कालांतर में स्थापित होती गयीं। उनमें अजमीढ़, अनु, अनेनस, अंधक, अमावसु, मानव, आयु, उशीनर, ऋक्ष, ऐल, करूष, काश्य, कुकुर, कशाव, कृष्ण, कोष्टु, क्षत्रवृद्ध, चेदि (चैद्य), जह्न, ज्यामघ, तितुक्ष, तुर्वसु, द्रह्यु, द्विमीढ़, नील, पुरुरवस, पुरु, प्रतिक्षत्र, बलिय, बभ्रु, भजमान, भरत, भोज, मागध, यदु (यादव) रजि, रम्भ, वसुदेव, वासव, विदूरथ, विष्णु (वृष्णि), सहस्त्रजित, सात्वत, एवं हैहय वंश प्रसिद्ध हैं। (वायु पुराण 93:103:99—472, ब्रह्माण्ड पुराण 3:68:105)

सूर्य वंश

मनु वैवस्वत द्वारा सूर्य वंश की स्थापना हुई थी। मनु के नौ पुत्रों में पाँच पुत्र तथा एक पौत्र वंशकर ने स्वतंत्र राज्य वंश स्थापित किया था। मनु पुत्र इक्ष्वाकु ने इक्ष्वाकु वंश अयोध्या में, इक्ष्वाकु पुत्र निमि ने निमि वंश विदेह में, मनु पुत्र नाम निदिष्ट ने दिष्ट वंश वैशाली में, शर्याति ने आनर्त (गुजरात) में शर्यात वंश, नृग ने नृग वंश तथा नरिष्यन्त ने नरिष्यन्त वंश स्थापित किये थे। इक्ष्वाकु वंश में (1) भागवत के अनुसार 88 (2) वायु पुराण के अनुसार 91 (3) विष्णु पुराण के अनुसार 93 (4) मत्स्य पुराण के अनुसार 67 राजा हुए हैं। इनकी नामावली पूर्ण नहीं मिलती। भागवत पुराण में नामावली कुछ पूर्ण तथा ब्रह्म, हरिवंश एवं मत्स्य पुराणों में नामावली अपूर्ण है।

दिष्ट वंश को कई पुराणों में वैशाल राजवंश की संज्ञा दी गयी है। इस वंश के महाराज तृणबिन्दु के पुत्र विशाल राजा ने वैशाली नाम की नगरी बसायी थी। उसी समय से वंश का नाम विशाल पड़ गया। इसी दिष्ट का एक पुत्र नाभाग अपने कर्म के कारण वैश्य हो गया था एवं महाराज तृणबिन्दु की पुत्री इडविडा से मुनिवर विश्रवा ने लोकपाल कुबेर को उत्पन्न किया।

निमि वंश की राजधानी मिथिला थी। 'जनक' इस वंश के राजाओं की उपधि थी। इनकी अन्य उपाधियाँ 'विदेह' तथा 'निमि' थीं। इस वंश का सुविख्यात राजा सीरध्वज जनक था। उसके भ्राता का नाम कुशध्वज था। कुशध्वज को सीरध्वज राजा का पुत्र माना गया है। वैदिक साहित्य में निमि वंश का निर्देश प्राप्त होता है।

नभग वंश का राज्य गंगा की अन्तर्वेदी (दोआबा) में था। सोम वंशी ऐल राजाओं के कारण यह वंश राज विहीन हो गया। इस वंश के लोग वर्णान्तर कर के अंगिरस गोत्रीय स्थीतर ब्राह्मण बन बये। अम्बरीष, विरूप, रथीतर इस वंश के

प्रमुख राजा थे। खत्रियों में टण्डन अल्ल अग्निवंशी एवं अंगिरस गोत्री ही है जो सूर्य वंश की ही एक शाखा है। अतः यदि टण्डन (मार्तण्ड) अल्ल के खत्रियों का विकास इन राजाओं की शाखा से हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

नरिष्यन्त वंश क्षत्रिय धर्म त्याग कर ब्राह्मण हो गया। इनमें चित्रसेन, दक्ष, अग्निवेश्य प्रमुख राजा हुए थे जिन्हें स्वंय अग्नि देव ही कहा जाता है। वे अग्निवेश्यायन नाम से प्रसिद्ध हुए थे तथा ब्राह्मणों का अग्निवेश्यायन गोत्र उन्हीं से चला है। ये ही आगे चल कर कानीन एवं महर्षि जातूकर्ण्य के नाम से विख्यात हुए थे।

नृग वंश का निर्देश भागवत पुराण में मिलता है। इस वंश में सुमति, वसु, ओघवान नामक राजा प्रमुख हुए थे। (भागवत पुराण 9:2:16)

शर्याति वंश की राजधानी कुशस्थली थी। इस वंश के संस्थापक शर्याति राजा की कन्या का नाम सुकन्या था जिसका विवाह च्यवन मुनि से हुआ था।

मनु का पुत्र पृषधृ गरु वशिष्ठ के शाप से शूद्र हो गया था और अंत में वन के दावानल में दग्ध हो गया।

मनुपुत्र करूष से कारूष नामक क्षत्रिय उत्पन्न हुए जो बड़े ही ब्राह्मण भक्त धर्म प्रेमी एवं उत्तरापथ के रक्षक थे।

मनुपुत्र धृष्ट के धार्ष्ट नामक क्षत्रिय हुए। अन्त में वे इस शरीर से ही ब्राह्मण बन गये।

मनु का सबसे छोटा पुत्र था कवि। विषयों से वह अत्यन्त निस्पृह था। वह राज्य छोड़ कर अपने बन्धुओं के साथ वन में चला गया और अपने हृदय में स्वयं प्रकाश परमात्मा को विराजमान मान कर किशोर अवस्था में ही परम पद को प्राप्त हो गया।

इन चारों द्वारा कोई राज्य स्थापित करना नहीं पाया जाता।

(3) अग्नि वंश तथा उनके भेदोपभेद

(मत्स्य पुराण—अध्याय 51)

"जो अग्नि द्विजातियों के लिये सदा परम पूज्य माने गये हैं, उनका तथा उनके वंश का विवरण इस प्रकार है :

स्वायम्भुव—मन्वन्तर में जो अग्नि के अभिमानी देवता कहे गये हैं वे ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं। स्वाहा ने उनके संयोग से पावक (दक्षिणाग्नि), पवमान (गार्हपत्य) और शुचि (आहवनीय) नामक तीन पुत्रों को जन्म दिया, जो अग्नि भी कहलाते हैं। उनमें से पावक को वैद्युत (जल बिजली से उत्पन्न), पवमान को निर्मथ्य (निर्मन्थन करने पर उत्पन्न) और शुचि को सौर (सूर्य के सम्बन्ध से उत्पन्न) अग्नि कहा जाता है। ये सभी अग्नि स्थावर (स्थिर स्वभाव वाले) माने गये हैं।

पवमान के पुत्र जो अग्नि हुए, उन्हे कव्य वाहन कहा जाता है। पवमान के पुत्र सहरथ और शुचि के पुत्र हव्यवाहन हुए। देवताओं के अग्नि हव्यवाह हैं, जो ब्रह्मा के प्रथम पुत्र हैं। सहरक्ष असुरों के अग्नि हैं तथा पितरों के अग्नि कव्यवाहन हैं। इस प्रकार ये तीनों देव—असुर—पितर—इन तीनों के पृथक—पृथक अग्नि हैं। इनके पुत्र—पौत्रों की संख्या उनचास हैं। इनका विभागपूर्वक पृथक—पृथक नाम निर्देश इस प्रकार है : सर्वप्रथम पावन नामक लौकिक अग्निदेव हुए, जो ब्रह्मा के पुत्र हैं। उनके पुत्र ब्रह्मौदनाग्नि हुए जो भरत नाम से भी विख्यात हैं। वैश्वानर नामक अग्नि सौ वर्षों तक हव्य को वहन करते रहे। पुष्कर (या आकाश) का मन्थन करने पर अथर्वा के पुत्र रूप में जो अग्नि उत्पन्न हुए, वे दध्यंगाथर्वण के नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्हीं को दक्षिणाग्नि भी कहा जाता है। भृगु से अथर्वा की और अथर्वा से अंगिरा की उत्पत्ति बतलायी जाती है। उनसे अलौकिक अग्नि की उत्पत्ति हुई।।।1—10।।

निर्मथ्य के नाम से कहे जाने वाले पवमान अग्नि ब्रह्मा के प्रथम पुत्र गार्हपत्य अग्नि हैं। फिर संशति से सभ्य और आवसथ्य—इन दो पुत्रों की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर आहवनीय नामक अग्नि ने, जिन्हें ब्राह्मणों ने अग्नि के अभिमानी देवता नाम से अभिहित किया है, अपने को सोलह भागों में विभक्त कर कावेरी, कृष्णवेणा, नर्मदा, यमुना, गोदावरी, वितस्ता (झेलम), चन्द्रभागा, इरावती, विपाशा, कौशिकी (कोसी), शतद्रु (सतलज), सरयू, सीता, मनसिस्वनी, ह्लादिनी तथा पावना—इन सोलह नदियों के साथ पृथक पृथक विहार किया। उनके साथ विहार करते समय अग्नि को स्थान प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न हो गयी थी, इस लिये उन नदियों के गर्भ से उत्पन्न हुए पुत्र उस इच्छा के अनुसार धिष्णु (या धिष्ण्य) कहलाये। चूंकि वे यज्ञिय अग्नि के स्थापन योग्य स्थान पर पैदा हुए थे, इस लिये धिष्णु नाम से कहे जाने लगे। इस प्रकार ये सभी नदी पुत्र धिष्ण्य (यज्ञिय अग्नि के स्थापन योग्य स्थान) में उत्पन्न हुए थे। इनके विहार एवं उपासना योग्य स्थान इस प्रकार हैं: यज्ञादि पुण्य अवसर के उपस्थित होने पर विभु, प्रवाहण अग्नीध्र आदि अन्यान्य धिष्णु वहाँ उपस्थित हो कर यथा स्थान विचरते रहते हैं। अनिर्देश्य और अनिवार्य अग्नियों का क्रम इस प्रकार है: वासव नामक अग्नि जिसे कृशानु भी कहते हैं, यज्ञ की दूसरी वेदी के उत्तर भाग में स्थित होते हैं। उन्हीं अग्नि का एक नाम सम्राट भी है। इन अग्नि के आठ पुत्र हैं, जिनकी विप्रगण उपासना करते हैं। पवमान नामक जो द्वितीय अग्नि हैं वे पर्जन्य के रूप में देखे जाते हैं और उत्तर दिशा में पावक नामक अग्नि को समूह्य अग्नि कहा जाता है। असम्मृज्य हव्यसूद अग्नि को शामित्र कहा जाता है। शतधामा अग्नि सुधा ज्योति हैं, इन्हें रौद्रेश्वर्य नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रह्म ज्योति अग्नि को वसुधाम और ब्रह्मस्थानीय भी कहते हैं। अजैकपाद् उपासनीय अग्नि हैं, इन्हे शालामुख भी कहा जाता है। अहिर्बुधन्य अनिर्देश्य अग्नि है। ये वेदी की दक्षिण दिशा में परिधि के अन्त में स्थित होते हैं। वासव नामक अग्नि के ये आठों पुत्र ब्राह्मणों के द्वारा उपासनीय बतलाये गये हैं।।11—23।।

उन आठ विहरणीय अग्नि पुत्रों का वर्णन इस प्रकार हैः

बहर्षि नामक होत्रिय अग्नि के पुत्र हव्यवाहन अग्नि हैं। इसके पश्चात प्रचेता नामक प्रशंसनीय अग्नि की उत्पत्ति हुई, जिनका दूसरा नाम संसहायक है। पुनः अग्नि पुत्र विश्ववेदा हुए जिन्हें ब्राह्मणाच्छंसि [1] भी कहा जाता है। जल से उत्पन्न होने वाले प्रसिद्ध खाम्भ अग्नि सेतु नाम से भी अभिहित होते हैं।[2] इन धिष्णसंज्ञक अग्नियों का यज्ञ में यथास्थान आवाहन होता है और ब्राह्मण लोग सोम रस द्वारा इनकी पूजा करते हैं। तत्पश्चात जो पावक नामक अग्नि हैं, जिन्हें सत्पुरुष गण योग नाम से पुकारते हैं, उन्हीं को अवभृथ अग्नि[3] समझना चाहिये। उनकी वरुण के साथ पूजा होती है। ह्रदय नामक अग्नि के पुत्र मन्युमान है।, जिन्हें जठराग्नि भी कहते हैं। ये मनुष्यों के उदर में स्थित रह कर भक्षित पदार्थों को पचाते हैं। परस्पर के संघर्ष से उत्पन्न हुए प्रभावशाली अग्नि को, जो जगत में निरन्तर प्राणियों को जलाते रहते हैं, विद्वाग्नि कहते हैं। मन्युमान अग्नि के पुत्र संवर्तक हैं, जो अत्यंत भयंकर बताये जाते हैं। वे समुद्र में बड़वामुख द्वारा निरंतर जलपान करते हुए निवास करते हैं। समुद्रवासी संवर्तक अग्नि के पुत्र सहरक्ष बतलाये जाते हैं। सहरक्ष मनुष्यों के घरों में निवास करते हैं और उनकी सभी कामनाओं को सम्पन्न करते रहते हैं। सहरक्ष के पुत्र क्रव्यादग्नि हैं जो मरे हुए पुरुषों का भक्षण करते हैं। इस प्रकार ये सभी ब्राह्मणों द्वारा पावक नामक अग्नि के पुत्र बतलाये गये हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य पुत्र हैं, उन्हें सौवीर्य से गन्धर्वों और असुरों ने हरण कर लिया था। अरणी में मन्थन करने से जो अग्नि उत्पन्न होता है, वह तो ईंधन के आश्रित रहता है। पृथु योनि के लिये जिन अग्नि की नियुक्ति हुई है उन ऐश्वर्यशाली अग्नि का नाम आयु है। आयु के पुत्र महिमान और उनके पुत्र दहन हैं जो पाक यज्ञों के अभिमानी देवता हैं। वे ही उन यज्ञों में हवन किये गये हवि को खाते हैं। दहन के पुत्र अद्भुत नामक अग्नि हैं, जो समस्त देव लोकों में दिये गये हव्य एवं कव्य का भक्षण करते हैं। वे महान यशस्वी और जनता के हितकारी हैं। ये प्रायश्चित्त निमित्त यज्ञों के अभिमानी देवता हैं, इसी कारण उन यज्ञों में हवन किये गये हव्य को खाते हैं। अद्भुत के पुत्र वीर नामक अग्नि हैं जो देवांश से उद्भूत और महान कहे जाते हैं। उनके पुत्र विविधाग्नि हैं और विविधाग्नि के पुत्र महाकवि हैं। विविधाग्नि के दूसरे पुत्र अर्क से आठ अग्नि पुत्रों की उत्पत्ति बतलायी जाती है।।**24–37**।।

---

1. यह अग्निष्टोम के 16 ऋत्विजों में से भी एक होता है जिसका इस अग्निपरिचर्या से विशेष सम्बन्ध होता है।

2. यही आजकल जल विद्युत (**hydro-electric energy**) कही जाती है। इस अध्याय में वास्तव में अन्य उपायों से भी विद्युत उत्पन्न करने का भी विवरण है जिनके द्वारा वर्तमान में सौर उर्जा, अणु उर्जा, वायु ऊर्जा तथा कोयला आदि ईंधन से विद्युत उत्पन्न की जाती है।

3. यज्ञान्त हवन एवं अवभृत स्नान के समय इसका उपयोग होता है।

कामनापूर्ति के निमित्त किये जाने वाले यज्ञों के जो अभिमानी देवता हैं, उनका नाम रक्षोहा अग्नि है। उनका दूसरा नाम यतिकृत भी है। इनके अतिरिक्त सुरभि, वसुरत्न, नाद, हर्यश्व, रूक्मवान, प्रवर्ग्य और क्षेमवान–ये आठ अग्नि कहे गये हैं। ये सभी शुचि नामक अग्नि की संतान हैं। इन सबकी संख्या चौदह है। इस प्रकार यज्ञ कार्य में प्रयोग होने वाली सभी अग्निओं का वर्णन हो गया। प्रलयकाल में ये सभी अग्नि पुत्र याम नामक श्रेष्ठ देवताओं के साथ स्वायम्भुव मन्वन्तर में सभी चेतन एवं अचेतन विहरणीय पदार्थो के अभिमानी देवता थे। इस पूर्व मन्वन्तर के समाप्त हो जाने पर पुनः प्रथम मन्वन्तर में ये सभी अग्निगण शुक्र एवं याम नामक देव गणों के साथ स्थानाभिमानी देवता बन कर अग्नीध्र नामक अग्नि के साथ हव्य वहन का कार्य करते थे और काम्य एवं नैमित्तिक आदि जो यज्ञ किये जाते थे, उन कर्मों में अवस्थित रहते थे। यह अग्नियों की स्थाननाम्नी योनियों का वर्णन है। उन्हें स्वारोचिष मन्वन्तर से ले कर सावर्णि मन्वन्तर तक के सातों लोकों में वर्तमान जानना चाहिये। ऋषियों ने वर्तमान एवं भविष्य में आने वाले सभी मन्वन्तरों में इसी प्रकार अग्नियों के लक्षण का वर्णन किया है। ये सभी अग्नि समस्त मन्वन्तरों में नाना प्रकार के रूप और प्रयोजनों से समन्वित हो वर्तमान कालीन याम नामक देवताओं के साथ वर्तमान थे और इस समय भी हैं तथा भविष्य में भी उत्पन्न हो कर इन नये उत्पन्न होने वाले देवगणों के साथ निवास करेंगे।।**38–47**।।

अग्नि पुराण और मत्स्य पुराणों से पता चलता है कि कलियुग में अग्नि वंश प्रायः नष्ट सा हो गया। श्रीमदभागवत् नवम् स्कन्ध में तो यहाँ तक लिखा है कि इस वंश के प्रायः सभी ब्रह्मनिष्ठ हो कर ब्राह्मण हो गये। कदाचित इसी से इस वंश वाले खत्रियों को क्षण्य अर्थात खन्ना कहने लगे।[1]

अंगिरा ऋषि ऋग्वेद के नवम् मंडल के ऋषि है अंग ऋषि गोत्र के खत्री अंगिरा ऋषि की सन्तान हैं। विष्णु पुराण के आधार पर यद्यपि यह ऋषि क्षत्रिय थे परन्तु रथमार ब्राह्मण शाखा के आदि पुरुष थे। इनके पुत्र हविष्मत थे।[2]

---

1. खत्रिय इतिहास–बालकृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 200

2. इस संबंध में यह भी समझ लेना चाहिये कि वेद में मुख्यतः तीन देवता तीन लोकों से अधिकार रखने वाले माने गये हैं। पृथ्वी पर अग्नि, अंतरिक्ष में इन्द्र (वायु) और इहलोक में सूर्य। तदनन्तर बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु और दो अश्विनी कुमार, यह तेंतीस देवता हैं।

अग्नि उष्णता, प्रकाश, तेज और एकमात्र जीवन का मुख्य आधार है। इनकी सहायता के बिना मनुष्य का कोई कार्य पूरा नहीं हो सकता। फलतः वेद में बहुत सी ऋचायें अग्नि की प्रशंसा में आयी हैं। इसी तरह पुरुषार्थ, वीर्य और बल के लिये इन्द्र अथवा वायु का आवाहन किया जाता है और सूर्य, जिन्हें सविता भी कहा जाता है, आन्तरिक और वाहय दोनों प्रकार के अन्धकार के नाशक हैं।

4. सूर्य वंश, चन्द्र वंश तथा अग्नि वंश–सृष्टि रहस्य

ब्रह्मा जी के मानस पुत्र मरीचि (सूर्य–अत्रि–चन्द्र) तथा अंगिरा, अग्नि एवं दक्ष प्रजापित (की कन्यायें) ये ही चार प्रजापति इन सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंश के प्रमुख मूलाधार हैं।

चन्द्र वंश के वर्णन में बालक ग्रह बुध की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिस सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन ऋग्वेद के मंडल 10–सूक्त–109 के मन्त्र 1–7 में दिया है उसके गूढ़ार्थ में ही ईश्वर प्रेरित एवं रचित इस सृष्टि का रहस्य भी छिपा हुआ है। लौकिक चन्द्रमा स्वयं प्रकाशित नहीं है। वह अन्य ग्रहों की भाँति ही सूर्य से ही प्रकाशित होता है। सूर्य ही सब ग्रहों का राजा है पर अपने आप मे वह एक ग्रह नहीं है। वह केवल एक अग्नि पुँज है। उसकी शक्ति ही अग्नि है। उस शक्ति के बिना वह स्वयं भी अन्य ग्रहों की भाँति केवल मृत पिण्ड ही है। उसमें अग्नि के प्रस्फुटित होने से ही स्वयं उसमें चेष्टा उत्पन्न होती है तथा वह अग्नि ही सारी सृष्टि में आकर्षण–विकर्षण उत्पन्न कर के सृष्टि को संचालित करने लगती है। सृष्टि में केवल सजीवता उत्पन्न होना ही पर्याप्त नहीं है, क्योंकि इस से सृष्टि में केवल चेतनता उत्पन्न होती है जो क्रिया उत्पन्न न होने के कारण सृजन के लिये पर्याप्त नहीं है। इस लिये सृष्टि कर्ता उसमें सौर ऊर्जा से उत्पन्न आकर्षण– विकर्षण के माध्यम से व्यतिक्रम उत्पन्न करता है। कोई ग्रह अपनी कक्षा से हट कर दूसरे ग्रह की कक्षा में आता है जिससे समस्त सृष्टि में आंदोलन उत्पन्न होता है और तभी नया सृजन (बालक ग्रह बुध) होता है। सृजन हो जाने के पश्चात वह ग्रह (चन्द्र) पुनः अपनी कक्षा में लौट आता है। नवीन ग्रह (बालक) के सृजन के लिये सदा से ऐसा होता आया है और वेदों में कहा भी है कि सर्वप्रथम चारों ओर केवल जल ही जल था। उसी में सूर्य भगवान एक अण्ड के रूप में विराजमान थे (हिरण्यगर्भाः)। इस परम तत्व की इच्छा होने से ही उनमें अग्नि रूप चेष्टा उत्पन्न हुई और वे ही हिरण्यगर्भ के रूप में सर्वप्रथम उदित हुए। अतः यह अग्नि रूप चेष्टा ही सर्वप्रथम है जो स्वयं सूर्य में उत्पन्न हुई। इसी लिये सूर्य का स्थान प्रथम है और उससे प्रारम्भ वंश को प्रमुख स्थान दिया जाता है, यद्यपि उसकी उत्पत्ति का आधार चन्द्र (जल) ही है। प्रमुखता इस लिये भी है कि अभिव्यक्ति पहले उसी के कारण हुई।

अतः स्पष्ट है कि जल उस परम तत्व ने ही प्रगट किया, फिर उसमें स्वयं परम तत्व मूर्त रूप में स्थित हुआ और तब उसी की प्रेरणा से उसमें चेष्टा रूपी अग्नि उत्पन्न हुई और यह जल ही चन्द्र, मूर्त रूप तत्व सूर्य और चेष्टा रूप अग्नि, यही सूर्य, चन्द्र और अग्नि वंश है और यही दोनों ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अग्नि क्षत्रिय ब्राह्मण दोनों ही हैं जो सब एक ही परम तत्व का रूप है। अलग अलग इनके तीन रूप हैं पर मूल रूप में एक ही हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में (1:1:5:8–9) रुद्र को अग्नि माना गया है। अग्नि का अंशभूत सोम है। सोम एवं अग्नि ही जगत के मूलभूत माता पिता हैं। वेद की यह अद्भुत कल्पना है कि जहाँ अग्नि है वहीं अर्ध भाग मे सोम है। पुरुष में अग्नि तत्व प्रधान है। स्त्री में सोम तत्व प्रधान है। स्त्री में पुरुष का अर्धभाग विद्यमान रहता है। स्त्री का शोणित आग्नेय एवं पुरुष का शुक्र सोमभाव से युक्त है। शुक्र वृष है, नर है। शोणित योषा है, मादा है। (ऋग्वेद 1:164:16)

इस क्रम को मनु के वंश विस्तार में भी पुनः दूसरे रूप से स्पष्ट किया गया है। मनु की सबसे बड़ी संतान एक कन्या इला ही थी जो पुत्र प्राप्ति के लिये किये गये यज्ञ में होता ईश्वर (के विपरीत संकल्प चेष्टा–अग्नि) से विपर्यय हो जाने के कारण उत्पन्न हुई थी पर मित्रावरुण की कृपा से सुद्युम्न नामक पुत्र हुई। फिर महादेव जी के कोप के कारण वह इल नामक पुरुष इला रूप स्त्री हो गयी तथा इसी रूप में उसने आकर्षण (काम+अग्नि=कामाग्नि) एवं अग्नि की चेष्टा के कारण चन्द्रमा पुत्र बुध के संसर्ग से पुरुरवा को उत्पन्न किया जिससे चन्द्रमा का वंश '"चन्द्र वंश" चला। पहले स्त्री होने के कारण सुद्युम्न को राज्याधिकार प्राप्त नहीं हुआ और किम्पुरुष सुद्युम्न के रूप में ही राज्याधिकार मिला, पर प्रजा उनका अभिनन्दन नहीं करती थी। सुद्युम्न ही सर्वप्रथम राजा हुए किन्तु उनके ज्येष्ठ पुत्र पुरुरवा से ही चन्द्र वंश का विस्तार हुआ। इस प्रकार सुद्युम्न से सूर्य वंश के प्रारम्भ तथा इक्ष्वाकु से सूर्य वंश के विस्तार के साथ चन्द्र वंश का प्रारम्भ भी हुआ। यद्यपि वास्तविक स्थिति यह थी कि इला, इल या सुद्युम्न ही मनु के सबसे बड़े पुत्र थे और उन्हें ही ढूँढ़ने उनके छोटे भाई इक्ष्वाकु आदि शरवण वन तक गये थे। उनके किम्पुरूष रूप में (एक माह स्त्री तथा एक माह पुरुष) रहने के कारण ही इक्ष्वाकु छोटे होते हुए भी मनु के ज्येष्ठ पुत्र सुद्युम्न के बाद उत्तराधिकार को प्राप्त हुए थे। वशिष्ठ जी के कहने से ही प्रतिष्ठानपुर नामक नगर का राज्य पुरुरवा को मिला जो इक्ष्वाकु के भतीजे थे और उनसे चन्द्र वंश के राज्य वंश की वृद्धि हुई। इस सम्बन्ध से चन्द्रमा पुरुरवा के बाबा तथा सूर्य पुत्र वैवस्वत मनु उनके नाना तथा विवस्वान (सूर्य) उनके पर नाना होते हैं और पुरुरवा द्वारा दोनों से मिलने जाने की कथा पुराणों में वर्णित है।

सृष्टि का पहला पुरोहित

इन सब की सृष्टि का कारण अग्नि की चेष्टा ही थी। वही पहला पुरोहित था। इसी लिये वेदों में सबसे प्रथम वेद माने जाने वाले ऋग्वेद के पहले ही मंत्र में अग्नि की ही प्रार्थना की गयी है–

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम।
होतारं रत्न धात्मम्।। (ऋग्वेद प्रथम मंडल–प्रथम सूत्र–प्रथम मंत्र)

परमेश्वर ही अग्नि नाम से प्रसिद्ध है। हे अग्नि, तू ही पहला पुरोहित है। तू ही उत्पत्ति के समय से पहले परमाणु आदि सृष्टि के धारण करने और

बारम्बार सृष्टि रचना के ऋतु में उपासना करने योग्य मनोहर पृथिवी तथा सुवर्ण आदि के धारण करने का हेतु (होतारम्) है। इस लिये हम तेरी ही (अग्निम + इळे) स्तुति अर्थात वंदना करते हैं।

चूंकि यही अग्नि काम+अग्नि =कामाग्नि रूप चेष्टा हो कर सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ करता है और समस्त भुवनों में समस्त प्राणिमात्र में व्याप्त है इसी लिये इसकी वंदना सर्वप्रथम होती है। यही पहला पुरोहित है और सबसे पहले यही चेष्टावान हुआ था। इस लिये उसे ही प्रथम वर्ग अर्थात ब्राह्मण वर्ग में रखा गया और सृष्टि के आदि वर्गों में उसकी गणना प्रथम ही होती है।

इस अग्नि पुरोहित वर्ग की चेष्टा से ही सुद्युम्न, उनके पश्चात इक्ष्वाकु तथा उसके बाद सुद्युम्न पुत्र से सूर्य तथा चन्द्र वंश, व्यवस्था स्थापित करने के लिये राजन्य के पदों पर संस्थापित हुए, इस लिये भी द्वितीय वर्ग में राजन्य अर्थात क्षत्रियों की गणना की जाती है।

इस प्रकार पुरोहित अग्नि (अंगिरा) का वंश, इक्ष्वाकु का सूर्य वंश तथा सुद्युम्न पुत्र पुरुरवा से चन्द्र का वंश, ये तीन वंश चले। इसी सूर्य वंश में ही अंगिरा ऋषि अत्यन्त तेजस्वी थे। उनसे जो शाखा चली वह अपने को सूर्य वंशी कहने के स्थान पर अग्नि वंशी कहने लगी।1

अंगिरा ब्रह्मा के द्वितीय पुत्र हैं। इनकी भार्या का नाम शुभा था जिनके बृहस्पति तथा भानुमती, राका आदि छः कन्यायें थीं। बृहस्पति ही देवताओं के पुरोहित अर्थात गुरू हैं। क्षत्रियों (खत्रियों) का गोत्र अंगिरस है। संस्कृत में "ख" के स्थान में 'क्ष' मिलता है।

सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हर्विभुजः।
वैश्य नामाज्यपा नाम शूद्राणां तु सुकालिनः।।197
सोमपास्तु कवेः पुत्रा हविष्मन्तोअंगिरः सुताः।
पुलस्त्यस्याजपाः पुत्रा वसिष्ठस्य सुकालिनः।।198
—मनु स्मृति अध्याय—3—श्लोक 197—198

(ब्राह्मणों के पितर सोमपायी, क्षत्रियों के हर्विभुज, वैश्यों के आज्यपायी, शूद्रों के सुकालिन हैं। भृगु के सोमपा, अंगिरा के हविष्मन्त, पुलस्त्य के आज्यपा तथा वशिष्ठ के सुकालिन हैं।)

सोमः नाम विप्र का है। क्षत्रियों के पूर्वज हर्विभुज अंगिरस के पुत्र हैं और हर्विभुज नाम अग्नि का है।

विधः सामन्तनस्यान्ते स ददर्शतपोनिधिम्।
अन्यासित मरुन्धत्या स्वाहयेव हर्विभुजम्।

1. खत्री जाति परिचय—पृष्ठ—37

ऋग्वेद भी कहता है—त्वमग्ने प्रथमो अंगिराः अर्थात हे अग्नि, तू पहिले अंगिरस है। अंगिरस के वंश वालों का नाम ही अंगिरस है और वे अग्नि वंशी क्षत्रिय हैं। खन्ना और टण्डन आदि अग्नि वंश में आते हैं। पहले ये सूर्य वंशी थे किन्तु अंगिरा के वंश में जाने के कारण इन्हें अग्नि वंशी कहने लगे।

इसके पश्चात ऋग्वेद के सृष्टि प्रक्रिया विषयक चन्द्र, तारा, बृहस्पति एवं बुध वाले प्रकरण के सूक्त में गूढ़ार्थ से ही यह संकेत भी है कि राजन्य अर्थात क्षत्रिय को ब्राह्मण की स्त्री अर्थात वाणी को नहीं छीनना चाहिये या दबाना नहीं चाहिये, न उसका अपहरण ही करना चाहिये। उसी की चेष्टा से यह सृष्टि सृजित होती, नियामित होती तथा चलती है। वही शेष दो वर्गों अर्थात कार्यकारी प्रजा (Working Force)एवं उसे वृद्धि को प्राप्त कराने वाली प्रजा (Trading Force)को क्रियाशील कर सृष्टि को गतिशील बनाता है। सम्पूर्ण सृष्टि मात्र में यही चार वर्ग हैं। इनके यथा स्थान नियमित रूप से कार्यरत रहने पर ही शांति एवं व्यवस्था बनी रहती है। ब्राह्मण की वाणी प्रजा की ही वाणी होती है। जब बलात इस वाणी को दबाया जाता है तो क्रान्ति होती है क्योंकि प्रजा की यह ब्राह्मण वाणी स्वार्थ के लिये प्रवृत्त नहीं होती बल्कि प्रत्येक वर्ग के कल्याण के लिये ही प्रवृत्त होती है। महात्मा गांधी की इसी वाणी को बलात दबाने के प्रयास में ही तत्कालीन राजन्य अंग्रेजों को भी भारत छोड़ना पड़ा था।

सृष्टि के इस मूल नियम को ऋग्वेद के उपरोक्त मंत्र में गूढ़ार्थ से स्त्री शरीर से भी स्पष्ट किया गया है कि प्रारम्भिक युवावस्था में स्त्री के शरीर में सोम तत्व (आपः जल) का उदय होता है फिर अग्नि तत्व का उदय रजोधर्म के समय, फिर वरुण तत्व का उदय। यही विवाह का समय है। 1 प्राकृतिक घटना में बृहस्पति की कथा को मित्र, वरुण की सहायता से बुध ग्रह बनाने के लिये, अर्थात सृष्टि रचना के क्रम को आगे बढ़ाने के लिये यह हलचल अर्थात काम की अग्नि—कामाग्नि, आकर्षण ईश्वरीय शक्ति ने ही दी थी, जो समस्त प्राणिमात्र में व्याप्त है और सम्पूर्ण प्राणि शक्ति का ही मूलाधार है। यही ईश्वरीय हलचल शक्ति अग्नि रूपी ब्राह्मण के रूप में प्रथम वंदनीय होती है।

1. सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे, पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजा।।
ऋग्वेद मंडल 10—सूक्त 85—ऋचा 40—इसमें भी वही भाव है—स्त्री को प्रथम सोम प्राप्त करता है। (सोमः प्रथमो विविदे) अर्थात सौम्य गुण सरलता उसमें होती है, फिर गन्धर्व प्राप्त करते हैं (उत्तर गन्धर्वो विविदे) अर्थात उसमें गाना—बजाना, श्रंगार आदि के भाव आते हैं, तीसरा तेरा पति अग्नि रजो धर्म और कामेच्छा है (तृतीय +ते पतिः +अग्निः), चौथा तेरे लिये मनुष्य पुत्र होता है (तुरीय + ते मनुष्यजा)। इस प्रकार इसमें भावार्थ से नारियों की सब दशाओं का वर्णन किया गया है। वास्तव में यह पूरा सूक्त ही सूर्य, चन्द्र, अग्नि के माध्यम से विवाह व्यवस्था एवं मानव सृजन से ही संबंधित है जिसमें अनेक गूढ़ रहस्य भी छिपे हुए हैं। इसी सूक्त के मन्त्र आज भी विवाह के समय पढ़े जाते हैं।

(5) सूर्य चन्द्र तथा अग्नि वंश का प्रतीकात्मक नामकरण–खत्रिय इतिहास में प्रचलित भ्रम का निराकरण

इसी गोत्र वंश परम्परा के अनुसार क्षत्रियों (खत्रियों) की वर्तमान अल्ल वेदी, मेहरा, धवन, कक्कड़, महेन्द्र, सोंधी, सहगल, चोपड़ा, सूरी, बोहरा, खन्ना, सेठ, भल्ला आदि की गणना सूर्य वंश में, कपूर खन्ना, बेरी, बहल, नंदा, कोहली, थापर, तुली, जग्गी, खोसला, बावन जाति आदि की चन्द्र वंश में, सरीन की सूर्य तथा चन्द्र वंश दोनों में एवं टण्डन आदि की अग्नि वंश में होती है। कुछ अल्लों के तो नाम ही इन तीनों वशो के आधार पर पड़ गये हैं और कुछ अल्लें अपने विशेष पूर्वजों के किन्हीं विशेष महत्वपूर्ण कार्यो जैसे श्रेष्ठ से 'सेठ' नाम्नी हुई। इसी प्रकार टण्डन तथा खन्ना सूर्य वंशी थे किन्तु अंगिरा के वंश में जाने के कारण वे अपने को अग्नि वंशी ही कहने लगे। यदु वंशी अपने को सेठ कहने लगे और धीरे धीरे सूर्य वंश और चन्द्र वंश नाम ही बदल गया।[1] सूर्य वंशी और चन्द्र वंशी नामकरण कैसे हुआ, यह उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है। खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 26 में यह लिखा गया था कि "प्रश्न यह उठता है कि सूर्य वंशी तथा चन्द्र वंशी नामकरण ही पहले कैसे हुआ, इसका उत्तर हमें ठीक ठीक नहीं मिलता। इसका कारण है कि देशी विदेशी आक्रमणों तथा उपद्रवों से हमें अपना प्राचीन इतिहास बहुत कुछ नहीं मिलता। न जाने कितने प्राचीन ग्रन्थ नष्ट हो गये, इसका कोई ठिकाना है।"

इस पुस्तक के लिखे जाने के पूर्व भी राय बहादुर दीवान अमर नाथ नन्दे (खत्री) ने, जो सन 1906 में रावलपिन्डी, सन 1910 में प्रयाग और सन 1916 में लखनऊ के अखिल भारतीय खत्री सम्मेलन के अध्यक्ष भी रहे, कई बार जातीय इतिहास बनाने का प्रस्ताव पास होने पर भी जब न बन सका, तो स्वयं रावलपिन्डी में जातीय इतिहास बनाने वाले व्यक्ति को 500 रू0 का पुरस्कार अपने पास से देने की घोषणा की थी परन्तु उसका कोई परिणाम न निकला। तत्पश्चात श्री हरगू लाल खत्री ने जातीय इतिहास बनाने के लिये 5,000 रू0 देने का प्रस्ताव किया। अतः यह पुस्तक मुरादाबाद के खत्री साहू हरगू लाल जी द्वारा खत्री इतिहास प्रकाशित करने के लिये अखिल भारतीय खत्री महासभा, लखनऊ को दिये गये 5,000 रू0 के दान को स्वीकार कर एक नयी इतिहास कमेटी बना कर, उसके द्वारा तैयार करवा कर प्रकाशित की गयी थी। सन 1931 में इसी अखिल भारतीय खत्री इतिहास कमेटी की बैठक में राय बहादुर श्री श्याम सुन्दर दास खन्ना को सभापति भी मनोनीत किया गया था। आप ने हिन्दी में अनेकों पुस्तकें लिख कर इतिहास में अपना नाम अमर किया पर खत्री इतिहास तैयार न हो सका और वर्षों तक यह धन यों ही पड़ा रहा। खत्री महासभा के सन 1936 के अधिवेशन में काफी विवाद के बाद यह धन महासभा को मिला किन्तु खत्री इतिहास सम्पादक समिति कोई विशेष सेवा न कर सकी। सन 1945 के

1. खत्री जाति परिचय–पृष्ठ 26

हैदराबाद के अखिल भारतीय खत्री महासभा अधिवेशन में खत्री इतिहास के प्रकाशन के लिये पुनः एक नयी सम्पादक समिति बनायी गयी पर उसमें मूर्धन्य खत्री मोती लाल जी सेठ, श्याम सुन्दर दास, मास्टर बेनी राम सेठ तथा श्री बाल कृष्ण प्रसाद जी जैसी क्षमता तथा लगन न थी। अतः इस समिति ने उन्ही लोगों के ग्रन्थों को आधार मान कर तथा कुछ अन्यत्र प्रकाशित लेखों से सहायता ले कर सम्पादक मण्डल के व्यक्तियों द्वारा लिखे गये लेखों को ही 'खत्री जाति परिचय' कह कर प्रकाशित कर दिया। खत्री इतिहास पर लिखी प्रायः समस्त पुस्तकों का मूल आधार "खत्री हितकारी" आगरा ही है, पर उसे भी ठीक से देखा नहीं गया। स्वयं सम्पादक मण्डल ने माना था कि उनकी पुस्तक में मौलिकता जैसी कोई बात नहीं है। इस लिये स्वयं इसी पुस्तक तथा श्री बाल कृष्ण प्रसाद एवं मोती लाल सेठ जी की पुस्तकों को गम्भीरता से देखे बिना तथा बिना किसी अग्रेतर शोध के उपरोक्त वाक्य लिख दिया गया कि 'सूर्य वंशी, चन्द्र वंशी नामकरण ही पहले कैसे हुआ, इसका ठीक ठीक उत्तर हमें नहीं मिलता' जब कि दोनों ही वंशों की वंशावली उसी पुस्तक में दी हुई थी और ऊपर दिये गये सूत्र भी उसमें दिये गये थे। अतः उक्त कथन मात्र भ्रम ही था। इस विवेचन से अब यह स्पष्ट है कि जिस वंश का प्रधान व श्रेष्ठ पुरुष (प्रवर) जिससे वंश प्रारम्भ हुआ, (विवस्वान) सूर्य था और मनु चूँकि सूर्य के पुत्र थे अतः उनकी वंश परम्परा सूर्य वंश कहलायी और जिस वंश का श्रेष्ठ व प्रधान पुरुष (प्रवर) चन्द्रमा था और मनु की पुत्री इला चन्द्रमा के पुत्र बुध से विवाहित हुई इस लिये बुध एवं इला से प्रारम्भ वंश परम्परा, चन्द्र वंशी प्रसिद्ध हुई। कर्पूर भी चन्द्रमा का ही पर्याय है। इसी प्रकार जो वंश ब्रह्मा जी के द्वितीय पुत्र अंगिरा ऋषि से चला, वही अंगिरा के अग्नि रूप होने के कारण अग्नि वंश कहलाया। इस तथ्य को न समझने के कारण ही 'खत्री जाति परिचय' में यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। कालांतर में रक्त शुद्धता की दृष्टि से नाम व जाति छिपाने के प्रयास में अल्लें बदलने से इन वंशों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने व लिखने की पूर्व परम्परा का लोप हो गया और उसकी पर्यायवाची दूसरी परम्परा बन गयी। इस वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य को न जानने के कारण ही ऐसी हास्यपद किंवदंतियाँ और भ्राँतियाँ प्रचलित हुई कि किसी खत्री के अपने पुत्र के विवाह में धनी पुत्र वधू को पाने की प्रसन्नता में उसे गोद में ले कर नाचने लगने से उस वंश वाले मेहरे कहलाये। 'खन्ना' शब्द खान से निकला या आधे लोगों द्वारा अलाउद्दीन खिलजी के विधवा विवाह के प्रस्ताव का विरोध करने के कारण वे लोग खन्ना प्रसिद्ध हुए और उसकी आज्ञा मानने वाले सरीन कहलाये। युद्ध के लिये सदैव तैयार रहने अर्थात लड़ाकू प्रकृति के लोग ही टण्डन (टण्टा या टन धातु के अर्थ में बोध होने से) कहलाये जब कि एक पंडित ने इसे 'मार्तण्डन्य' से निकला माना। मार्तण्ड चूंकि सूर्य का ही नाम है अतः उन्हों ने टण्डन को सूर्य वंशी सिद्ध किया। एक ने युद्ध में सदैव विजय प्राप्त करने के कारण टण्डन को 'टाण्डन्य' से निकला

बताया। सूर्य वंश में ही अंगिरा ऋषि हुए थे। उनके बेटै हर्विभुज, हर्विभुज माने अग्नि, अतः इसी से यह अग्नि वंश हुआ। कोई टाण्डिनी गोत्र से टण्डनों का निकास बताने लगा। अपने पुरोहित की कन्या के पूरे परिवार के एक उदण्ड सेनापति द्वारा निर्दयता पूर्वक वध कर देने से उसके यजमान द्वारा उक्त सेनापति पर आक्रमण कर उसे खाक में मिला देने वाले खक्कड़ या कक्कड़ कहलाये। अकाल के समय दान देने वाला महेन्द्रू कहलाया। चौपड़ के जुए में पारंगत लोग चोपड़ा तथा अच्छे घुड़सवार होने वाले लोग चड्ढा कहलाये। यद्यपि इस प्रकार की कुछ बातें ठीक भी मालूम देती हैं कि पंजाब में दियालपुर के निकट झनीवाल नामक छोटी सी बस्ती में रहने वाले झाँझी कहलाये क्योंकि वहाँ खत्रियों की संख्या अधिक थी पर यह ऐसा ही है कि जैसे हम मलिहाबाद में रहने वाले शायर 'जोश' को 'जोश मलिहाबादी' कहें और रघुपति सहाय 'फिराक' को 'फिराक गोरखपुरी' क्योंकि वह गोरखपुर में रहते थे। यह केवल स्थानीय पहचान है, कोई अल्ल या जाति वाचक शब्द नहीं। इसी प्रकार बर्दवान के राजा बन बिहारी कपूर अपने नाम के आगे 'महताब' लगाते थे पर वह उपाधि उनकी जाति की द्योतक नहीं थी। जाति तो उनकी कपूर खत्रिय ही थी पर कालक्रम से कभी–कभी ऐसा भी होता है कि 'महताब' जैसी उपाधि बनी रह जाती है और कपूर जैसा जाति सूचक शब्द लुप्त हो जाता है। जैसा कि वत्स कुल के श्रेष्ठ उपाधि वालों के साथ हुआ कि वे अपने नाम के आगे श्रेष्ठ लगाने लगे जो बाद में बदल कर सेठ हो गया और आज तक बना रह गया पर उनकी मूल जाति वाचक अल्ल लुप्त हो गयी। इसी तरह बर्दवान के कपूर राज परिवार से सम्बन्धित उड़ीसा के मुख्यमंत्री हरे कृष्ण 'महताब' उपाधि नाम से अधिक प्रसिद्ध हुए और उनका कपूर अल्ल प्रायः लुप्त हो गया।

किसी विशेष स्थान के नाम को अपने नाम के साथ लगाने की प्रथा तो आज भी चल रही है। लोग अपने नाम के साथ बादल, भुल्लर, बरनाला, लोंगोवाल आदि स्थानों के नाम लगा लेते हैं पर प्रकाश सिंह बादल, सुरजीत सिंह बरनाला और हर चरन सिंह लोंगोवाल नाम सिर्फ इतना बताते हैं कि वह किस गाँव या स्थान के रहने वाले हैं, यह उनकी जाति नहीं है। खत्रियों की एक उप जाति तांगड़ी या ताँगरी भी है और तांगरी पंजाब में एक नदी का नाम भी है। पटियाला में बल्गेरिया तथा बस्सी एवं बांगर, बर्दवानी, भागल, भंगाया, देसी, देसवाल, धारवाल, धानी, गद्दी, गंगोत्री, गुजराती, कनौजिया, कश्मीरी, खरार, महलोग, मजीथिया, मंडियाल, मारवाडी, माथरे, नहान, पहाड़ी, पंजाबी, पुरनिया, कंधारी, रोपड़, सबारन तथा सांगर भी ऐसे ही स्थान हैं जिन्हें अपनी स्थानीय पहचान के लिये लोगों ने अपने नाम के साथ जोड़ लिया है। ऐसे स्थानीय पहचान वाले नाम सर्वप्रथम तो उस स्थान के नाम से ही जुड़ते हैं जिन्हें अपनाने वाला उसी विशिष्ट स्थान का निवासी होता है और वे काफी समय तक चलते रहते हैं, किन्तु कालान्तर में जब उनके परिवार की शाखायें अपने मूल निवास स्थान से बाहर जा कर बसती हैं तो अपने नाम के साथ उस स्थानीय पहचान

को पारिवारिक नाम के रूप में ले जाती है जब कि वह उनकी स्थानीय पहचान नही रह जाती। जैसे लखनऊ में आ कर कुछ पीढ़ियों से बसा हुआ झाँझी परिवार पंजाब के झनीवाल गाँव का रहने वाला नहीं रह जाता और उसे खुद भी यह पता नहीं होता कि उसके नाम के साथ झाँझी अल्ल क्यों लगा है और उसके पूर्वज कहाँ के रहने वाले थे। वास्तविकता यह होती है कि उसका मूल अल्ल तो सूर्य वंशी, चन्द्र वंशी या अग्नि वंशी कुल का ही कोई अल्ल रहा होता जिसे वंश नाम छिपाने के समय छोड़ कर स्थानीय निवास का या कोई अन्य परिवर्तित अल्ल अपना लिया गया था और काल चक्र की गति से मूल अल्ल इतना खो चुका होता है कि उसे ढूंढ़ना कोई आसान कार्य नहीं होता। कभी कभी ऐसे नाम किसी विशेष ग्राम या नगर के साथ नहीं बल्कि पूरे क्षेत्र या प्रदेश के साथ जुड़े होते हैं। आगरे वाल, आहलूवालिया, अरोड़ा, अलख, बधावन, भाबरा, सांसी, सियाल, सिंधु, सूद, यू0पी0 के खत्री, पंजाबी खत्री आदि कुछ ऐसे ही अल्ल समूह नाम हैं जो स्थानीय पहचान के साथ ही जुड़े हैं पर वास्तविक अल्ल नहीं हैं।

खत्री जाति परिचय के पृष्ठ 26 में अग्नि वंश के सम्बन्ध में स्वयं खत्रिय इतिहास के लेखक बाबू बाल कृष्ण प्रसाद का ही लेख (पृष्ठ 189) इस प्रकार उद्धृत किया गया है। "यह वंश बहुत प्राचीन है। इसका उल्लेख मत्स्य पुराण, अध्याय 195 में है। अग्नि से भृगु, अंगिरा और कत्रि की उत्पत्ति लिखी है। महाभारत वन पर्व 220 में मार्कण्डेय–युधिष्ठिर संवाद में अंगिरा ऋषि की तपश्चर्या के वर्णन में भी आया है (श्लोक 6 से 20) जिसका सारांश यह कि तपश्र्या से अंगिरा ने अपना तेज इतना बढ़ाया कि तेजस्विता में अग्नि और अंगिरा में कोई भेद न रहा। तब देवताओं ने अंगिरा को अग्नि वंशी ब्राह्मण माना। अग्नि वंशी ब्राह्मणों में ब्राह्मण और क्षात्र धर्म एक समान ही पाये जाते हैं। वेद, विद्या और तपस्या में वे पूरे ब्राह्मण तथा शस्त्र विद्या और उसके प्रयोग में पूरे क्षत्रिय थे। इसी अग्नि वंश में द्रोणाचार्य हुए हैं। इनके क्षत्रिय वंश में विवाह सम्बन्ध भी होते रहे और कई क्षत्रिय वंश भी इन में आ कर मिले हैं जैसा कि विष्णु पुराण में मनु के पुत्र नाभाग की संतान परम्परा में "रथीतर" तक का वर्णन कर के कहा है। इसी अंगिरा वंश में खन्ने हैं पर वह उनकी अल्ल नहीं है।"

इसी प्रकार कुछ अल्लें केवल युद्ध से सम्बन्धित कार्यों से ही सम्बन्धित हैं जैसे सूरी, शूरीन (योद्धा) ब्योहरे या वोहरे (व्यूह रचना करने वाले), सेनी (सेनानी), धवन (युद्ध समाचार देने वाले), भल्ले (भाला बरदार), चड्ढे (घुड़सवार), तालववाड़ तथा तलवार मार (तलवार से लड़ने वाले), शूर शाही (शाही चुने वीर), कहरी (जबरदस्त), धनुर्धर, तीरन्दाज, पिनाकी, शरवीर (तीर चलाने वाले),छड़ीमार, छुड़िये (छुरी चलाने वाले), भीमसेनी (बली या बलवान), अगिया, अग्गेचल (तोप छोड़ने वाले), अग्निचल, घोड़ चढ़े (घुड़सवार), रणचला (पैदल सिपाही), ढाल बाज (ढाल तलवार से लड़ने वाले), डंकामार, झाँझी, ढिंढोरिया, संखचारी, ढोलिया, तुरही, (लड़ाई में युद्ध का बाजा बजाने वाले), ऐयार (भेष बदल कर

खबर लाने वाले जैसे आज का खुफिया या सी0आई0डी0 विभाग), लाल पागा (लाल पगड़ी वाले सिपाही–लाल कुर्ती वाले)। यह सब अल्लें केवल इतना ही प्रदर्शित करती हैं कि इस युद्ध प्रिय क्षत्रिय जाति में कौन सा समूह किसी समय युद्ध सम्बन्धी कौन सा कार्य करता था। यह केवल खत्रियों की क्षत्रिय वृत्ति का प्रमाण हैं उनके वंश की परिचायक नहीं, किन्तु प्राण भय का संकट उपस्थित होने पर जाति छिपाने में यही अल्लें प्रधान हो गयीं और सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंशी क्षत्रियों के पूर्व वंश तथा जाति सूचक नाम लुप्त हो गये।

खेद तो यह है कि राय बहादुर श्याम सुन्दर दास जैसे विद्वान खत्रिय, बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास की भूमिका ही लिख सके। श्री मोती लाल सेठ ने मास्टर बेनी राम सेठ (खत्रिय सभा, अजमेर के सभापति) की सहायता से "एथनोलाजिकल सर्वे आफ दि खत्रीज" जैसा महान खोजपूर्ण ग्रन्थ लिख कर खत्रिय इतिहास का आधार तैयार किया, पर **30** जनवरी, **1911** को उनका स्वर्गवास हो गया। उन्होंने ही रिज़ले को उत्तर भेजने के लिये घोर परिश्रम किया था। बाबू ब्रजनन्दन सिंह टण्डन ने स्वयं डेरा इस्माइल खाँ (पाकिस्तान) के मूल निवासी होते हुए भी पटना में बसने से बिहार के खत्रियों के बारे में अच्छी जानकारी जुटाई पर **22** मार्च, **1913** को आप भी स्वर्ग सिधारे। अखिल भारतीय खत्री महासभा के जन्मदाता लाल हरिचन्द्र बाबा ने पंजाब में खत्रियों का तथा श्री श्रवण लाल टण्डन ने भी पर्याप्त अन्वेषण कर के कमेटी को सहायता दी तथा पटना तक दौरे भी किये। बाबू हरनाम दास ने 'खत्री तवारीख' तथा "ऐन एकाउन्ट आफ खत्रीज ऐज ऐ रेस आफ ऐनशियेन्ट क्षत्रियाज" लिखा। परन्तु इन जैसे स्वनामधन्य खत्रियों के बाद वैसे उत्साही अन्वेषक न हुए।

अग्नि वंश का उल्लेख मत्स्य पुराण के अध्याय **195** में है और उसमें अग्नि से भृगु, अंगिरा और कत्रि की उत्पत्ति लिखी है। महाभारत वन पर्व **220** में मार्कण्डेय–युधिष्ठर संवाद में अंगिरा ऋषि की तपश्यर्चा के वर्णन (श्लोक **6–20**) का सारांश भी यही है कि तपश्चर्या से अंगिरा ने अपना तेज इतना बढ़ाया कि तेजस्विता में अग्नि और अंगिरा में कोई भेद न रहा। तब देवताओं ने अंगिरा को (क्षत्रिय से) अग्नि वंशी ब्राह्मण माना। अग्नि वंशीय ब्राह्मणों में ब्राह्मण और क्षात्र धर्म एक समान ही पाये जाते हैं। वेद, विद्या और तपस्या में वे पूरे ब्राह्मण तथा शस्त्र विद्या और उसके प्रयोग में वे पूरे क्षत्रिय थे। इसी अग्नि वंश में द्रोणाचार्य हुए। क्षत्रिय वंश में इनके विवाह सम्बन्ध होते रहे और कई क्षत्रिय वंश भी इनमें आ कर मिले जैसा कि विष्णु पुराण में मनु के पुत्र नाभाग की संतान

1. वैवस्वत–मनु के पुत्र नभग का पुत्र था नाभाग। नाभाग का पुत्र अम्बरीष था। अम्बरीष के तीन पुत्र थे–विरूप, केतुमान और शम्भु। विरूप के पृषद, और उसका पुत्र रथीतर हुआ। रथीतर सन्तानहीन था। वंश परम्परा की रक्षा के लिये उसने अंगिरा ऋषि से प्रार्थना की। उन्होंने उस की पत्नी से ब्रह्मतेज से सम्पन्न कई पुत्र उत्पन्न किये। यद्यपि ये सब रथीतर की भार्या से उत्पन्न हुए थे इस लिये उनका गोत्र वही होना चाहिये था जो रथीतर का था फिर भी वे अंगिरस ही कहलाये। वे ही रथीतर

परम्परा में 'रथीतर' तक का वर्णन कर के बताया गया है।[1] इसी अंगिरा वंश में खन्ने हैं। इस प्रकार प्राचीन वंश का नाम बचाने के लिये अंगिरा वंश वालों ने टण्डन, खन्ना आदि नाम वैसे ही रख लिया जैसे सूर्य वंशी मिहिरोत्र ने मेहरोत्रा तथा चन्द्र वंशी कर्पूर ने कपूर रख कर रक्त शुद्धता कायम रखी और इतर क्षत्रियों से विवाह सम्बन्ध आदि नहीं किये। यह मानना कि इन तीनों वंशो की संतानें सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि की संतानें है नितांत गलत और भ्रमपूर्ण बात है। ऐसा मानना केवल कल्पना के ही क्षेत्र में सत्य हो सकता है। इनमें से किसी भी वंश का बड़ा, ऊँचा अथवा नीचा होना मानना भी सत्य नहीं है क्योंकि इन तीनों में से किसी भी एक के न होने से यह सृष्टि क्रम चल ही नहीं सकता था। विद्यमान तो यह तीनों ही तत्व प्रथम से ही थे किन्तु जैसा कि वेदों में कहा है सभी तत्व प्रथमतः सुप्तावस्था में ही थे केवल अग्नि तत्व के कारण उनमें गतिशीलता उत्पन्न हुई और यह तत्व सर्वप्रथम सूर्य में ही गतिमान हुआ। यही ईश्वरीय तत्व था। इस लिये किसी के भी छोटे या बड़े होने का प्रश्न नहीं है। परिस्थितियों का उल्लेख उपरोक्त वर्णन से ही स्पष्ट है जिसमें इन तीनों शक्तियों का प्रदुर्भाव हुआ। विवाह तथा अन्य संस्कारों आदि के अवसरों पर गोत्रोच्चार तथा शाखोच्चार स्वयं इस तथ्य को प्रमाणित कर देता है कि इसके द्वारा इन्हीं तीन तत्वों के गतिशील होने का संकेत दिया जा रहा है जो सृष्टि के आदि में गतिमान हुआ था और विवाह भी उसी प्राकृतिक घटना की अनादि पुनरावृत्ति (सांकेतिक) मात्र है। गोत्र और वंश का अलग अलग होना उपरोक्त वर्णन से ही स्पष्ट है। इन वंश वालों ने इन्हीं सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि के तत्वों को प्रतीक रूप में अपने राज चिन्ह के रूप में ले लिया, इसी से वे श्रद्धा तथा पूजा की दृष्टि से देखे जाने लगे और इसी के आधार पर भी ये वंश अपने को सूर्य वंशी, चन्द्र वंशी तथा अग्नि वंशी कहने लगे। ऐसी स्थिति में आज भी यह आश्चर्य की बात नहीं है कि आज भी सिंह, रीछ तथा गरुड़ (ईगल) को प्रतीक रूप में लेने वालों को हम अंग्रेज, रूसी तथा फ्रांसीसियों के नाम से बोध करते है।[1]

वास्तव में देखा जाये तो सम्पूर्ण सृष्टि ही, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, चार ही वर्गों में बंटी हुई है। मनुष्य एवं पशु में कोई अधिक भेद नहीं है। आहार, निद्रा, भय ओर मैथुन इन चार कर्मों से पशु और मनुष्य समान ही हैं। मन की शक्ति से चालित होने के कारण, मनःशक्ति की विद्यमानता से ही यह पशु रूपी जीव मनुष्य कहलाता है। पशुओं में यह शक्ति, जो मनुष्य में वाणी के रूप में प्रस्फुटित

के वंशजों के प्रवर (कुल में सर्वश्रेष्ठ पुरुष) कहलायें क्योंकि वे क्षत्रोपेत ब्राह्मण थे–क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों गोत्रों से इनका सम्बन्ध था।
–श्रीमद्‌भागवत–नवम स्कन्ध–छठा अध्याय–श्लोक 1–3 एवं
खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 280
1. खत्री जाति परिचय–पृष्ठ 24

होती है, विद्यमान नहीं है। मनुष्य में यह पाँचवां गुण ही अधिक है।

इस संसार का प्राणिमात्र कार्यकारी शक्ति, कार्य को बढ़ाने वाली शक्ति, उनकी नियामक प्रशासकीय शक्ति तथा तीनों वर्गों को व्यवस्था एवं मार्ग दिखाने वाली शक्ति(Working Force, Trading force and Administrative force and Teaching Force) में बंटा हुआ है, जो विभाजन मनुष्यों में ही नहीं, पशुओं में भी है और इसका निर्धारण प्राणि मात्र के कर्म से ही होता है, केवल जन्म से नहीं। भारत में इन्हीं वर्गों को क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण नाम दिया गया है। अन्य देशों में तथा पशुओं में यही वर्ग विभिन्न रूपों में व्याप्त है। भले ही देश–देश में उनके नाम भिन्न हैं पर सब का निर्धारण कर्म से ही होता है। इसमें अव्यवस्था होने पर क्रान्ति के समय सब कुछ उलट पलट हो जाता है पर पुनः वही वर्ग विभाजन अनिवार्य रूप से ही हो जाता है, केवल उसके संचालक एवं गतिमान तत्व बदल जाते हैं।

मनुष्यों में इन चारों वर्गों में एक ऐसा तत्व भी है जो इन चारों वर्गों की मर्यादा का उल्लंघन कर के अपराध करता है। अपराध का कोई वर्ग नहीं होता। मर्यादा का उल्लंघन सभी वर्ग करते हैं और इन उल्लंघन कारियों से चारों वर्गों से आने वाला एक नया वर्ग उत्पन्न होता है जो इन सभी वर्गों के तत्वों से बनता है। इन्हीं मर्यादा उल्लंघन–कारियों के वर्ग को मिला कर एक पाँचवां वर्ग भी उत्पन्न होता है जिन्हें कारागार अथवा जेल में सबसे अलग रखा जाता है ताकि व्यवस्थित मर्यादा भंग हो कर अराजकता उत्पन्न न हो। इन सब को मिला कर ही पाँच वर्ग अर्थात पाँचजन्य बनता है और वेदों में उपदेश है कि इन्हें समुचित दण्ड दे कर सुधार का उपाय करो। समाज का उच्छिष्ट एवं अन्य कार्यों से बचा समस्त धन ले कर इस पंचम वर्ग को भी पुनः ऊँचा उठा कर समाज के नियमित वर्गों में रखने की शिक्षा वेदों में ही दी गयी है। (शतपथ ब्राह्मण में इसकी विस्तृत व्याख्या भी दी गयी है।)

और यह पाँचवा वर्ग भी संसार के प्रत्येक देश के कारागारों, जेल मे रहता है तो भारतीय चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में संकीर्णता अथवा जातिवाद का आरोप कैसे किया जा सकता है। यह आरोप स्वयं ही संकीर्णता की उत्पत्ति है। मनुष्य एवं प्राणि मात्र के सार्वभौम, कर्मणा वर्ण विभाजन को नकारने वाली संकीर्ण दृष्टि है।

*****

अध्याय–4 क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा का विस्तार

जिस वंश का श्रेष्ठ या उत्तम या आदि पुरुष विवस्वान (सूर्य) था, वह सूर्य वंश, जिसका श्रेष्ठ, उत्तम या आदि पुरुष चन्द्र था, वह चन्द्र वंश तथा सूर्य वंश के जो लोग इसी वंश के अंगिरा ऋषि की शाखा में गये वह अपने को सूर्य वंशी कहने के स्थान पर अग्नि वंशी कहने लगे। यहाँ तक तो नामकरण विषयक बात स्पष्ट हो जाती है कि नामकरण कैसे हुआ। काफी समय तक इन तीनों वंशों के लोग अपने को इन्हीं के वंशज कहते रहे होंगे परन्तु इन वंशों की वंशावली से ही स्पष्ट है कि इनके अनुवर्ती वंश इतने महान एवं प्रसिद्ध होने लगे कि उनकी शीघ्र ही अलग अलग उपशाखायें अपने नाम से अधिक प्रसिद्ध होने लगीं। चन्द्र वंशी ययाति के पुत्र यदु से ही यदु वंशी शाखा अत्यंत प्रसिद्ध हो गयी और सूर्य वंशी इक्ष्वाकु के वंश का वर्णन तो पुराणों में ही इक्ष्वाकु वंश के रूप में मिलने लगता है। इसके बाद पुराणों में ही चन्द्र–यदु वंश की परम्परा में हैहय, तालजन्घ, भोजक, अंधक आदि वंश प्रसिद्ध होने लगे। सूर्य वंश में भी रघु के कुल की अलग ही ''रघुकुल रीति सदा चलि आयी, प्राण जाँय पर वचन न जाई' कह कर स्वतः ही स्पष्ट कर दिया है कि काल क्रम से सूर्य कुल के नाम के बजाय उसकी उप शाखा रघु (कुल) अधिक प्रसिद्ध हो गयी थी। प्रकृति क्रम से भी पुत्र के पिता से बढ़ कर होने के प्रमाण तो इतिहास में सर्वत्र विद्यमान हैं। लोग नये को याद रखते हैं और पुराने को शीघ्र भूल जाते हैं क्योंकि परम्परा जीवितों से चलती है, मृतकों से नहीं। मृतक कोई नया इतिहास नहीं बनाता। इतिहास का निर्माण तो जीवित करता है। अतः सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंश का प्रचलन कम हो कर उनकी उप शाखाओं का प्रचलन अधिक होने लगा तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। जिस समय का जो लेख है वह अपने समय की गति को प्रदर्शित करता है। अतः जिस समय सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि आदि वंश कहने और लिखने की परम्परा प्रचलित थी उस समय का अभिलेख या कोई लेख अथवा शिलालेख हमें अभी तक नहीं मिला है तो इसमें भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वह काल भी तो स्वयं पुराणानुसार अत्यंत प्राचीन ही नहीं अर्वाचीन है।

इतिहास का जो अंश हमें लिखित रूप में उपलब्ध है उससे यह पता चलता है कि क्षत्रिय गण एक विशेष शब्द का प्रयोग करते थे जिसका अन्त वर्मा में होता था। नामकरण संस्कार के संबंध में श्री विष्णु पुराण में निम्नलिखित उल्लेख है–

''ततश्च नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि।
देवपूर्व नराख्य हि शर्मवर्मादिसंयुतम्।।8।।
शर्मेति ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंश्रयम्।
गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः।।9।।
नार्थहीनं न चाशस्त नापशब्दयुतं तथा।

नामंगल्यं जुगुप्स्यं वा नाम कुर्यात्समाक्षरम्।।10।।
नातिदीर्घ नातिहस्वं नातिगुर्वक्षरान्वितम्।
सुखोच्चार्य तु तन्नाम कुर्याद्यत्प्रवणाक्षरम् 11।।
—विष्णु पुराण 3/10/8—11

तदनन्तर पुत्रोत्पत्ति के दसवें दिन पिता नामकरण संस्कार करे। पुरुष का नाम पुरुषवाचक होना चाहिये। उसके पूर्व में देव वाचक शब्द हो तथा पीछे शर्मा, वर्मा आदि होने चाहिये। ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मा, क्षत्रिय के अन्त में वर्मा तथा वैश्य और शूद्रों के नामान्त में क्रमशः गुप्त और दास शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। नाम अर्थहीन, अविहित, अपशब्दयुक्त, अमांगलिक और निन्दनीय न होना चाहिये तथा उसके अक्षर समान होने चाहिये। अति दीर्घ, अति लघु अथवा कठिन अक्षरों से युक्त नाम न रखे। जो सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सके और जिसके पीछे के वर्ण लघु हों, ऐसे नाम का व्यवहार करे।।8—11।।

इसी प्रकार की व्यवस्था मनु स्मृति, अध्याय 2, श्लोक 30—32 में भी है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि शक्तिमय, रक्षासूचक (बलान्वितम रक्षा समन्वितम) "वर्मा" शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये शास्त्र विहित था। यही वह समय है जब महापद्मनन्द तथा चन्द्रगुप्त मौर्य आदि ने जबरदस्ती क्षत्रियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित कर के रोटी बेटी का सम्बन्ध स्थापित करना चाहा जिसे शुद्ध आर्य क्षत्रियों ने स्वीकार नहीं किया और प्राण भय से कुछ ने अन्य देशों को पलायन किया और कुछ ने अपनी क्षत्रिय जाति को छिपाने के लिये नाम के अन्त में जाति सूचक "वर्मा" शब्द का शास्त्र विहित प्रयोग छोड़ कर अन्य अल्ल अपना लिये। इसके पूर्व परशुराम के भय से चन्द्र वंशी हैहयों ने भी यही किया था। स्वर्गीय बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास, खत्री जाति परिचय (पृष्ठ—8) में तथा प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्वर्गीय डा0 बैज नाथ पुरी ने अपने ग्रन्थ "दि खत्रीज—ए—सोशियों हिस्टारिक स्टडी" में क्षत्रियों के द्वारा "वर्मा" शब्द के प्रयोग का उल्लेख तो किया है। पर उन लोगों ने इस बात का उल्लेख नहीं किया कि क्षत्रिय जाति के लिये शक्तिमय "वर्मा", ब्राह्मणों के लिये मंगलमय "शर्मा", वैश्यों के लिये धनमय "गुप्त" तथा शूद्रों के लिये जुगुप्सामय "दास" शब्द का प्रयोग श्री विष्णु पुराण—तृतीय अंश—दसवां अध्याय में विहित है और शास्त्र सम्मत है। यही शास्त्रीय आधार है जिसके अनुसार पंचतंत्र के ब्राह्मण रचयिता का नाम विष्णु शर्मा ही है, विष्णु तिवारी या बाजपेयी नहीं। यह सब उप नाम खत्रियों के उपनामों की तरह बाद की उपज हैं।

खत्रियों में जाति सूचक शब्द "वर्मा" का प्रयोग आज भी होता है। लखनऊ के प्रसिद्ध जाति सेवी बाबू गंगा प्रसाद वर्मा (अमीनाबाद) (टंडन खत्री) तथा मशहूर डा0 बैजनाथ वर्मा (चौक) के परिवार आज भी विद्यमान हैं और अपने नाम के अंत में आज भी वर्मा ही लिखते हैं (इनके गोत्र अलग हैं)। अमृतसर निवासी

हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री निहाल चंद बेरी (मृत्यु सन 1970 ईसवीं) बेरी खत्री होते हुए भी अपने को निहाल चंद वर्मा ही लिखते थे। इन्हों ने ही प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थान निहाल चंद ऐंड कम्पनी की स्थापना की थी। इनकी ही देखा देखी इनके शिष्य राम चन्द्र चोपड़ा, राम लाल सेठ तथा विशेश्वर नाथ सेठ आदि सभी अपने नामों के आगे वर्मा जोड़ने लगे थे किन्तु श्री निहाल चंद वर्मा के सुपुत्र, वाराणसी के प्रसिद्ध हिन्दी प्रचारक संस्थान के स्वामी, श्री कृष्ण चन्द्र बेरी तथा उनके पुत्र अब अपने को बेरी खत्री ही लिखते हैं। अतः स्पष्ट है कि खत्रियों द्वारा अपने को वर्मा लिखने का शास्त्रीय आधार है पर लोग यह भूल गये हैं कि खत्रियों के नाम के अंत में "वर्मा" क्यों लिखा जाता है जब कि कुछ कायस्थ और सुनार भी अपने को वर्मा लिखते हैं और वे क्षत्रिय नहीं है। इसकी उत्पत्ति तो इस काल के इतिहास से ही स्पष्ट है जब अनेक विदेशियों और क्षत्रियेतर जातियों ने उच्च जातीय विशिष्टता के मोह के कारण क्षत्रिय नाम ग्रहण किये थे और क्षत्रियों से रोटी बेटी का संबंध बनाना चाहा था तो उसे क्षत्रियों ने स्वीकार नहीं किया और विरोध भी किया, परन्तु नये विजेताओं के आगे उनसे कुछ करते न बन पड़ा। ऐसे ही जिन क्षत्रियों ने न तो उनसे रोटी बेटी का सम्बन्ध किया, न अपनी जाति छिपायी बल्कि इधर उधर बिखर कर अपने प्राण, मर्यादा एवं जाति नाम को तथा रक्त शुद्धता को बनाये रखा तथा युद्ध के अतिरिक्त अन्य क्षत्रियेतर व्यवसाय अपना कर के अपनी जीविका चलायी, वे ही तब से आज तक अपने को "वर्मा" लिखते चले आये हैं। अतः ये वर्मा वही क्षत्रिय हैं जिन्हों ने पूर्व काल में विष्णु पुराण के निर्देशानुसार क्षत्रिय जाति वाचक शब्द "वर्मा" अपनाया था और वे उसी क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा को कायम रखे हुए हैं।

भारत के सारस्वत ब्राह्मण, पुराणों के अनुसार आज भी "शर्मा" नामान्त, वैश्य "गुप्त" नामान्त तथा शूद्र "दास" नामान्त का प्रयोग करते हैं और यह नाम शास्त्र—सम्मत एवं वर्ण सूचक ही हैं। केवल इनके मूल के संबंध में अज्ञान के कारण लोगों को मतिभ्रम हो गया है, पर परम्परा नहीं बदली है।

इस संबंध में उल्लेखनीय है कि धार्मिक व रीतिक कृत्यों में या किसी अनुष्ठान के समय ब्राह्मणों द्वारा जो संकल्प पहले कराया जाता था और आज भी कराया जाता है उसमें संकल्पकर्ता के गोत्र व नाम के उच्चारण के पश्चात ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के उसके वर्ण के अनुसार ही उसके उपरोक्त वर्ण नाम यथा शर्मा, वर्मा, व गुप्त आदि का उच्चारण किया जाता है। जैसे... गोत्रे राम प्रसाद जी मिश्र शर्माहम् संकल्पं करोति, ... अंगिरस गोत्रे श्री राम प्रसाद जी टंडन वर्माहम् संकल्पं करोति....(अमुक) गोत्रे श्री राम प्रसाद जी अग्रवाल गुप्तं संकल्पं करोति आदि। इस विधान का प्रचलन तो आज तक विद्यमान है और प्रत्येक विद्वान ही नहीं, कम पढ़ा लिखा धार्मिक कृत्य कराने वाला ब्राह्मण भी अपनी सीखी हुई विद्या एवं आदत के अनुसार इसका पालन एक नियम के रूप में करता और तदनुसार ही उच्चारण करता है। प्रत्येक व्यक्ति के नाम के पूर्व गोत्र, उसके बाद नाम और उसके पश्चात उसके वर्ण का वर्ग (उर्दू लकब)

उच्चारण किये कोई भी धार्मिक कृत्य या अनुष्ठान पूरा नहीं होता। हुआ सिर्फ यह है कि आज कल के जमाने में कोई भी व्यक्ति इस ओर ध्यान नहीं देता और इस बारीकी को नहीं समझता पर शास्त्र विहित परम्परा नहीं बदली है और संकल्प आदि में खत्रियों के गोत्र व नाम के पश्चात "वर्मा" शब्द का प्रयोग व उच्चारण ही यह सिद्ध करने को पर्याप्त है कि खत्री ही विशुद्ध क्षत्रिय हैं और उनमें कहीं कहीं पूर्ण नाम के साथ या विशिष्ट अल्ल के बजाय "वर्मा" शब्द क्यों लगाया जाता है। कुछ शिलालेखों में क्षत्रियों के लिये सेन तथा भट्ट अल्ल का प्रयोग मिला है तथा विक्रम संवत् के प्रचलनकर्ता इतिहास प्रसिद्ध खत्री सम्राट विक्रमादित्य के पिता का नाम भी दर्पण गंधर्व सेन मिलता है। बाल कृष्ण प्रसाद 'खत्रिय इतिहास' पृष्ठ 379 में लिखते हैं कि बहुतेरे खत्रियों के नामों के साथ इतिहासों में 'सिह' और 'मल्ल' की पदवी बाद में प्रयुक्त हुई, जैसे दीवान सुलतान सिंह (अलवर), राम पहाड़ सिंह (बरेली), जनरल हरि सिंह नलवा, गरु गोविन्द सिंह, राजा अयामल, राजा टोडरमल, राय राया नागरमल आदि। 'पाल' पदवी भी पूर्व में खत्रियों की थी किन्तु जब सिंह, पाल और मल्ल की पदवी अन्य जाति तथा शूद्र भी लगाने लगे तो खत्रियों ने एक प्रकार से इसे छोड़ देना ही उचित समझा। यही हाल विष्णु पुराण से समर्थित "वर्मा" क्षत्रिय पदवी का है। अब अनेक कायस्थ, सुनार तथा तेली भी अपने को वर्मा लिखते हैं किन्तु खत्रियों ने इस पदवी का सामान्य प्रयोग कब का छोड़ दिया है अतः स्पष्ट है कि केवल ऐसी पदवियाँ जोड़ कर कोई क्षत्रिय (खत्रिय) नहीं हो सकता। इस समय भी कुछ पैसे वाले सुनार तथा अन्य जातियाँ अपने को सेठ लिखने लगी हैं जिसे देख कर कभी कभी खत्री हितैषी के सम्पादक तक उन्हें खत्री समझने की भूल कर बैठते हैं।

पूर्व मुस्लिम काल में राजपूतों ने "सिंह" शब्द का अपने नाम के साथ प्रयोग क्षत्रिय वाचक अल्ल के रूप में किया। उसी का सातवीं शताब्दी के लेखों में प्रयोग प्रायः नहीं मिलता। मुस्लिम काल में हिन्दू लोगों ने अपने नाम के साथ मुस्लिम अल्ल लगाना शुरू कर दिया था जो कालांतर में चल कर उनके वर्ग अथवा उप जाति का सूचक हो गया था। बंगाल में "खां" बंगालियों की उप जाति है। पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बिहार में अनेक भूमिहारों की पदवी "खां" है।'खान' शब्द जाति सूचक न हो कर पद सूचक है। काश्मीर में 'खजांची',सर्राफ, मुंशी, बख्शी आदि फारसी शब्द नामों की उपाधि के साथ प्रचलित हो गये थे। हिन्दुओं ने उन्हें स्वीकार कर लिया था। प्रारम्भ में वे पेशों को प्रकट करते थे। कालान्तर में वे उपजाति एवं एक वर्ग के द्योतक हो गये। अतः जब हमारे सामने के ही इतिहास का यह हाल है तो सूर्य वंश, चन्द्र वंश तथा अग्नि वंश शब्द के प्रयोग के मूल काल को ढूँढ़ना बचपना ही है। इस विषय में तो स्वयं वेद, पुराण ही प्रमाण हैं। भविष्य के बारे में कुछ कहना तो सम्भव नहीं किन्तु यदि आने वाली पीढ़ी इस क्रम को उल्टा करना प्रारम्भ कर दे तो वही कहावत सिद्ध होगी कि जहाँ से चले थे फिर वहीं पहुँच गये और अनेक अल्ल एक ही श्रेणी में आ

जायेंगे। पुराण भी तो यही कहता है कि प्रलय के बाद सृष्टि प्रारम्भ हुई थी। इसका अन्त प्रलय में होगा और फिर सृष्टि होगी। अनादि काल से यही क्रम चला आया है और आगे भी यही क्रम चलेगा। काल की गति की तुलना में तो हम कहीं भी नहीं हैं।

तर्क इस लिये यही कहता है कि जितना हमें ज्ञात है उसी को पहले देखें। क्षत्रिय इतिहासों में क्षत्रिय–खत्रिय शब्द का विस्तार से विवेचन है और यही निष्कर्ष निकाला गया है कि क्षत्रिय का ही परिवर्तित रूप खत्रिय है। खत्रिय को आर्य वंश की एक जाति या फिरके के सदस्य के भाव में लिया गया है तथा सामाजिक व्यवस्था या क्रम में एक खत्रिय का स्थान सर्वोच्च था। बौद्ध ग्रन्थों में भी खत्रियों की सामाजिक महत्ता तथा सम्मान का वर्णन है और संस्कृत में प्रयुक्त क्षत्रिय शब्द को पाली में खत्रिय कहा गया है। "क्ष" शब्द का "ख" शब्द में परिवर्तन व्यापक है। इसे सिद्ध करने के लिये ईसा से चौथी शती पूर्व के उन इतिहासज्ञों के लेखों का भी विस्तृत अध्ययन किया गया है जो सिकन्दर के साथ भारत आये थे और उससे भी यह सिद्ध किया गया है कि इन्हीं क्षत्रिय या खत्रिय के लिये ग्रीकों ने जथराई (XATHROI) शब्द का प्रयोग किया है और यह माना गया है कि ये प्राचीन जथराई ही क्षत्रियों का प्रतिनिधित्व करते थे।

ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी के बाद ईसा के बाद की दूसरी शताब्दी में भूगोल विशारद टालमी के लेख का उल्लेख अनेक खत्री इतिहासों में है क्योंकि उसी ने पहली बार स्पष्ट रूप से खत्रियाओ का उल्लेख किया और कहा कि खत्रियाओ (Kahatraio) के अधीन भारत के कुछ पूर्व और पश्चिम के नगर अन्तखर, सौन्दसन आदि छः नगर थे। इन्हीं यूनानी लेखकों ने अधिकारियों को कठ (Kathaoi) कहा और कत्रि नाम की एक जाति का भी उल्लेख किया। इसके बाद ईसा की तीसरी शताब्दी में खत्रियाओ का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, ऐसा खत्रिय इतिहासों में लिखा है और फिर उस युग का आगमन बताया है जिसमें साधारण जातियों में ही नहीं राजन्य कुल में भी अन्तर्जातीय विवाह होने लगे।[1] गुप्त सम्राट वैश्य थे परन्तु उन्हें लिच्छवि होने पर गर्व था। मनु स्मृति के अनुसार लिच्छवि क्षत्रिय वंशज थे। ब्राह्मणों के वैश्य वर्ण में भी विवाह इस काल में हुए हैं और अनेक विदेशी जातियाँ भी इस काल में भारत में आ कर बसी हैं।

1. कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं: क्षत्रिय राजा शर्याति की कन्या ब्राह्मण ऋषि च्यवन को ब्याही। क्षत्रिय राजा रोमपाद ने अपनी गोद ली कन्या दशरथ पुत्री एवं राम की बहन शान्ता का विवाह विभंडक मुनि कुमार ऋष्यश्रंग से किया। शुक्राचार्य की कन्या (ब्राह्मण) देवयानी का विवाह क्षत्रिय राजा ययाति से हुआ। राजा उदयन क्षत्रिय का विवाह ब्राह्मणी, क्षत्रियाणी और वैश्या से हुआ था (भारतीय इतिहास–श्याम बिहारी मिश्र–पृष्ठ 382) राजा दशरथ का विवाह क्षत्रियाणी, वैश्या और शूद्रा से हुआ था (टीका बाल्मीकि रामायण, बाल कांड एवं खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 383)। सत्यवती क्षत्राणी का विवाह ऋषि ऋचीक से हुआ था और उनसे जमदग्नि हुए जिनके पुत्र परशुराम ब्राह्मण हुए। ऋषभदेव क्षत्रिय के 100 पुत्र हुए जिनमें कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, अविर्होत्र, द्रुमिल आदि 81 ब्राह्मण थे। भारद्वाज से ब्राह्मण

और उन्हों ने भी क्षत्रिय जातियों में विवाह किया है। गुप्त शासन के पहले और पश्चात भी विदेशी शक और हूण विजेता क्षत्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध कर के क्षत्रिय कहे जाने लगे थे। अनेक स्थानों पर इन्हें धर्म से मान्यता भी मिल गयी। इस समय की स्थिति का अनेक शिलालेखों के माध्यम से इतिहासकारों ने उल्लेख किया है जिसमें तैलिक श्रेणी के व्यापारी वर्ग के प्रमुख को भी खत्री होना सिद्ध किया है। इसी समय में यज्ञ कर के ऐसी जातियों का संस्कार कर के उन्हें अग्नि द्वारा पवित्र कर के राजपूत जाति के जन्म का उल्लेख खत्रिय इतिहासों में ही नहीं वरन प्रायः सभी समकालीन इतिहासों में है। उस समय इस संस्कार द्वारा क्षत्रिय बनायी गयी जाति ने वैदिक धर्म की जो अपूर्व सहायता की और पुनरुत्थान किया वह उस समय की तात्कालिक आवश्यकता थी और यही कारण था कि इस वीर क्षत्रिय जाति ने मेवाड़ में 600 वर्षो तक विदेशी मुसलमान आक्रांताओं के सामने सर नहीं झुकाया और स्वतंत्र बनी रही जब कि काश्मीर जैसा पूर्णतः हिन्दू राज्य जो अपनी पूर्ण जनता एवं शासकों सहित महाभारत काल से ले कर सन 1339 ईसवी तक के 4415 वर्षों तक पूर्णतः हिन्दू राज्य बना रहा था, सन 1339 ईसवीं में कोटा रानी की हत्या या आत्म हत्या के पश्चात पूर्णतः मुस्लिम राज्य हो गया। इन सब तथ्यों का उल्लेख इतिहासों में है और कुछ तथ्यों का उल्लेख प्रसंगवश अन्यत्र हो चुका है तथा इसका विस्तृत विवरण

और क्षत्रिय दोनों वर्ण के लोग हैं। ब्रह्मवैवर्त पुराण, प्रकृति खंड, अध्यय 49 के अनुसार स्वयं देवी राधा व्रज में वृषभानु वैश्य की कन्या के रूप में अयोनिजा अवतीर्ण हुई थीं और उनका रायाण वैश्य के साथ विवाह हुआ था। व्रज में रायाण वैश्य के घर में उनका छाया रूप विद्यमान था। यह रायाण वैश्य भी चन्द्र वंशी क्षत्रिय श्री कृष्ण की माता यशोदा का सहोदर भाई था। जगत सृष्टा विधाता ने पुण्यमय वृन्दावन में श्री कृष्ण के साथ साक्षात श्री राधा का विधिपूर्वक विवाह सम्पन्न कराया था। (ब्रह्मवैवर्त पुराण–श्री कृष्ण जन्म खण्ड–अध्याय–15)

The fourth community, the Sudras were not a race of lower men but what may be termed "the rest". They were the redeemable of Dharma and formed an essential part of society, not looked down upon but only needing attention. Marriages between Sudras and the members of "other classes" were common. Bana, the Brahman friend of Emperor Sri Harsha, had himself a brother, born of a Sudra step-mother.
- The classical Age-Volume III, Forword page 24 by K. M. Munshi Bhartiya Vidya Bhawan, (Bombay)

1. इस विषय में कुछ संदर्भ इस प्रकार हैं:
(1) खत्री जाति परिचय पृष्ठ 4–14
(2) खत्रिय इतिहास– बाल कृष्ण प्रसाद– पृष्ठ 8–24, 31–37
(3) खत्रीज–ए–सोशियो हिस्टारिक स्टडी–डा0 बैज नाथ पुरी–पृष्ठ 7–15
(4) खत्री तवारीख (उर्दू में)–बाबू हरनाम दास
(5) ऐन एकाउन्ट आफ खत्रीज ऐज ऐ रेस आफ ऐनशियेन्ट क्षत्रियाज–बाबू हरनाम दास
(6) ए ब्रीफ एथनोलाजिकल सर्वे आफ दि खत्रीज–मोती लाल सेठ (आगरा, 1905)

खत्रिय तथा अन्य इतिहासों में भी देखा जा सकता है।[1]

यहीं समय ऐसा भी है जब क्षत्रिय पंजाब, सारस्वत प्रदेश तक ही सीमित नहीं रहे। वे भारत के अन्य भागों में ही नहीं बल्कि भारत के बाहर भी बसे। इस संघर्ष काल मे इन नये क्षत्रियों की संख्या अधिक नहीं थी अतः इन नये क्षत्रियों के साथ शुद्ध क्षत्रियों (खत्रियों) का अस्तित्व भी रहा और वे ही ऐसे थे जिन्हें अपनी रुधिर शुद्धता पर गर्व था और इनका अन्य जातियों के साथ अन्तर्जातीय वैवाहिक समागम नहीं हुआ। यही लोग आपत्ति के समय तथा अन्य अनेक कारणों से अपने मूल प्रदेश से बाहर जा कर बसने लगे और वहाँ भी इन्हों ने अपनी रक्त शुद्धता कायम रखी और नये क्षत्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं किये। भौगोलिक दूरियाँ, संचार साधनों का अभाव, स्थानीय भाषा और रीति रिवाज, पारम्परिक पुरोहितों की अनुपलब्धता तथा अनेक कारणों से इनके भी कालक्रम से अनेक वर्ग हो गये और धीरे धीरे ये अनेक स्थानों पर अपनी मूल धारा से अलग हो गये तथा इनमें भी कई प्रकार के विभाजन हो गये जिनमें एक प्रमुख विभाजन भौगोलिक था।

ब्राह्मण, क्षत्रिय (खत्रिय) वैश्य आदि जातियों का एवं उन के इतिहास का अध्ययन विशेष रूप से 19 वीं शताब्दी में अंग्रेजों के समय में आरम्भ हुआ। उन्हों ने ही जनगणना के माध्यम से जाति सम्बन्धी आंकड़े एवं प्रत्येक जाति की जनसंख्या सम्बन्धी आंकड़े भी एकत्र करवाये और उनका विश्लेषण भी किया और करवाया। इससे विभिन्न प्रकार की जटिलतायें भी सामने आयीं तथा विवाद भी उत्पन्न हुए। सन 1901 की जनगणना में जाति सम्बन्धी आंकड़े एकत्र किये गये थे और उस के बाद भी सन 1931 की जनगणना तक इस विषय में सामग्री मिलती है किन्तु सन 1931 में सिविल अवज्ञा आन्दोलन के कारण जनगणना का बायकाट भी किया गया था और उसके बाद जाति सम्बन्धी आंकड़े भी एकत्र नहीं किये गये। स्वतंत्र भारत में पहली जनगणना सन 1951 में हुई अतः जाति सम्बन्धी आंकड़ों के अध्ययन का मुख्य आधार प्रमुख रूप से सन 1881 से 1931 के बीच की जनगणना (प्रमुखतः 1901 की–जिसमें भारत की कुल जनसंख्या लगभग 23 करोड़ 83 लाख थी) तथा 1951 की जनगणना (कुल जनसंख्या 36 करोड़ 10 लाख) ही है जिसके आधार पर कुछ अनुमान लगाया जा सकता है और खत्रियों के भौगोलिक विभाजन को समझा जा सकता है।

उत्तर भारत के खत्री–पंजाब क्षेत्र

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में खत्री जनसंख्या के आंकड़ों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि पंजाब में खत्री जाति की पर्याप्त आबादी थी। उस समय के पुराने पंजाब में सन 1901 में सृजित उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त भी शामिल था तथा वह हिस्से भी शामिल थे जो अब पाकिस्तान में हैं। पंजाब के पश्चिमी हिस्सों में रावलपिंडी तथा झेलम जिलों के क्षेत्र में खत्रियों की संख्या कुल जनसंख्या की 4 प्रतिशत, उसके पूर्व में शाहपुर, गुजरात, झांग, गुजरांवाला,

लाहौर, अमृतसर की तरफ 3 से 4 प्रतिशत, गुरुदासपुर, कपूरथला, जलन्धर, होशियारपुर की तरफ 2 से 3 प्रतिशत तथा अन्य स्थानों में लगभग 2 प्रतिशत थी। इसमें स्पष्ट है कि अधिकतर खत्री पश्चिमी पंजाब में बसे थे और लुधियाना के बाद पूर्व में उनकी आबादी घटती गयी थी। उस समय के दिल्ली में भी उनकी आबादी करीब 5,000 थी पर प्रशासन कार्य मे उनका महत्व अधिक था, जब कि पंजाब प्रान्त के मध्य में और रावलपिंडी की दिशा में सन 1881 में ही उनकी आबादी 4,47,933 दर्ज है और सन 1931 तक यह आबादी करीब 31 प्रतिशत (5,16,000) बढ़ी थी।

अरोड़ा खत्री उस समय दक्षिण–पश्चिम पंजाब में मुलतान, झांग, मांटगोमरी, लाहौर, शाहपुर की तरफ अधिक बसे थे और उनकी जनसंख्या 6,67,197 दर्ज हुई थी। उस समय अकेले उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में 34,000 खत्री थे (इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया 1908) जिनमें 13,000 पेशावर में तथा 13,000 हाजरा में थे। प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता पृथ्वीराज कपूर इसी पेशावर के निवासी थे जो बाद में बम्बई में जा बसे।

जम्मू एवं कश्मीर में लगभग 48,000 खत्री थे जो राज्य शासन में ऊँचे पदों पर भी थे तथा काश्मीर के अनेक कुशल प्रशासकों में डागरा खत्री ही थे। अनेक खत्री यहाँ काल क्रम से मुसलमान भी हो गये ओर अनेक अन्य पेशा अपनाने को बाध्य हुए।[1]

---

1. काश्मीर में एक ऐतिहासिक तथ्य यह भी है कि कल्हण, जोनराज, श्रीवर एवं शुक कृत राजतरंगिणी जैसे ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थों के अनुसार महाभारत काल से ले कर वर्तमान काल तक का क्रमबद्ध इतिहास मिल जाता है। कल्हण के अनुसार रानी यशोमती का, भगवान कृष्ण ने दामोदर की मृत्यु के पश्चात गर्भ स्थित पुत्र की अभिभाविका के रूप में अभिषेक अपने मन्त्रियों के विरोध प्रदर्शन करने पर भी किया था। काश्मीर इतिहास इस गर्भस्थ शिशु गोनन्द के समय से आरम्भ होता है। राजतरंगिणी (कल्हण) का आदि गोनन्द की राज्याधिकारिणी रानी यशोमती से आरम्भ होता है। नीलमत पुराण का आदि वर्णन रानी यशोमती से प्रारम्भ होता है। गान्धार में गोनन्द द्वितीय का अभिषेक भगवान कृष्ण ने किया था। काश्मीर हिन्दू राज्य था। महाभारत काल से कोटा रानी के राज्य तक (सन 1338 ईसवी) के 4,415 वर्षो तक काश्मीर में अविच्छिन्न हिन्दू राज्य बना रहा। धीरे धीरे यवनों का आक्रमण एवं प्रभाव काश्मीर में बढ़ता रहा और प्रथम सुल्तान शाहमीर ने कोटा रानी की हत्या कर दी और स्वयं सुलतान बन बैठा। काश्मीर इन विदेशी आक्रमणकारियों का सामना न कर सका अतः सन 1339 ईसवी से सन 1560 ईसवी तक के 221 वर्षो तक काश्मीर में शाहमीर के वंशजों का राज्य रहा। इस अवधि के दौरान काश्मीर की प्रायः सम्पूर्ण जनता साम, दाम, दण्ड भेद से मुसलमान बना ली गयी। सम्पूर्ण काश्मीर के समस्त मंदिर तोड़ कर नष्ट भ्रष्ट कर दिये गये और इनके स्थान पर मस्जिदों, जियारतों, मजारों का निर्माण हो गया। स्थानों का इस्लामी नामकरण हो गया और सिकन्दर शाह बुतशिकन के समय तक सम्पूर्ण काश्मीर हिन्दू मंदिरों तथा धार्मिक स्थलों के खंडहरों के रूप में बदल गया। इसके बाद चक्क वंश के राजा गाजीशाह व उसके वंशजों ने सन 1561 ईसवी से 1588 ईसवी तक (27 वर्ष) शासन किया। सन 1588 ईसवी में मुगलों का काश्मीर में आधिपत्य हो गया जो 1751 ईसवी तक (163 वर्ष) रहा। सन 1752 ईसवी

पूर्वी पंजाब में खत्रियों की संख्या बहुत कम थी और कहीं कहीं कुछ जिलों में 1,000 से भी कम खत्री थे, परन्तु वे प्रायः सभी जिलों में थे और बिखरे हुए थे। इसी तरह बिलासपुर, मण्डी, कपूरथला, मलेरकोटला, फरीदकोट, पटियाला, नाभा, चम्बा, जींद, शिमला हिल्स, बहावलपुर की देशी रियासतों में भी खत्रियों की आबादी सन 1921 मे करीब 39,000 थी। उस समय खत्री ज्यादातर प्रशासन, विशेष रूप से राजस्व विभाग आदि में थे। अतः ब्रिटिश हुकूमत के दौरान तो उनका इधर उधर परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु भारत के हिन्दुस्तान–पाकिस्तान बंटवारे में लाखों खत्री पाकिस्तानी हिस्सों को छोड़ कर दिल्ली, पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश तथा अन्य राज्यों में जा बसे जिस से इन आंकड़ों में भारी परिवर्तन ही नहीं हुआ बल्कि राज्यों के समीकरण भी बदल गये। इसके पहले खत्री स्थानान्तरण, कोई सामाजिक तनाव, व्यवसाय अथवा धार्मिक आन्दोलनों के कारण ही अपनी भौगोलिक मातृभूमि छोड़ते थे, पर बंटवारे से इनमें भारी उथल पुथल हो गयी। अतः वर्तमान समय के परिप्रेक्ष्य में जनगणना के आंकड़ों का महत्व केवल भूतकालिक अध्ययन का रह गया है, पर उससे जाति व्यवस्था के अध्ययन में कोई अन्तर नहीं पड़ा है और उसमें अनेक रोचक तथ्य भी प्रस्फुटित होते हैं।

में काश्मीर पर अफगानों का आधिपत्य स्थापित हो गया जो सन 1819 ईसवी (67 वर्ष) तक रहा फिर सन 1820 ईसवी से 1846 ईसवी तक (26 वर्ष) सिक्खों का अधिकार रहा। सन 1846 ईसवी में डोगरा वंश का राज्य स्थापित हुआ जो सन 1948 ईसवी (102 वर्ष) तक रहा और सन 1948 से काश्मीर भारतीय गणतंत्र की एक इकाई बन गया।

स्वतंत्रता के पश्चात कांग्रेस संसदीय दल के काश्मीर अध्ययन मण्डल के संयोजक एवं मंत्री डा0 रघुनाथ सिंह जिन्हों ने राजतरंगिणी का हिन्दी में अनुवाद भी किया है एक बार जब सोनमर्ग मार्ग से जा रहे थे तो मार्ग में एक स्थान पर पानी पीने के लिये रुके। उस समय बर्फ से बचने के लिये गूजर लोग अपने पशुओं के साथ पहाड़ से नीचे उतर रहे थे। उन्हें पहाड़ से नीचे उतरता हुए एक वृद्ध गूजर मिला। वे उससे बाते करने लगे। डा0 रघुनाथ सिंह के साथी उन्हें ठाकुर साहब के नाम से पुकारते थे। गूजर ने उनकी ओर देखा। वह कुछ उर्दू समझ लेता था। बोलता भी था। बात ही बात में उसने कहा हम कृष्ण जी के वंशज (चन्द्र वंशी खत्रिय) हैं। हम और कृष्ण जी गोपी की सन्तान हैं। बहुत दिन पहले काश्मीर में हम लोग आये थे। काश्मीर के ब्राह्मणों ने हमें माना नहीं। हम अलग रहे। मुसलमानों के बीच में रहने से उनसे मिल गये। कुछ हिन्दू गूजर बच गये थे। वे भी करीब 30–40 वर्ष पूर्व मुसलमान हो गये। शेख अब्दुल्ला ने हम लोगों के बीच कुछ मौलवी भेजे थे। उनसे मदद मिली। हमें किसी ने बात नहीं पूछी। हमारी जात गुजरात (गुर्जर) पंजाब और मेरठ वगैरह की तरफ है। उनमें हिन्दू भी हैं। मुसलमान भी हैं। आप ठाकुर हैं। हम लोग भी किसी समय अपने को क्षत्री (खत्री) कहते थे। अब मुसलमान हैं। ये गूजर जो पशु पालन का काम करते थे, अपनी स्त्रियों को गोपी या गोपाली पूर्व काल से कहते थे। इस घटना का उल्लेख डा0 रघुनाथ सिंह ने जोनराज कृत राजतरंगिणी के हिन्दी अनुवाद (चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी 1–1972 संस्करण) के पृष्ठ 117–118 में पाद टिप्पणी में किया है।

एक रोचक तथ्य तो यह है कि रोज़ के अनुसार (रिपोर्ट एच–भाग–1–पृष्ठ 320) पंजाब के खत्री मूल रूप से व्यापार में लगे थे, कुछ कृषि कार्य में लगे थे और कुछ बहुत उच्च स्तर के बैंकिंग के धंधों में थे तथा काफी संख्या में खत्री प्रशासनिक पदों पर भी थे। केन्द्रीय जिलों तथा पश्चिमी पर्वतीय राज्यों में इनकी संख्या अधिक थी और वे महत्वपूर्ण पदों पर भी थे किन्तु दक्षिणी जिलों एवं पश्चिम के मैदानों मे उन की संख्या कम थी। इनके साथ ही लगे दक्षिण पश्चिम क्षेत्र में अरोड़ा खत्रियों की संख्या अधिक थी जहाँ अन्य खत्री कहीं कहीं मुश्किल से ही बसे थे। दूसरा रोचक तथ्य यह है कि स्यालकोट, गुजरात और शाहपुर में खत्रियों के साथ ही साथ भाटिया खत्री भी बसे थे और मुल्तान में भाटिया खत्रियों की संख्या अधिक थी। इससे यह स्पष्ट है कि इन तीनों समुदायों के पंजाब में एक प्रकार से क्षेत्रवार गढ़ थे। रोज़ ने और कैम्पबेल ने अपने ग्रन्थ "इथनोलाजी आफ इण्डिया" में इनका अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया है। रोज़ स्वयं जनगणना अधीक्षक थे अतः उनका अध्ययन जनगणना के आंकड़ों से प्रमाणित भी है। इन अध्ययनों से कुछ अन्य रोचक तथ्य भी खत्रियों के भौगोलिक विभाजन के सम्बन्ध में उभर कर आये हैं, जो इस प्रकार हैं–

स्यालकोट की पहाड़ियों के क्षेत्र में झुकली एक मैदानी समह था तथा पठारों में डोगरी समूह था। दक्षिण–पूर्व पंजाब में दिलवालिये (दिल्ली के) और आगरे वाल (आगरा की तरफ के) नाम के दो समूह थे और इसके साथ ही उत्तर पश्चिम प्रांत के पूर्व का (जिसे बाद में उत्तर प्रदेश कहा गया) एक पूर्विया समूह था। इस पश्चिमी प्रांत के लोग पूर्व की तरफ के लोगों को किंचित व्यंग्य से पूर्विया कहते थे और अपने से नीचा समझते थे। बरेली से ले कर कलकत्ता तक के क्षेत्र के खत्रियों को व्यंग्य में पूर्विया ही कहा जाता था इस लिये वे पूर्विया (पूर्वार्ध) कहलाने लगे और बरेली से पश्चिम सीमा प्रांत तक के सभी खत्री पश्चिमार्ध या पच्छैयें (पश्चिम वाले) कहलाने लगे। इन्हीं में बारी, ढाई घर, चार घर, चार जाति, खोखरान, पंजाबी, सरीन, आदि समूह थे जिनमें से कुछ आपस में ही विवाह संबंध करते थे और कुछ नहीं करते थे। खत्रियों के प्रायः समस्त ज्ञात अल्ल कपूर, मेहरोत्रा, टण्डन आदि इन सभी के अंतर्गत आ जाते हैं।

इस अध्ययन से सबसे बड़ा रोचक तथ्य यह उभरा है कि पंजाब के शाहपुर, पेशावर, रावलपिंडी और स्यालकोट जिले में बुंजाही (52 जाति) समूह का बाहुल्य था। उसके बाद शाहपुर तथा पेशावर में चार जाति आते थे। रावलपिंडी में भसीन मुख्य रूप से बसे हुए थे और शाहपुर में मलहोत्रा खत्रियों का बहुमत था। शाहपुर, रावलपिंडी और स्यालकोट में खोखरान प्रमुख थे तो शाहपुर, पेशावर और रावलपिंडी में कपूर भी प्रमुखता से पाये जाते थे। खन्ना शाहपुर और रावलपिंडी में ही विशेष रूप से बसे हुए थे। इन विशेष क्षेत्रों में एक उपजाति ही क्यों विशेष रूप से बसी और वही उनका विशेष निवास स्थान किन कारणों से हुआ, यह अध्ययन का एक रोचक विषय हो सकता है। इस विषय में गनेश दास ने अपनी 'चार जाति' पुस्तक में तथा पंडित हरीश चन्द्र शास्त्री देहलवी ने

तत्कालीन खत्री पंजाब का रोचक अध्ययन प्रस्तुत किया था पर उस पर किसी ने आगे अधिक शोध कार्य नहीं किया पर डा0 बैजनाथ पुरी ने अपनी पुस्तक 'दि खत्रीज –ए सोशियो हिस्टारिक स्टडी' के अध्याय पाँच–"उन्नीसवीं सदी तथा उसके बाद के खत्री" में इस पर काफी प्रकाश डाला है।

एक अन्य बात महत्व की यह दिखायी देती है कि पंजाब स्टेट गजेटियरों के अनुसार पटियाला, जींद, नाभा आदि रियासतों में खत्री यद्यपि व्यापार में मुख्य रूप से थे लेकिन राजकीय प्रशासन सेवाओं में भी काफी थे। कुछ खत्रिय जमीनों के मालिक तो थे पर स्वयं खेती नहीं करते थे। साहनी, महकन, नचपाल, टन्नान, पुरी, फंदी, बधवार, दुग्गल, धवन (बुंजाही खत्री) आदि खत्रियों की प्रमुख उपजातियाँ थीं। अनेक सोढ़ी एवं खोसला खत्रियो को सिख गुरुओं के वंशज होने के कारण मुआफी की जमीनें मिली हुई थीं। अकेले पटियाला में ही करीब 18,138 खत्री थे। खत्री इतिहासों में अभी तक इनका कोई विस्तृत अध्ययन नहीं मिलता क्योंकि इस दिशा में मोतीलाल सेठ (ए ब्रीफ इथनोलाजिकल सर्वे आफ खत्रीज–आगरा 1905) तथा मुन्शी श्रवण लाल टंडन (क्षत्रिय प्रकाश–कलकत्ता–1895) एवं गणेश दास "चारबाग", 'अर्ली नाइनटीन्थ सेन्चुरी पंजाब अमृतसर–1975" के अलावा किसी अन्य ने कोई विशेष कार्य नहीं किया।

उत्तर प्रदेश के खत्री

उत्तर प्रदेश को पहले संयुक्त प्राप्त आगरा व अवध कहा जाता था। विभिन्न परिस्थितियों तथा कारणों के फलस्वरूप विभिन्न समयों में खत्रियों के जो वंश पंजाब से चल कर दिल्ली या आगरे तथा उसके आस पास में बस गये उनके रीति रिवाज भी इन स्थानों के रहने वालों से थोड़ा बहुत मेल खाने लगे तथा उन में और अपने पूर्व स्थान के निवासियों के रीति रिवाज में थोड़ा बहुत अन्तर पड़ने लगा। आस पास का प्रभाव, चरित्र, रुचि, रीति रिवाज का असर पड़ना तो अत्यन्त स्वभाविक है। इससे कुछ समय के बाद पंजाब के निवासी खत्रियों तथा आगरा और दिल्ली आदि के खत्रियों के रहन सहन तथा बोल चाल में कुछ भिन्नता आ गयी और यह सब भिन्न भिन्न से लगने लगे। स्थान के आधार पर इसी से ये दिलवाली खत्री तथा आगरे वालें खत्री कहलाने लगे। इनका पता स्पष्ट रूप से उन नये रिवाजों द्वारा चल जाता था जो उन्हों ने इन स्थानों पर आ कर अपनाये थे और पंजाब के मूल रिवाजों से भिन्न अथवा परिवर्तित रूप में थे। इसी समय से पंजाब के रहने वाले पंजाबी खत्री कहलाने लगे और कई सदियों से पंजाब से आ कर पूर्व में बसने वालों के वंशज पूर्विये कहलाने लगे। जब स्थान का ठप्पा रिवाजों की थोड़ी भिन्नता के कारण लगने लगा तो लाहौरिया, सरहिंदिया खत्री भी अपने निवास स्थान के कारण ही पहचाने जाने लगे। इसी प्रकार गुजरात में रहने वाले गुजराती तथा ब्रह्मखत्रिय कहलाये। फिर गुरु गोविन्द सिंह के सिख मत को मानने वाले (शिष्य–सिक्ख) सिखरा खत्री कहलाये।

इसी से उत्तर प्रदेश के पूर्विये खत्री तथा पंजाब के पछैयें खत्रियों में भिन्नता आ गयी और विवाहादि सम्बन्ध भी कम होने लगे। इसका कारण स्पष्ट ही यह था कि समस्त खत्री यद्यपि एक ही कुल के हैं और सभी के पूर्वज या पुरखे पंजाब के ही आदि निवासी हैं पर विभिन्न पेशों को अपनाने, विभिन्न स्थानों में बसने तथा अन्य विभिन्न कारणों से अलग अलग लगते हैं। अपने पुरातन सम्बन्धियों से इतनी दूर हो जाने के कारण तथा उनसे बहुत काल तक कोई सम्बन्ध न रह जाने के कारण धीरे धीरे ये सब इतने अलग होते गये कि एक शाखा दूसरी शाखा से विवाहादि सम्बन्ध करने में कतराने लगी (एक समय तो मेहरोत्रा, कपूर, खन्ना, सेठ और टण्डन ही आपस में सीमित हो गये)। कुछ शाखाओं जैसे भाटिया, अरोड़ा तथा सूद आदि को स्वयं खत्री लोगों ने ही खत्री मानने से भी इनकार कर दिया। यद्यपि वास्तव में ये अल्लें खत्री ही थीं। वैसे कुछ अन्य अल्लें भी हैं, जैसे चम्बा राज्य में कांगड़ा घाटी की रहने वाली ढाई घर खत्री जाति भी अपने को खत्री कहती है और कुछ लोग जैसे सरदार बहादुर अमी चन्द उन्हें खत्री मानते भी रहे, पर वास्तविकता जानने के लिये अप्रत्यक्ष प्रमाणों का ही सहारा लेना पड़ता है। धीरे धीरे खत्री जाति एक समय में निम्नलिखित विभागों मे विभाजित हो गयी–

1. (अ) पूर्विया या पवाधे या पूर्वार्धे।
   (आ) पछहियाँ या पछादे या पचाधे या पश्चिमार्धे। इनके अन्तर्गत–
   (1) दिलवालिये (2) लाहौरिया चौजाति (3) आगरेवाल चौजाति (4) पंज जाति (5) छः जाति (6) बारह जाति (7) बावन जाति या बावनजाता, बावन जाई या बनजाई कलां (8) बहुजाति या बनजाई या बनजाई खुर्द–ये सब सगे खत्रिय कहलाते हैं।[1]
2. (1) बड़े सरीन (2) छोटे सरीन
3. खुखरान खत्री
4. गुजराती या ब्रह्मखत्री
5. सिखरा या सिखड़ा खत्री
6. पेशावरिया खत्री
7. भारत वर्ष के बाहर रहने वाले या बाहरियाँ खत्री
8.* रोड़ा अरोड़ा या अरोड़ा वंशी
9.* भाटिया खत्री
10.* सूद खत्री
11.* चम्बा के ढाई घर खत्री
12. दक्षिण भारत के खत्री

सन 1936 के लखनऊ के अखिल भारतीय खत्री महासभा सम्मेलन में इन

1. खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 255 एवं एथनोलाजी पृष्ठ–181
*क्रम सं0 8 से 11 के खत्री पहले खत्री जमात में स्वीकार नहीं किये गये थे पर बाद में स्वीकार किये गये।–खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 256

सभी को खत्री जाति का अंग मान लिया गया था पर दक्षिण भारत के सम्बन्ध में कोई विशेष अध्ययन न होने के कारण उस पर कोई कार्यवाही नहीं हुई थी। प्रस्ताव पास कर लेना अलग बात है और उसे व्यवहारिक रूप देना दूसरी। अखिल भारतीय खत्री महासभा के प्रस्ताव के बावजूद काफी समय तक उसे व्यवहारिक रूप नहीं दिया जा सका परन्तु भारत के विभाजन के फलस्वरूप भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा पंजाब आदि से जो लाखों खत्री पूर्वी तथा अन्य प्रदेशों में आये और उनका स्थानीय निवासियों से जो सम्पर्क पुनः स्थापित होने लगा उसने वह कार्य कर दिखाया जो पिछली कई शताब्दियाँ नहीं कर सकी थीं। यह निवास सम्बन्धी कृत्रिम विभाजन स्वयं ही बदलने लगे और विवाहादि सम्बन्धी पुरानी रूढ़ियाँ और मान्यतायें, रिवाजों की जटिलतायें, सब धीरे–धीरे नष्ट होने लगीं और आज स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी है कि मात्र खत्री जाति का होना ही विवाह सम्बन्ध के लिये पर्याप्त माना जाने लगा है और सभी वर्गों के सम्बन्ध आपस में होने लगे हैं यद्यपि अब भी प्रायः रीति रिवाजों की भिन्नता, परिचय का दायरा तथा अनेक पारिवारिक कारणों से अपनी ही बिरादरी से सम्बन्ध अधिक पसंद किया जाता है, परन्तु अन्य बिरादरी से सम्बन्ध न करने की आपत्ति पूर्णतया समाप्त हो गयी है। इस विषय की वर्तमान स्थिति तो उत्साही वर्ग के शोध का विषय है पर अब स्थिति यह है कि उत्तर प्रदेश में ऐसा कोई भी वर्ग या विभाजन से सम्बन्धित दल नहीं है जो यहाँ निवास न करता हो और निवास की यह निकटता ही सम्पूर्ण खत्री जाति के एकीकरण के नये समीकरण बनाने लगी है। परन्तु यह स्थिति भारत के स्वतंत्र होने पर 15 अगस्त, 1947 के बाद से उत्पन्न हुई है। उसके पूर्व उत्तर प्रदेश में सन 1872 के जनसंख्या आंकड़ों के अनुसार खत्रियों की निम्नलिखित स्थिति थी:

1.	मेरठ डिवीजन	8,248
2.	रोहेलखण्ड	6,862
3.	झाँसी	1,597
4.	आगरा	17,500
5.	इलाहाबाद	22,583
6.	बनारस डिवीजन	24,880
7.	कुमायूँ डिवीजन	8,133
8.	अवध डिवीजन	13,374 (1869 की अवध की जनगंणना के अनुसार)
	योग	1,03,177

अवध की जनगणना रिपोर्ट (1869) में चार खत्री ताल्लुकेदारों का भी जिक्र है जिनकी बड़ी बड़ी जमींदारियाँ थीं। इनमें मौरावाँ के सेठ खत्री ताल्लुकेदारों का भी जिक्र है जिन्हें प्रिवी कौंसिल के निर्णय के आधार पर अंग्रेजों ने ताल्लुकेदार स्वीकार किया था। इन ताल्लुकेदारों की सूची स्वयं अंग्रेजों ने सन 1857 के गदर के बाद सन 1859 ईसवीं में एक सर्कुलर जारी कर के तैयार की थी। इस जनगणना में भी खत्रियों को ऊँची जाति का माना गया था। एच0एम0 इलियट ने अपनी पुस्तक 'दि रेसेज आफ नार्थ वेस्ट प्राविंसेज आफ

इण्डिया' में उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों में सन 1865 में विद्यमान संख्या भी दी है जिससे यह पता चलता है कि उस समय खत्री प्रायः सभी जिलों में कम या अधिक संख्या में विद्यमान थे किन्तु कानपुर में उनकी संख्या अधिक (8,457) थी। सहारनपुर में खत्री अधिकतर मुलतान और पेशावर से आ कर लगभग 1500 ईसवी में बसे थे तथा आगरे में बसे खत्री प्रायः दिल्ली से आये थे। एक हजार से अधिक की खत्री जनसंख्या वाले जिले मेरठ, सहारनपुर, अलीगढ़, मथुरा, आगरा, फर्रूखाबाद, कानपुर (2,548), बनारस (3,814), गोरखपुर, लखनऊ (2,891) [1] सीतापुर तथा फैजाबाद थे। देहरादून, बुलंदशहर, इटावा, बांदा, मिर्जापुर, खीरी, बहराइच, बाराबंकी, जिलों में खत्रियों की संख्या 500 से 1,000 के बीच थी और मैनपुरी, एटा, फतेहपुर, जालौन, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया, आजमगढ़, नैनीताल, उन्नाव, रायबरेली, गोण्डा, सुलतानपुर, रामपुर, में खत्रियों की संख्या 500 से कम थी तथा हमीरपुर, बस्ती, प्रतापगढ़, अल्मोड़ा, गढ़वाल, तथा टिहरी गढ़वाल में 100 से भी कम खत्री थे।

रिपोर्ट में कानपुर में खत्रियों की समृद्धता, नरवल आदि स्थानों में उनकी जमींदारी तथा कुछ प्रमुख खत्रियों (जिनमें गया प्रसाद खत्री [2] प्रमुख थे, जिनके नाम से पुस्तकालय आज तक चलता है) के नाम भी दिये गये हैं। इसी तरह इलाहाबाद के गप्पू मल कन्हैया लाल खत्री का बैंकिंग व्यवसाय पर एकाधिकार, वस्त्र व्यापारियों, करेन्सी व्यापार के एकाधिकारी मनोहर दास खत्री आदि का हवाला है तथा खत्रियों द्वारा हंडिया एवं सिराथू, तथा फूलपुर में बड़ी जमींदारियों तथा सीतापुर जिले के बिसवाँ परगने में सेठ ताल्लुकेदार (कोटरा) तथा उन्नाव जिले के मौरावाँ के सेठ ताल्लुकेदारों का भी विवरण दिया है। उसमे यह भी लिखा है कि सेठ राम चन्द्र के पुत्र जीवन दास दिल्ली से आये और उन्हें 137 गाँव जागीर में मिले थे। उनके पुत्र दीना नाथ को नवाब वजीर ने नाज़िम नियुक्त किया था। लखनऊ तथा बनारस दोनों जगह खत्रियों की बड़ी बड़ी जमींदारियाँ थीं और वे व्यापार में भी अत्यंत समृद्ध थे। अलीगढ़ में केवल अतरौली में ही खत्रियों की 7,000 एकड़ की जमींदारी थी तथा कपास का व्यापार भी मुख्य रूप से खत्रियों के हाथों में था।

---

1. लखनऊ में सन 1916, 1936, 1952 तथा 1980 में अखिल भारतीय खत्री महासभा के अधिवेशन हुए। सन 1927 में लखनऊ खत्री उपकारिणी सभा की स्थापना हुई तथा नवम्बर, 1936 में खत्री हितैषी पत्रिका प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई।

2. खत्री लाला गया प्रसाद कपूर ने सन 1857 के विद्रोह के पश्चात लाखों रुपया पैदा किया। आप ने अपनी मृत्यु से तीन दिन पूर्व अपने वसीयतनामे द्वारा केवल थोड़ी सी सम्पत्ति अपनी विधवा पत्नी, विधवा पुत्र वधू, अपनी बहन व उसके पुत्रों, अपने अहलकारों तथा छोटे बड़े कर्मचारियों को देने के पश्चात शेष सम्पत्ति को लोक हितैषी कार्यों हेतु दे दिया। उन्हों ने "छोटेलाल गया प्रसाद ट्रस्ट" की स्थापना की जिसमें मूल धन को सुरक्षित छोड़ कर केवल ट्रस्ट को होने वाली आमदनी को ही व्यय करने की व्यवस्था है। इस ट्रस्ट ने कानपुर में दो धर्मशालायें "छोटेलाल–गया प्रसाद धर्मशाला" व "बेनी माधव धर्मशाला" बनवाईं, अनेक कालेजों को दान दिया, कुएं बनवायें, बच्चों को वजीफे, पुस्तकें, परीक्षा शुल्क आदि प्रदान किये, सरसैया घाट पर पार्क व टट्टियां बनवाईं तथा "गया प्रसाद लाइफ सेविंग फण्ड" की स्थापना की तथा पुस्तकालय स्थापित किया।

इतिहास में इस तथ्य के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि एक समय अफगानिस्तान में भी काफी खत्री थे जिन्हों ने परिस्थतिवश अफगानिस्तान छोड़ा और पंजाब में आ कर बसे और वहाँ से फिर उत्तर प्रदेश में आये तथा शेरशाह सूरी के समय में भी काफी खत्री लखनऊ में आ बसे। लखनऊ के खत्रियों की एक विशेषता यह भी रही कि नवाबी जमाने में वे अवध की रियासत में अनेक प्रमुख शासकीय पदों पर भी छाये रहे जहाँ उनका वर्चस्व अवध के प्रथम नवाब सआदत खां 'बुरहान–उल–मुल्क' के समय से ही प्रारम्भ हुआ था। अवध के प्रथम नवाब सआदत खां बुरहान–उल–मुल्क ने आत्माराम खत्री को अपना दीवान नियुक्त किया, जिनके वंशज बाद में भी दीवान के पदों पर नियुक्त होते रहे। नवाब आसफउद्दौला के जमाने में उनका घोड़ों के विक्रय, शाल, सर्राफी, वस्त्र व्यवसाय, महाजनी आदि व्यवसायों तथा जमींदारी आदि में भी प्रधान्य हो गया था तथा लखनऊ के चौक में पुराना बजाजा लगभग पूर्णतया उन्हीं के अधिकार में था किन्तु उनकी प्रमुख शक्ति अवध की दीवानी में ही थी जहाँ उनके प्रतिस्पर्धी केवल कुछ कायस्थ परिवार ही थे। प्रारम्भ में तो लगभग 100 वर्ष तक आत्माराम खत्री का ही परिवार अवध की दीवानी पर छाया रहा और उनके पुत्र राजा राम नरायन तथा उनके पुत्र राजा महानरायन भी दीवान रहे तथा अवध के वित्तीय प्रबन्ध के जिम्मेदार रहे। शुजाउद्दौला के समय इसी परिवार के सूरत सिंह दीवान हुए पर उन्हों ने अपने दामाद राजा जगन्नाथ के पक्ष में दीवानी छोड़ दी। सूरत सिंह को यद्यपि नायब के उच्च पद का आमन्त्रण मिला पर अपने दीवान के प्रभावशाली पद को छोड़ कर नायब का उच्च पद उन्हों ने स्वीकार नहीं किया। [1]

---

1. राम आत्माराम पंजाब निवासी महथा खत्री थे। इन के तीन पुत्र राय हर नरायण, राय प्रताप नरायण (प्रताप सिंह) और राजा राम नारायन थे। इनमें राय हर नारायण तथा राजा राम नरायन वकीलुल सलतनत और फिर नवाब सफदरजंग के दीवान हुए। राजा राम नारायन के दो पुत्र राजा महानरायन नवाब शुजाउद्यौला की बक्सर की लड़ाई (सन 1764 ईसवीं) से पहले और राजा हर नरायण नवाब शुजाउद्यौला के समय में वकीलुल सलतनत थे। राय हर नारायण के पुत्र महाराजा लक्ष्मी नारायण अवध के प्रसिद्ध दीवान थे एवं अपनी अपूर्व बुद्धि तथा युद्ध में विलक्षण वीरत्व के लिये प्रसिद्ध थे। राय हर नारायण के दूसरे पुत्र राय शिव नारायण एवं तीसरे राय जगत नरायन खत्रिय थे।

राय प्रताप नरायण (प्रताप सिंह) नवाब सफदरजंग के निजी कार्यो के मैनेजर थे तथा सैय्यद गुलाम अली खान एवं एस0 नकवी की पुस्तक "इमाद–उस–सयादत' के अनुसार इनके पुत्र शिव नरायन भी उच्च पदाधिकारी थे और इसी परिवार के महाराजा लक्ष्मी नरायन भी नवाब सफदरजंग के दीवान रहे।

इन खत्रियों के इन प्रमुख पदो पर नियुक्त होने का मुख्य कारण यह था कि अवध के प्रथम नवाब सआदत खां 'बुरहान–उल–मुल्क' ने शिया होने के कारण अन्य मुसलमानो के बजाय शिया मुसलमानों तथा हिन्दुओं पर निर्भर करना राजनीतिक दृष्टि से उचित समझा था क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से उसके सामने अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिये और कोई विकल्प ही न था। इसी लिये उसने आगरा में

सत्ता और शक्ति के मद का ही यह प्रभाव था कि बाद के अनेक खत्री इन सत्ताधारी पदों के लोभ में धर्म परिवर्तन कर मुसलमान भी हो गये। लखनऊ इतिहास की एक स्थानीय विशेषज्ञ परवीन ताल्हा के अनुसार ऐसे ही एक धर्मान्तरित खत्री तफ़ज्जुल हुसेन को तत्कालीन अंग्रेज कम्पनी सरकार ने आसफउद्दौला के नायब का डिप्टी बना कर जबरदस्ती बिठाया था। एक अन्य धर्म परिवर्तित खत्री तहसीन अली खां की अकबरी दरवाजे के पास बनवायी गयी शानदार बड़ी मस्जिद, इमामबाड़े तथा सराय आज भी प्रसिद्ध हैं तथा सराय तहसीन एवं तहसीन गंज मुहल्ले उन्हीं के नाम से आबाद हैं। इन्हें आसफउद्दौला के पुत्र वज़ीर अली की शिक्षा के लिये जिम्मेदार अधिकारी के रूप में नियुक्त किया गया था।

गजीउद्दीन हैदर के समय में लखनऊ का एक पुराना खत्री खानदान उरई लाल का भी था जो 'बक्कालों का घराना' कहलाता था। इसी खानदान के एक शासक जगन्नाथ भी थे जो एक तवायफ बेगा जान पर इतने फिदा हुए कि वे अपना धर्म ही परिवर्तित कर शिया मुसलमान हो गये ओर उनका नाम गुलाम रज़ा खान हो गया। अवध दरबार से उन्हें शरफुद्दौला का खिताब मिला और साथ ही राज्य की दीवानी भी। यह अत्यंत कुशल शासक थे। इनका एक चित्र लखनऊ के शाहनजफ मकबरे में रखा है। इनके कोई संतान नहीं थी पर अपना सारा जीवन ये धार्मिक कार्यों में बिताते रहे। मोहर्रम के दौरान ताजियादारी भी ये बड़े उत्साह से करते थे तथा इन्हों ने ही लखनऊ का प्रसिद्ध काज़मैन करबला भी बनवाया। इन्हीं उरई लाल खत्री के खानदान की एक हिन्दू लड़की जो शरफुद्दौला की भी रिश्तेदार थी, धर्मान्तरण कर के मुसलमान हो गयी और उसकी शादी अवध के नवाब गाज़ीउद्दीन हैदर के साथ हुई तथा उसे मुमताज़ महल (मुमताज महलशानी) का खिताब मिला। लखनऊ के गोलागंज में उसकी ड्योढ़ी थी जहाँ वह शाही शानो-शौकत के साथ रहा करती थी पर बादशाह गाज़ीउद्दीन हैदर की मृत्यु के बाद शाहनजफ इमामबाड़े के पीछे एक मकान में रहने लगी। सन 1896 में उसकी मृत्यु होने पर उसे शाहनजफ में ही बादशाह

नीलकान्त नागर को अपना नायब बनाया था और आत्माराम (महथा) खत्री को अवध में अपना दीवान नियुक्त किया था तथा राजा लक्ष्मी नरायन खत्री को दिल्ली दरबार में अपना प्रतिनिधि वकील नियुक्त किया था। उसी की फौज में कालिका प्रसाद (टंडन) खत्री भी थे जो उसके साथ ही दिल्ली से लखनऊ आ कर यहीं बस गये और उनके वंशजों ने सर्राफी, महाजनी व्यवसाय अपना कर अपनी बड़ी जमींदारी भी स्थापित की। इन्हीं नवाबों के अनुरोध पर आचार्य नरेन्द्र देव (वर्मा) खत्री के पूर्वज भी लाहौर से आ कर फैजाबाद में बसे थे और उन्हों ने अनेक नवाबी भवनों का निर्माण किया। इस प्रकार अवध में सन 1720 से अवध के प्रथम नवाब सआदत खां 'बुरहान-उल-मुल्क' के समय से उच्च राजनीतिक पदों पर दीवान आत्माराम (महथा) खत्री की नियुक्ति से जो परम्परा चली वह सन 1857 ईसवी में अवध के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह के पुत्र बिरजिस क़दर के समय राजा प्रभुदयाल खत्री तक कायम रही और अवध के राजनैतिक पटल पर खत्रियों का वर्चस्व बना रहा।

गाज़ीउद्दीन हैदर के मकबरे के बगल में ही दफनाया गया। वहीं उक्त बादशाह की इस हिन्दू बेगम के अलावा एक सुन्नी तथा एक ईसाई बेगम की कब्र भी है।

मुमताज महल की गोलागंज की ड्योढ़ी में बाद में प्रेम प्रिंटिंग प्रेस खुल गया तथा शाहनजफ के पीछे उसका मकान बटलर रोड बनने पर गिरा दिया गया।

परवीन ताल्हा के अनुसार नवाब गाजीउद्दीन हैदर के जमाने में एक अन्य धर्म परिवर्तित खत्री आग़ा मीर उनके नायब थे और स्वयं नवाब से भी अधिक समृद्ध एवं रईस समझे जाते थे। उनकी हवेली तथा सराय ही आज ड्योढ़ी आगा मीर और आग़ा मीर की सराय कही जाती है और वहीं आज उत्तर पूर्व रेलवे का लखनऊ सिटी स्टेशन बना है।

अवध के अंतिम नवाब के समय तक राजा प्रभु दयाल खत्री भी नवाब की सेवा में वरिष्ठ अधिकारी थे जो वाजिद अली शाह के मटिया बुर्ज़ चले जाने के बाद भी उनकी सेवा में बने रहे। नवाब वाजिद अली शाह के अपदस्थ हो जाने के बाद सन 1857 में तथा उसके बाद बेगम हजरत महल का साथ देने वालों में राजा प्रभु दयाल खत्री भी एक थे जिसकी सजा अंग्रेजों के हाथों उन्हें भुगतनी पड़ी। अमीनाबाद क्षेत्र में उनकी कोठी आज भी राजा प्रभु दयाल की बगिया कही जाती है।

यह सब विवरण उत्तर प्रदेश के खत्रियों के विस्तार, व्यापारिक एवं व्यवसायिक समृद्धि तथा उच्च पदों पर उनकी प्रशासनिक क्षमता से संबंधित है लेकिन वे कहाँ से आ कर यहाँ बसे इसका विवरण केवल अलग-अलग परिवारों के आधार पर ही है, सामूहिक रूप से नहीं। अनुमान यह लगाया गया है कि व्यापार के कारण ही खत्री यहाँ आ कर बसे। बुलंदशहर में एक राय माधोराम खत्री को सिंधिया की सेवा में रहते हुए सन 1196 फसली में अहमदगढ़ तथा पास के गाँवों की जागीर का परवाना मिला तो वे यहाँ बस गये। इटावा में एक मोटामल खत्री इसी तरह करीब चार सौ वर्ष पूर्व आ बसे।

इस विषय में फैजाबाद के संबंध में लिखते हुए अवध गजेटियर (1877-78) में इस जिले के अकबरपुर नगर के संबंध में लिखा गया है कि इसका नाम पहले सिंझौली था जो भरों के मुखिया सोझावल रावत के नाम पर पड़ा था (उसी ने सोझावलगढ़ का किला बनवाया था)। अकबर के समय में यहाँ बाजार बना और उसी के नाम पर सिंझौली का नाम बदल कर अकबरपुर (अब अम्बेडकर नगर) रखा गया। गजेटियर में भरों के बाद हुए यहाँ के 24 प्रभावशाली जमींदारों का जिक्र किया गया है जिनमें अरब, ईरान, आदि से आ कर बसे 12 मुसलमान थे तथा 12 हिंदू जमींदार थे। गजेटियर में इन मुसलमान जमींदारों का तो विस्तृत विवरण दिया है पर हिन्दू जमींदारों में अकबरपुर के चौधरी (मेहरोत्रा) खत्री जमींदारों के संबंध में इतना ही लिखा गया है कि ये बाहर से आ कर यहाँ बसे थे।[1] इस विषय में उक्त जमींदार परिवार के चौधरी ह्रदय नरायन मेहरोत्रा का

1.अवध गजेटियर-बी.पी. कारनेगी कमिश्नर द्वारा लिखित अकबरपुर सिंझौली-पृष्ठ 14

अपने पारिवारिक रिकार्ड के आधार पर यह कहना था कि उनके पूर्वज लाहौर से आ कर अकबरपुर में बसे थे। उनके पूर्वजों में चौधरी विश्वनाथ प्रसाद के पूर्वज बादशाह की सेना के अधिकारी थे। अकबर के शासनकाल में जौनपुर व आजमगढ़ के प्रशासनिक अधिकारियों ने राज्य का कर देना बन्द कर दिया था अतः दिल्ली शासन की तरफ से चौधरी साहब के पूर्वज अपनी फौज की टुकड़ी ले कर इन अधिकारियों के विद्रोह को दबाने के लिये भेजे गये। वहाँ से सफलतापूर्वक विद्रोह को दबा कर वे लोग अकबरपुर (अब अम्बेडकर नगर) के पास तमसा नदी के किनारे सुरम्य स्थान पर आ कर रुके, किन्तु उनका मन वहीं लग गया और उन्हों ने बादशाह से वहीं रहने की अनुमति प्रदान करने का आग्रह किया जिसे बादशाह ने स्वीकार कर अकबरपुर का इलाका उन्हें जागीर में दे दिया। आज भी अकबरपुर के मुहल्ले शहजादपुर, मुरादाबाद, शाहजहाँपुर उसी सामन्तशाही की यादगार हैं तथा इस नगर के शहजादपुर मुहल्ले में इस परिवार द्वारा बनवाये गये और अब उन्हीं की उपेक्षा का शिकार राम जानकी मंदिर एवं नानकशाही संगत अपनी जीर्ण शीर्ण अवस्था में भी अपने विशाल आकार और बड़े बड़े शहरों के प्रांगण एवं परिसर को भी मात करते हुए उनके अतीत के वैभव की कहानी कह रहे हैं।

इस चौधरी परिवार के अकबरपुर में बसने के पश्चात उनके पुरोहित होने के कारण उनके सारस्वत पुरोहित स्वर्गीय डाक्टर गणेश कृष्ण जैतली (विधायक) के पूर्वजों का परिवार भी उनके साथ ही यहाँ आ कर बस गया और वे दोनों परिवार वहाँ आज तक आबाद हैं। अतः इस विषय में अग्रेतर जानकारी बादशाह अकबर के फरमान एवं चौधरी परिवार के एवं उनके पुरोहित के पारिवारिक रिकार्ड के आधार पर ही संभव है। इस विषय में हुमायूँ तथा अकबर द्वारा जारी किये गये फरमान आजमगढ़ के दारूल–मुसानीफीन में सुरक्षित रखे हैं जिनमें अकबर द्वारा टोडरमल टंडन को वाराणसी में प्रदान की गयी जागीर का फरमान भी है। अतः इस परिवार को प्रदान की गयी जागीर का फरमान भी फरमानों के उक्त संग्रह में उपलब्ध हो सकता है।

इस विषय में डब्लू0 क्रुक्स ने ''ट्राइब्स ऐण्ड' कास्ट्स आफ दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंस ऐंड अवध' (कलकत्ता 1896) में परशुराम के प्रकोप तथा अलाउद्दीन खिलजी के समय में खत्रियों के सेना से हटाये जाने के समय के सन्दर्भ से कुछ रोचक अध्ययन प्रस्तुत किया तथा चार घर, ढाई घर, विधवा विवाह की योजना, खत्रियों का शुद्ध क्षत्रिय होने का दावा आदि का विवरण देते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि अपने शारीरिक गठन, रूप रंग तथा परम्परा के अनुसार खत्री ही आर्य परम्परा के सच्चे प्रतिनिधि हैं और उन्हों ने व्यवसाय बाद में प्रारम्भ किया। उनके विभिन्न अल्लों का आन्तरिक विभाजन भी उसने अलाउद्दीन खिलजी के समय का ही माना है। उसने नाहर चन्द, खान चन्द और कपूर चन्द खत्रियों का भी जिक्र किया है जो राजपूत रानियों की सुरक्षा के कार्य में नियुक्त होने पर अन्य खत्रियों के समाज से अलग हो गये थे और अकबर के ही समय में जाति

से एक प्रकार से बहिष्कृत होने के कारण अपने ही कुलों में विवाह सम्बन्ध करने को मजबूर हो गये थे। इस प्रकार के अध्ययन तथ्यात्मकता की दृष्टि से रोचक तो हैं पर इनसे उनके प्राचीन इतिहास एवं पूर्वजों की परम्परा पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इस विषय पर किसी विशिष्ट शोध का भारतीय ग्रन्थ नहीं प्रतीत होता अतः उत्तर प्रदेश के खत्रियों का पूर्विया वर्ग पंजाब के मूल खत्रियों का ही समय समय पर यहाँ आ बसा वर्ग ही सिद्ध होता है।

पच्छैयें और पूर्विये खत्रियों में अंतर

जैसा कि श्री रिजले ने कहा है–''भारत के ऊपरी भाग के पच्छैयें खत्री पूर्विया खत्रियों को इस कारण से कुछ व्यंग्य के साथ संबोधित करते थे कि उन्हों ने खत्री समाज के उच्च स्तरीय आचार–विचार, रीति रिवाज एवं व्यवहार को छोड़ दिया है और खत्रियों के उच्च स्तर से गिर गये हैं यद्यपि बंगाल के पूर्विया खत्री अपना मूल पंजाब में ही बताते है '' [1] पूर्विये और पच्छइये खत्रियों में यह अंतर विचारों में ही नही, व्यवहार में भी प्रगट होता था। सगे खत्रिय होते हुए भी पच्छइयों द्वारा प्रायः अपने को श्रेष्ठ या ऊँचा समझने की भावना पूर्विये खत्रियों के तिरस्कार का भी कारण बनती थी। इसी से पच्छैये खत्रियों में प्रायः अपने घर की कन्याओं को विवाह के पूर्व ही नहीं, बाद में भी अधिक सम्मान दिया जाता था और बहुओं को घर की लक्ष्मी का तो सम्मान मिलता ही न था, उसके मायके वालों को भी समधी पक्ष से उचित सम्मान न मिलता था बल्कि हर प्रकार से उनका शोषण किया व अपमानित किया जाता था जब कि पूर्विये खत्रियों में इसके विपरीत घर की बहू को ही पूर्ण सम्मान मिलता था तथा उनकी कन्यायें भी गृह के सदस्य के रूप में ही सम्मान की पात्र होती थीं तथा बहू के मायके वालों को भी पूर्ण सम्मान प्रदान किया जाता था। इस अंतर के कारण ही विवाह संबंधी लेन–देन के तथा अन्य अनेक नये नये रीति रिवाज भी विकसित हुए जिनमें कन्या पक्ष वालों से जबरदस्ती भांति भांति के अनेक नेग जैसे दूध की धोती (माँ के पुत्र को दूध पिलाने की कीमत) लेना, बुस्सा या सोग छोड़ना, जिसमें कन्या के घर बारात पहुँचने पर कन्या पक्ष वालों से बारात पक्ष की उन औरतों का सोग छोड़ने का नजराना लिया जाता था जिनका कोई रिश्तेदार मर गया हो और उसके सोग के कृत्य खत्म न हुए हों। (इस नजराने में सुहागिनों के लिये गाढ़े की धोती, मिठाई, तेल, चूड़े का जोड़ा या उनके एवज़ में नकद रुपया तथा विधवाओं के लिये धोती और चादर ली जाती थी। यह रसम मुख्यतया लाहौरिये खत्रियों की थी।) इसी प्रकार स्यापे की रस्म ही 'लाहौरी स्यापा' के नाम से मशहूर हो गयी थी जिसमें अत्यंत दूर के रिश्तेदारों को भी नज़दीक का मान कर उनकी मृत्यु पर लम्बे समय तक सोग (शोक) मनाया जाता था। विवाह में औरतों द्वारा गंदी सिठनियां खुले आम देना तथा इसी प्रकार की अनेक ऐसी बुरी रस्में और रिवाज हैं जिन्हें दूर करने की बहस उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में छिड़ी और अनेक शहरों में खत्री सभायें, सरीन सभा लाहौर व होशियारपुर, खोखरान सभा लखनऊ, बिरादरी बुंजाही लाहौर शमेलियान

1. ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ बंगाल–एच.एच. रिजले–पृष्ठ 482

खत्रियान, कायम हुईं जिन्हों ने अपनी अपनी खत्री बिरादरी में फैली बुराइयों को दूर करने की लम्बी मुहिम छेड़ी। तत्कालीन समय की खत्री समाज की पत्रिकायें जैसे आर्यावर्त–कलकत्ता, खत्री समाचार–मिर्जापुर, खत्री गज़ट–लाहौर, खत्री हितकारी–आगरा, रिसालाये सूद–लाहौर आदि ऐसी मुहिम के लेखों से भरी पड़ी हैं।

ऐसा भी नहीं है कि उपरोक्त बुरी रस्में केवल पच्छैये या पूर्विये खत्रियों में ही विकसित हुई हों। वास्तविकता तो यह है कि पच्छइयों के क्षेत्र में भी हजारों, लाखों पूर्विये और उसी प्रकार पूर्वियों के क्षेत्र में हजारों, लाखों पच्छइये, पहले से भी मौजूद थे और आज भी मौजूद हैं और उनमे संबंध भी होते रहे हैं। बुराई या अच्छाई किसी विशेष स्थान का दावा नहीं करती बल्कि व्यक्ति या समाज से संबंध रखती है। अतः 'जैसा देश वैसा भेष' की कहावत चरितार्थ करते हुए जहाँ आश्रय मिलता है, वहीं व्याप्त हो जाती है। पूर्विये और पच्छइये ही क्या, सभी समाजों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के लोग पाये जाते हैं। अतः जिस प्रकार खत्री समाज में ढाई, चार, बारह, बावन जाई, बहु जाति मर्यादा स्थापित हो कर ऊँच नीच की आधारहीन भावना बनी, उसी प्रकार पच्छैयों–पूर्वियों के बीच श्रेष्ठता की भावना का भी कोई ठोस आधार नहीं है। किसी भी वर्ग के खत्री से पूछिये, कोई भी अपने को दूसरे से नीचा नहीं मानता। अतः इसका निर्णय कैसे हो सकता है कि कौन सा वर्ग श्रेष्ठ है या ऊँचा है, फिर भी व्यक्तिगत अहं या अहंकार की भावना मनुष्य मात्र में सर्वत्र व्याप्त है। उसी के कारण प्रत्येक मनुष्य एवं प्राणी अपनी देह का अभिमान रखता हैं। ब्रह्मा ने जिस समय प्रजापतियों (मानस पुत्रों) की सृष्टि की उस समय दक्ष प्रजापति की सृष्टि जान बूझ कर अंत में (नवें मानस पुत्र के रूप में) की जब कि प्रजापतियों में अपनी श्रेष्ठता के कारण दक्ष प्रजापति सृष्टि में प्राथमिकता अपना अधिकार समझते थे। यही श्रेष्ठता का अहंकार उन्हें प्रतीक्षा ही कराता रह गया और उनका नंबर सबसे अन्त में आया। अपनी सृष्टि हो जाने पर जब उन्हों ने ब्रह्मा जी से इसका कारण पूछा तो उन्हों ने हंसते हुए उन्हें अन्य प्रजापतियों का नियामक श्रेष्ठ प्रजापति बना दिया तथा उन्हें सृष्टि रचना करने के लिये प्रेरित करने को कहा। इन्हीं दक्ष की स्त्री–सहवास रूप मिथुन धर्म द्वारा उत्पन्न संतानों से प्राणिमात्र का विकास हुआ जिनमें देह श्रेष्ठता का अभिमान जन्मजात रूप से विद्यमान हो गया और सारे संसार के हर वर्ग में यही स्थिति समान रूप से पायी जाती है। अगर किसी प्राणी को अपनी देह का अभिमान न हो तो उसकी अपनी देह से लगाव की भावना ही खत्म हो जाती है और इससे सृष्टिकर्ता का सृष्टि रचना का प्रयोजन ही भंग होता है। इसी लिये जब तक मनुष्य में अपनी देह का अभिमान रहता है तब तक उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। ऐसी श्रेष्ठता की भ्रांतियाँ (prejudices) मनुष्य मात्र में सर्वत्र समान रूप से व्याप्त रहती हैं और प्रत्येक व्यक्ति दूसरे को अपनी अपेक्षा तुच्छ समझता है। इस भावना को, मनुष्य की कारणभूत जन्मजात भावना होने के कारण, कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता। उत्पन्न होते रहना और नष्ट होते रहना इसकी प्रकृति है। इसका विवरण अन्यत्र भी इसी पुस्तक में अजमेर के खत्री मुरलीधर सेठ के उल्लिखित लेख में किया गया है।

बंगाल (बिहार और उड़ीसा) के खत्री

पिछली उन्नीसवीं शताब्दी में बिहार एवं उड़ीसा का शासन अंग्रेजों द्वारा बंगाल (कलकत्ता) से ही होता था अतः बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा को बंगाल के ही अंतर्गत माना जाता था। बिहार और उड़ीसा को एक अलग प्रांत के रूप में सन 1911 में अलग किया गया अतः रिजले ने 'ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ बंगाल' नामक जो पुस्तक लिखी उसमें इन तीनों प्रांतों की जातियों पर भौगोलिक रूप से एक साथ विचार किया। रिजले का कहना है (पृष्ठ–482) कि बंगाल के खत्री अपना मूल पंजाब में ही बताते हैं और यह कहा जाता है कि अधिकांश खत्री औरंगजेब के समय में लाहौर से आ कर यहाँ बसे। भारत के ऊपरी भाग के पच्छैयाँ खत्री इन पूर्वी भाग के या पूर्विया खत्रियों को इस कारण से कुछ व्यंग्य के साथ सम्बोधित करते हैं कि इन्हों ने खत्री समाज के उच्च स्तरीय आचार, विचार, रीति रिवाज एवं व्यवहार को छोड़ दिया है और खत्रियों के उच्च स्तर से गिर गये हैं, यद्यपि बंगाल के अधिकांश खत्री पंजाब के खत्रियों की ही पारम्परिक प्रथाओं तथा व्यवहारों का पूर्ण रूप से पालन करने का प्रयास करते हैं। वे आज भी पंजाब को अपना मूल निवास स्थान मानते हैं और सिद्धांततः उन्हीं की सामाजिक तथा घरेलू प्रथाओं को अपनाये हुए हैं। अधिकतर खत्री वैष्णव हैं किन्तु उन में शाक्त भी बहुत हैं। पूर्व बंगाल में अधिकतर खत्रियों में चंडिका के ही एक रूप दुर्गा को कुल देवी माना जाता है यद्यपि हर एक गोत्र के अपने अपने अलग कुल देवता हैं। इस संबंध में एक बात तो यह कही जाती है कि जब मुगल फौज के साथ राजा मान सिंह ने ढाका पर कब्जा किया तो उनके साथ बहुत से खत्री भी आये थे जो वहीं बस गये। सन 1881 में ढाका में 2800 खत्री रह रहे थे। उन्हों ने ढाकेश्वरी के नाम से एक मंदिर में दुर्गा की मूर्ति भी देखे जाने का उल्लेख किया है। इस मंदिर की आय का कुछ भाग कुछ पुराने खत्री परिवारों तथा रमना अखाड़ा के ब्रह्मचारी महन्तों के बीच बंटता था। बंगाल के खत्री प्रायः कोई न कोई व्यापार करते थे। कुछ जमींदार थे और कुछ जमीनों के मालिक भी थे पर खुद स्वयं कभी हल नहीं चलाते थे, बल्कि मजदूरों से खेती कराते थे। उन्हों ने रंड या रंडक खत्रियों का भी जिक्र किया है।

यह भ्रम श्री एच.एच. रिजले का था कि पैकपाड़ा और बर्मीहाट के निकटवर्ती ग्रामों के निवासी खत्रिय नीच हैं क्योंकि सारस्वत ब्राह्मण उनके पुरोहित नहीं हैं ओर वे अपनी नसल राजा मान सिंह से बताते हैं तथा बंगाल में बहुत नीचे समझे जाते हैं, अतः खत्रिय नीच हैं।

पैकपाड़ा और बर्मीहाट के रहने वाले और बंगाल की स्थानीय भाषा में अपने को खत्रिय कहने वाले लोग, जो अपने को राजा मान सिंह की नसल से बताते हैं व उनके साथी हैं, वे राजपूत हो सकते हैं क्योंकि राजा मान सिंह राजपूत थे और जयपुर के निवासी थे। इतिहासों में उन्हें अकबर बादशाह का साला लिखा है किन्तु 'टाड–राजस्थान' में फूफा लिखा है। यह अकबर बादशाह के साथी थे इस लिये उनकी नसल के लोग व साथी खत्रिय नहीं हो सकते। राजपूत व खत्रिय दो भिन्न जाति हैं। पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने भी 'जाति भास्कर' पृष्ठ 204 में कहा है कि– "कभी किसी काल मे राजपूत और खत्रियों में संबंध न

था।" राजपूत और खत्रियों का आपस में एक दूसरे से कोई सम्बन्ध ही नहीं है और प्रत्येक का सम्बन्ध व आदान–प्रदान आपस में ही होता है। पैकपाड़ा व बर्मीहाट वाली खत्रिय कहलाने वाली जाति से भी अन्य खत्रियों का कोई सम्बन्ध ही नहीं है तथा मुगलों से सम्बन्ध करने के कारण महाराणा प्रताप तथा अन्य अनेक राजपूतों ने भी राजा मान सिंह का साथ नहीं दिया था और उन्हें त्याग दिया था अतः उनकी नसल के लोग खत्रिय नहीं हो सकते। जनगणना में यदि कोई भी कहार, कुर्मी या अन्य जाति अपने को राजपूत खत्री, क्षत्रिय या ब्राह्मण लिखा दे तो उसमें खत्रियों का दोष नहीं हो सकता और न इससे वह राजपूत, खत्रिय या ब्राह्मण हो जायेगा और न इससे कभी यह साबित होता है कि खत्रिय नीच हैं या राजपूत, खत्रिय या ब्राह्मण की नसल खराब है। एक जनगणना में तो एक चमार ने भी अपने को राजपूत लिखाया था पर बाद में बात खुल गयी।[1] अतः इन रंड अथवा रंडक खत्रियों को खत्रिय ही नहीं माना गया है। खत्रियों का इनसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है।

बिहार राज्य

लाहौर के कोटपुतली मोहल्ले के खत्रिय लाला संगम राय व्यापार के निमित्त लाहौर से चल कर बिहार के बर्दवान के निकट बैकुंठपुर में आ बसे तो उनकी संतति वहीं रहने लगी। उनके पुत्र बाबू बंकू बिहारी लाल तथा पौत्र बाबू राय बर्दवान आये। इन आबू राय कपूर को मुगल बादशाह ने सन् 1657 या 1068 हिजरी में पहले चकला बर्दवान का चौधरी, फिर कोतवाल बनाया। सन् 1696 में एक शोभा सिंह ने विद्रोह किया और बर्दवान के खत्री चकलेदार को मार डाला किंतु बदले में उसकी हत्या वैध राजकुमारी ने कर दी। इन के पुत्र बाबू राय के समय से यह वंश बर्दवान में ही आ गया। इन के पुत्र बाबू घनश्याम राय रियासत के मालिक हुए और उनके पुत्र बाबू कृष्णराम राय को बादशाह औरंगजेब ने सन् 1107 हिजरी में फरमान प्रदान किया। इन्हों ने ही कृष्ण सागर भी बनवाया। सन् 1696 में कृष्ण राम राय की मृत्यु के बाद जगतराम राय मालिक हुए पर सन् 1702 ईसवीं में मारे गये। तब कीर्तिचन्द राय (1720–40) उनके राज्य के उत्तराधिकारी हुए और मुहम्मदशाह ने इन्हें फरमान दिया। इन्हों ने चन्द्रकोना और वर्द्धा (मिदनापुर में) के राजाओं को पराजित कर उनका राज्य अपने राज्य में मिला लिया। सन् 1740 में इनकी मृत्यु हो गयी। तब इनके पुत्र चित्र सेन राय ने गद्दी संभाल कर अपना राज्य बढ़ाया ओर मुहम्मदशाह ने उन्हें सन् 1741 ईसवी में राजा की उपाधि दी, तब से ये लोग राजा कहलाने लगे।

सन् 1744 में राजा चित्रसेन राय की निस्संतान रह कर मृत्यु होने के कारण उनके चचेरे भाई त्रिलोकचन्द (1744–1771) राजा हुए। मुहम्मदशाह ने इन्हें राजा की उपाधि और राज्य का अधिकारी करार दिया। शाहआलम बादशाह ने राजा बहादुर की उपाधि दी और 4,000 घुड़सवार और 2,000 पैदल सिपाहियों

1. खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद– पृष्ठ 384–386 तथा 395

का मालिक बनाया। फिर उसी ने 1181 हिजरी में उन्हें महाराजाधिराज की उपाधि दी और पंजहजारी सैनिकों का सेनापति बनाया। सन् 1771 ईसवी में उनकी मृत्यु के पश्चात महाराजाधिराज तेजचन्द्र बहादुर उत्तराधिकारी हुए। इनके 8 विवाह हुए, पर एक पत्नी नानकी देवी के पूर्व किसी पत्नी के संतान न हुई। उनकी अन्य पत्नी कमल कुमारी देवी ने अपने भाई के पुत्र चुन्नी लाल कपूर को गोद लिया जिनका नाम महाराज माहताब चन्द्र बहादुर रखा गया। इनके भी दो विवाह हुए पर कोई पुत्र सन्तान न होने से इन्हों ने एक वंश गोपाल नन्दे खत्री के पुत्र को गोद लिया। जिनका नाम आफताब चन्द्र बहादुर पड़ा। इन्हीं को आफताब चन्द्र माहताब बहादुर भी कहते है और इन्हीं को लार्ड बेन्टिक ने सन् 1833 ईसवी में माहराजाधिराज बहादुर की उपधि दी। बर्दवान नरेश को सन 1881 मे राजाधिराज की उपाधि मिली। सन् 1885 में इनकी मृत्यु हो गयी। संतान न होने के कारण इनकी विधवा महारानी विनो देवी (पुत्री बाबू लक्ष्मी नरायन खन्ना) ने बाबू बन बिहारी कपूर के पुत्र विजय बिहारी कपूर को गोद लिया और तब इनका नाम विजय चंद माहताब बहादुर पड़ा। इन्हीं को अंग्रेजों ने K.C.S.I., K.C.I.E. का खिताब दिया। महाराज के नाबालिग अवस्था तक राज्य की देखभाल बन बिहारी कपूर ही करते रहे तथा सन् 1901 की जनगणना के समय खत्रिय जाति को निम्न श्रेणी में रखने के विवाद के समय इन्हीं को खत्री कान्फ्रेन्स बरेली का अध्यक्ष बनाया गया था और इन्हीं के प्रयत्नों से खत्रियों को क्षत्रिय की श्रेणी में रखा गया था। सन् 1905 में विजय चन्द बहादुर को गद्दी मिली। आप सन् 1939 में लखनऊ भी आये थे जहाँ 30 नवम्बर, 1939 को आप को मान–पत्र भेंट किया गया था।

यही बर्दमान नरेश बंगाल में खत्री जाति के मुखिया समझे जाते थे और इन्हीं के कारण खत्रियों को वहाँ के समाज में उच्च वर्ग के रूप में मान्यता प्राप्त थी तथा समस्त ब्राह्मण खत्रियों के हाथ का पानी पीते थे। सन् 1872 में बर्दवान में खत्रियों की संख्या 13,000 थी। उसके बाद मुजफ्फरपुर तथा दरभंगा सहित तिरहुत में खत्रियों की जनसंख्या 4,675 थी। सन् 1881 में बर्दवान में 5,237, तिरुहत में 10,618, पटना में 1,538, नदिया में 597 तथा दिनाजपुर में 18,934 खत्री थे और बांकुरा, मिदनापुर, हुगली–हावड़ा, रंगपुर, बोगरा, पटना, ढाका (2,769), मैमनसिंह और गया में भी काफी खत्री थे। रिजले ने यह भी जिक्र किया है कि ढाका के पैकापाड़ा के खत्री अपने को रंड अथवा रंडक खत्री भी कहते थे किंतु इन सबसे यही पता चलता है कि बर्दवान राज्य के इतिहास के साथ ही बंगाल में खत्रियों का आना शुरू हुआ।

बिहार में खत्रियों के प्रमुख गढ़ मुज्फ्फरपुर, दरभंगा (जो तिरुहत डिवीजन कहलाता है), भागलपुर, पटना, हजारीबाग, छोटा नागपुर, रहे हैं। यहाँ खत्रियों के प्रायः दो ही दल हैं, एक तो वह जो जमींदार आदि रहे हैं और यही पंजाब से आये प्रतीत होते है जो किसी न किसी प्रशासकीय कारण से आये थे। हो सकता है कुछ सफल व्यापारियों ने यहाँ आ कर जमीनें खरीद ली हों और जमींदार बन गये हों। दूसरा व्यापारी वर्ग है।[1]

उड़ीसा राज्य

उड़ीसा में खत्रियों की स्थिति दूसरों से ऊँची क्षत्रिय जाति की ही रही है। यहाँ कटक (7,000–सन् 1891 में) और पुरी (2010–सन् 1911 में) काफी खत्री रहे हैं तथा पुरी में अत्यंत ऊँची श्रेणी के कई खत्री परिवार रहते रहे हैं। इन्हीं में पुरी के राजा भी हैं जो उड़ीसा के अंतिम राजा के प्रत्यक्ष वंशज हैं और जगन्नाथ पुरी मंदिर के ट्रस्टी हैं। सामान्य रूप से इन्हीं को ठाकुर राजा कहा जाता है। अन्य स्थानों में खत्रियों की स्थिति राजपूतों से बेहतर है और उन्हें अन्य लोगो से अधिक सम्मान प्राप्त है। बिहार के बर्दवान माहताब परिवार के खत्री हरे कृष्ण महताब इस प्रदेश के मुख्यमंत्री के अलावा स्वतंत्रता संग्राम सेनानी भी थे।

बंगाल राज्य

इतिहासों में तथा अनेक शिलालेखों के हवाले से पूर्वी बंगाल के सेन वंशी क्षत्रिय राजाओं का भी उल्लेख मिलता हैं। इस विषय में किये गये अन्वेषण से बल्लाल सेन नामक दो पुरुषों का पता चला है जिनमें से एक चन्द्र वंशी क्षत्रिय और दूसरे वैद्य जाति के पाये गये हैं। वैद्य जाति वाले बल्लाल सेन एक भारी जमींदार थे और दूसरे राजा थे जो बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बंगाल में आ कर गंगा तट पर रहने लगे थे। यह दक्षिण के राजा थे। इनके समय में बौद्ध धर्म का ह्रास और वैदिक धर्म का प्रचार हुआ था। शिलालेखों तथा दानपत्रों के आधार पर इन्हें चन्द्र वंशी क्षत्रिय बताया गया है। उसी शिलालेख के आधार पर इन्हें ब्रह्म क्षत्रिय भी बताया गया है। ब्रह्म क्षत्रिय तो खत्रिय हैं ही और सोम वंश भी ठीक है। वही आज कल कपूर या कर्पूर कहा जाता है। राय बहादुर पंडित गौरी शंकर ओझा (टाड राजस्थान) का कहना है कि पाल वंशियों के बाद बंगाल में जिन राजाओं का राज्य हुआ वे सभी अपने को चन्द्र वंशी क्षत्रिय मानते थे और ब्रह्म क्षत्रिय थे। 'सारस्वत खत्रिय सेवक' में एक बार अन्वेषण कर के किसी ने इन्हें बोहरे खत्रिय भी लिखा था। इस वंश में सामन्त सेन (दक्षिण के राजा वीर सेन के वंशज) हेमन्त सेन, विजय सेन, बल्लाल सेन, लक्ष्मण सेन, माधव सेन, केशव सेन विश्वरूप से हुए। इन्ही विश्वरूप सेन को यवनों ने विजेता की पदवी भी दी थी। सेन शब्द से बंगाल की वैद्य जाति को समझना भूल है क्योंकि बल्लभीपुर के राजपूत राजवंशियों के नाम में भी सेन शब्द है जैसे ध्रुवसेन, गुहसेन, धरसेन आदि (टाड राजस्थान)।

सामन्त सेन के नाम का शिलालेख बंगाल के राजशाही जिले के देवपारा ग्राम में प्राप्त हुआ था। उस में सामन्त सेन का उल्लेख ब्रह्म क्षत्रिय वर्ग के

1. बाल कृष्ण प्रसाद ने अपने खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 275–276) में बर्दवान के खत्रिय विभाग की वंश तालिका दी है जिसमें ढाई घर, पंजा जाति, छः जाति, बारह जाति, बावन जाई, खोखरान, सिरपन वाले, तिरपन जाई आदि अल्ल के खत्रिय हैं।

सैनिकों के नायक के रूप में है जिसने करनाट के शत्रुओं को पराजित किया था। हेम सेन उसका पुत्र था जिसने महारानी यशोदेवी से विवाह किया था। उसी का पुत्र था विजय सेन जिसने दिव्य, नन्यराधव, वीर और गौड़, कामरूप तथा कलिंग के राजाओं को हराया। कर्नाटक के शत्रुओं के वृतांत से तो यह प्रगट होता है कि वास्तव में ब्रह्म क्षत्रिय कर्नाटक से आये थे। दूसरा शिलालेख बंगाल के पवना जिले के मधाई नगर में प्राप्त हुआ था। इसमें कर्नाटक के राजा वीर सेन, सामन्त सेन, जो करनाट क्षत्रियों के राजा थे, के वंश के सम्बन्ध में वृत्तान्त दिया है। इसी में हेमन्त सेन, विजय सेन, उनके लड़के भट्ट सेन का वृत्तान्त है जिसने चालुक्यवंश की रामदेवी से विवाह किया था और कहा गया है कि उसके पुत्र लक्ष्मण सेन ने, जिसे ब्रह्म क्षत्रियों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया, कलिंग पर आक्रमण किया, काशी के राजा को हराया और कामरूप को वश में किया। अतः इन ब्रह्म क्षत्रियों का उल्लेख बंगाल के अतिरिक्त दक्षिण में रामनाड जिले की ओर तथा गुजरात में भी मिलता है। अतः हो सकता है कि ब्रह्म क्षत्रियों की ही कोई साहसिक शाखा पंजाब से आ कर गुजरात में बसी और वहाँ से दक्षिण तथा पूर्व बंगाल में जा कर एक सुरक्षित स्थान में बस गयी हो। ब्रह्म क्षत्रियों की क्षत्रिय परम्परा मनु से ही मानी गयी है और परशुराम के समय में ही इन्हें ऋषि दधीचि से ब्रह्म विद्या तथा परशुराम से शस्त्र विद्या प्राप्त होने के कारण ब्रह्म क्षत्रिय की पदवी धारण करने की आज्ञा मिली बतायी जाती है। कोई कोई मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के पुत्र धाष्ट्र के क्षत्रिय कुल में जन्म ले कर भी ब्रह्मत्व पा कर ब्रह्म क्षत्रिय के नाम से प्रसिद्ध होने से इनको उन्हीं की शाखा का वंशज मानते है। एक अन्य मत के अनुसार चन्द्र वंशी ययाति के पांचवे पुत्र पुरुहत से ले कर क्षेमक तक का जो कीर्तिमान पुरु वंश है उसमें कई ब्राह्मण राजर्षि हुए, इसी लिये उनकी संतान ब्रह्म क्षत्रिय हुई, ऐसी भी मान्यता है। कुछ का कहना है कि बौद्धों के आतंक और शंकराचार्य की पुनर्जाति व्यवस्था से बचने के लिये और यवन काल में रक्त शुद्धता की रक्षा के लिये दक्षिण भारत और गुजरात में जा कर बसने वाले क्षत्रिय (खत्रिय) ही ब्रह्म क्षत्रिय हैं और इन्हों ने मुसलमानों की दक्षिण विजय के उपरान्त वर्णसंकर जातियों से अपने रक्त की रक्षा के लिये ही अपने को ब्रह्म क्षत्रिय घोषित कर दिया था। वैसे भी उत्तर भारत के खत्रियों और ब्रह्म क्षत्रियों (खत्रियों) में बहुत कम भेद है, पर यह ऐसा विषय है जिसके बारे में विस्तृत शोध से ही कुछ और जाना जा सकता है और पूर्वी बंगाल के ब्रह्म क्षत्रियों से उनकी कड़ी जोड़ी जा सकती है।

पुरानी बम्बई प्रेसीडेंसी के खत्री

अंग्रेजों ने बम्बई प्रेसीडेंसी के जो गजेटियर तैयार किये थे उसमें भी जनगणना को ही आधार बना कर खत्रियों का विवरण दिया गया था। इसमें कुछ ऐसे खत्रियों का उल्लेख है जिनकी आदतें, रीति रिवाज, भाषा तथा व्यवसाय

1. खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद– पृष्ठ 180–182

आदि उत्तर भारत के खत्रियों से मिलते जुलते हैं पर वे अपने नामों के साथ उन अल्लों का प्रयोग नहीं करते, पर अपने को खत्री ही कहते हैं। गजेटियरों में कई जिलों में इनकी तथा कहीं कहीं ब्रह्म क्षत्रियों की भी मौजूदगी बतायी गयी है, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

1. कोलाबा के खत्री

इनकी उपस्थिति केवल अलीबाग में दर्ज की गयी। ये अपने को खत्रिय बतलाते हैं और कहते हैं कि पहले वे रेशम के जुलाहों के रूप में चायल में बसे थे पर प्लेग की महामारी के कारण रेवसंड में आ कर बस गये। बाद में ज्यादातर लोग अलीबाग लौट आये। छोटा कद, छोटी आँखें तथा गोरे रंग वाले ये खत्री मराठी बोलते हैं और मराठी ब्राह्मणों जैसी पोशाक भी पहनते थे। पहले वे रेशम के कपड़े बुनते व रंगते थे तथा सोने चाँदी व रेशमी गोटे का काम करते थे। उनके प्रत्येक घर में एक या दो काम चलाऊ करघे होते थे पर उनकी जीविका उस पर निर्भर न थी। इनके पुरोहित ब्राह्मण होते हैं और उनकी प्रिय कुल देवी आशापुरी, महालक्ष्मी और भवानी तथा देवता खंडोबा होते हैं। इनके सामाजिक विवादों का निबटारा उनका मुखिया मुकादम करता है। सामान्य रूप से वे सम्पन्न हैं।

2. थाना जिले के खत्री

इनकी उपस्थिति मरवाह, सेलसत्ती, भिवंडी, पनवेल और कल्याण में दर्ज की गयी जहाँ इनकी संख्या मात्र **41** थी। इनके अल्ल टकले, रोडा, मंगला, कोलवी थे तथा यह भी कोलाबा के खत्रियों की तरह मराठी बोलते थे एवं शाकाहारी थे। सोने चाँदी के गोटे तथा रेशमी पिताम्बर आदि बनाना इनका पेशा था। वे गहने तथा वस्त्रों की गिरवी गांठी का भी काम करते थे और जनेऊ भी पहनते थे। इनमें विधवा विवाह प्रथा नहीं थी और बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करने पर जाति से बाहर कर देते थे। थाने में उनके निवास स्थान को खत्री बाड़ा कहते थे। (बम्बई गजेटियर खण्ड–**14** पृष्ठ **346**)

3. अहमद नगर के खत्री

ये अपना मूल निवास मालवा की पुरानी राजधानी मान डोगरा में बताते हैं और कहते है कि परशुराम के खत्रिय संहार के समय उनकी देवी ने उन्हें जुलाहे का काम करने का परामर्श दिया था। इनके सामान्य नाम आली सा, बाला सा, बापु सा व दामु सा, गोविन्ददास, मानसखा, नरायन सा, रामु सा, विष्णु सा तथा औरतों में दुर्गा, गंगा, गोपिका और राधा होते हैं। पुरुष अपने नाम के साथ 'सावन जी' (मुखिया) तथा औरतें 'बाई' लगाती हैं। इनके अल्ल बाजी, बखरा, बेरगावकर, छिंगी, खांडे, खम्बे, खानपुरे, खेरुलकर, मगाजी, परार, पंचांग आदि हैं। एक ही अल्ल वाले आपस में विवाह नहीं करते। इनमें ब्रह्म क्षत्रिय, कपूर खत्रिय और सहस्वजुन खत्रिय तीन उप भेद हैं और वे एक दूसरे के साथ न तो

खाते पीते और न आपस में विवाह करते हैं। अहमदनगर में इनमें से ज्यादातर ब्रह्म क्षत्रिय हैं। सामान्य रूप से इनका रंग ढंकता हुआ पर कद काठी मजबूत है तथा भाषा मिली जुली मराठी तथा गुजराती है। ये शाकाहारी हैं पर अत्यन्त धार्मिक भी हैं तथा श्रावण एवं आश्विन के **9** सप्ताहों में मांस–मदिरा से परहेज करते हैं। उस जमाने में ये लोग धोती, अंगरखा और कोट तथा साफा जूता अथवा चप्पल पहनते थे। स्वभाव से यह साथ सुथरे, विनम्र, ईमानदार, परिश्रमी तथा कुछ फिजूलखर्च कहे जाते थे। इनमें से सम्पन्न लोग जुलाहे और महाजन दोनों थे। सभी मराठा खत्रियों का स्थान ब्राह्मणों के बाद ही है। इनके प्रत्येक घर में देवी की पूजा विशेष रूप से की जाती है और उस पर प्रति दिन फूल चढ़ाया जाता एवं चंदन का लेप किया जाता है। इनके पुरोहित खत्री भाट कहलाते है जो उनकी ही जाति के होते हैं और वे ही जन्म, जनेऊ, विवाह तथा मृत्यु आदि संस्कार कराते हैं। ये बनारस, जेजुणी, पुणे तथा शोलापुर की तीर्थ यात्रा करते रहे हैं और गांव के भी देवी देवताओं की पूजा करते हैं। इनकी अपनी बिरादरी की जाति पंचायत अलग है जिसके मुखिया या चौधरी का पुश्तैनी कार्यालय औरंगाबाद में है। वही इनके सामाजिक विवादों का निबटारा करती है।

4. पूना जिले के खत्री

जनगणना में पूना जिले के खत्रियों की संख्या **460** पायी गयी थी। इनकी परम्परा भी यही कहती है कि परशुराम द्वारा क्षत्रिय वध के कारण देवी ने उन्हें खत्रिय नाम धारण करने तथा जुलाहे का काम करने का परामर्श दिया था। ये कब पूना में आ कर बसे, इसका पता नहीं है। इनमें सोम वंशी, सुरती तथा सूर्य वंशी तीन दल हैं जिनका खान पान अथवा विवाह सम्बन्ध एक दूसरे से नहीं है। इनमें सोम वंशी अपने को चौहान, गोपाल, झारे, खोडे, खोसन्डर, पोवार और बहनेखर लिखते हैं। इनके प्रमुख गोत्र भरद्वाज, जमदग्नि, नारद, पराशर, बाल्मीकि तथा वशिष्ठ हैं। इनमें सगोत्र विवाह नहीं होता।

5. शोलापुर के खत्री

इनकी संख्या बम्बई गजेटियर खण्ड–**20(1834)** पृष्ठ **118–119** में **1174** दर्ज की गयी थी और ये जिले के सभी स्थानों में बसे थे। ये सन **1780** के लगभग कोलाबा मे चायल से यहाँ आये थे और उन्हीं के जैसे रूप रंग के हैं। इनकी मातृभाषा तो मराठी प्रतीत होती थी पर ये कन्नड़, गुजराती और हिन्दुस्तानी की मिली जुली भाषा बोलते थे। स्त्री पुरुष दोनों मराठी ब्राह्मणों की पोशाक उस समय पहनते थे और सूती तथा रेशमी वस्त्रों को बुनने रंगने का काम करते थे तथा सोने चाँदी एवं वस्त्र का व्यापार करते थे। वे साधारण हिन्दू

देवी देवताओं की पूजा करते थे पर खंडोबा एवं रेणुका उनकी विशेष देवी थी।[1] उनके पुरोहित भी साधारण ब्राह्मण थे। इनके यहाँ 16 वर्ष से पहले यज्ञोपवीत, पुत्री का 22 वर्ष से पूर्व विवाह तथा लड़कियों का सयानी होने से पूर्व विवाह होता था। इनके सामाजिक विवादों का निबटारा भी समाज के बुजुर्ग करते थे जिसमें ब्राह्मण पुरोहित भी उपस्थित रहते थे। कोल्हापुर के छः खत्री परिवार भी इन्हीं में शामिल थे।

6. धारवार के खत्री

बम्बई गजेटियर खण्ड–24, पृष्ठ 95 के अनुसार इनकी संख्या 4,060 थी जिनमें गडग एवं करानगी के खत्री भी शामिल थे। ये भरद्वाज जमदग्नि, कश्यप,

1. **दक्षिण में परशुराम का प्रभाव**–पुराणों में परशुराम को विष्णु का अंशावतार माना गया है। जमदग्नि के पाँचवे कनिष्ठ पुत्र परशुराम थे, जो सूर्य वंशी राजा रेणु की पुत्री क्षत्रिय माता रेणुका से उत्पन्न हुए थे। ये भार्गव वंशीय थे व पश्चिम भारत में हहैय राजाओं के पुरोहित थे। इनका निवास कोंकण में ही माना जाता है। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध श्रीमन्त पेशवा भी इसी खानदानी परम्परा में होने का दावा करते हैं। अठ्ठारहों पुराणों में इन्हें विष्णु का अंशावतार माना गया है (आदि पुराण 2:3)। जमदग्नि का आश्रम नर्मदा तट पर था (बृह्माण्ड पुराण 3:23:26)। जमदग्नि एक बार रेणुका पर कुपित हो गये और उन्हों ने परशुराम से रेणुका की हत्या कर देने को कहा। परशुराम ने अविलम्ब उसका पालन किया, (महाभारत वन पर्व 116:14)। जमदग्नि प्रसन्न हुए। परशुराम की प्रार्थना पर रेणुका पुनः जीवित हो गयी। जमदग्नि ने परशुराम को इच्छा मृत्यु का वर दिया (विष्णु धर्मोत्तर पुराण 1:36:11)। परशुराम ने हैहय राजा कार्तवीर्य सहस्त्रार्जुन का युद्ध में उसके सौ पुत्रों सहित वध किया (ब्रह्माण्ड पुराण 3:39:119, महाभारत शान्ति पर्व 49:41)। क्षत्रिय हत्या के कारण जमदग्नि ने पुत्र को प्रायश्चित हेतु बारह वर्षों तक तपस्या करने की आज्ञा दी (ब्रह्माण्ड पुराण 3:44)। परशुराम जब तपस्या कर के लौटे तब उन्हें मालूम हुआ कि जब उनके पिता समाधि में थे, उस समय सहस्त्रार्जुन के वंशजों ने बदला लेने के लिये उनका वध कर दिया। जमदग्नि आश्रम में पहुँचते ही रेणुका ने इक्कीस बार छाती पीट कर पति की हत्या का वृत्तान्त कह सुनाया। तब परुशराम ने इक्कीस बार भूमि को क्षत्रिय विहीन करने की प्रतिज्ञा की और भगवान दत्तात्रेय के आदेशानुसार पिता का अन्तिम संस्कार किया। रेणुका सती हो गयीं। शोक विह्वल परशुराम ने माता–पिता को पुकारा। माता–पिता प्रत्यक्ष उपस्थित हो गये। उस स्थान का नाम 'मातृ तीर्थ' पड़ा। यह महाराष्ट्र का मशहूर स्थान है जहाँ अनेक क्षत्रिय दर्शन एवं तीर्थ यात्रा हेतु जाते हैं। गाथा है कि परशुराम ने चौदह कोटि राजाओं का संहार किया था। उन्हों ने मूर्धाभिषिक्त बारह सहस्त्र राजाओं का मस्तक छिन्न किया था। परुशराम की हत्या से केवल आठ क्षत्रिय राजा बच सके थे। वे थे हैहय वंशी राजवीति होत्र, पौरवराज रिक्षवान, अयोध्याराज सर्वकर्मन, मगधराज बृहद्रथ, अंगराज चित्ररथ, शिवीराज गोपालि, प्रतर्दन पुत्र वत्स एवं मरुत। एक अनुमान यह भी है कि परशुराम जी ने अधिकतर नर्मदा इस पार दक्षिण के क्षत्रियों का वध किया था और यह भी एक सत्य है कि दक्षिण भारत में खत्री, कोंकण, हैदराबाद व मद्रास की तरफ बहुत कम नजर आते हैं।

कात्यायन, बाल्मीकि और वशिष्ठ ऋषि से अपनी उत्पत्ति बताते हैं। घर में ये मराठी, हिन्दुस्तानी तथा कन्नड़ की मिली जुली भाषा बोलते थे और घर के बाहर कन्नड़ बोलते थे। गणपति और महादेवी इनके कुल देवता है। इनका रंग साफ, कद काठी मजबूत, लम्बे और मांसाहारी हैं तथा मदिरापान भी करते हैं। इनका मुख्य व्यवसाय सूती तथा रेशमी वस्त्र बुनना एवं रेशम रंगना है। ये धार्मिक हैं और इनके संस्कार ब्राह्मण पुरोहित कराते हैं। ये सतारा के तुत्यापार में अम्बाबई की तीर्थ यात्रा करते हैं तथा शंकराचार्य इनके आध्यात्मिक गुरू है। इनके मध्य नामकरण संस्कार होता है तथा आठ वर्षों की आयु में यज्ञोपवीत संस्कार होता है। जाति बन्धन की जड़े इनमें मजबूत हैं और जाति के नियमों का उल्लंघन करने वालों को इनमें जाति से बाहर कर दिया जाता है तथा सामाजिक विवादों का निदान समाज के बुजुर्ग करते हैं।

बम्बई प्रेसीडेन्सी के इन खत्रियों से भी यही बात सिद्ध होती है कि ये पंजाब के ही मूल खत्रियों के, प्रमुखतया चन्द्र वंशी खत्रियों के, छिटपुट दल है। जो परशुराम के भय से ही इन भागों में आ कर अपनी जाति एवं कर्म छिपा कर बस गये थे और इस प्रकार इन्हों ने अपनी जाति एवं वंश की रक्षा की थी। कालान्तर में स्थानीय प्रभाव के कारण इनकी भाषा तथा रीति रिवाजों में कुछ भिन्नता आ गयी पर इन्हों ने अपनी मूल जाति नहीं छोड़ी।

पुराने केन्द्रीय प्रान्त तथा बरार के खत्री

जाति के विषय में अंग्रेजों द्वारा लिखी पुस्तकों के कारण वर्तमान अध्ययन के लिये भी उन्हीं की पुरानी पुस्तकों का सहारा लेना अनिवार्य है और उन्हों ने इस अध्ययन के लिये जिस भौगोलिक स्थिति को आधार बनाया है वह उनकी उस समय की प्रशासनिक व्यवस्था ही है। इस लिये पुराने भौगोलिक विभाजन के ही माध्यम से स्थिति स्पष्ट हो पाती है और ऐसा ही एक विभाजन पुराने

परशुराम जयन्ती वैशाख शुक्ल तृतीया के दिन रात्रि के प्रथम प्रहर में होती है ओर इसका समारोह अधिकतर दक्षिण भारत में होता है। इस जयन्ती तिथि का विवरण भारत के प्रत्येक पंचांग में दिया रहता है।

यह शक्तिपीठ महाराष्ट्र प्रदेश के विदर्भ मराठवाड़ा सीमावर्ती नांदेड जिले की कमवट तहसील में देवमाता रेणुका का माहुरगढ़ शक्तिपीठ है। यह माहुरगढ़ माहुर गांव से डेढ़ किलोमीटर दूर है। यहाँ माता रेणुका का केवल मुख भाग ही दीखता है। उसी का पूजन एवं आराधन किया जाता है। इनका मूल स्वरूप देवमाता अदिति का ही माना जाता है। महाराष्ट्र में अनेक परिवारों की ये कुल देवी है। इस रेणुका शक्ति पीठ के संबंध में श्री पृथ्वीराज भालेराव का एक लेख 'कल्याण' मासिक के वर्ष 1987 के 'शक्ति उपासना अंक' में पृष्ठ 422–424 पर प्रकाशित है।

जहाँ तक कोंकण का प्रश्न है, महाराष्ट्र प्रदेश के पश्चिमी तट को, जो अरब सागर और सहयाद्रि पर्वतमाला के मध्य पड़ता है, कोंकण कहते है। वहाँ के निवासी ब्राह्मण कोंकणस्थ कहे जाते हैं जिन्हें चितपावन भी कहा जाता है। रत्नागिरि जिला इस अंचल का प्रसिद्ध क्षेत्र है।

केन्द्रीय प्रान्त तथा बरार का है। एच.रसेल अपने ग्रन्थ 'ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ सेन्ट्रल प्राविंसेज ऐंड बरार' में कहते हैं कि पंजाब की प्रमुख व्यापारी जाति, खत्रियों के करीब 5,000 लोग इन प्रान्तों के जिलों में आ कर बसे थे। रसेल को अपने अध्ययन में इन खत्रियों में जटिलतायें बहुत अधिक मिलीं। अतः उसने हबद्र रिजले द्वारा खत्रियों का शुद्ध क्षत्रिय होने का दावा प्रमाणों के आधार पर स्वीकार करने तथा कुक एवं नेसफील्ड द्वारा भी उसे मानने का, परशुराम के समय में क्षत्रिय संहार की घटना एवं उससे जुड़े तथ्य, खत्रियों तथा सारस्वत पुरोहितों का आपसी सम्बन्ध आदि का भी पूरा विवेचन किया तथा उनकी एक विवाह पद्धति, विधवा विवाह निषेध, तलाक को मान्यता न होना आदि विषयों का अध्ययन कर के ब्रह्म क्षत्रियों की पद्धतियों से उसकी तुलना की तथा सूरत, भड़ोच में बसे जुलाहे तथा सोने चाँदी एवं रेशमी कढ़ाई के तार खींचने वाले खत्रियों से उनकी तुलना की। उसने नीमाड़ के जुलाहों का भी अध्ययन किया तथा उन्हें गुजरात के ही ब्रह्म क्षत्रियों की शाखा माना और यह निष्कर्ष निकाला कि वे बुरहानपुर में बसे सूरत से आये खत्रियों की ही शाखा हो सकते हैं। उसे नरसिंहपुर के रंगरेज खत्री भी निमाड़ के ही जुलाहों की शाखा लगे परन्तु इस प्रान्त में इधर उधर बिखरे अन्य खत्री उसे खत्रिय जाति की ऊँची शाखाओं के ही लोग लगे और यही उसका अंतिम निष्कर्ष रहा।

गुजरात, बम्बई और केन्द्रीय प्रान्त के ब्रह्म क्षत्रिय

वैसे तो इन प्रान्तों के ब्रह्म क्षत्रियों की एक शाखा के कर्नाटक तथा पूर्वी बंगाल में भी होने के प्रमाण मिलते हैं और पूर्वी बंगाल के खत्रियों के विषय में भी इनका संदर्भ आया है पर जार्ज कैम्पबेल की 'इथनोलाजी आफ इण्डिया' (पृष्ठ 112–113) में काबुल के खत्रियों की एक विशेष जाति का भी उल्लेख आया है जो अत्यन्त युद्ध प्रिय थी और उसका किसी शासक जाति का होना संदेहरहित ही प्रतीत होता है। इन्हें पंजाब की ही तरह 'खक्का खत्री' कहा जाता था। ब्रह्म क्षत्रिय इस समय शान्तिपूर्ण व्यवसायों में लगे हैं लेकिन उनके रीति रिवाजों तथा प्रथाओं में युद्ध प्रियता की आत्मा झलकती है, ऐसा कैम्पबेल का निष्कर्ष है। सुन्दर रूप रंग, गोरी चमड़ी, नीली या भूरी आँखें, ऊँचे, लम्बे और गठीले कद वाले ये ब्रह्म क्षत्रिय गुजरात के उच्च वर्ण के हिन्दुओं की तरह ही वस्त्र पहनते एवं हिन्दुस्तानी शब्दों के साथ गुजराती बोलते हैं। उनकी परम्परा यह कहती है कि वे मूल रूप में पंजाब के ही निवासी थे ओर वहाँ से आ कर पंचमहल में चम्पानेर में बसे। जब सन 1484 में महमूद बेग ने उस पर कब्जा किया तो वे अहमदाबाद चले गये और उस स्थान पर रहने लगे जिसे आज खदिया कहते हैं। मुसलमानों के आक्रमण के कारण ही उन्हें अन्य स्थानों में जाना पड़ा। कुछ तो हैदराबाद तक दक्षिण में निकल गयें और कुछ बनारस और लखनऊ चले गये और गुजराती खत्री के नाम से जाने जाते हैं।

बम्बई प्रेसीडेंसी में ब्रह्म क्षत्रिय कैरा, पाँचमहल और पूना जिलों में मिले थे।

कैरा के ब्रह्म क्षत्रिय एक ही परिवार के थे जो नादियाबाद ताल्लुके में चौघरी हो गये थे। कुछ बाद में जीविका की खोज में बाहर निकल गये। औरंगाबाद में इन्हें ठाकुर कहा जाता था। इनके गोत्र भरद्वाज और कौशिक थे। साफ रंग के ये ब्रह्म क्षत्रिय मराठी बोलते थे, शाकाहारी थे और बैंकिंग, लेन–देन, साहूकारी, वस्त्र व्यवसाय, रेलवे की ठेकेदारी आदि का कार्य करते थे। धार्मिक वृत्ति के ये लोग नासिक से 30 मील उत्तर में सप्त स्तुंगी पहाड़ी पर महादेव एवं देवी की पूजा करते हैं। अन्य स्थानों में काठियावाड़ को छोड़ कर बाकी जगहों में ब्रह्म क्षत्रियों की अपनी कुल देवी है। काठियावाड़ में ये ब्रह्म क्षत्रिय बल्लभाचार्य पंथ के वैष्णव अनुयायी थे तथा मुख्य रूप से शिव एवं शक्ति की पूजा करते थे। इन ब्रह्म क्षत्रियों के रीति रिवाज उत्तर भारत के खत्रियों से बहुत अधिक मिलते जुलते है। इनमें भी मुंडन तथा देवकार्य (देवकाज) एवं यज्ञोपवीत संस्कार होते हैं। ए0 बेन्स ने अपने ग्रन्थ 'एंथनोलाजी (कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स)' में इनकी संख्या पेशेवार दी है जिसमें 5,85,000 व्यापारी 1,38,000 लेखक तथा 56,200 जुलाहे बताया हैं जुलाहे केवल गुजरात, बम्बई और केन्द्रीय प्रांत में ही पाये गये। बाकी सब प्रायः प्रत्येक भाग में मिले। व्यवसाय जाति का सूचक नहीं होता क्योंकि यदि ब्रह्म क्षत्रिय एक ओर जुलाहे पाये गये तो दूसरी ओर हिमाचल प्रदेश में कांगड़ा में खत्री गद्दी (भेड़ पालक) भी पाये गये और वे भी खत्री हैं।

खत्रियों की इस उप जाति ब्रह्म क्षत्रिय में आज कल धातु का काम, जौहरी का काम, लकड़ी की दस्तकारी या कपड़े और रेशम के व्यापार आदि का कार्य प्रमुख रूप से होता है। अनेक वकील, डाक्टर, अध्यापक, वैद्य आदि हैं तथा अनेक सेना में हैं या बन्दरगाह अथवा व्यापारी नगरों में बसे हुए हैं। यद्यपि निवास स्थान के परिवर्तन से इनके रहन सहन में भिन्नता आ गयी है पर इनके अधिकांश आचरण तथा रीति रिवाज ब्राह्मणों में भी मिलते हैं और कुलाचार तथा संस्कार क्षत्रिय धर्म के अनुकूल एवं खत्रियों से मिलते हैं।

विवाह के समय ब्रह्म क्षत्रिय खत्री वर तलवार या कटार धारण करते हैं और सेहरा बांधते है। विवाह के पहले कन्या वर को जयमाला पहनाती है। पुरुष लोग अन्य स्वजातीय पुरुषों को, उत्तर भारत के सम्बोधन की तरह, ठाकुर साहब कह कर संबोधन करते हैं। विवाह के अवसरों पर भी ठाकुर शब्द का प्रयोग स्त्रियों द्वारा किया जाता है। यह परम्परा क्षत्रिय जाति की होने का प्रमाण है। सारस्वत ब्राह्मणों और ब्रह्म क्षत्रियों में फलाहार और पक्की रसोई का व्यवहार है। महाराष्ट्र के अतिरिक्त अन्य स्थानों में सारस्वत ब्राह्मण जनेऊ, विवाह इत्यादि कराते हैं। महाराष्ट्र में पुरोहिताई का कार्य महाराष्ट्रीय ब्राह्मण कराते हैं परन्तु यदि किसी संस्कार में कोई सारस्वत ब्राह्मण उपस्थित हो कर कोई कार्य करता है तो महाराष्ट्रीय ब्राह्मण को पाधा (उपाध्याय) का स्थान मिलता है। साधारणतया ब्रह्म क्षत्रिय देवी के उपासक होते है। फिर भी कुछ लोग शैव, गाणपत्य, वैष्णव इत्यादि मार्गों को मानते हैं। कहीं कहीं खंडोबा, भैरव, दुर्गा भी कुल देवी या देवता हैं जिस प्रकार राजपूतों में भाट होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मभाट भी होते हैं।

ये कन्नौज में रहते हैं। कुछ काठियावाड़ प्रान्त में भी हैं। ये लोग खत्री भाटों की भांति ब्रह्म क्षत्रियों की स्तुति करते हैं।

ब्रह्म क्षत्रियों की व्युत्पत्ति

स्कन्द पुराण के हिंगुलादि खण्ड में ब्रह्म क्षत्रियों की व्युत्पत्ति कथा इस प्रकार दी है:

प्रथम आदि, आदि से जुगादि, जुगादि से अंड, अंड से वैराट, वैराट से नारायण, नारायण से नाभि, नाभि से कमल, कमल से ब्रह्मा, ब्रह्मा से मरीचि, अत्रि, अंगिरा आदि दस पुत्र हुए। इनमें मरीचि से कश्यप, कश्यप की अदिति नाम की स्त्री से विवस्वान ओर सूर्य की संज्ञा नामक स्त्री से श्रद्धदेव (मनु) पुत्र हुए। श्रद्ध देव की श्रद्धा नाम्नी स्त्री से इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करुष, नरिष्यंत, नभग, कवि नामक दस पुत्र हुए। इक्ष्वाकु के सौ पुत्र हुए। उनमें विकुक्षि, दंडकव, निमि ये तीन श्रेष्ठ थे। ये तीनों पुत्र भरत खण्ड के मध्य भाग में राज्य करते थे। शेष पुत्रों में से 25 उत्तर में और 22 दक्षिण में तथा 25 पश्चिम भाग में राजा हुए। इसी वंश में रत्नसेन नामक राजा हुआ। यह सिंधु और कच्छ देश का अधिपति था। इन रत्नसेन के पुत्र जयसेन ब्रह्म क्षत्रियों के आदि पुरुष हैं। यह राजा बहुत पराक्रमी और वेदवेत्ता था। जब परशुराम ने क्षत्रियों का संहार करना आरम्भ किया तो रत्नसेन अपनी पाँचों गर्भवती रानियों सहित दधीचि ऋषि के आश्रम में चले गये। कुछ दिन बाद पाँचों रानियों के एक एक पुत्र हुआ। पद्मिनी से विदुमान, पद्मी से विशाल, सुकुमारी से चन्द्रशाल, कुशावती से भारत और चन्द्रमुखी से जयसेन हुए। बालकों की पाँच वर्ष की अवस्था तक जयसेन ने गृहस्थाश्रम का निर्वाह किया। तत्पश्चात रत्नसेन ने दधीचि मुनि से परशुराम से युद्ध करने की आज्ञा मांगी।

एक दिन राजा दधीचि ऋषि की आज्ञा का उल्लंघन कर शिकार के लिये गये हुए थे। वे एक शिकार का पीछा कर ही रहे थे कि परशुराम आ गये और रत्नसेन का क्षत्रिय राज वेश देख कर उन पर वाण छोड़ा। वाण रत्नसेन की छाती में लगा और वे धराशायी हो गये। रानियों ने पुत्रों का पालन का भार दधीचि पर छोड़ा और आप पति के साथ सती हो गयीं।

मातृ–पितृ विहीन बालक दधीचि के आश्रम में पलने लगे। थोड़े ही दिन बाद दधीचि मुनि के दर्शन के लिये परशुराम जी उनके आश्रम में आये। वहाँ पाँच बालकों को देख कर पूछा–ये किस के बालक हैं। दधीचि मुनि ने कहा–ये ब्राह्मण पुत्र हैं, और उन्हें यज्ञोपवीत भी पहना दिया। परन्तु परशुराम ने उन पर क्षत्रियों सा तेज देख कर परीक्षा करनी चाही। दधीचि की आज्ञा से बालकों ने वेद, सांख्य, उपनिषद, इत्यादि कह सुनाये, फिर भी परशुराम की शंका न मिटी। तब मुनि ने उन बालकों के साथ भोजन किया। यद्यपि परशुराम की शंका न मिटी फिर भी उन्हों ने उन बालकों में सबसे बड़े पुत्र जयशर्मा (जयसेन) को

ब्राह्मण पुत्र मान कर ऋषि से उसे मांग लिया और उसे बारह वर्ष तक उपदेश कर शिष्य वृत्ति दी और उसे सांग धनुर्वेद की शिक्षा दी। उसकी बुद्धि से प्रसन्न हो कर उन्हों ने शंकर जी का अखण्ड धनुष भी उसे दिया।

एक दिन प्रभास पाटन क्षेत्र में परशुराम जयसेन से कहने लगे–"हे शिष्य, मैं तुम्हारी गोद में शयन करूँ, ऐसा मन होता है" और जयसेन की "जंघा का तकिया लगा कर" परशुराम सोने लगे। शिष्य को आदेश दिया कि मेरी निद्रा भंग न होने पाये इस लिये धनुष धारण कर के बैठो। जब गुरू जी सो गये तो जयसेन विचार करने लगा कि इतनी धनुर्विद्या मैने सीखी है, उसकी परीक्षा करनी चाहिये। ऐसा विचार कर उसने शिवास्त्र, वैष्णवास्त्र, ब्रह्मास्त्र तीनों धनुष पर चढ़ाये जिससे इन्द्रादिक सब देवता और सकल जगत व्याकुल हो गया।

इन्द्र मन ही मन विचार कर ही रहे थे कि नारद मुनि वहाँ आ गये। तब इन्द्र ने पूछा कि अनायास चिन्तित होने का क्या कारण हो सकता है। नारद जी ने जयसेन के विषय में सब बात कह सुनायी और कहा–कि "हे देवेश्वर! क्षत्रिय कुल में उत्पन्न, ब्राह्मण के वेश में रहने वाला परशुराम का शिष्य संसार को तृणवत समझता है। आप किस प्रकार उसे हानि पहुँचा सकते हैं।" इन्द्र ने यह सोच कर कि यदि इस क्षत्रिय कुमार का वध न हुआ तो यह त्रिलोक को दग्ध करेगा, तुरन्त भ्रमर का रूप धारण कर जयसेन की जंघा में काट लिया। दर्द के कारण जयसेन के हाथ से धनुष वाण छूट पड़ा और घाव से रुधिर की धार बह चली। रुधिर की धार कान में लगने के कारण परशुराम जी जाग पड़े और कहा कि जिसने मेरी निद्रा भंग की है, उसे मैं शाप देता हूँ। जय शर्मा, तू ब्राह्मण नहीं है। इस पर भयभीत जयसेन (जय शर्मा) ने दंडवत कर के समस्त घटना कह सुनायी और बहता हुआ रुधिर दिखलाया। यह देख कर परशुराम बोले कि तुम्हारा धैर्य और तुम्हारा उष्ण रक्त यह सिद्ध करता है कि तुम अवश्य क्षत्रिय पुत्र हो। जयसेन ने नतमस्तक हो कर निवेदन किया–"गुरुवर आप त्रिकाल–दर्शी है। आप सब जानते हे। मैं दधीचि के पास था तो ब्राह्मण आप के पास उपदेश से अब क्षत्रिय हूँ। अब आप के जो मन में आये वह करिये, मैं आपकी शरण हूँ। "जयसेन के चातुर्यपूर्ण उत्तर से परशुराम असमंजस में पड़े। वेद शास्त्र निपुण ब्राह्मण कुमार की हत्या से ब्रह्मा हत्या लगती है और न मारने से मेरी क्षत्रिय वध की प्रतिज्ञा भंग होती है। यह विचार कर उन्हों ने कहा कि–"वत्स, तेरी सेवा से मैं प्रसन्न हूँ पर प्रतिज्ञाबद्ध हूँ। फिर भी तुझे मारूँगा नहीं, परन्तु जो विद्या तुमने मेरे पास से सीखी है वह कभी पूर्ण न होगी और तुम युद्ध में किसी से सफल न होगे। तब जयसेन ने कहा "लड़ाई बिना क्षत्रिय का जीना धिक्कार है, अतः मैं शरीर त्याग करना चाहता हूँ।"

परशुराम ने शिष्य की दशा देख कर कहा कि मेरा वचन कभी झूठा नहीं हो सकता। तुम दधीचि मुनि के पास जाओ। तुम्हें मुझसे शस्त्र विद्या और दधीचि से ब्राह्म विद्या मिली है। अतः तुम्हारी संतान ब्रह्म क्षत्रिय कहलायेगी। परशुराम

के आश्रम से कातर हो कर जयसेन आ रहे थे कि मार्ग में गौतम मुनि मिले। उन्हों ने भी यही उपदेश दिया कि तुम दधीचि के आश्रम में जाओ और सब भाइयों के साथ ब्रह्म क्षत्रिय की पदवी धारण करो। जयसेन ने त्रिकालदर्शी मुनि को सब कथा कह सुनायी और उनसे अपना पुरोहित बनने का आग्रह किया। मुनि ने उत्तर दिया–क्षत्रियों का पुरोहित बनना ठीक नहीं, क्योंकि यजमान के पापों का भागी भी पुरोहित होता है। फिर भी तेरा आग्रह है तो सुन–"तू एक पुरोहित बना ले। उससे मन्त्र सिद्ध होगा। हमारे वंश का कोई भी ब्राह्मण और तुम्हारे वंश का कोई भी क्षत्रिय परस्पर यजमान और पुरोहित की तरह रहेंगे। जब भी कोई भेद रखेंगे तभी नरक के भागी होंगे। तुम्हारे वंश के ब्राह्मण–क्षत्रिय और हमारे वंश के सारस्वत ब्राह्मण में सदा पुरोहित यजमान का नाता रहेगा। तुम्हें सदा सारस्वत ब्राह्मणों के पद पूजन में तत्पर रहना होगा। यदि तेरे वंश के लोग मेरे वचनों का उल्लंघन न करें तो मैं तेरा पौरोहित्य स्वीकार करूँ।"

यह सुनकर जय सेन भी आनंदित हो कर कहने लगा–हे पालक और रक्षक पिता, मेरे वंश का कोई भी राजा तुम्हारे वंश के किसी भी पुरोहित का यदि तिरस्कार करेगा तो उसके वंश का नाश हो जायेगा। असंभव चाहे संभव हो, पर मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा। हे मुनिवर, अब मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये। मुनि ने आशीर्वाद दिया कि कल्पान्त तक मैं और मेरे वंशज तुम्हारे वंश वालों के पुरोहित होंगे। (इन दधीचि के पुत्र पिप्पलायन के बारह पुत्र थे। इनके नाम पर गौड़ ब्राह्मणों के बारह गोत्र हुए।) तब दधीचि मुनि में "ऊँ हिंगुले परम हिंगुले अमृतरूप रूपिणी, तनुशक्ति मनशिवे श्री हिंगुलाये नमः स्वाहा" (इस 32 अक्षर वाले हिंगुंला देवी के) मंत्र का उपदेश दिया और कहा कि अब तुम हिंगुला देवी की दीक्षा लो। इस आदेश के अनुसार हिंगुला देवी पाँचों भाइयों की कुल देवी हुई। थोड़े दिन बीतने पर पाँचों भाइयों की शादी मारवाड़ देश के राजा विजय सेन की पाँचों पुत्रियों से हुई। वंश की वृद्धि हुई। छप्पन देशों के राजाओं ने इन्हें अपना मांडलिक बनाया। इस प्रकार बहुत दिनों तक ब्रह्म क्षत्रियों की सार्वभौम सत्ता रही और हिंगुला देवी के आशीर्वाद से वंश वृद्धि हुई। ब्रह्म क्षत्रिय राजाओं में श्रुति सेन और विजय सेन ने मुसलमानों की सेना से युद्ध किया। क्षत्रिय राजा इस युद्ध में विजयी तो हुए पर भीषण नर संहार से इन्हें बड़ा दुःख हुआ। दोनों ने 12 वर्ष तक तपस्या की, तब देवी प्रसन्न हुई और दर्शन दिया। देवी ने कहा कि तुम नवरात्र में मेरी पूजा करना, हवन और ब्राह्मण भोजन कराना, मधु, पयस, घृतादि से मुझे संतुष्ट करना, त्रिनेत्र, चतुर्भुज का ध्यान करना। मेरे अविर्भाव के दिन शोक मत करना और विश्वकर्मा को आज्ञा दी कि परशुराम के शाप के कारण यह क्षत्रिय धनुर्विद्या में तो पारंगत नहीं हो सकते अतः इनके लिये कुछ और व्यवस्था करनी चाहिये। विश्वकर्मा ने धनुष वाण, गदा, फरसा आदि अस्त्रों का आवाहन कर के राजपुत्रों से कहा कि तुम इन शस्त्रास्त्रों से अपनी उप जीविका चला सकोगे। इन अस्त्रों की सहायता से हथियार बनाने और बेचने का काम करो।

बाद में म्लेच्छों ने इनका राज्य हरण कर लिया तब ये आशा पूर्णा देवी की शरण में गये। देवी ने विश्वकर्मा को भेज दिया। उन्हों ने इन से कहा कि तुम घोड़े, हरिण, हाथी आदि बनाओ, रत्न परीक्षा, कपड़ा, रेशम, सूत का व्यापार करो। शस्त्रों को पास रख कर राज दरबारों में नौकरी करो। घी, शक्कर, तेल आदि को छोड़ कर अन्य रसों का विक्रय करो। यह कह कर विश्वकर्मा भी अर्न्तध्यान हो गये।[1] तब से दधीचि ऋषि के वंशज सारस्वत मुनि के शिष्य ही इनके पुरोहित हैं।

विदूरथ के उपरान्त सुरथ गद्दी पर बैठे। यवनों का सामना करते हुए ब्रह्म क्षत्रिय व्यापार और कला कौशल में लगे। इस प्रकार राजा जयसेन से ब्रह्म क्षत्रिय जाति की उत्पत्ति हुई। यह जाति गुजरात प्रान्त में आज भी अपने सद्गुणों और कला कौशल के कारण प्रसिद्ध है।

किसी किसी लेखक ने श्रीमद्भागवत के अध्याय 2, श्लोक 27 ब्र0म0प्र0 25 के आधार पर ब्रह्म क्षत्रियों की उत्पत्ति इक्ष्वाकु वंश से मानी है। श्रीमद्भागवत् के स्कन्ध 9, अध्याय 2, श्लोक 17 में कहा है कि इक्ष्वाकु का दूसरा भाई धृष्ट था। उसका पुत्र धार्ष्ट्र क्षत्रिय कुल में जन्म ले कर ब्रह्मत्व को प्राप्त हो कर ब्रह्म क्षत्रिय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अन्त में वे इस शरीर से ही ब्राह्मण बन गये।

कहीं कहीं यह भी लिखा मिलता है कि ययाति के पाँचवें पुत्र पुरुहत से ले कर क्षेमक तक का जो कीर्तिमान पुरु वंश है उसमें कई ब्राह्मण राजर्षि हुए इसी लिये उनकी सन्तान ब्रह्म क्षत्रिय कहलायी।

आधुनिक लेखकों में किसी किसी का मत है कि बौद्धों के आतंक और शंकराचार्य की पुनर्जाति व्यवस्था से बचने के लिये और यवन काल में अपने ब्रह्म क्षत्रिय रक्त की रक्षा करने के लिये कुछ खत्री दक्षिण भारत एवं गुजरात में जा कर बस गये। मुसलमानों की दक्षिण विजय के उपरान्त वर्ण–संकर जातियों से अपने रक्त की रक्षा करने के लिये इन क्षत्रियों ने अपने को ब्रह्म क्षत्रिय घोषित किया। उत्तर भारत के खत्रियों और ब्रह्म क्षत्रियों में बहुत कम भेद है। इनके अल्ल टण्डन, टेडन, मेहरा, दोहरे, सिक, भल्ले, झग्गर, मालदार, चलामेनी, सहगल, साह, साहगल, कपूर, सोनी, महेन्द्र, वधरे, प्रथ आदि और गोत्र भी वही हैं जो इन अल्लों के खत्रियों के हैं जैसे अंगरिस, कश्यप, कौशल्य, भारद्वाज, कपि, हंसल, कौशिक, वत्स, औलस्य आदि गोत्र हैं।

---

1. बाल कृष्ण प्रसाद ने अपने खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 276–280) में यही कथा थोड़े अन्तर के साथ दी है जिसमें यह कहा गया है कि एक अन्य लेख के अनुसार उन्हों ने नग्न हो कर पर्वत की पूजा की।

दक्षिण भारत के खत्री

कांजीवरम में ज्यादातर खत्री रेशमी धागे, रेशमी रूमाल, और रंगसाजी का व्यापार करते हैं और अन्य जातियों द्वारा उन्हें 'पतवुल करम' कहा जाता है। लेविस सइस का कहना है कि अपनी आदतें, रीति रिवाज और भाषा की दृष्टि से रेशमी धागे बुनने वाले ये खत्री पटवेगा लोगों से अधिक मिलते जुलते हैं लेकिन इन का उन लोगो से शादी विवाह का रिश्ता नाता नहीं है। ये खत्री अपने को क्षत्रिय कहते हैं और उसके लिये रेणुका पुराण को प्रमाण मानते है। प्राचीन परम्परा के अनुसार परशुराम द्वारा क्षत्रिय संहार के कारण पाँच गर्भवती स्त्रियाँ किसी प्रकार भाग कर बच गयीं और उन्हों ने काली के मन्दिर में शरण ली। जब बालक बड़े हुए तो देवी ने उनकी प्रार्थना पर उन्हें करधे दिये और उन्हें बुनना तथा रंगना सिखाया। एफ. थर्स्टन की 'कास्टस ऐंड ट्राइब्स आफ सदर्न इण्डिया' (पृष्ठ–282) के अनुसार ये खत्री क्षत्रिय राजा भोज से अपना जाति नाम बताते हैं और कुछ अपनी वंश परम्परा कार्तवीर्य अर्जुन से बताते हैं। उनकी जाति की कुल देवी परशुराम की माता रेणुकाम्बा हैं। उनके जाति वाह्य कुल सुतेगर, पवई, मुद्गल, सुरप्पा, वाजगिरि आदि हैं और गौतम, कश्यप, वशिष्ठ और भारद्वाज जैसे ब्राह्मण गोत्र हैं। इन खत्री परिवारों की वंशावली भाट लोगों द्वारा रखी जाती है।

श्रीमद्भागवत् नवम स्कन्ध–अध्याय 23–श्लोक 26–27में भी उल्लेख है कि कार्तवीर्य सहस्त्रबाहु अर्जुन के हजारों पुत्रों में से केवल पाँच ही जीवित रहे। शेष सब परशुराम जी की क्रोधाग्नि में भस्म हो गये। बचे हुए पुत्रों के नाम जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और अर्जित थे। जयध्वज के पुत्र का नाम था तालजन्घ। तालजन्घ के सौ पुत्र हुए। वे तालजंघ नामक क्षत्रिय कहलाये। श्रीमद्भागवत् में आगे उनकी वंशावली भी दी है और इसी वंश में सात्वत के पुत्र भजमान, भजि, महाभोज, वृष्णि, दिव्य, देवावृध, अन्धक आदि सात पुत्र हुए।

इनमें कन्याओं का विवाह सयानी होने से पहले और बाद में दोनों प्रकार के से होता है। विधवा विवाह की प्रथा है पर पति के भाइयों से अथवा सगोत्र विवाह की प्रथा नहीं है। ममेरी बहन से भी मेजारिकम प्रथा के अनुसार विवाह नहीं होता। एक कुल की कन्या जिस कुल में विवाही जाती है उस कुल से कन्या विवाह में ली नहीं जाती। खत्रियों के मुखिया को ग्रामणी कहते हैं जो महीने में एक बार चुना जाता है। उसकी सहायता के लिये 'वांजा' होता है जो प्रति वर्ष चुना जाता है। ये खत्री शैव हैं और जनेऊ पहनते हैं पर विभिन्न ग्रामीण देवी देवता की भी पूजा करते है।

विशाखापत्तम मैनुअल में "खत्री" नाम की एक अन्य खत्री जाति का भी विवरण है जो जेपोर के जमींदार थे। इनके 16 कुल हैं। वे पेइता (जनेऊ) पहनते हैं। इसी जेपोर के एजेंसी क्षेत्र मे कुछ खत्री कृषकों का भी उल्लेख है जो दक्षिण के जुलाहे खत्रियों से भिन्न हैं। ये सूर्य, बाघ, कच्छप और नाग वंशी खत्रियों में

बंटे हैं। ये अपनी कन्याओं का विवाह वयस्क होने से पूर्व करते हैं और एक उड़िया (उड़ीसा का) ब्राह्मण इनके विवाह संस्कार कराता है। संस्कार कन्या के घर पर होता है। खत्री वर विवाह के समय ही पहली बार जनेऊ धारण करते हैं। इनका रंग साफ है और ये उड़िया भाषा बोलते हैं।।

इतिहासों में यह भी उल्लेख मिलता है कि मई या जून सन 1360 ईसवी में वारंगल के युद्ध में राज्य के सब नगरों के हिन्दू महाजन तथा रुपये की अदला बदली करने वाले व्यापारी राजाज्ञा से मार डाले गये। आर्थिक जीवन में उनका स्थान उत्तरी भारत की खत्री जाति ने लिया जो कि उन विभिन्न सेनाओं के साथ आये थे जिन्हों ने दक्षिण भारत पर आक्रमण किये और वह फिरोजशाह बहमनी (1374–1422) के राज्य तक व्यापार और महाजनी के धंधे में सर्वे सर्वा रहे।[1] उसके ही राज्य में मारे गये व्यापारियों के पुत्रों को पुनः अपना व्यापार प्रारम्भ करने की आज्ञा मिली।

दक्षिण भारत के खत्री सामान्यतया अल्प संख्यक व असंगठित होने के कारण पिछड़ेपन के शिकार हैं अतः स्थानीय सरकारों ने उनके साथ मनमाना व्यवहार किया है तथा कई राज्यों में आरक्षण नीति के अंतर्गत उन्हें पिछड़े वर्ग में रखा भी जा चुका है जिनमें तमिलनाडू में खत्री समाज को पिछड़े वर्ग में रखे जाने का सरकारी आदेश भी जारी हो चुका है।

मुसलमान खत्री

1901 की जनगणना रिपोर्ट (पृष्ठ 289) में मुसलमान खत्रियों की जनसंख्या 11,751 लिखी है जिसमें पंजाब तथा देश के अन्य भागों में बसे मुसलमान खत्रियों की संख्या शामिल है। बम्बई गजेटियर में कच्छ के मुसलमान खत्रियों का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। ये खत्री 16 वीं शताब्दी के मध्य में (सन 1554 में) सिंध से आये बताये जाते हैं। कहा जाता है कि किसी खत्रिय का अपने पुरोहित सारस्वत ब्राह्मण से किसी कारणवश झगड़ा हो गया तो उसने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। गुजरात का एक अन्य खत्री अत्यंत प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण स्थिति में था जिसे परिस्थितियों वश इस्लाम धर्म स्वीकार करने पर बाध्य किया गया। यद्यपि वह मुसलमान हो गया था पर उसे अपने प्राचीन वंश पर बड़ा मान था। गुजरात में अहमदाबाद के समीप शंखे स्थान पर शेख अहमद खत्री मस्जिद तथा मकबरा बना है जो सन 1446 ईसवी में बना था।[2] इसका निर्माण मुहम्मद शाह द्वारा आरम्भ किया गया और पाँच वर्ष पश्चात कुतुबद्दीन द्वारा पूर्ण किया गया। यही कुतुबद्दीन सन 1451 में मुहम्मद प्रथम की मृत्यु होने पर गुजरात के सिंहासन पर बैठा।

---

1. खत्री जाति परिचय –पृष्ठ–13
2. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया –भाग–3–पृष्ठ 611

ये लोग अपना सर मुंड़ाते, दाढ़ी रखते तथा मुसलमानों के से वस्त्र पहनते हैं। साफ रंग, चपटा चेहरा, लम्बे कान और चौड़े मस्तक वाले ये मुसलमान खत्री अत्यन्त परिश्रमी एवं ईमानदार, सभ्य, मितव्ययी एवं शालीन हैं। ये रंगरेज, बढ़ई, खरादी और कृषकों का कार्य करते हैं तथा इनकी औरतें सिलाई, कढ़ाई और झालर बनाने में अत्यंत कुशल होती हैं। धार्मिक दृष्टि से यह कट्टर सुन्नी हैं और आपस में ही शादी विवाह करते है तथा अपने में से ही व्यक्तियों को चुन कर सामाजिक विवादों का निबटारा कराते हैं। इनमें अधिकतर रूढ़िवादी हैं और नये व्यवसाय नहीं करते। खोजा, मेमन और बोहरे भी इस्लाम धर्म अपनाने वाले पूर्व क्षत्रिय (खत्रिय) ही हैं।

पंजाब में यही मुसलमान खत्री खोजा कहलाते हैं। डी0 इबेटसन के 'पंजाब कास्ट्स, (पृष्ठ **248**) के अनुसार करीब **2,600** मुसलमान खत्री मुलतान और झंग में बसे हुए थे और उन्हें वहाँ खोजा ही कहा जाता था, क्योंकि इनमें ज्यादातर खत्री कपूर अल्ल के थे। शाहपुर के खोजा लगभग सभी खत्री हैं पर झांगरे में बसे खोजा इस्लाम धर्म अपनाने वाले पूर्व के अरोड़ा खत्री हैं। मुसलमान फेरी वालों के लिये पंजाब में एक शब्द "पारचा" भी प्रयुक्त किया जाता है। नमक की पहाड़ियों की तरफ के इन पारचाओं का मुख्यालय पिंडी के मुखाड़ में है तथा अटक और पेशावर में इनकी बड़ी–बड़ी बस्तियाँ हैं जहाँ से ये मध्य एशिया के शहरों में दूर–दूर तक सूती, रेशमी वस्त्र, नील और चाय का दूर दूर तक व्यापार करते थे। यह कहा जाता है कि शाहजहाँ के समय में ये मूलखण्ड में आ कर बसे थे। कोई कोई कहते हैं कि ये लाहौर के खत्री थे जिन्हें जमनशाह ने निकाल दिया था। ये अपनी लड़कियाँ सिर्फ पारचा लोगों को ही देते हैं यद्यपि कभी कभी वे बाहर से भी लड़कियाँ ले लेते हैं। इनमें हिन्दुओं की राजा उपाधि अभी तक चलती है। कुछ समय पूर्व (**1975–76**) हाजी यूसुफ आला राख्या पटेल–कराची के नाम के एक मुसलमान खत्री ने इन खत्रियों पर किया गया एक अध्ययन गुजराती भाषा में दो खण्डों में प्रकाशित किया था जिसमें वर्तमान पाकिस्तान के ही नहीं बल्कि भारत और पाकिस्तान के बाहर रहने वाले मुसलमान खत्रियों का भी विस्तृत विवरण दिया गया था। युसुफ ए. पटेल स्वयं कच्छ के रहने वाले थे और सन **1948** में पाकिस्तान चले गये थे। पाकिस्तान में वे पाकिस्तान खत्री कान्फ्रेंस के अध्यक्ष भी रहे। उन्हों ने पाकिस्तान में रहने वाले खत्रियों का ही नहीं बल्कि भारत में रहने वाले खत्रियों का भी सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन में कच्छ, मकराना, गुजरात, काठियावाड़, सिन्ध, मांडवी, मालवी और कराची के हलाई मुसलमान खत्रियों पर विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया गया था तथा हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के सिन्धी खत्रियों का भी जिक्र हैं। इस बुजुर्ग विद्वान लेखक ने अलग अलग स्थानों में उनकी केवल जनसंख्या ही नहीं दी बल्कि सामाजिक प्रथाओं तथा रीति रिवाजों का भी विस्तृत विवरण दिया। उन्हों ने यह भी बताया कि कच्छ, काठियावाड़, सिन्ध, गुजरात में मुसलमान खत्रियों के **56** मुखिया हैं।

उनके दिये खत्री परिवारों के जनसंख्या के आंकड़े रोचक तो हैं ही, साथ ही उसमें मुसलमान खत्री सम्प्रदाय को उदार दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी गयी है तथा उनके कल्याण की भी कामना की गयी है।

पुस्तक के दूसरे खण्ड में मुसलमान खत्रियों की महान विभूतियों, महत्वपूर्ण व्यक्तियों, संस्थाओं तथा कल्याणकारी संस्थाओं का विवरण दिया गया है। इस खण्ड की मुख्य रोचक बात इसकी प्रस्तावना है जिसमें मुसलमान खत्रियों द्वारा अपने मूल वंश में जन्म पर गर्व प्रकट किया गया है और अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाये रखने पर प्रसन्नता जाहिर की गयी है। इनके अनुसार धर्म परिवर्तन कर मुसलमान हो जाने से जाति का प्राचीन सांस्कृतिक गौरव नष्ट नहीं हो जाता। सबसे बढ़ कर आशचर्य की बात तो यह है कि पोशाक, धर्म और वेश के भी भिन्न हो जाने से उनके जाति प्रेम में कमी नहीं आयी है। इनके विवाह सम्बन्ध अपने ही मुसलमान तड़ या जाति में होते हैं। वे अभी तक अनेक मूल खत्री प्रथाओं तथा रिवाजों का पालन करते हैं। ऐसा भी ज्ञात हुआ था कि अनेक मुसलमान खत्री अपने लड़के लड़कियों की जन्म पत्रियां बनवाने व पत्री मिलवा कर उनका विवाह संबंध करने के भी उत्सुक रहे हैं। सन **1930** के आस पास फजले हसन नाम के एक मुसलमान खत्री वाइसराय की इक्जीक्यूटिव कौंसिल के मेंबर थे। वह सहगल खत्री थे और विवाह की साइत निकालने के लिये ब्राह्मण पुरोहित को बुलवाया करते थे। इसका उल्लेख दुर्गादास ने अपनी पुस्तक "इण्डिया फ्राम कर्जन टु नेहरू" में भी किया हैं। ऐसी ही प्रथा अभी तक लखनऊ में बसे कुछ मुसलमान गद्दी परिवारों में भी पायी जाती है जो इसी तथ्य की पुष्टि करती है कि ऐसे कुछ परिवार गुजरात और पंजाब के बाहर भी जा कर बस गये थे यद्यपि वे अपना 'मूल' भूल गये हैं। पहले कुछ मुसलमान खत्री अपने मुसलमानी नाम के साथ अपनी खत्री अल्ल भी लगाया करते थे। पाकिस्तानी पंजाब में अब यह प्रथा बहुत कम हो गयी है। यूसुफ पटेल का कहना है कि इन मुसलमान खत्रियों को अपने नाम के साथ खत्री लगाने में कोई लज्जा नहीं आती पर कुछ ने अपनी प्रशासनिक पदवियाँ अपने नाम के साथ लगा ली हैं जैसे यूसुफ साहब के नाम के साथ खुद पटेल की पदवी लगी है।

सिखरा खत्री

सिक्खों का इतिहास ही वास्तव में सिक्ख गुरुओं का इतिहास है जो गुरु नानक से गुरु गोविन्द सिंह तक बताया जाता है। सिख धर्म प्रचारक गुरु नानक लाहौर जिले के तलवन्डी (ननकाना साहब) के वेदी खत्री थे। उनके उत्तराधिकारी गुरु अंगद टिहुन खत्री थे। उनका असली नाम लहना था। गुरु अमर दास (**1552–1574**) भल्ला खत्री थे। हरमन्दिर या स्वर्णमन्दिर (अमृतसर) के संस्थापक गुरु रामदास (**1554–1581**) खत्रियों की सोढी अल्ल के थे। गुरू गोविन्द सिंह ने अपने ग्रन्थ 'विचित्र नाटक' (अध्याय–**2** से **4**) में अपनी तथा गुरु नानक की उत्पत्ति भगवान राम चन्द्र के पुत्र लव और कुश के वंश में बतायी है।

गुरु गोविन्द सिंह सिक्खों के अंतिम गुरू थे। मुगल काल में सिक्ख खत्री गुरूओं के इतिहास की अपनी अलग ही कहानी है। 1901 की जनगणना में कुल 10,30,078 खत्रियों की जनसंख्या में 60,685 सिख खत्री दर्ज किये गये थे। इस जनगणना में जैन धर्म को मानने वाले 704 तथा बौद्ध धर्म को मानने वाले 27 खत्री भी दर्ज किये गये थे। आज इन सिख खत्रियों में कुछ अल्लें विशेष रूप से पायी जाती हैं, जैसे अगिया, अरिन, उहिल, एलवी, कग्गर, कालछर, खुमाड़, गंगादिल, चारखंडे, चुनाई, छेमदा, जुड़े, तिपुरा, तेहर, थागर, पखरा, फलदा, भगादी, भोगर, मालगुरू, वालगौर, वाहगुरू, सोडिल, हैगर या हूँगर और हांडी। इनकी सूची खत्री जाति परिचय (पृष्ठ 59) तथा बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 274) में भी दी है। हिन्दू और सिख खत्रियों का सम्बन्ध तो पूरी तरह रोटी बेटी का एक सा रहा है और दोनों का खानपान तथा विवाह संस्कार एवं प्रथायें भी एक सी रही हैं। एक समय में खत्री परिवार में पैदा होने वाला पहला बालक संस्कार कर के सिख बनाया जाता था। अरदास और भोग हिन्दुओं में भी समान रूप से प्रचलित था। सिख खत्रियों में वेदी और सोढी खत्रिय ही सिक्खों के गुरू थे क्योंकि गुरू नानक देव वेदी खत्री थे और अन्य सोढी खत्री थे। सिख खत्री आज भी अपने नाम के साथ खत्री अल्ल ही लगाते हैं ताकि उनमें और जाट सिखों में अन्तर किया जा सके और अन्य सिखों में भी उन्हें अलग से पहचाना जा सके। अतः हिन्दू तथा सिख धर्म के बीच की कड़ी को जोड़ने वाली खत्रिय जाति ही है। धर्म से उनके बीच कोई फर्क नहीं पड़ा है और दोनों ही धर्म के मानने वाले खत्रिय साथ साथ भोजन करते तथा आपस में विवाहादि सम्बन्ध वैसे ही करते हैं जैसे वैश्य वर्ग के लोग जैनियों के साथ करते हैं। बीच में आतंकवादी गतिविधियों के कारण इसमें कुछ व्यवधान अवश्य आया था पर समय के साथ वह प्रभावहीन हो गया और पंजाब में हिन्दुओं तथा सिक्खों के बीच विभाजन न हो सका। यह एक राजनीतिक चाल थी जो सफल न हुई। यह सिख हिन्दू मैरिज ऐक्ट तथा डाइवोर्स ऐक्ट के अधीन ही आते हैं क्योंकि संविधान में भी सिक्ख, जैन, बौद्ध मतों को हिन्दुओं के ही धर्म का अंग माना गया है, हिन्दू धर्म से अलग कोई फिरका नहीं। इसी लिये इन सब का सिविल कोड भी एक ही है। शताब्दियों पुरानी खत्रिय जाति परम्परायें, रीति रिवाज एवं सम्बन्ध ही ऐसी कड़ी हैं जिन्हें व्यक्तिगत स्वार्थवश तोड़ा नहीं जा सका।

खत्रियों के इस विभाजन के अतिरिक्त कुछ अन्य दलों का समूह भी हैं जो किन्हीं न किन्हीं ऐतिहासिक कारणों से बने थे और अपने को सीमित रखने एवं अपने समूह के बाहर विवाहादि सम्बन्ध न करने के कारण मुख्य धारा से अलग होते गये। इनकी विशेषता इस कारण भी है कि इनकी अनेक अल्लें खत्री जाति की मुख्य धारा की अल्लों से भिन्न हो गयी हैं। दिलवाल, आगरेवाल, लाहौरिये, सरहिन्दी, पंजाजाति (पंजाब की पाँच नदियों के प्रदेश के निवासी) छः जाति, बावन जाति, बाहरियाँ खत्री, पूर्विया, पच्छैयाँ आदि की विशेषता उनकी तड़बन्दी

के ही कारण ही रही है क्योंकि एक लम्बे समय तक ये सभी समूह केवल अपने ही तड़ में विवाह सम्बन्ध आदि करते रहे और एक दूसरे को ऊँचा या नीचा समझते रहे। इन सब में छिटपुट सम्बन्ध तो पहले भी होते थे परन्तु सम्बन्धों का आपसी विनिमय बहुत कम था। समय के साथ सम्बन्ध बढ़ते गये और तड़बन्दी टूटती गयी पर इनके कुछ विभाजन किसी न किसी कारण से अपनी अलग विशिष्ट पहचान बनाये रहे और प्रायः अभी तक इनकी अलग अलग पहचान ही बनी हुई है तथा इनकी अलग ही बिरादरी अपने विशिष्ट रूप से जानी जाती रही है। इनमें भी कहीं कहीं आपसी विद्वेष या झगड़ा था जैसे लाहौरिया खत्रियों में मेहरा खत्री किसी उत्सव या विवाह के अवसर पर किसी सिख के उपस्थित होने पर वहाँ नहीं बैठता था, वहाँ से चल देता था।[1] ऊँच नीच के भेद भी इनमें अधिक थे। प्रायः ऐसा होता था कि ऊँचे समझे जाने वाले ढाई घर खत्री (मेहरोत्रा, कपूर, खन्ना आदि) अपनी कन्यायें केवल ढाई घर खत्रियों में ही ब्याहते थे पर अपने से नीचे समझे जाने वाले चार घर, बारह घर या बावन जाही खत्रियों की लड़कियां ले लेते थे। नीचे समझे जाने वाले ये चार, बारह या बावन या बावन जाही खत्री ढाई घर खत्रियों के निर्धन होते हुए भी केवल प्रतिष्ठा के कारण अपनी लड़कियां उन्हें ब्याह देते थे। इस विषय में निर्धनता ने भी अपना एक विशेष रंग दिखाया था। एक निर्धन ढाई घर खत्री केवल अधिक धन वर को न दे पाने के कारण ही अपनी कन्या चार घर, बारह घर या बावन घर में ब्याहने लगा तो वर पक्ष भी अपने से ऊँचे घर की कन्या पाने की प्रतिष्ठा के आगे दान दहेज की उपेक्षा करने लगा। धीरे–धीरे यह तड़बन्दी टूट गयी और दहेज प्रथा ही बन्द हो गयी। कुछ अलग पहचान बनाने वाली अन्य बिरादरियाँ इस प्रकार हैं।

सरीन खत्री

दिल्ली निवासी एक खत्री किशन दयाल द्वारा लिखे गये फारसी ग्रन्थ "अशरफुल तवारीख" के अनुसार सरीन शब्द "शरअ–ए–आइन" का अपभ्रंश है जिसका अर्थ है मुसलमानी कानून के मानने वाले। चूंकि विधवा विवाह मुसलमानों के यहाँ प्रचलित था और खत्रियों के यहाँ नहीं अतः सम्राट अलाउद्दीन खिलजी के राजमंत्री ऊधरमल तथा अन्य जिन खत्रियों ने विधवा विवाह सम्बन्धी राजाज्ञा में अपनी स्वीकृति दी या हस्ताक्षर दिये थे, उन्हें राजाज्ञा के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले विद्रोही खत्री नीची निगाहों से देखने लगे तथा उन्हें "शरअ–ए–आइन"

1. अशरफुल तवारीख–किशन दयाल खत्री (दिल्ली)। इतिहास की यह पुस्तक दिल्ली के खत्री किशन दयाल ने 5 वर्षों में लिख कर सन 1826 ईसवी में पूरी की थी। यह सात खण्डों में है और इसमें रामायण, महाभारत तथा पुराणों का सारांश विस्तार से दिया है तथा अंत में ब्राह्मण एवं खत्रियों का विवरण दिया है तथा राजा चन्दू लाल (हैदराबाद राज्य के मंत्री) की प्रशंसा है तथा लखनऊ के शिवदास के शाहनामा (1802 ईसवी) मन्नू लाल तथा मुंशी सदासुख की रचनाओं का भी हवाला दिया है।

यानी 'पाबन्द आइन शरई मुहम्मदी' कहने लगे। यही शब्द बाद में बिगड़ कर सरीन हो गया, यद्यपि इन लोगों ने भी हस्ताक्षर कर देने के बावजूद विधवा विवाह नहीं किये थे। सरदार बहादुर अमीनचन्द के उर्दू में लिखे ग्रन्थ "तवारीखे कौम खत्रियान" (पृष्ठ–21) में यह घटना विस्तार से लिखी है। मिस्टर क्रुक तथा कुछ अन्य अनुसंधान कर्ताओं ने अशरफुल तवारीख के ही मत का समर्थन किया है। कुछ अन्य मत इस प्रकार हैं :

सरीन सभा जनरल, लाहौर के मत के अनुसार सरीन शब्द "सद्दीन" से निकला है जिसका अर्थ सौ होता है, अर्थात इसमें सैकड़ों वंश के लोग सम्मिलित हैं। इसी से इसका नाम सरीन पड़ा (सद+दीन = सरीन (सद=सौ) + दीन = मजहब (जाति) सौ जात अर्थात, जिस जाति में सैकड़ों हैं।

सरीन शब्द सुरेन या सुरेन्द्र से निकला है। सुर के माने देवता ओर सुर का बहुवचन सुरेन होता है। अतः जो वंश देवताओं की भांति उज्जवल व पवित्र था वह सुरेन या सरीन हुआ।

जिन लोगों ने विधवा विवाह का समर्थन किया था, वे अपनी बात पर डटे रहे और शूरतापूर्वक विरोधों तथा अपनी जाति वालों के प्रहारों को सहते रहे। अपने समर्थन पर उन्हें लज्जा नहीं बल्कि गर्व हुआ। अपने सम्मान के लिये उन्हों ने सब विपत्तियों की शूरता से अवहेलना की अतः इसी शूरता के कारण वे सूरेन अथवा बहादुर लोग कहलाये और यही शब्द बाद में बिगड़ कर सूरे हुआ जिसका अपभ्रंश सरीन हो गया। यह संभावना भी है कि इसी कारण से बिरादरी के चौधरी लल्लू एवं जगधर मेहरे ने उन्हें जाति से बाहर कर दिया हो या उनसे रोटी बेटी का सम्बन्ध तोड़ लिया हो और इसी कारण से उनकी अपनी अलग थलग बिरादरी बन बयी। कुछ यह भी कहते हैं कि केवल इन्हीं लोगों को छोड़ कर अन्य खत्रियों ने शाही आज्ञा मानी थी इस लिये ही ये शर, सूरे या सरीन कहलाये।

जिन लोगों ने परशुराम जी के क्षत्रिय संहार के समय उन्हें आत्म समर्पण कर के उनकी शरण ली, उनके अपराध को परशुराम ने क्षमा कर दिया और उन्हें आशीर्वाद भी दिया। उसी 'शरण' शब्द से सरीन बना और उनके वंशज सरीन के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मुसलमानों के समय में खत्रियों की बहुत सी अल्लें बनी हैं। यह देख कर दीवान बहादुर अमीनचन्द ने भी इसे यवन काल की ही सृष्टि माना है। प्रायः लोग अपने वंश या अल्लों के नाम के आगे या अपने नाम के आगे कुछ ऐसे नाम जोड़ लेते है जो उनकी या उनके परिवार की विशेषताओं या किसी महत्वपूर्ण घटना के कारण होते हैं। स्वयं पुराणों में ही कुल की श्रेष्ठ संज्ञा जिस से "सेठ" बना तथा अन्य अनेकों ऐसे उदाहरण हैं। बर्दवान राज्य में ही वहाँ के राजा कपूर होते हुए भी अपने नाम के आगे "महताब" लगाते हैं और ऐसे ही नामकरण प्रायः स्थायी रह गये हैं और इनके कारण मूल अल्ल का लोप हो गया है।

इन सरीनों के बड़े सरीन तथा छोटे सरीन दो भेद हैं जिनकी उप्पल, कंचन, कलसिया, खक्कड, खोसला, चड्ढा, चोपड़ा, तिर्हन, बस्सी, मखना, मरवाहा, महान, लोहिया, संगी, सोंधी, साहनी, सेठी, संगी, साही, शिवपुरी, हरिया आदि अनेक अल्लें खत्री जाति परिचय (पृष्ठ–47) तथा बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 271–273) में दी हैं। इनमें बड़े सरीन और छोटे सरीन दोनों में 10–10 अल्ल हैं। इनकी सूची परिशिष्ट में दी गयी है।

खोखरान खत्री

सरीन, ब्रह्म खत्रिय और अरोड़ा खत्रियों की ही भांति खोखरान खत्रियों ने भी अपनी एक अलग तड़ या बिरादरी बांधी थी। खोखर वास्तव मे पंजाब के एक गाँव का नाम है। इसी से खोखरान (खोखरायन) शब्द बना। वहाँ के आदि निवासी होने के कारण उनके वंशज खोखरान खत्री कहलाये। इसी गाँव में जसरथ नाम के एक सज्जन रहते थे। उन्हों ने घाघरा, दोआब, सिन्ध सागर पर अपना अधिकार जमाया।[1] उस समय उनके साथ मीरा निवासी सुधीर सिक्ख और म्यानी निवासी रामदेव और आनन्द देव जी भी थे। इन लोगो ने भी सरीनों के समान विधवा विवाह के प्रश्न पर विजेताओं के साथ हाँ में हाँ मिलायी थी, तभी से वे मुख्य खत्री समाज से विलग हुए। आनन्द, भसीन या भसैन, सूरी, साहनी, चड्ढा अल्ल वालों ने इनका पहले साथ दिया और बाद में कटली या कोहली, सेठी, केरी, तथा सभरवाल या सब्बरवाल ने साथ दिया अतः यही नौ खोखरान खत्री कहलाये।

इनमें साहनी (एथनोलाजी के अनुसार सैनी या सेनानी) वत्स गोत्र के और आनन्द तथा भसीन कश्यप गोत्र के हैं। चड्ढा, सेनानी, आनन्द तथा भसीनों की

1. जसरथ भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। जसरथ सेखा खोखर का भाई था (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया–3:196)। जसरथ खसों का महत्वाकांक्षी सरदार था। यह एक लड़ाकू जाति है। पूर्व काल में वे क्षत्रिय थे। अनेक खस मुसलमान तथा बौद्ध भी हो गये थे। शेष हिन्दू धर्म के रीति रिवाजों को मानते हुए पूर्ववत क्षत्रिय बने रहे। जसरथ अपने समय का प्रबल शक्तिशाली सुलतान था। उसने अपने अभियानों, आक्रमणों द्वारा उत्तर पश्चिम भारत, पंजाब तथा काश्मीर की राजनीति को प्रभावित किया था। जसरथ को तैमूर लंग ने बंदी बना लिया था और उसे साथ ले कर भारत से लौटा था। तैमूर की मृत्यु के पश्चात जसरथ ने भारत लौट कर सन 1432 ईसवी में अपने पराक्रम से सेना एकत्र की और अपना राज्य पुनः स्थापित कर लिया (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया 3/309)। खस मण्डल की इस खखर जाति के लोग इतने प्रबल एवं आतंवादी थे कि काश्मीर की नारियाँ अपने शिशुओं को "खख्खा आया –खख्खा आया" कह कर डराती थीं। इस जसरथ खोखर तथा खोखर जाति का विशद वर्णन जोनराज कृत राजतरंगिणी (श्लोक 525, 730, 732 आदि) में भी आया है। मनु ने (10:22, 24) उन्हें क्षत्रिय माना है। आजकल उन्हें खख्खा कहा जाता है। इनमें जो मुसलमान हैं , उन्हें राजपूत मुसलमान कहा जाता है।

कुल देवी सिद्ध सुदोलदेवी है। अतः स्पष्ट है कि ये खोखरान भी सूर्य तथा चन्द्र वंशी ही हैं।

रोज के अध्ययन (दि खत्रीज आफ पंजाब ऐंड नार्थ वेस्टर्न फ्रांटियर प्राविंस) के अनुसार भी खोखरान बिरादरी अलाउद्दीन खिलजी के समय की ही उपज है जो सरीन, बाहरियाँ खत्री तथा बावन जाही खत्रियों की भांति विधवा विवाह के प्रश्न पर हुए विरोध के कारण बनी थी। वह कहता है कि प्रारम्भ में खोखरान में 8 तड़ थे इस लिये यह अठ जाति या आठी घर कहलाते थे और ये रावलपिंडी में 4 थानों में बटे हुए थे जिनमें से प्रथम तीन सगोत्र विवाह का पालन करने वाले **(exogamous)**थे। इनमें आपस में सगोत्र होने के कारण विवाह सम्बन्ध नहीं होता था। इन चार थानों में से प्रत्येक में दो अल्लें थीं। एक में आनन्द और भसीन, दूसरे में चड्ढा और साहनी, तीसरे में सूरी और सेठी और चौथे में कोहली और सभरवाल थे। इसमें केरी अल्ल का जिक्र नहीं है। मूलतः ये बावनजाही या बंजाही समूह से ही निकले हैं और एक स्थान में ये अन्य बंजाही समूहों में विवाह सम्बन्ध करते थे किन्तु वैसे वे अपनी ही तड़ या बिरादरी तक सीमित थे।

खत्री जाति परिचय (पृष्ठ 57) में इनमें से चड्ढा खत्रियों के भी दो भेद राम सिवाला तथा कुम्हारवाला दिये हैं एवं इनके इस भेद की कथा भी दी है जो इस प्रकार है :

लाहौर के निकट अम्बाबाद नामक एक स्थान में रहने वाले एक सम्भ्रान्त चड्ढ़ा खत्री के दो पुत्र थे जिनमें से बड़ा पुत्र अत्यन्त कुशल सेनानी, योद्धा तथा शिकारी था और दूसरा पुत्र अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति का होने के कारण भजनानन्द साधु का सा जीवन व्यतीत करता था। वे दोनों ही निस्संतान थे। कुछ समय बाद उनके पिता की मृत्यु हो गयी। अपने वंश को आगे चलाने की चिन्ता से दुखी उन दोनों की पत्नियाँ एक समय आपस में ही अपने अपने दुर्भाग्य का रोना रोने लगीं और बातों ही बातों में बड़े भाई की पत्नी ने कसम खाई कि यदि भगवान ने कभी मुझे पुत्रवती बनने का सौभाग्य दिया तो मैं अपना पुत्र सिंह की माँद में उत्पन्न करूंगी। इस पर साधु प्रकृति के भाई की पत्नी ने प्रतिज्ञा की कि यदि मेरे कभी पुत्र हुआ तो मैं कुम्हार के आँवें में पुत्र जनूंगी। इस प्रतिज्ञा के बाद ही भगवान की कृपा से दोनों ही गर्भवती हो गयीं। समय पूरा होने पर दोनों ने ही अपनी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार क्रमशः शेर की माँद तथा कुम्हार के आँवे में अपनी सौर की और वहीं उनके पुत्रों का जन्म हुआ। तदनुसार ही बड़ी पत्नी के पुत्र के वंशज राम सिवाला कहलाये क्योंकि पंजाबी भाषा में रामसी के अर्थ सिंह होते हैं। छोटी पत्नी के पुत्र के वंशज उसके जन्म स्थान के अनुसार विभूति रमाने वाला कुम्हारवाला कहलाये और यही इन चड्ढ़ा खत्रियों के दो भेद हो गये।

वर्तमान समय में खोखरान खत्री दिल्ली, पंजाब, लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, तथा उत्तर प्रदेश में अन्यत्र पर्याप्त संख्या में हैं जहाँ पूर्व में इनकी

जागीरे भी थीं किन्तु किसी समय पश्चिमी पंजाब में इनकी संख्या अधिक थी। अफगानिस्तान तथा फारस आदि में भी इनकी संख्या काफी थी पर सन **1947** में पाकिस्तान बन जाने से सबसे अधिक नुकसान भी इन्हीं का हुआ और इन्हें विस्थापित होना पड़ा। बिहार में छपरा जिले में भी इनकी पर्याप्त संख्या है जहाँ कोहली वंश वैसे ही प्रधान है जैसे इलाहाबाद में चड्ढा वंश। प्राचीन काल में विदेशी आक्रमणों का पहला मोर्चा भी इन्हीं खोखरान खत्रियों को झेलना पड़ता था पर यह भी उनके भाग्य की एक विडम्बना ही थी कि उन्हें देश की भीतरी भागो में आपसी फूट के कारण कोई सहायता न मिली। अतः इनके जो समूह पूर्व काल मे आक्रमणकारियों की सेनाओं में उच्च सैनिक पदों पर आसीन हो कर उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि में आये थे उन्हों ने तो यहाँ अपनी जागीरें, जमीदारियाँ आदि पा कर अपने को भली भांति स्थापित कर लिया परन्तु जो पश्चिमी पंजाब में रह गये उन्हें ही विस्थापित होने का दुख झेलना पड़ा और अनेकों को धर्म परिवर्तन का दुःख भी झेलना पड़ा। आज के मुसलमान कबाइली, अफ्रीकी वास्तव में पूर्व काल के खोखरान खत्री ही हैं। इनमें प्रायः अब्दुल रजाक साहनी दी। अब्दुल रहमान कोहली तथा सुलेमान चड्ढ़ा आदि नाम आज भी मिलते हैं। एक अनुमान के अनुसार पाकिस्तान बनने पर करीब एक लाख खोखरान खत्री पाकिस्तान से भाग कर भारत आये थे। पश्चिमी पंजाब भारत के सीमा प्रान्त की ऐसी भूमि थी जहाँ धर्म परिवर्तन सदा से होता रहा। पाकिस्तान बनने पर भी हजारों खोखरान खत्री मुसलमान हुए, कट मरे तथा हजारों भाग कर भारत आ गये किन्तु वीरता, आत्म निर्भरता एवं स्वाभिमान इन खोखरान खत्रियों का सदा से ही जाति गुण रहा है। यही कारण है कि निराश्रय एवं बेसहारा होने पर भी एक भी खोखरान खत्री ने भीख नहीं मांगी बल्कि सम्पूर्ण भारत में अपने को अपने पुरुषार्थ से ही शीघ्र स्थापित कर समाज में अपना उच्च स्थान बना लिया क्योंकि स्वभाव से ही यह वीर उपजाति है।

इतिहास में वर्णित पृथ्वीराज को हरा कर गजनी वापस जाने वाले मोहम्मद गोरी को उसकी वापसी में अत्यधिक परेशान करने वाले यही खोखरान खत्री ही थे। मुसलमानों से अधिक निकट के सम्पर्क के कारण इनकी पोशाक तथा रहन सहन में अन्य खत्रियों से इनमें किसी समय भिन्नता अवश्य थी पर हिन्दुत्व में कोई कमी नहीं थी। पाकिस्तान बनने के पूर्व पेशावर तथा लाहौर इनके दो प्रसिद्ध गढ़ थे। उनमें भी पेशावर में इनकी संख्या अधिक थी और आर्थिक दृष्टिकोण से भी वे अत्यंत समृद्ध थे। अन्य खत्री उपजातियों की अपेक्षा इनमें मेल तथा सहानुभूति की मात्रा भी अधिक थी।

अन्य खत्रियों की भांति इनमें भी एक ही अल्ल में परस्पर विवाह नहीं होता। जैसे कोहली, कोहली, को छोड़ कर अन्य आठ अल्लों में विवाह (चड्ढा, सेठी, साहनी आदि) कर लेगा पर कोहली में नहीं करेगा।

बाहरियाँ खत्री

खोखरान, सरीन तथा बावन जाही तड़ या समूह की तरह यह भी खत्रियों का ऐसा समूह है जो अनेक कारणों से भारत से बाहर जाने पर वहीं बस गया और उसका सम्बन्ध भारत से कम हो गया। इनमें प्रारम्भ में वे खत्री भी बाहरियां कहलाते थे जो पंजाब प्रान्त से दूर बसे थे। प्राचीन काल की तो बात ही दूर, मुगल काल तक में एक स्थान से दूसरे स्थान आना जाना इतना सरल नहीं था और देश के इतने विस्तृत अर्थ भी उस समय नहीं किये जाते थे। इनमें भी अनेक भेद हैं पर मुख्य रूप से दुग्गल, अम्भा, पुरी, नन्दा, वधर (वधारी) कोछड़, उप्पल, हंदे, मंगल, आभी, कुल्हर और भल्ले बाहरियाँ माने जाते थे।[1]

एक तो जो खत्री गुजरात में आ कर बसे वे भी बाहरियाँ खत्री कहलाये। ये सेना के साथ मोहम्मद शाह बादशाह के समय में आये थे। ये व्यापार के लिये यहाँ आये और यहीं बस गये तथा बाहरियाँ कहलाने लगे। बाल कृष्ण प्रसाद ने अपने खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 270–271) में इनकी अव्वल, अंखोर, कटवार, खंगवाल, गगरीले, चांदीहूक, झाँझा, ठाकुरायल, ताँतिया, त्रिहन, दादीपोता, पदवासी, पुरी, मोरे, हांडीसीर, खुखराइन आदि 78 उप जातियां दी हैं और वही खत्री जाति परिचय (पृष्ठ–52) में भी दी हैं। इन्हीं में दुग्गल, अभ्या, पुरी, नन्दा, वधर (वधारी), कोछड़ या कोचर, उधल, हंदे, मंगल, आभी, चल्हर तथा भल्ले भी हैं जो भारत में भी पाये जाते हैं। कहीं कहीं (हरिदर्पण में) दोहरे, महता तथा सोबती भी दिया है।[2]

इसी के एक दूसरे समूह में धर्मान खत्रियों के अंतर्गत असरी, बहामा, सामी, वहत, भम्बारी, बहतरी, भोपट, पटपरी, बेदी, बजाज, भंडारी, तुल्ली, थापर, जौहर, धीर, चलती, जनथर, चौधरी, दहल, धोपर, दिलावरे, रेखी या रिखी, सचेहर, सबल, सोई, सरनी, सोनी, सूरी, सर्राफ, सियाल, छत्तठी, कत्तियाल, लाम्बे या लुम्बा, लक्षणी, पाल, मूधक, वरहा, वासिन, वछेर, कुल्हड़ तथा महाय आते है।[2]

एक समय महरचन्द, खानचन्द, कपूर चन्द नाम के तीन खत्री भारत के मुगल सम्राट अकबर के राजपूत राजकुमारियों से विवाह करने पर उन राजपूत रानियों की रक्षा के लिये तैनात किये गये। सेना में होने तथा सम्राट की सेवा में होने के कारण ये इस कार्य से इनकार भी नहीं कर सकते थे। अतः उन्हें यह कार्य भी स्वीकार करना पड़ा। ऐसे कार्य को जाति के लिये नीचा समझ कर अन्य खत्रियों ने उन्हें जाति से बाहर कर बाहरियाँ घोषित कर दिया तथा उनसे रोटी बेटी का सम्बन्ध त्याग दिया। ये तीनों सूर्य वंशी तथा चन्द्र वंशी क्रमशः मेहरोत्रा, खन्ना तथा कपूर खत्रिय थे। खत्री समाज द्वारा बहिष्कार किये जाने पर ये तीनों अपने ही परिवारों में विवाह सम्बन्ध करने को मजबूर हो गये अतः

1. खत्रिय इतिहास– बाल कृष्ण प्रसाद– पृष्ठ 261
2. खत्री जाति परिचय – पृष्ठ 52

इन तीनों के जो वंश आगे चले वे एक अलग ही समूह हो गये पर कालक्रम से इनकी बाहरियाँ संज्ञा कम हो गयी और बहिष्कार की संकीर्णता के कारण वे भी अपने सीमित परिवारों को उल्टे श्रेष्ठ ही सिद्ध करने लगे जो अन्य लोगों से सम्बन्ध (प्रारम्भ में बहिष्कार के कारण मजबूरन) नहीं करते थे। इस तथ्य में बहिष्कार की बात को भुला कर कुछ लोगों ने कथा गढ़ दी कि मेहरोत्रा, खन्ना और कपूर इन्हीं महरचन्द, खानचन्द और कपूर चन्द से निकले हैं जब कि इनका इन अल्लों से दूर दूर तक कोई नाता ही नहीं है।[1] यह कुछ ऐसा ही है जैसे कि सेठ शब्द किसी भी रईस आदमी के लिये इस्तेमाल किया जाता है, उसकी जाति भले ही कोई भी हो पर केवल सेठ उपनाम से ही किसी भी व्यक्ति को खत्री मान लेना नितान्त भ्रम है।

बावन जाही, बावन जाति कलां, बंजाही, बावन जाई खत्री

यह भेद भी अलाउद्दीन खिलजी के समय का है। विधवा विवाह की राजाज्ञा के विरोध में जिन बावन कुलों के चौधरी सबसे बाद में पहुँचे थे उन्हें ही बावन जाति कलां कहा गया। बाल कृष्ण प्रसाद ने अपने खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 258–259) में इनकी तालिका एथनोलाजी, हरिदर्पण, क्षत्रिय दर्शनम आदि छः भिन्न भिन्न पुस्तकों को मिला कर दी है और इन नामों की सूचियों में भिन्नता का कारण भी दिया है जिस से पता चलता है कि समय समय पर तड़बन्दी की यह तालिका किसी न किसी कारणवश बदलती गयी। इसमें उप्पल, पुरी, वेदी, भण्डारी, थापर, चौधरी, कंचन, चड्ढा, झाँझी, टंगरी, मधूक, वाही, बिग्गे, सूरी, सेठी, संगी, हांडे, हिराना, हसराना, भल्ले, बजाज, तुली, थापर, चतरथ, कत्याल, मोदक, सक्के आदि अनेक नाम हैं जिसकी सूची परिशिष्ट में दी है।

ये सब तड़ केवल रोटी बेटी का सम्बन्ध अलग होने के कारण समय समय पर बनते थे किन्तु सन 1872 (सम्वत् 1929) मे नूरमहल जिला जालंधर में खत्रियों की एक सभा हुई और उसमें पंचायत कर के यह ऐलान कर दिया गया कि सब खत्रिय एक हैं। जो हम लोगों को लड़की न देंगे हम लोग भी उन्हें लड़की न देंगे। यह प्रस्ताव इसी बहु जाति या बावन जाति तड़ के, लाला साखीराम सोंध ने किया था। इस प्रस्ताव के स्वीकार होने के बाद ब्याह शादी का बन्द दायरा अपने आप खुल गया और मेहरे, कपूर, खन्ना तथा सेठ परिवारों की कन्यायें भी इन बहुजाति वालों में ब्याही जाने लगीं।

1. यह भ्रम श्री नागेन्द्र नाथ बसु ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी विश्वकोष' में उत्पन्न किया था। अकबर तो क्या उससे भी पूर्व के अलाउद्दीन खिलजी के समय में मेहरे, खन्ने और कपूर मौजूद थे और विधवा विवाह की राजाज्ञा का विरोध करने वालों में सर्वप्रथम थे इस लिये ढाई घर कहलाये, अतः यह उत्पत्ति कथा नितान्त भ्रामक है।
– खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद– पृष्ठ–6

अरोड़ा खत्री

सन 1901 की जनगणना में पंजाब में खत्रियों की संख्या जहाँ 4,47,933 थी, वहीं अरोड़ा खत्रियों की संख्या उनसे अधिक 6,67,197 थी और वे मुख्यतः दक्षिण पश्चिमी पंजाब में बसे हुए थे और व्यापार में लगे थे। उत्पत्ति तो उनकी भी उसी स्थान से है जहाँ से अन्य खत्रियों की है पर जहाँ अन्य खत्री उत्तर की अधिक उपजाऊ भूमि की ओर बढ़े वहीं ये अरोड़ा खत्री सिन्धु नदी के कम उपजाऊ मैदानों में ही बने रहे। यही प्रदेश पाँच नदियों की निचली घाटी भी कहलाता है। डी0 इबट्सन की पुस्तक 'पंजाब कास्ट्स' (पृष्ठ 250) के अनुसार पंजाब के आधे से अधिक अरोड़ा खत्री मुलतान और डेराजात डिवीजनों में रहते थे। दक्षिण पश्चिम पंजाब के ये सब से अधिक कुशल व्यापारी थे और लोग इन्हें अरोड़ा या रोड़ा कहा करते थे।

अरोड़ा अपने को खत्री मानते हैं और खत्रियों के कुछ अल्ल एवं भेद उनमें भी पाये जाते हैं तथा खत्रियों एवं अरोड़ों के अनेकों संस्कारों तथा वैवाहिक संस्कारों में एवं गोत्रों अर्थात पूर्वजीं मे सामंजस्य है। दोनों के पूर्वज एक ही हैं। जार्ज कैम्पबेल भी "इथनोलोजी आफ इण्डिया" (1866) में यह मानते हैं कि वंश परम्परा से यह भी खत्री ही हैं इसमें कोई संदेह नहीं है क्योंकि इनके व्यवसाय भी खत्रियों जैसे ही हैं। उनका यह भी कहना था कि जैसे मुलतान और लाहौर के खत्री मुलतानी या लाहौरिये खत्री कहे जाते हैं उसी तरह अरोड़ा भी अरोड़ या अलोर के खत्री हैं जो सिन्ध की प्राचीन राजधानी थी। अब उसी को रोड़ी कहते हैं। इनमें उत्तराधे और दक्खिना दो मुख्य विभाग हैं तथा लीताना वा मुलतानी और लोहाने (लाहौर से आये हुए) भी एक जाति कही जाती है। इबट्सन के समय (1916 ईसवी) तक ये दोनों विभाग आपस में विवाह सम्बन्ध नहीं करते थे। सभी अरोड़ा कश्यप गोत्र के कहे जाते हैं। यह महर्षि कश्यप ब्रह्मा जी के मानस पुत्र मरीचि के पुत्र थे। इनके पुत्र विवस्वान (सूर्य) थे और उन्हीं के पुत्र वैवस्वत मनु हुए। उत्तराधी अरोड़ों की औरतें हाथी दाँत के लाल कंगन पहनती थीं और इनमें "बाहरी और बंजाही' दो उप विभाग थे। दक्षिणी या दक्खिनी उप विभाग की औरतें हाथी दाँत के सफेद कंगन पहनती थीं। दक्षिणी या दक्खिनी भी "डाहरे (दाहिरा)" और "दखनाधैन" इन दो विभागों में बंटे हुए थे। समाज में बाहरी और दखनाधैन की सामाजिक मर्यादा ऊँची समझी जाती थी। पंजाब के दक्षिणी और पश्चिमी जिलों में वे संख्या में अधिक थे। बेन्स ने अरोड़ों की कुल जनसंख्या 7,32,100 दर्ज की है। ये अरोड़े भी पिता माता, व्यवसाय या स्थानीय जगह के नामों के अनुसार सैकड़ों अल्लों में बंटे हैं। एक समय था जब ऐतिहासिक या पारम्परिक कारणों से इन अरोड़ों की गिनती खत्रियों में नहीं होती थी। व्यापार और खेती इनकी जीविका का प्रमुख साधन था तथा इन्हें छोटे से छोटे काम करने में भी कोई हिचक नहीं थी। इसी लिये इन्हें निम्न जातीय खत्री समझा जाता था और खत्री लोग इनसे विवाह सम्बन्ध आदि नहीं करते थे पर अब वह बात नहीं है और अखिल भारतीय खत्री

महासभा के प्रयासों से इन्हें खत्री मान लिया गया है और इनसे विवाहादि सम्बन्ध बिला झिझक होने लगे हैं। इस तरह महासभा ने कैम्पबेल के ही मत की पुष्टि की है।

इनकी उत्पत्ति के विषय में पंडित हीराचन्द ओझा (टाड राजस्थान) कहते है कि सिन्ध नदी के किनारे राजा शल्य ने एक स्थान बसाया था जिसका नाम अरोर या अरोड़ रखा। उसकी राजधानी अलोर थी। राजा शल्य चन्द्र वंशी अजमीढ़ तथा देवमीढ़ के वंशज थे। उनके वंशज अरोड़ के आदि निवासी होने के कारण अरोड़ वंशी या अरोड़ कहलाये। हजारी बाग के वकील श्री मोहन प्रसाद चोपड़ा का भी यही मत था जो उन्हो ने खत्रिय इतिहास के लेखक बाल कृष्ण प्रसाद को बताया था।

बम्बई के अरोड़ा खत्री श्री अशोक कुमार अरोड़ा ने भी खत्रिय इतिहास लिखा है। उनका कहना है कि कुश के वंश में राजा परीक्षित के वंशज अरोड़ ने सिन्ध में अरोड़ कोट की स्थापना की। सिन्धु भी किसी समय अरोड़ नगर के नीचे बहती थी। "अरोड़ वंश इतिहास" के एक अन्य लेखक डा0 ओम प्रकाश छाबड़ा का कहना है कि सूर्य वंशी क्षत्रिय श्री अरुट को पुरुशराम से सम्मानपूर्वक अभयदान प्राप्त हुआ था और अरुट के साथी और वंशज ही अरोड़ा कहलाये। इसके लिये भविष्य पुरण, जगत प्रसंग–अध्याय 15 में श्लोक है– नाग वंशोद्या दिव्या क्षत्रियास्य, मुद्राहता। ब्रह्म वंशोदय वाश्चान्ये तथा अरुट वंश संभव। अर्थात नाग वंश में होने वाले और वैसे ही ब्रह्म वंश में होने वाले तथा अरुट वंश (अरोड़ा वंश) में होने वाले श्रेष्ठ क्षत्रिय कहलाये।"

इतिहास लेखक प्लिनी ने भी अरोड़ों को "अरोटुरी" लिखा है।[1]

दूसरा मत बृहत्संहिता पर आधारित है। उसमें लिखा है कि यह एक स्त्री राज्य था। कुछ क्षत्रिय इसी राज्य में रह कर क्षत्रियत्व का कार्य छोड़ कर शिल्प कार्य को अपना बैठे। इस लिये संस्कार हीन हो जाने से उन्हें 'उड्र' कहा जाने लगा।

चन्द्र वंशी हैहय कुल के औड्र भी अभिषिक्त हुए थे और स्त्री राज्य के पूर्व में 'ओड्र' देश था और सहदेव जी ने इसी 'ओड्र' देश को जीता था ऐसा उल्लेख महाभारत में है। अतः हहैय कुल वंशी इसी ओड्र देश के कारण ही ये क्षत्रिय ओड्र कहलाने लगे हैं, ऐसी संभावना हो सकती हैं। यह मत बाल कृष्ण प्रसाद ने व्यक्त किया है।

तीसरा मत "जाति भास्कर" का है इसमें लिखा है कि चन्द्र वंश की पाँचवीं पीढ़ी में राजा नहुष हुए और उनके पुत्र ययाति एवं पौत्र यदु की वंश परम्परा में

1. अरोड़ वंश का इतिहास–डा0 ओम प्रकाश छाबड़ा–इनका यह भी कहना है कि लाहौर विश्वविद्यालय मे मौजूद "फारसी लिपि में लिखी दो हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर ही यह बताया जाता है कि अरोड़ सिन्ध की राजधानी थी।"

कार्तवीर्य अर्जुन हुए। उन्हीं के पुत्र औड्र हुए। यही उडू सहस्त्रार्जुन के वंशज संस्कार हीन हो जाने से "अरोड़ा" के नाम से प्रसिद्ध हुए। समय के फेर से ऐसा हुआ हो, यह तो हो सकता है क्योंकि स्वयं बृहस्पति द्वारा अनेक जातियों को क्षत्रियत्व से संस्कार हीन कर के वृषल आदि जाति बनाये जाने के प्रमाण तो स्वयं पुराणों में मौजूद हैं।[1] ऐसे में यह भी हो सकता है कि ये अपना पेट भरने के लिये प्राचीन समय में कोई नीच कर्म करने लगे हों या शल्य कर्म करने लगे हों। स्वयं महाभारत के वन पर्व में पृथ्वी द्वारा कश्यप से यह कहने का उल्लेख है कि परशुराम के भय से बहुत से क्षत्रिय जहाँ तहाँ छिपे हैं और उस समय परशुराम इन्हीं चन्द्र वंशी हैहय कुल के क्षत्रियों का ही संहार कर रहे थे। अतः इस सम्भावना को भी नकारा नहीं जा सकता। इस विषय में भविष्य पुराण में भी परशुराम द्वारा क्षत्रियों के मूलोच्छेदन की कथा है जिसमें कहा गया है कि जब परशुराम जी ने अपनी समझ से सभी क्षत्रियों को नष्ट कर दिया तब असुर नामक एक क्षत्री उनकी शरण में आये तो परशुराम ने उन्हें सिन्ध में बसने की अनुमति दे दी। अतः वहाँ पहुँच कर उन्हों ने एक राज्य स्थापित किया और उनकी राजधानी अरुट नगर के नाम से प्रसिद्ध हुई। मुसलमान इतिहासकारों के

---

1. इतिहास पुराणों एवं धर्म शास्त्रों में अनेक क्षत्रिय जातियों को ही नहीं बल्कि अन्य द्विजन्मा जातियों को भी संस्कार हीन कर के "व्रात्य" बनाये जाने का उल्लेख प्रायः मिलता है। आश्वलायन गृह सूत्र एवं मनु स्मृति (2/39–40) में कहा है कि जिन लोगों का यज्ञोपवीत शास्त्रों में निर्धारित अधिकतम अवधि (ब्राह्मण के लिये सोलहवें, क्षत्रिय के लिये बाइसवें और वैश्य के लिये चौबीसवें वर्ष) तक न हो, उन्हें पतित यानी बिरादरी से खारिज मानना चाहिये। ऐसे ही लोग संस्कार के यथा समय न होने के कारण सावित्री से पतित हो कर "व्रात्य" कहे जाते हैं।

मनु स्मृति यह कहती है कि इन पवित्रता रहित 'व्रात्यों' के साथ विप्र संकट काल में भी अध्यापन या विवाहादि सम्बन्ध न करे। मानव धर्मशास्त्र, अध्याय 2, श्लोक 36, 37, 39 व 40 के अनुसार भी ऐसे व्रात्य नवयुवक गायत्री मन्त्र को प्राप्त करने के काबिल नहीं रहते और समाज की नजर में जलील समझे जाते हैं। ऐसे अपवित्र व्रात्य लोगों के साथ किसी ब्राह्मण को, चाहे वह कैसा ही भूखा क्यों न मरता हो, किसी किस्म का ताल्लुक न रखना चाहिये, न उनको वेद का उपदेश देना चाहिये और किसी किस्म की रिश्तेदारी पैदा करनी चाहिये।

पुराणों में इस प्रकार या अन्य कारण से व्रात्य बनाये गये संस्कार हीन क्षत्रियों की लम्बी सूचियां हैं। उपर्युक्त प्रकार से समाज की मुख्य धारा से कट जाने के कारण इन व्रात्य क्षत्रियों का एक अलग ही वर्ग बन जाता था जिन्हें ब्राह्मण, पुरोहित एवं समाज मान्यता नहीं देते थे। खस, दरद, शक, हूण आदि तथा अन्य लोगों के अतिरिक्त भी कुछ ऐसी जातियाँ हैं जिनका अतीत में क्षत्रिय (खत्रिय) होना निर्विवाद रूप से प्रमाणित है किन्तु व्रात्य हो जाने से उनके अलग–अलग फिरके खत्री समाज में ही बन गये थे और इनमें अनेक इतिहास प्रसिद्ध राजा भी हुए हैं।

ऐसे लोग एक प्रकार से मुख्य समाज से बहिष्कृत (social outcastes) हो जाते थे और उपर्युक्त कठोर प्रतिबन्धों के कारण स्वतः ही उनका अलग समूह बन जाता था। वर्तमान काल में खोखर या खोखरान, भाटिया, सूद आदि खत्री कुछ इसी प्रकार

काल में यह नगर अलोर के नाम से प्रसिद्ध हुआ और अब इसके खंडहर जो आधुनिक रोड़ी से, जो रेशम के व्यवसाय के लिये प्रसिद्ध है, पाँच मील की दूरी पर है।

भविष्य पुराण का रचना काल हूणों के आक्रमण के बाद का है। एक ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि हूणों के व्यापक आक्रमण की वजह से बहुत से क्षत्रिय राजघरानों को पंजाब छोड़ कर सिन्ध में बसना पड़ा था। यहाँ उनका राज्य स्थापित हुआ। यह समय देश में ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के संघर्ष का भी था। यह संघर्ष सिन्ध तक भी पहुँचा। हिरण्यकशिपु और प्रहलाद की कथा में सिंध के इसी संघर्ष की झलक है।

आठवीं शती के प्रारम्भ में जब अरबों का सिंध पर आक्रमण हुआ, उस समय वहाँ अरोड़ों के अन्तिम राजा दाहिर (अरबी–डाहिर) का राज्य था। इस राजा ने बड़ी वीरता से अरबों का सामना किया और आक्रमणकारियों के समुद्र मार्ग से किये गये कई हमलों को विफल किया। परन्तु वह ब्राह्मण धर्म का रक्षक था और उसके राज्य के बहुत से लोग बौद्ध थे जिन पर ब्राह्मण अत्याचार किया करते थे अतः उसे जनता का पूरा सहयोग नहीं मिला और अरबों ने शीघ्र ही सिन्ध पर विजय प्राप्त कर ली तथा मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के समय आपसी फूट के कारण अरोड़ कोट हमलावरों के हाथ में चला गया। अरबों के आक्रमण का स्वागत करने वाले इन्हीं बौद्धों के वंशज कालांतर में धर्म परिवर्तन कर मुसलमान हो गये।

ब्राह्मण धर्म का पोषक होने की वजह से अरबों की दृष्टि में वह ब्राह्मण ही था अतः अरबों ने उसे ब्राह्मण ही कहा है पर वास्तव में वह क्षत्रिय था। राजा दाहिर (डाहिर) की पुत्रियों ने जिस युक्ति से सिन्ध के विजेता से अपने पिता की हार का बदला लिया और खलीफा को संतप्त कर के अपनी कौमार्य रक्षा के लिये उसकी हत्या करने पर उतारू किया, वह कथा अब इतिहास मे सदैव के लिये सुरक्षित हो गयी है।

सिन्ध में अरबों का शासन हो जाने से क्षत्रियों के पैर वहाँ से उखड़े, फिर भी अपनी राजधानी को वे नहीं भूले और सिन्धु नदी के उत्तर की ओर बढ़ते बढ़ते पंजाब की नदियों के किनारे अरोड़ों के नाम से बस गये।[1] इन अरोड़ों में एक वर्ग दोहरे या डागरे के नाम से प्रसिद्ध है। नारायण प्रसाद अरोड़ा का मत है कि पंजाब के पश्चिम में बस जाने के कारण ही यह वर्ग डाहरे के नाम से प्रसिद्ध

के उदाहरण प्रतीत होते हैं। इनमें खोखर या खुखरान भारत के उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त तथा कश्मीर में और सूद किसी समय अफगानिस्तान में अधिकता से पाये जाते थे और अरोड़े अधिकतर सिन्ध में बस गये थे। अतः बिना इन स्थानों के इतिहास की गहरी छानबीन किये इन लोगों के पूर्व इतिहास की वास्तविक घटनाओं को खोजना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है।

1. अरोड़ा जाति का इतिहास– नारायण प्रसाद अरोड़ा

हुआ। वह यह भी कहते हैं कि पंजाब पर मुस्लिम आक्रमणों की वजह से अरोड़ा क्षत्रियों के बहुत से घराने फिर वहाँ से उखड़े और पुनः सिन्ध में आ कर बसे। इस बार वे पंजाब की स्मृति भी अपने साथ लाये और लोहाने [1] (लाहौर से आये हुए) कहे जाने लगे। कुछ वर्ग उत्तरी पंजाब में ही रह गये और "उत्तराधी' हो कर प्रसिद्ध हुए। जो दक्षिण की ओर सिन्ध या गुजरात की ओर जा कर बसे वे 'दक्खिने' कहे जाने लगे।

ग्याहरवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब पंजाब पर विदेशी आक्रमण हुए तो कुछ अरोड़ वंशी पंजाब से राजस्थान की ओर भी चले गये। चिरकाल तक उनका सम्बन्ध पंजाबी अरोड़ वंशियों के साथ भी बना रहा जिसके कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ प्रमाण भी हैं तथा पुष्कर राज एवं अन्य कई नगरों में दरियाव देव के मन्दिरों का भी प्रमाण दिया जाता है। [2] इन राजपूताना निवासी अरोड़ों में उत्तराधी, दक्खिने, दाहिरे आदि कोई भेद नहीं पाये जाते पर रीति रिवाजों से ये दक्खिने अधिक लगते हैं और प्रायः व्यापार में ही लगे हैं। बीसवीं शताब्दी में एक विधवा के विवाह के प्रश्न को ले कर राजस्थान के इन अरोड़ खत्रियों में फूट पड़ गयी और इनकी पूरी राजस्थानी बिरादरी दो दलों में बंट गयी। एक दल जोधपुरी अरोड़ा खत्री कहलाने लगा तथा दूसरे दल वाले नागौरी अरोड़ खत्री कहलाने लगे। यह दल विभाजन अभी तक कायम है।

पंजाब और सिन्ध पर मुस्लिम प्रभुत्व होने के कारण इस भू-भाग के मुसलमान शीघ्र ही प्रशासनिक और सैनिक सेवा में आ गये या भूमि के अधिकारी हो कर या जागीर प्राप्त कर जमींदार और किसान हो गये और केवल वाणिज्य-व्यापार का क्षेत्र ही हिन्दू जनता के लिये रह गया। इस लिये इन अरोड़ क्षत्रियों (खत्रियों) के अधिकांश पूर्वज व्यापारी और व्यवसायी ही थे। न वे सैनिक थे और न शासनाधिकारी। परिवर्तित परिस्थिति में इनके वंशजों द्वारा व्यापार एवं व्यवसाय अपनाने से क्षत्रिय होते हुए भी इनकी वणिक वृत्ति हुई। यही कारण था कि इनकी इसी वृत्ति को देख कर सन **1901** की ब्रिटिश जनगणना में इन अरोड़ खत्रियों को भी वैश्यों की ही श्रेणी में रखने का प्रयास किया गया। मुख्य खत्रिय तथा अरोड़ खत्रिय दोनों को ही इस प्रकार अपदस्थ होने पर धक्का

1. अरोड़ा जाति का इतिहास-नारायण प्रसाद अरोड़ा
2. इन श्री वरुण दरियाव देव (अमर लाल झूले लाल) का जन्म सिन्ध के नसरपुर शहर में अरोड़ वंशी ठक्कर भक्त रतन राम के घर संवत् **1007** के चैत्र सुदी दूज, शुक्रवार को प्रातः 4 बजे हुआ माना जाता है। इस बालक ने पालने में ही सिन्ध के तत्कालीन मुसलमान बादशाह मरात के वजीर अहया को चमत्कार दिखाये। उसकी प्रार्थना पर अमर लाल ने झूले पर से ही नीले घोड़े पर सवार युवक के रूप में जा कर बादशाह का अहंकार दूर किया। बादशाह ने भी क्षमा याचना की और उड़ेरालाल ग्राम में सुन्दर विशाल मंदिर बनवाया। अरोड़ वंशी इन्हीं दरियाव देव जी को अपना इष्ट मानते हुए वरुण दरियाव देव का सावन भादो मास में जल के किनारे पूजन करते हैं तथा सिंधी चैत में झूले लाल का उत्सव मनाते हैं जिसे 'चेती चंड' कहा जाता है।

लगा और संगठन तथा सुधार के लिये दोनों जातियों में स्फूर्ति आयी।

इनके पूर्व इतिहास एवं वृत्ति को देख कर ही एथनोलाजी में इन्हें गैर मान्यता प्राप्त खत्रिय (नान रिकगनाइज्ड खत्री) कहा गया था। जार्ज कैम्पबेल ने भी कहा था कि अरोड़े निम्न जातिय हैं। खत्री इनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखते और यह सत्य भी था। उस समय अन्य खत्री अरोड़ो से बहुत कम विवाहादि सम्बन्ध रखते थे।

1901 की ब्रिटिश जनगणना में उत्पन्न हुए क्षत्रिय वर्ण विवाद के कारण मुख्य खत्री तथा अरोड़ा खत्री दोनों को ही अपने अपने समाज में क्षत्रियत्व होने के प्रमाण उपस्थित करने पड़े जिससे यह सिद्ध हुआ कि खत्रियों और अरोड़ों के वैवाहिक संस्कारों में सामंजस्य है। दोनों के ही विवाह के अवसर पर घोड़े की सवारी और तलवार रखने की प्रथा है। दोनों की कई अल्लें एक दूसरे से मिलती हैं। इन प्रमाणों से तत्कालीन बिटिश शासन प्रभावित हुआ और जनगणना में दोनों ही क्षत्रिय वर्ग में मान लिये गये और इस प्रकार इनकी मान रक्षा हुई।

खत्रियों की भांति अरोड़ों में भी बहुत सी उपजातियाँ और अल्लें हैं। इन अल्लों की रीति रस्मों में भी थोड़े बहुत स्थानीय भेद हैं। देश का विभाजन होने पर सभी अरोड़ा खत्री अपनी भूमियों से उखड़ कर भारत के किसी न किसी भाग में आ बसे और इनमें आपस में ही नहीं बल्कि खत्रियों से भी परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होने लगे तथा अरोड़ों के भीतर ही नहीं बल्कि अरोड़ों और खत्रियों के मध्य भी रीति रस्म में एक रूपता आने लगी। इनकी कुछ अल्लें तो खत्रियों के पूर्वजों की याद दिलाने वाली हैं जैसे अहोजे, मनूजे, देवखानी और भगतानी अर्थात अतो, मनु, देव और भगत के वंशज। कुछ अल्लें कौटुम्बिक हैं जैसे चराई, पोत्र, नागपाल और ठकराल।

इनकी अधिकांश अल्लें व्यवसाय, पद, स्थान या नगर की सूचक हैं जैसे मूला, सती, शाह, पेशावरी।

इस दिशा में नारायण प्रसाद जी अरोड़ा ही प्रथम अन्वेषक थे। उन्हों ने खोज कर इन अल्लों की **1,000** से ऊपर की सूची तैयार की। यह सूची 'खत्री जाति परिचय' पुस्तक के पृष्ठ **66-99** तथा अरोड़ वंश की अन्य पुस्तकों में दी है।

बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास में इनके उत्तरार्ध तथा दक्षिणार्ध (दखनाड़े) विभागों के अल्लों की अलग संक्षिप्त सूची भी दी है तथा खत्री हितकारी, आगरा मार्च, **1892** के अंक (पृष्ठ 323) के लेख से ले कर इन अरोड़ों के पुरोहितों के अल्ल भी शामपुत्रे, भोजपुत्रे, धसैनपुत्रे, दड़ावरे, गैंधर, तख्तलाड़ले, शामदासी, सीतपाल, भारद्वाजी, काठवाले, खटके, यशरथ और पुकरने दिये है। उसमें यह भी लिखा है कि सिन्ध देश में दुर्गादत्त नामक सारस्वत **84** क्षत्रियों के साथ गये थे पर उनका सम्बन्ध लोहाणे खत्रियों के साथ बताया जाता है।

कुछ अरोड़ों का कहना है कि सिन्ध में अरोड़, सोहाणे को कहते हैं अतः यह लोहाणे अलग हैं। इन अरोड़ों की अपनी अलग पत्रिकायें भी हैं तथा इनके अपने पर अलग सम्मेलन भी होते रहे हैं इन्हें खत्रिय या खत्रि जाति का ही अंग माना जा चुका है और मुख्य खत्री समाज से इनके एकीकरण की प्रक्रिया काफी पहले प्रारम्भ हो चुकी है।

लोहाणे खत्री

ये खत्री नागपुर की ओर के हैं। सेठ, खन्ना, कपूर, चोपड़ा तथा नन्दा इनमें अल्लें हैं। सारस्वत ब्राह्मण इनके भी पुरोहित हैं। लोहाणे नाम पड़ने की कथा इस प्रकार है : सिन्ध देश में दुर्गादत्त नामक सारस्वत ब्राह्मण 84 क्षत्रियों के साथ राजा जयचन्द के प्रतिकूल गये। वहाँ उन्हों ने तपस्या की। 21 दिन लोहे के किले में रह कर ये निकले। इसी से यह क्षत्रिय लोहाणे कहलाये। कैप्टेन बर्टन ने इन्हें मुलतानी बनिया लिखा है। 'जाति भास्कर' (पृष्ठ 20) में इन्हें लवाणा क्षत्रिय लिखा है। पंडित ज्वाला प्रसाद जी इन्हें राजपूत बताते हैं। इधर के खत्री इनके खत्री होने में संदेह करते थे अतः इनके विवाह सम्बन्ध इनकी अपनी ही जमात में होते रहे।

भाटिया खत्री

जिन क्षत्रियों ने परशुराम के क्षत्रिय संहार के समय भटनेर नामक ग्राम या नगर में शरण ली थी उन्हें ही भाटिया कहा जाता है। जो भाटिये पंजाब में हैं वे अपने को खत्री कहते हैं और जो राजपूताना में हैं वे अपने को राजपूत कहते हैं। 'जाति भास्कर' में भी इन्हें राजपूत लिखा गया है। राजपूत वंश खत्री इनसे विवाह सम्बन्ध नहीं करते थे और खत्री लोग भाटिया को खत्री नहीं मानते थे अतः इनके विवाह सम्बन्ध अपनी ही जमात तक सीमित रहे। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि भाटिया लोगों की संख्या अधिक होने के कारण ही वह स्थान भटनेर कहलाया। कुछ यह भी कहते है कि परशुराम के भय से जो लोग भट्टी मे जा छुपे थे, वे अत्यंत पवित्र थे अतः भट्टी की आग से नहीं जले, इसी लिये भाटिया कहलाये। श्री मोती लाल सेठ ने अपने ग्रन्थ "ए ब्रीफ एथनोलाजिकल सर्वे आफ दि खत्रीज" में, खत्री हितकारी आगरा, जनवरी 1896, पृष्ठ 70 के नक्शा नंबर 16 में इनके 84 उपभेद लिखे हैं जो अंधार, कपूरा, छात्रिया, डांगा, नागर, बावला, बेदा, राजिया, सानी, सरिया आदि हैं और खत्री जाति परिचय में उसकी सूची दी है [1] जो परिशिष्ट में दी गयी है। इनके विवाह सम्बन्ध न तो खत्रियों से होते थे न राजपूतों से। पंजाब के अलावा उत्तरी भारत में, विशेषकर उत्तर प्रदेश में, भाटिया बिखरे हुए हैं पर कच्छ, काठियावाड़, गुजरात, बम्बई,

1. ये पुस्तकें निम्नलिखित है:-
(1) खत्री जाति परिचय-प्रकाशक अखिल भारतीय खत्री महासभा, लखनऊ (1958)
(2) खत्रिय इतिहास-बाल कृष्ण प्रसाद (पृष्ठ 282-283)

रत्नागिरि तथा खानदेश, थाना, शोलापुर, कनारा, बेलगाम और पूना जिले में भी पाये जाते हैं। ए0 बेन्स ने अपने ग्रन्थ एथनोलाजी (कास्ट्स ऐंड ट्राइब्स) में इनकी कुल जनसंख्या का अनुमान 60,600 लगाया था।

श्री अशोक कुमार अरोड़ा का कथन है कि "श्री कृष्ण जी और बलदेव जी की मृत्यु के पश्चात द्वारका का पतन हो जाने पर उनके वंशज सिंध चले गये और इसी वंश में राजा यदु के वंशज भट्टी या भाटी ने विक्रम संवत 1212, सावन बदी 12 को जैसलमेर नगर की स्थापना की। इनके वंशज सर्वत्र फैल गये और अब भाटिया खत्री कहलाते हैं। राजस्थान में इन्हें भाटी राजपूत कहा जाता है।[1]

सूद खत्री

सूद अपनी वंशावली भगवान राम चन्द्र के रसोइये से खोजते हैं जिसका दावा उन्हों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में अपनी जातीय पत्रिका "रिसालाये सूद" सितम्बर 1895 में किया था और कहते हैं कि इसे क्षत्रिय माना जाता था। इनका रूप रंग, प्रथायें, संस्कार, वीरता तथा तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता, व्यवहार कुशलता इन्हें भी क्षत्रिय या खत्रिय समुदाय में ही रखती है- ऐसा श्री मोती लाल सेठ का मत है (एथनोलाजी पृष्ठ 221) । इनके उपभेदों का पता नहीं है। ये अपने को खत्री मानते हैं पर खत्री इन्हें भाटिया, अरोड़े तथा लोहाणे की ही तरह खत्री नहीं मानते थे अतः इनके भी विवाह अपनी ही जमात तक सीमित रहे। भारत में खत्रियों से बहुत दिनों तक उनका संबंध नहीं रहा यह तो सूद लोग स्वयं भी मानते हैं किंतु समाज में उनका अस्तित्व पुराना है और इन्हें खत्री ही माना जाता है।

खत्री हितकारी, आगरा के दिसम्बर, 1889 ईसवीं के अंक में पृष्ठ 250-252 में मध्य प्रदेश के नरसिंह पुर जिले के खत्री चरनदास ने अपने आस पास बसे सूद खत्रियों के विषय में कुछ जांच पड़ताल कर के एक लेख प्रकाशित किया था जिसमें यह बताया गया था कि उस समय ये लोग सागर, दमोह, जबलपुर, नरसिंहपुर, होशंगाबाद, भोपाल, सिवनी, छपरा, दारासिवनी, छिंदवाड़ा, भटिण्डा, नागपुर, बालाघाट, वर्धा, के कुछ बड़े बड़े कस्बों में आबाद थे तथा अपना मूल स्थान पंजाब, उज्जैन, हाटा, राजापुर, खेकड़ी आदि से बताते थे। इनके 12 1/2 गोत्र मशहूर थे जैसे (1) गौतम उर्फ गोलर, (2) पराशर, (3) भरद्वाज, (4) धारगा , (5) खेजजर, (6) खूब (7) नजारिया, (8) पालीदार, (9) मानपिया, (10) कटारिया, (11) जाट, (12) दानी, 1/2 घोर या (13) चौहान। ये लोग शादी ब्याह सिर्फ अपने ही फिरके में गोत्र छोड़ कर दूसरे गोत्र वालों के यहाँ करते हैं।

(3) अरोड़ा जाति का इतिहास-नारायण प्रसाद अरोड़ा
(4) तवारीखे अरोड़ वंश -राम चन्द्र मनचन्दा
1. खत्री जाति परिचय-पृष्ठ 70

इन लोगो का पेशा सरकारी नौकरी, महाजनी, काश्तकारी, हकीमी, बजारी, दलाली, इत्र फरोशी, घोड़ों की सौदागिरी, सर्राफी, हलवाईगीरी, छींट के व देसी कपड़ों का व्यापार व स्प्रिट आदि की दुकान करने का था। ये लोग अपना पूर्व पेशा हिफाजत मुल्क व खुदा, फौजी पदों पर नियुक्ति आदि बतलाते थे। धार्मिक दृष्टि से इन लोगों में कुल देवी का पूजन होता था पर प्रायः सभी वैष्णव थे। कुछ लोग मैहर के भी उपासक थे। सामान्यतः शाकाहारी ये लोग तम्बाकू का भी सेवन नहीं करते थे तथा गुरु नानक के अनुयायी साधुओं को बहुत मानते थे।

इनका पुरोहित तो सारस्वत ब्राह्मण ही होता था किन्तु सारस्वत ब्राह्मण केवल नागपुर इलाके में ही उपलब्ध होने के कारण दूसरे पंडितों से पुरोहिताई का काम लिया जाता था। सारस्वत ब्राह्मणों से उनका कच्ची पक्की रसोई का व्यवहार था और उसका संबंध वे अपने पूर्वजों की उस घटना से जोड़ते हैं जब ब्राह्मणों ने क्षत्रियों की गर्भवती स्त्रियों की जान अपनी लड़कियाँ कह कर और उनके हाथ का किया हुआ भोजन कर के श्री परुशराम जी के हाथ से बचायी थीं और उन क्षत्रियों को जो परशुराम जी के भय से जंगलों में जा छिपे थे, कत्ल के खौफ से खत्रियों के नाम से नामजद किया था। बाद में इन्हीं ऋषियों ने उन्हीं क्षत्रियों की संतानों का विवाह, जिनकी उन्हों ने जान बचायी थी, उन्हीं क्षत्रियों के लड़के लड़कियों के साथ करा दिया जो अब बजाय क्षत्रियों के खत्री के नाम से मशूहर हैं। सन 1895 में लुधियाना से इनकी एक पत्रिका 'रिसालाये सूद' भी छपती थी पर इनके संबंध में विस्तृत अनुसंधान आवश्यक है।

चम्बा के ढाई घर खत्री

आपत्तिकाल में अनेक क्षत्रिय वंशज नवनागों के डसने से बच कर स्वदेश ओर राज्य के पर हस्तगत होने के कारण शत्रुभय से पीड़ित हो पूरी दुर्दशा से अपने पुरोहित सारस्वत ब्राह्मणों के आश्रित हो, कुछ तो अपने भाइयों में मिल गये थे और कुछ जंगल, पहाड़ों में पशुपालकों की बुरी दशा में जीवन रक्षा करते रहे और वहीं के अधिवासी हो गये। चम्बे आदि के पहाड़ों में ये जंगली जातियाँ गद्दी के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी दशा आज भी जंगली पशुपालक जैसी ही है पर उनके पुरोहित उनके विवाह आदि संस्कार वेद मंत्रों से ही कराते हैं। वे अपने को प्राचीन क्षत्रिय वंशज बताते हैं और अपने पूर्वजों को लाहौर, अमृतसर आदि के निवासी बताते हैं। उनकी जाति कपूर, खन्ना और सेठ इत्यादि है। एथनोलाजी के अनुसार उनमें से कितने ही मुसलमानी राज्य के उपद्रवों के दौरान वहाँ जा बसे थे। यह तो स्पष्ट ही है कि मुसलमानी राज्य के समय में भी पंजाब के खत्रियों और ब्राह्मणों को अनेक कष्ट भोगने पड़े और कितने ही दीन इस्लाम को न मानने के कारण मारे गये। अतः इस गद्दी जाति के भी हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा, चम्बा आदि जिले के पहाड़ों में जा बसने की बात निर्मूल नहीं है।[1] इनका विस्तृत इतिहास अभी खोजा नहीं गया है।

(1) खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद –पृष्ठ–233

अन्य खत्री जातियां

ब्रह्म खत्री, अरोड़ा खत्री, भाटिया, सूद, लोहाणे खत्री में कुछ का संक्षिप्त, कुछ का विस्तृत विवरण तो ऊपर दिया है पर चम्बा के ढाई घर खत्री, गद्दी एवं खक्कर खत्री, गुजरात तथा पंजाब के बाहर बसे मुसलमान खत्री तथा हैदराबाद की कपड़ा बुनने एवं रंगने वाली जातियों पर विशेष अन्वेषण की आवश्यकता है।

गद्दी और खक्कर खत्रियों का उल्लेख राजतरंगिणी में विशेष रूप से अधिक मिलता है जिनके इतिहास पर कुछ प्रकाश राजतरंगिणी के अनुवादक एवं भाष्यकार डा0 रघुनाथ सिंह ने अपनी टिप्पणियों में डाला है पर इन पर भी विस्तृत अधिकारिक शोध की आवश्यकता है। स्वयं श्री बाल कृष्ण प्रसाद ने अपने खत्रिय इतिहास के पृष्ठ 284 पर भी इन जातियों के संबंध में विस्तृत अन्वेषण की आवश्यकता बतायी थी।

क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा का मूल विस्तार

1. मूल पुरुष से चार वर्णों की उत्पत्ति

(i) क्षत्रिय शब्दोत्पत्ति

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन।
मुखं किमस्य कौ बाहू का उरु पादा उच्येते।।11।।
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भयां शूद्रोअजायतः।।12।।

–ऋग्वेद–पुरुष सूक्त–मंडल 10–सूक्त 11–12

जिस पुरुष का विधान किया गया, उसकी कितने प्रकार की कल्पना हुई, उनको कितने विभागों में विभक्त किया गया? (उत्तर) ब्राह्मण उस पुरुष के मुख से, क्षत्रिय भुजा से, वैश्य उरु द्वय से और शूद्र दोनो चरणों से उत्पन्न हुए।

सत्याभिध्यांयिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत्। अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः।।3।।
वक्षसो रजसोद्रिक्तास्थता वै ब्रह्मणोऽभवन्। रजसा तमसा चैव समुद्रिक्त स्तथोरुतः।।4।।

पद्भ्यामन्याः प्रजा ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम। तमः प्रधानास्तताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः।।5।।

ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्च द्विजसत्तम। पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्च समुद्गताः।।6।।

—विष्णु पुराण —प्रथम अंश—अध्याय 6— श्लोक 3—6

जगत रचना की इच्छा से युक्त सत्य संकल्प श्री ब्रह्मा जी के मुख से पहले सत्त्व प्रधान प्रजा उत्पन्न हुई। तदनन्तर उनके वक्षःस्थल से रजः प्रधान तथा जंघाओं से रज और तम विशिष्ट सृष्टि हुई। चरणों से ब्रह्मा जी ने एक और प्रकार की प्रजा उत्पन्न की। वह तमःप्रधान थी। ये ही सब चारों वर्ण हुए। इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों क्रमशः ब्रह्मा जी के मुख, वक्षःस्थल, जानु और चरणों से उत्पन्न हुए।

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि भूः शब्द कह कर ब्रह्मा जी ने ब्राह्मणभुवःय कह कर क्षत्रिय और स्वः कह कर वैश्य को उत्पन्न किया।

ब्रह्मा जी द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के नाम से जो चार वर्ण विभाग हुए वे पूर्व कल्पित ही थे, कोई नया आविष्कार नहीं। अपने गुण कर्मो के अनुसार समस्त संसार में ही, भले ही वहाँ नाम कुछ अलग हों, यही व्यवस्था पायी जाती है। समय की यथावश्यकतानुसार किसी भी व्यक्ति के कर्म बदलते रहते हैं परन्तु वर्ण नहीं बदलते। व्यक्ति स्वयं ही अपने कर्म से एक दूसरे वर्ण में अन्तरित होता रहता है। एक ब्राह्मण प्यादे का काम कर सकता है और अंग्रेज संस्कृत जानता है पर ब्राह्मण शूद्र नहीं कहलाता और न अंग्रेज ब्राह्मण कहलाता है। क्षत्रिय भी कालांतर में व्यापार करने लगे पर वैश्य नहीं कहलाते। संस्कृत ही सभी भाषाओं की जननी है और इसकी समता संसार की कोई भी भाषा नहीं कर सकती। यह डब्लू0सी0टेलर, एडवर्ड कार्पेन्टर, टी0जी0 कैनेडी जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी स्वीकार किया है और सर डब्लू0 जोन्स तक ने कहा है कि संस्कृत भाषा की रचना अपूर्व और आश्चर्यजनक हैं। प्रोफेसर मैक्सम्यूलर इसे भाषाओं की भाषा और भाषा विज्ञान की आत्मा मानते हैं।

(ii) प्राकृत भाषा तथा अपभ्रंश में (क्ष) के स्थान पर (ख) का प्रयोग

प्राचीन समय में संस्कृत ही बोलचाल की भाषा थी। स्त्रियाँ भी संस्कृत बोलती थीं परन्तु धीरे धीरे महाभारत काल तक आते आते संस्कृत विद्यापीठों तक ही सीमित रह गयी और उसका उच्चारण यज्ञशालाओं में ही रह गया। उस समय मूर्ख तथा अनपढ़ स्त्रियाँ संस्कृत भाषा को बिगाड़ कर बोलती थीं। अपभ्रंश हो जाने से भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रांतों में तरह तरह की प्राकृत भाषायें उत्पन्न हो गयीं। इसी प्रकार संस्कृत शब्दों के उच्चारण में कठिनाई आ गयी और प्रयत्न लाघव सिद्धान्त (भाषा विज्ञान) के अनुसार संस्कृत शब्दों के सरल तथा सादे रूपों का प्रचार होने लगा और इन्हीं के कारण प्राकृत भाषा उठ खड़ी हुई जो वास्तव में बिगड़ी हुई संस्कृत का ही रूप है और इसी को प्राकृत भाषा कहा जाने

लगा। वैदिक संस्कृत बिगड़ कर प्रायः 500 वर्ष ईसवी पूर्व प्राकृत भाषा बनी और 1000 वर्ष तक रही।[1] स्वयं बुद्ध ने अपना उपदेश मागधी भाषा में किया था। सुबन्धु और कालिदास आदि के नाटकों में भी उच्च वर्ण की स्त्रियाँ प्राकृत बोलती दिखाई पड़ती हैं। संस्कृत बड़े—बड़े लोग ही बोलते थे। स्त्रियों और अनपढ़ लोगो की भाषा भिन्न थी।[2] स्त्रियों, बालकों तथा साधारण लोगो से आर्य भाषा के शब्दों का ठीक उच्चारण नहीं होता था इसी लिये प्राकृत भाषा का जन्म हुआ। वैदिक विद्वानों में आर्य वैदिक भाषा को बोलचाल की भाषा से रक्षित रखने के लिये अपनी संस्कार युक्त भाषा को संस्कृत नाम दिया था। यही वैदिक भाषा आगे परिवर्तित और संशोधित हो कर संस्कृत कहलायी और अनुमान यही है कि ईसा से दो शताब्दी पूर्व तक आर्यावर्त में संस्कृत बोली जाती थी पर उसका व्यवहार विशेषतः शिष्ट लोगों तथा उन से संसर्ग रखने वालों में था। साथ ही बोलचाल की भाषा शिष्टों की भाषा से भिन्न हो गयी थी।[3]

याज्ञवल्क्य शिक्षा तथा प्रतिसाख्य सूत्र को पढ़ने से पता चलता है कि यजुर्वेद में कहीं कहीं (र) को (रे) और ष को (ख) तथा (य) को (ज) का उच्चारण करते हैं। वैदिक संस्कृत और पौराणितक संस्कृत में ही यह अंतर स्पष्ट है। प्राकृत और हिन्दी तो उसके बाद की भाषायें हैं। अतः वेद में (ष) के उच्चारण के (ख) में होने से भाषा में (क्ष) का (ख) हो जाना संदेहजनक नहीं है। ''लक्ष'' शब्द ''लाख'' और शीर्षा (साधारण संस्कृत) शीरेखा (वैदिक संस्कृत) बोला जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय शब्द बिगड़ कर खत्रिय बोला जाने लगा। इसी प्रकार संस्कृत का (क्ष) प्राकृत, पंजाबी, हिन्दी, सिन्धी, गुजराती, बंगला, उड़िया और मराठी आदि भाषाओं में (ख) बोला जाता है जैसे रक्ष का क्रमशः रक्ख, रक्खण, रखना, रखणु राखवं, खिवा, खिवा, राखणों बोला जाता है। संस्कृत के शब्द अन्य भाषाओं में किस प्रकार बोले जाते हैं उनका एक उदाहरण बाल कृष्ण प्रसाद ने अपनी पुस्तक खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 15—16) में इस प्रकार दिया है :

संस्कृत	प्राकृत	पंजाबी	हिन्दी	सिन्धी	गुजराती	बंगला	उड़िया	मराठी
रक्ष	रक्ख	रक्खण	रखना	रखणु	राखवं	खिवा	खिवा	राखणो
वृक्ष	रक्ख	रूक्ख	रूख	—	—	वृक्ख	—	—
क्षेत्र	खेत	खेत	खेत	खेतु व खेटु	—	खेत	खेत	—
कुक्षि	कुक्ख	कोखे	कोख	कखि	कुख	—	—	—
बुभुक्षा	बहुक्खा	भुक्ख	भूख	वुख	भूख	भूख	भोक	भूक

(1) लिटरेरी हिस्ट्री आफ इण्डिया —आर0डब्लू0ख्हीलर—पृष्ठ—255
(2) हिस्ट्री आफ इण्डिया—एलफिन्स्टन—अध्याय—5—पृष्ठ 161
(3) भाषा विज्ञान —राय बहादुर श्याम सुन्दर दास

संस्कृत	प्राकृत	पंजाबी	हिन्दी	सिन्धी	गुजराती	बंगला	उड़िया	मराठी
परीक्षा	परिक्खा	परख	पारख	पारख	पारख	परख	परख	पारख
इक्षु	उक्ख, व इक्ख	इक्ख	अख व ईख	–	–	इक्खू	–	–
वृद्धः	बुडढो	बुड्ढा	बुड्ढा	बुढ़ो	बुड्ढो	बूड़ो	बुढ़ा	–
भगिनी	भइणी	भैण	बहिन	–	वैण	–	–	वहण
पुस्तकम्	पोत्थओ	पोथी	पोथी	पोथु	पोथी	पुथी	पोथी	पोथी
वधु	वहु	–	वहू	वहू	बहू	बऊ	–	–
क्षय	खव	खोण	खाना	–	खोंव	खय	–	–
मस्तकम	मत्थओ	मत्था	मत्था	माथा	–	माथुं	माथा	–
हस्त	हत्थ	हत्था	हाथ	हथु	हाथ	हात	हात	हात
क्षत्रिय	खत्तिय	खत्री	खत्री	खत्री	खत्री	खत्रिय	–	–
एकादश	एगारह	यारां ग्यायारां	ग्यारह	यारघंकारहेअग्यार		एगारो	एगार	अकरा
द्वादश	बारह	वारां	बारह	बारहं	वार	वारा	वार	बारा
त्रयोदश	तेरह	तेरां	तेरह	तेरहं	तेर	तेर	तेर	तेरा
चतुर्दश	चउद्दह	चौदां	चौदह	चौदहं	चौद	चौद	चौद	चौदा
पंचदश	पएणरह	पंद्रां	पन्द्रह	पन्द्रहं, पंध्रा	पंधर	पन्दरो	पंधर	पंधरा
षोड्स	सोलह	सोलां	सोलह	सोलहं	सोल	षोल	सोहल	सोला

इन उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत शब्दों का उच्चारण अन्य भाषाओं में उनके मूल रूप में होना संभव न था और भिन्न भिन्न भाषाओं में इन शब्दों को अपनी अपनी भाषा में प्रकृति के अनुसार बिगाड़ कर बोला जाता था जिनमें अन्य भाषाओं में संस्कृत के (र) का बहुधा लोप हो जाता था जैसे आम्र, ग्राम, ग्राहक का क्रमशः आम, गाँव, गाहक आदि। संस्कृत के (ण) का हिन्दी में (न) में परिवर्तन जैसे कर्ण, गणेश का क्रमशः कान, गनेश। उसी प्रकार संस्कृत (क्ष) का परिवर्तन (ख) में होता है जिसे ऊपर के उदाहरणों मे स्पष्ट किया गया है।

संस्कृत व्याकरण सूत्र के अनुसार (क) और (ख) के संयोग से (क्ष) बना है। ररुचि के अनुसार संस्कृत (क्ष) और (ष्क) प्राकृत (ख) और (स्क) में परिवर्तित हो गया है।[1] प्राकृत में खत्तिय, शब्द शुद्ध संस्कृत 'क्षत्रिय' के लिये आया है। (क्ष) के स्थान में संस्कृत से निकले शब्द हिन्दी या दूसरी भाषाओं में (ख) से परिवर्तित हो कर बोले जाते हैं। [2] अतः स्पष्ट है कि (क्ष) के स्थान में (ख) ही संस्कृत से इतर भाषाओं में बोला जाता है। खत्रिय जाति को क्षत्रिय बनाने के लिये किसी

(1) प्राकृत प्रकाश–सूक्त 29– वररुचि
(2) कम्परेटिव ग्रामर आफ मार्डन आर्यन लैंग्वेजेज–खण्ड 2, पृष्ठ 212

ने ऐसा नहीं किया। इसी लिये खत्री को ही क्षत्रिय माना गया था और खत्री का अर्थ ही क्षत्रिय किया गया [1] और यह कहा गया कि खत्री–क्षत्रिय का अपभ्रंश है।[2]

भारतीय संस्कृति के अपढ़ मनीषी संत कबीर ने भी क्षत्रिय के स्थान पर खत्री शब्द का ही प्रयोग किया है:

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिनकूं होय सवाया करमो।
जीवहि मार जीव प्रतिपारै, देखत जनम आपनौ हारै।।
पंच सुभाव जु भेटैं काया, सब तजि करम भजैं राम राया।
खत्री सों जु कुटुंब सूं जूझै, पंचू मेटि एक कूं बूझै।।
जो आवध गुर ग्यान लखाया, गहि करवाल धूप धरि धावा,
हेला करै निसानै छाऊ, झूझ परै तहां मनमथ राऊ।।

खत्री (क्षत्रिय) खत्री धर्म करता है। उनका कर्म सवाया होता है। जीव को मार कर जीव का पालन करता है। देखते देखते अपने जन्म का नाश करता है। पंच स्वभाव (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद) को शरीर से समाप्त कर दे तब कर्म तज कर राजा राम के बनोगे। खत्री वह है जो काम, क्रोधादि कुटुम्ब से लड़ता है। पाँचों को समाप्त कर केवल परमात्मा को समझता है। जो समयावधि में गुरु ज्ञान को लक्ष्य करता है। तलवार (करवाल) पकड़ कर ब्राह्म ज्ञान को समाप्त कर देता है। खेल खेल में डंके पर चोट मारता है। कामदेव से युद्ध करता है।

कबीर साहित्य के गंभीर अध्येता डाक्टर श्याम सुन्दर दास के शिष्य श्री पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव ने कबीर की भाषा पर पंजाबी और राजस्थानी प्रभावों का अध्ययन किया। डाक्टर सुभद्र झा ने उसे मैथिली बनाने का प्रयास किया तो डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भाषा अध्ययन के पक्ष को बिल्कुल ही छोड़ दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर की भाषा को पंचमेल माना तो स्वयं डाक्टर श्याम सुन्दर दास ने कबीर की भाषा को प्रामाण्य को टेढ़ी खीर माना तथा अन्य विद्वानों ने भी ऐसा ही मत व्यक्त किया पर किसी ने भी यह नहीं कहा कि कबीर की भाषा में 'खत्री' शब्द का प्रयोग 'क्षत्रिय' के लिये नहीं किसी और शब्द के लिये है। इस पद में खत्री और उसके कर्म निर्विवाद रूप से खत्री को ही क्षत्रिय सिद्ध करते हैं।

इसी प्रकार महाजनी, कैथी, गुरुमुखी, फारसी, गुजराती आदि भाषाओं

(1) ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स आफ नार्थ वेस्ट फ्रन्टियर एण्ड अवध भाग–3 पृष्ठ 246
(2) व्याकरण देववाणी–भाग–2 पृष्ठ 41 (सम्वत् 1937 प्रकाशन)–दामोदर विष्णु शास्त्री

में (क्ष) अक्षर ही नहीं है अतः इन भाषाओं के बोलने व प्रयोग करने वाले सभी लोग (क्ष) के स्थान पर (ख) ही लिखते और बोलते हैं।

फारसी मुसलमानों के राज्यकाल में भारत की राजभाषा रही और काशमीर तक के राज्य में जहाँ मुसलमानों के राज्यकाल में भी संस्कृत को राजभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त थी और राजतरंगिणी जैसे इतिहास ग्रन्थ भी संस्कृत में रचे जाते रहे, संस्कृत भाषा का लोप हो गया और वह पंडितों, पुरोहितों, तथा विद्यालयों तक ही सीमित रह गयी। उसके बाद काफी समय तक सरकारी व अदालती भाषा के रूप में फारसी और उर्दू का ही बोलबाला रहा। इन दोनों ही भाषाओं में "क्ष" अक्षर नहीं है अतः साधारण लिखने पढ़ने और बोलचाल में ही नहीं बल्कि सरकारी, अदालती दस्तावेजों व फारसी/उर्दू में लिखी जाने वाली पुस्तकों में भी "क्ष" के स्थान पर "ख" ही लिखा जाने लगा। इस समय (संस्कृत का प्रचार बहुत कम हो जाने की वजह से) प्रयत्न लाघव के सिव्द्धांत के अनुसार चूंकि हिन्दू उर्दू भाषा–भाषी आम जनता को "क्ष" बोलने में कठिनाई होती थी अतः बोल चाल में भी "क्ष" के स्थान पर "ख" बोला जाने लगा। चूंकि "क्ष" के स्थान पर "ख" के प्रयोग से शब्द के अर्थ में कोई अंतर नहीं पड़ता था अतः दक्षिण को दक्खिन, भिक्षा को भिक्खा और फिर भीख, रक्षा को रक्खा जिससे राखी शब्द बना, लक्ष्मण को लछमन और फिर लखन, लक्ष्मणपुरी को लछमनपुरी और फिर लखनऊ और इसी तरह क्षत्रिय को क्षत्री, फिर खत्री बोला और लिखा जाने लगा और इस तरह क्षत्रिय जाति के लिये "खत्री" शब्द रूढ़ हो कर रह गया, जिसे अर्थ में कोई अन्तर न होने के कारण ही सर्वमान्य रूप से स्वीकार भी कर लिया गया। डाक्टर राम कृष्ण भंडारकर (सदस्य रायल एशियाटिक सोसाइटी) भी यही मानते हैं कि अन्य शब्दों की तरह क्षत्रिय ही खत्री बोला जाता है और क्षत्रिय ही खत्री हैं।[1]

वररुचि का समय 400 ईसवी पूर्व से 56 ईसवी पूर्व के बीच माना जाता है। उस समय 'क्ष" का "ख" में परिवर्तन निश्चित है। महाभारत के "क्षत्तात जायते यः सः क्षत्रियः" तथा रघुवंश के "क्षत्तात् त्रायत्दत्पुदग्रः क्षत्रस्य शदो भुवनेषुरूढ़"[2] के अनुसार "क्षत्र" का रूपांतर क्षत्रिय शब्द है और क्षत्रिय–क्षत्ता से निकला है। इन पुस्तकों की रचना के कितने समय पूर्व से "क्षत्री" शब्द प्रचार में है, यह कहना बहुत कठिन है।

इस सम्बन्ध में श्री एच. एच. रिज़ले, आई.सी.एस., सेंसस कमिश्नर (जनगणना आयुक्त) द्वारा भारत सरकार को भेजे गये खत्री जाति के ऐतिहासिक दस्तावेज दिनांक 29 जुलाई, 1901 से निम्नलिखित उद्धरण (हिन्दी रूपांतर) विशेष रूप से अवलोकनीय हैं:

(1) बम्बई जनरल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी–भाग–17 पृष्ठ 111–112
(2) रघुवंश–कालिदास– अध्याय–2–श्लोक 53

"जहाँ तक यह प्रश्न है कि 'क्षत्रि' और 'खत्री' शब्दों की समानता मात्र संयोग है, इस सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि ऐसा नहीं है। यह समानता भाषा विज्ञान के सिद्धांतों के अनुरूप है। क्षत्रिय शब्द का खत्री में रूपान्तरण एक सुपरिचित भाषा विज्ञान संबंधी परिवर्तन है जिसे सुप्रसिद्ध संस्कृत व्याकरणाचार्य वररुचि (जो मैक्सम्यूलर, प्रोफेसर विल्सन एवं कावेल के मतानुसार ई0 पू0 400 और 56 ई0 पू0 के बीच के हैं) सुप्रसिद्ध कवि कालिदास, महान नाटककार भवभूति एवं एच0 एच0 विल्सन, ई0वी0 कावेल, जे0डी0 प्लैट्स, जान बीम्स तथा अन्य विद्वानों द्वारा माना गया है। अतएव यह समानता मात्र संयोग नहीं हो सकती क्योंकि ऐसा परिवर्तन केवल 'क्षत्रिय' एवं 'खत्री' शब्दों तक सीमित नहीं है संस्कृत के "क्ष" अक्षर का प्राकृत "ख" में रूपान्तर लगभग सार्वभौमिक है तथा भाषा विज्ञान के सर्वमान्य नियमों पर आधारित हैं। "प्राकृत प्रकाश" के उन्नीसवें सूत्र में वररुचि ने लिखा है कि संस्कृत के 'ष्क' एवं 'क्ष' 'प्राकृत' में क्रमशः 'स्क' एवं 'ख' में रूपांतरित हो जाते हैं। उनके टीकाकार भामाह ने अपनी 'मनोरमा' टीका में वररुचि के उपर्युक्त सूत्र की पुष्टि के लिये उदाहरण दिये हैं:

संस्कृत	प्राकृत
पुष्कर	पोखरो
क्षत	खदो
पक्ष	जक्खो

कैम्ब्रिज एवं लन्दन विश्वविद्यालय में संस्कृत के अध्यापक ई0बी0 कावेल एम0 ए0, जिन्हों ने अपनी पुस्तक 'प्राकृत प्रकाश' की भूमिका के बीसवें पृष्ठ पर प्राकृत के संयुक्त अक्षरों की एक सूची दी है, के अनुसार संस्कृत का क्षत्रिय शब्द 'क्षत', जिसका अर्थ घायल है, शब्द से बना है (कृपया कालिदास के रघुवंश के द्वितीय सर्ग का 53 वाँ श्लोक देखें। इसी प्रकार का एक अन्य शब्द निर्माण महाभारत में भी दिया हुआ है)। संस्कृत के 'क्षत' शब्द के लिये प्राकृत के 'खदो' का उद्धरण जो व्याकरण सम्बन्धी एक नियम को प्रदर्शित करता है, इस बात का प्रमाण है कि उक्त परिवर्तन वररुचि के समय के पहले ही हो चुका था।

सुप्रसिद्ध कवि कालिदास ने अपने नाटक विक्रमोर्वशी के पाँचवें अंक में संस्कृत के 'क्षत्रियस्य' शब्द के लिये प्राकृत का 'खत्रियस्य' शब्द लिखा है।

बर्नाफ और लैसन के अनुसार यह पाली भाषा के संस्कृत से अलग होने की शुरूआत है तथा उन बोलियों की श्रृंखला में अग्रणी है जो उस सम्पन्न और उर्वर भाषा (संस्कृत) से अलग हुई। संस्कृत के 'ब्राह्मण', 'क्षत्रिय', 'वैश्य', एवं 'शूद्र' शब्दों को क्रमशः 'बरहमन', 'खत्रिय', 'वैशिक', तथा 'शूद्द' में रूपान्तरण हुआ तथा 'ऋषि' शब्द इसी में परिवर्तित हो गया। (सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट के दसवें खण्ड के पृष्ठ संख्या 75, 68, 52, 23, 102 एवं 192 देखिये।)

श्री एच0 एच0 विल्सन के मतानुसार अकबर के समकालीन माने जाने वाले प्रसिद्ध कवि शेष कृष्ण ने संस्कृत के कतिपय शब्दों को प्राकृत में इस प्रकार बदला है :

संस्कृत	प्राकृत
क्षेत्रपाबलिम्	खेतपाल बलिम्
क्षोभित	खुहिद
पक्षकदर्दमक्षेदम्	पक्खकद्दम खोदय्

कुछ ध्वनिया ऐसी होती हैं जिनका अशिक्षित लोग शुद्ध उच्चारण नहीं कर पाते। उदाहरण के लिये 'ण' का 'न' 'क्ष' का 'ख' और 'ऋ' स्वर का 'री' हो जाता है इत्यादि। जिह्वा स्वभावतः सरल मार्ग खोजती है। हिन्दी एवं उससे सम्बद्ध भाषाओं में शब्दों के प्रारम्भ में बहुधा 'क्ष' अक्षर आता है और चूंकि निश्चित रूप से यह ऐसी स्थिति है जिसमें 'क्ष' का उच्चारण अत्यंत कठिन है, इस स्थिति में 'क्ष' का 'ख' में परिवर्तन बहुधा हो सकता है। (देखिये जान बीम्स कृत कम्परेटिव ग्रामर आफ दि माडर्न लैंग्वेजेज आफ इण्डिया, खण्ड 1, पृष्ठ 312)

निम्नलिखित शब्द उपर्युक्त कथन को प्रमाणित करते हैं

संस्कृत	**हिन्दी**	**संस्कृत**	**हिन्दी**
कुक्षी	कौख	गवाक्ष	गौख
गोक्षर	गोखरू	इक्षु	ईख
लक्षपति	लखपति	लक्ष	लाख
अक्षय	अखय	अक्षोट	अखरोट
भिक्षाहारी	भिखारी	दाक्ष	दाख
क्षेत्र	खेत	क्षार	खार
क्षौर	खौर	क्षेम	खेम
क्षेत्री	खेती	क्षेत्रमोहन	खेतमोहन
भुक्षा	भूखा	क्षमा	खमा
रक्ष	राख	भिक्षा	भीख
दक्षिण	दखिन		

इसी नियम के अन्तर्गत 'क्षत्रिय' शब्द 'खत्रिय' में रूपान्तरित हो गया। भाषा विज्ञान का एक दूसरा नियम है कि संस्कृत का 'रिय' हिन्दी के 'री' में बदल जाता है। उदाहरण स्वरूप–

संस्कृत	**हिन्दी**
प्रियतम	प्रीतम
जितेन्द्रिय	जितेन्द्री

इस नियम के अन्तर्गत 'क्षत्रिय' शब्द जो पूर्ववर्ती नियम के अनुसार 'खत्रिय' में रूपान्तरित हो गया था पुनः रूपान्तरित हो कर 'खत्रिय' से खत्री बन गया।

श्री जान बीम्स **(Mr.John Beames)** ने अपनी पुस्तक 'कम्परेटिव ग्रामर आफ दि मार्डन आर्यन लैंग्वेजेज आफ इण्डिया' के खण्ड 1 पृष्ठ 312 में लिखा है "हिन्दी एवं उससे सम्बद्ध भाषाओं में शब्दों के पहले 'ख' अक्षर बहुधा आता है।" डाक्टर राम कृष्ण गोपाल भंडारकर, एम0 ए0, आनर्स, एम0आर0ए0एस0 लन्दन ने भारतीय भाषाओं के भाषा विज्ञान पर अपने एक भाषण में कहा है "हिन्दी का "खत्री" शब्द संस्कृत के 'क्षत्रिय' शब्द का विकृत रूप है। (देखिये रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा की पत्रिका का अंक 17, भाग 2 सन 1889–पृष्ठ 111 एवं 112)।"

पंजाब में, जो क्षत्रियों अथवा खत्रियों का मूल निवास स्थान हैं वहाँ की भाषा में 'क्ष' जैसा कोई अक्षर नहीं है उसमें केवल उसका प्राकृत रूप 'ख' (गुरुमुखी में) ही मिलता है। इसी प्रकार महाजनी और कैथी वर्णमालाओं में भी 'क्ष' जैसा कोई अक्षर ही नहीं है बल्कि उसका हिन्दी समानान्तर 'ख' ही मिलता है। बंगाली और गुजराती भाषा में भी 'क्ष' अक्षर का उच्चारण बहुधा 'ख' के रूप में ही किया जाता है। उदाहरण स्वरूप 'क्षेत्र मोहन' एवं 'अक्षय कुमार' का उच्चारण बहुधा 'खेत्र मोहन' और 'अखय कुमार' के रूप में किया जाता है। बम्बई के शापुर जी ईदुल जी के गुजराती व्याकरण (1867 में लन्दन की ट्रवर्नर एण्ड कम्पनी द्वारा प्रकाशित) के अनुच्छेद 42, पृष्ठ 12 में कहा गया है कि संस्कृत का 'क्ष' अक्षर गुजराती में 'ख' में बदल जाता है जैसे 'अक्षर' का 'अक्खर' 'अक्षि' का 'आँख', 'क्षमा' का 'खमा', 'क्षेम' का 'खेम' और 'क्षत्रिय' का 'खत्री' आदि।

भारत में हिन्दू शासन काल के दिनों में जब तक संस्कृत भारत में लिखी और बोली जाने वाली भाषा रही, सैन्य जाति क्षत्रिय कहलाती रही किन्तु समय बीतने पर प्राकृत बोली अथवा अपभ्रंश संस्कृत जैसी कठिन भाषा से आगे बढ़ कर जन समुदाय की भाषायें बन गयीं और संस्कृत ब्राह्मणों के विद्वत् वर्ग तक सीमित रह गयी। कालिदास एवं भवभूति रचित नाटकों में विद्वान ब्राह्मण एवं क्षत्रियों से संस्कृत बुलवायी गयी है जब कि स्त्रियों और सामान्य लोगों द्वारा प्राकृत बुलवायी गयी है। भारत, की क्षेत्रीय भाषाओं की जननी प्राकृत थी अतएव संस्कृत का 'क्षत्रिय' शब्द जो प्राकृत में 'खत्रिय' में रूपान्तरित हो गया था, भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं में लिखा और बोला जाने लगा किन्तु आज भी जन्मपत्रों, वैवाहिक अभिलेखों, धार्मिक कृत्यों में 'खत्री' शब्द 'क्षत्रिय' के रूप में बोला और लिखा जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'खत्री' शब्द संस्कृत

के 'क्षत्रिय' शब्द का आधुनिक एवं देशज रूप है और जब तक भाषा विज्ञान तथा व्याकरण के सारे नियमों की उपेक्षा न कर दी जाय, यह नहीं कहा जा सकता कि नाम सम्बन्धी यह समरूपता संयोग मात्र है।

आगे यह भी देखा जा सकता है कि वर्तमान समय में क्षत्रिय लोग नियमानुसार संस्कृत की ओर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि ब्राह्मण लोग। इसके विपरीत उनका लगभग सारा समय गुरुमुखी, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी और महाजनी के अध्ययन में बीतता है और चूंकि इनमें से किसी भी भाषा में संयुक्ताक्षर 'क्ष' नहीं है, क्षत्रिय इस बात के लिये बाध्य हैं कि वे क्षत्रिय के स्थान पर उसके प्राकृत अथवा देशज रूप 'खत्री' शब्द का प्रयोग करें।

उपर्यक्त विचार का अनुमोदन आइने अकबरी जैसी उच्च अधिकारिक पुस्तक के अलावा पश्चिम के विद्वान, पुरातत्ववेत्ता और इतिहासकार भी करते हैं। उपर्युक्त अधिकारियों के कुछ अनुच्छेद नीचे उद्धृत हैं:

(1) ब्लाचमैन (Blochman's)की आइने अकबरी (खण्ड–3 पृष्ठ 114) में कहा गया है कि क्षत्रियों को बोलचाल की भाषा में खत्रिय कहा जाता है। फारसी के संस्करण के खण्ड 3 के 74 वें पृष्ठ पर दिये गये मूल अनुच्छेद का शाब्दिक अर्थ है, कि "वर्तमान युग में क्षत्रियों को खत्रियों के रूप में जाना जाता है।" "फ्रान्सिस ग्लैडविन (Francis Gladwin's)द्वारा किये गये आइने अकबरी के अनुवाद (सन् 1800 के संस्करण) के खण्ड 2 पृष्ठ 398 में लेखक ने कहा है, "किन्तु आजकल विशुद्ध क्षत्रियों का पाया जाना उन थोड़े से अपवादों को छोड़ कर जो शस्त्र विद्या के व्यवसाय का पालन नहीं करते, बहुत कठिन है।"

(2) फरिश्ता ने अपनी पुस्तक में एक खत्री राजा का उल्लेख किया है। सम्बद्ध अनुच्छेद का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है–"परम्पराओं की कहानियों के सूत्रधारों और कथावाचकों ने कहा है कि द्वापर युग के उत्तरार्ध में भारत के हस्तिनापुर नगर में एक खत्री राजा था जो न्यायपीठ पर बैठ कर अपनी प्रजा का पालन करता था। इस राजा का नाम भरत था।" (देखिये नवम्बर, 1884 में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ में मुद्रित 'फरिश्ता' के फारसी संस्करण का पृष्ठ 6)

इसी पुस्तक के नवें पृष्ठ पर फरिश्ता ने विक्रमाजीत खत्री अथवा विक्रमादित्य का उल्लेख किया है। उसने आगे पुनः खत्री शब्द का उल्लेख किया है। सम्बद्ध अनुच्छेद का इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है "राजा विक्रमाजीत खत्री जो इस पुस्तक की रचना के 1600 वर्ष से कुछ अधिक पूर्व राज्य करता था, की मृत्यु के पश्चात उन्हों ने (राजपूतों ने) शासन सूत्र अपने

हाथ में लिया।"

(3) सर डब्लू0 डब्लू हन्टर ने अपनी 'स्टेस्टिकल एकाउन्ट आफ बंगाल' के खण्ड–4 पृष्ठ 17 पर खत्री जाति के विषय में निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये हैं :–

"अस्तु अक्षरशः शास्त्रों के अनुसार सम्प्रति विशुद्ध क्षत्रिय नहीं हैं यद्यपि लोक प्रचलित परम्पराओं के अनुसार बहुत से क्षत्रिय बच निकले थे अथवा छोड़ दिये गये थे।"

"वर्तमान काल के खत्री अपनी वंश परम्परा के प्रमाणस्वरूप कहते हैं कि उनके पूर्वजों ने परशुराम के सामने आत्मसमर्पण कर दिया था और वे उनके द्वारा छोड़ दिये गये थे। 'खत्री जाति का नाम' जो क्षत्रिय का संक्षिप्त रूप है उनकी इस मान्यता को महत्व देता है कि वे मूल योद्धा जाति के वंशज है।

(4) 'ग्लासरी आफ जुडीशियल ऐण्ड रेवेन्यू टर्म्स आफ दि डिफरेन्ट लैंग्वेजेज आफ इण्डिया' नामक पुस्तक में जिसका सम्पादन एवं प्रकाशन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के निर्देशकों की कोर्ट के अधिकार के अन्तर्गत हुआ, में प्रोफेसर एच0 एच0 विल्सन ने पृष्ठ 284 पर कहा है "खत्री जिसका बिगड़ा हुआ रूप खत्रिय अथवा खतरी है हिन्दी का शब्द है (संस्कृत क्षत्रिय है) जिसका अर्थ है दूसरी विशुद्ध जाति का व्यक्ति, सैनिक एवं राजकुल जाति का।"

(5) श्री जान, डी प्लाट्स (John D. Platts)ने अपने शब्दकोष में कहा है "खत्री (संस्कृत क्षत्रिय) हिन्दुओं की दूसरी अर्थात योद्धा एवं राजसी जाति का व्यक्ति।"

(6) 'हिन्दी ऐन्ड इंगलिश डिक्शनरी' नामक अपनी पुस्तक में श्री जे0टी0 थामसन ने कहा है कि "खत्री का अर्थ हिन्दुओं की चार जातियों में से एक है। इसका अर्थ है वह व्यक्ति जो योद्धा जाति का है।"

(7) खत्रियों के इस दावे के सम्बन्ध में कि वे पुराने क्षत्रियों के वंशज हैं सर जार्ज कैम्पबेल ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है "मुझे ऐसा सोचने के लिये विवश होना पड़ता है कि वे (खत्री) वास्तव में उस सम्मान के श्रेष्ठतम दावेदार हैं।"

(8) श्री रैवरेन्ड शेरिंग (The Rev. Sherring, MA., L.L.D)अपनी पुस्तक 'हिन्दू ट्राइब्ज ऐण्ड कास्ट' के पृष्ठ 278 पर लिखते हैं "खत्री मूलतः पंजाब से आये जहाँ खत्री एवं क्षत्रिय इन दोनों नामों के उच्चारण में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता है।"

(9) श्री जे0 टाल ब्वायज ह्वीलर (Mr. J. Talboys Wheeler)ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री आफ इण्डिया" के पृष्ठ 173 की टिप्पणी में कहा है कि "भारत की प्राकृत व देशज भाषाओं में क्षत्रियों को खत्री कहा जाता है।"

(10) अपनी पुस्तक 'कास्ट सिस्टम इन इन्डिया' में खत्रियों की चर्चा करते हुए श्री जे0 सी0 नेसफील्ड ने पृष्ठ 37 की पंक्ति 88 में कहा है कि "भारत में व्यापार करने वाली जातियों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं सर्वोच्च खत्री जाति है। यह नाम, क्षत्रिय शब्द का वर्तमान उच्चारण मात्र है। अतएव इस जाति के प्रादुर्भाव के बारे में जाति विश्लेषण (Ethnological Puzzle) सम्बन्धी कोई समस्या नही होना चाहिये जैसा कि स्वर्गीय श्री शेरिंग ने परिभाषित किया है।"

श्री मैक्रिंडल ने अपनी पुस्तक "इन्डियन एन्टीक्वायरी" (Indian Antiquary) सन 1884 के खण्ड 13 पृष्ठ 364 पर लिखा है–"यूनानी लेखकों के अनुसार वे लोग जो रावी और व्यास के बीच के क्षेत्र में राज्य करते थे खत्रियाओ (Khattaraio) थे। इनकी राजधानी संगल थी।"

स्पष्ट है कि खत्रियाओं नाम खत्रियों की ओर इंगित करता है जो टालमी के अनुसार जिसके प्रकाश में श्री मैक्रिंडल ने उपर्युक्त टिप्पणी लिखी है, "रावी और व्यास नदियों के बीच व्याप्त भू क्षेत्र के शासक थे। यही क्षेत्र इस जाति का मूल निवास स्थान है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अंग्रेज एवं मुसलमान दोनों के अधिकृत विद्वान मेरे विचारों का अनुमोदन एवं समर्थन करते हैं।"

काल निर्धारण की कठिनाई

क्षत्रिय वंशी इक्ष्वाकु का जन्म पौराणिक मतानुसार 21,85,000 वर्ष, जोन्स के अनुसार 5,000, वर्ष, विल्फोर्ड के अनुसार 2,700 वर्ष, वेन्टली के अनुसार 1,528 वर्ष, टाड के अनुसार 2,200 वर्ष तथा उसी के स्थानांतर में 2,500 वर्ष पूर्व हुआ था।

श्री रामचन्द्र के जन्म को पौराणिकों के मत के अनुसार 8,67,102 वर्ष, जोन्स के अनुसार 2,029, विल्फोर्ड के अनुसार 1,360, वेन्टली के अनुसार 950 और टाड के अनुसार 1,100 वर्ष (ईसवी पूर्व) हुए हैं। इसी प्रकार विल्सन ने महाभारत का काल 1,367 वर्ष ईसवी पूर्व और आर0सी0 दत्त के अनुसार 1,870 वर्ष ईसवी पूर्व किन्तु ज्योतिषियों के मत से और वैदिक साहित्य के अनुसार 3,171 वर्ष ईसवी पूर्व में कलि के आरम्भ में एवं एक अन्य मत के अनुसार 3,076 ईसवी पूर्व में यह युद्ध हुआ था। इस विषय में भारतीय ज्योतिषियों ने प्राचीन ग्रन्थों, महाभारत, पुराण एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उनमें दिये गये

संकेतों के सहारे पर्याप्त अनुसंधान किया है और तिथियों के संबंध में उनके निष्कर्ष चन्द्रकांत बाली जी [1] के अनुसार निम्न प्रकार हैं :

"श्री कृष्ण का जन्म सप्तर्षि संवत 925 अर्थात 3238 ईसवी पूर्व (श्रीमद्भागवत् के अनुसार सप्तर्षि संवत् 920)[2] में हुआ। श्री कृष्ण जब सात वर्ष के थे, तभी गोवर्धन पूजा के प्रसंग में उनकी इन्द्र से ठन गयी। श्रीमद्भागवत् में लिखा है :

"क्व सप्तहायनो बालः? क्व महाद्रि विधारणम्?

–श्रीमद्भागवत् 10–24

अतः इन्द्र और कृष्ण का गोवर्धन पूजा को ले कर हुआ संघर्ष 3231 ई0पू0 की घटना है। हरिवंश पुराण (19/73) में जिक्र है कि इन्द्र ने श्री कृष्ण के समक्ष अर्जुन–जन्म और उसकी रक्षा का प्रस्ताव किया और कहा कि–'हे कृष्ण! तेरी बुआ के गर्भ से मेरा अंश जन्मा है उसकी रक्षा आप को करनी है और उसे पारिवारिक मान्यता भी दिलानी है और उसे अपना सखा भी स्थापित करना होगा।' इसी सार्थक अनुमान के आधार पर अर्जुन का जन्म सप्तर्षि संवत 933 अर्थात 3231 ई0पू0 तथा उनके शेष भाइयों में युधिष्ठिर का जन्म सप्तर्षि संवत् 930 अर्थात 3228 ई0पू0, भीम एवं दुर्योधन का जन्म सप्तर्षि संवत् 932 अर्थात 3232 ई0पू0 और नकुल, सहदेव (जुड़वाँ) का जन्म सप्तर्षि संवत 934 अर्थात 3230 ई0पू0 निकाला गया है। महाभारत ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्य से (अनुसंवत्सर जाताः) ऐसा प्रतीत होता है ये पाँचो भाई प्रति वर्ष के अनुपात से जन्मे थे। यदि इसी को आधार माना जाय तो युधिष्ठिर का जन्म सप्तर्षि संवत् 931 अर्थात 3233 ई0पू0 मान लेना भी अयुक्तिसंगत नहीं है।

इन तिथियों को देखते हुए निष्कर्ष यह निकाला गया है कि महाभारत संग्राम सप्तर्षि संवत 1015 अर्थात 3148 ई0पू0 में हुआ था। तब श्री कृष्ण 90 वर्ष के, युधिष्ठिर 96 वर्ष के, भीमसेन 84 वर्ष के, अर्जुन 83 वर्ष के तथा नकुल–सहदेव 82 वर्ष के थे।

इन्हीं गणनाओं के आधार पर महाराज शान्तनु का निधन 100 वर्ष की आयु में सप्तर्षि संवत 880 अर्थात 3283 ई0पू0 में हुआ। सप्तर्षि संवत 903 में चित्रांगद गंधर्वों के साथ युद्ध में दिवंगत हुआ। संवत 904 में भीष्म ने काशिराज

(1) 'हिन्दुस्तान एवं ज्योतिष योग' मासिक पत्रिका (कानपुर) अंक जुलाई, 1997 पृष्ठ 27–34–लेख श्री चन्द्र कान्त बाली।

(2) गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'कल्याण' में विक्रम संवत के साथ श्री कृष्ण संवत तथा सन ईसवी भी दिया जाता है। यथा सौर भाद्रपद विक्रम संवत 2054, श्री कृष्ण संवत 5223, अगस्त 1997 ईसवी। इसके अनुसार गणना सौर करने पर श्री कृष्ण संवत का प्रारम्भ 3226 ईसवी पूर्व आता है।

की कन्याओं का अपहरण किया। सप्तर्षि संवत 907 में विचित्रवीर्य दिवंगत हुआ तथा सप्तर्षि संवत 908 में धृतराष्ट्र श्री पाण्डु तथा विदुर हुए और इन्हीं के साथ महाभारत काल का श्री गणेश हुआ।

तद्विषयक अनुसंधानों के अनुसार सप्तर्षि संवत 917 अर्थात 3256 ई0पू0 में कृष्ण द्वैपायन 'वेद–व्यास' प्रतिष्ठित हुए तथा वेदों को व्यापकता मिली। महर्षि यास्क ने 3191 ई0पू0 में वेद व्याख्यान रूप 'निरुक्त शास्त्र' की रचना की और तत्पश्चात वेदांग शास्त्रों की तथा पुराण इतिहास ग्रन्थों की रचना होने लगी और भारतीय साहित्य का भंडार समृद्ध हुआ।

सप्तर्षि संवत् 921 = 3242 ई0पू0 में राजकुमार पाण्डु को 'युवराज' घोषित किया गया। धृतराष्ट्र अंधे थे अतः उन्हें राज्य संचालन के अयोग्य माना गया। इसके पूर्व 3363 ई0पू0 में त्वचा रोग के कारण देवापि को शासन से दूर रखा गया था। 3242 ई0 पूर्व में 14 वर्ष की आयु में पाण्डु राजा बने। 3198 ई0पू0 में श्री कृष्ण और अर्जुन ने 'खाण्डव वन' को जलाने की योजना बनायी।

यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि मगध सम्राट जरासंध ने सन 3193 ई0पू0 में मथुरा पर घेरा डाला था, तब श्री कृष्ण की आयु 45 वर्ष की थी। इस घेराव काण्ड में कौरवों ने बढ़ चढ़ कर हिस्सा लिया था। सन 3192 ई0पू0 में श्री कृष्ण ने द्वारकापुरी को बसाया था और 3191 ई0पू0 में श्री कृष्ण पर स्मयन्तक मणि चुराने का कलंक लगा। निरुक्त व्याख्याता यास्क मुनि ने अपनी रचना में इस कांड की चर्चा की है। ईसवी पूर्व 3112 में श्री कृष्ण ने 126 वर्ष में विग्रह विसर्जन किया था।

इसी तरह काश्मीर इतिहास से संबंधित कल्हण कृत राजतरंगिणी में लिखा गया है कि 3193 ई0पू0 में गोनन्द प्रथम मथुरा के घेराव में जरासन्ध के साथ गया था और बलराम के हाथों उसकी मृत्यु हुई। इस तथ्य से तथा राजतरंगिणी के अन्य उल्लेखों से भी महाभारत के ऐतिहासिक तथ्यों की पुष्टि होती है।''

यह काल गणना इस सदी के पूर्व के प्रारम्भ के समय की है।• अतः निश्चित काल निर्धारण तो संम्भव नहीं पर क्षत्रिय का 'खत्रिय' और 'क्षत्रियाणी' का 'खत्रियानी, खतरानी' आज तक प्रचलित है। क्षत्रियों ने अपने को इसी परिप्रेक्ष्य में खत्री कहना प्रारम्भ किया और आज भी खत्री ही कहते चले आये हैं।

• टिप्पणी–स्वयं पुराणों के रचना काल के विषय में ढाका विश्वविद्यालय (अब बंगला देश) के शोध छात्र आर0सी0 हाजरा का शोध प्रबंध ''स्टडीज इन दि पुराणिक रिकार्ड्स आन हिन्दू राइट्स ऐण्ड कस्टम्स'' सन 1940 में प्रकाशित हुआ था और उसमें भी उन्हों ने 18 पुराणों के विभिन्न अध्यायों का रचनाकाल सन 200 ईसवी से 1000 ईसवी तक निर्धारित किया है, जिसमें उन्हों ने 18 पुराणों में किये गये अन्तःक्षेपों की ही सम्भावित तिथियाँ दी हैं और यह निष्कर्ष दिया हैं कि पुराणों में स्मृतियों का विषय सन 200 ईसवी से जुड़ना शुरू हुआ किंतु उनका उद्देश्य पुराणों के मूल अंश एवं बाद में बढ़ाये गये अंशों को अलग अलग करना एवं उनका काल निश्चित करना था। अतः वे स्मृति संबंधी अध्यायों तक ही सीमित रहे। पुराणों के मूल रचनाकाल पर उन्हों ने भी कोई विशेष प्रकाश नहीं डाला और केवल यह कहा कि मार्कण्डेय पुराण तथा आदि अथवा वायु पुराण सर्वाधिक प्राचीन हैं। (इस शोध प्रबंध का द्वितीय संस्करण सन 1975 में दिल्ली से–मोती लाल बनारसी दास द्वारा–प्रकाशित हो चुका है।) अतः काल चक्र की विभिन्नता के भँवर में फंस कर कुछ भी निर्णय कर पाना कठिन है।

इससे उनके वर्ण में विभेद नहीं हो सकता, यह स्वयं सिद्ध है।

(iii) वर्ण विचार–विशुद्ध क्षत्रिय (खत्रिय)

सी.एच. इलियट •• भी मानते है कि खत्री या व्यापारी जाति विशुद्ध रुधिर की है।[1]

खत्रियाः क्षत्रियाः, राजन् संस्कारैश्च विभूषिताः
सम्भोज्या ब्रह्मणौ सार्द्ध वेद मार्ग विर्वद्धकाः
क्षत्रिय स्याप भ्रंशोयं खत्रि लोकेषु गीयते
भुजयन्ते ब्रह्मणो राजन धर्म शास्त्र परायणैः
खत्रि प्रसिद्ध शब्दात्यैरियं रीतिर्व्यवस्थितिः।।[2]

अर्थ स्पष्ट है। खत्री ही क्षत्रिय हैं।[3] अंग्रेजी कोशों में भी खत्री शब्द का अर्थ– शब्द संस्कृत 'क्षत्रिय'–दूसरा शुद्ध वर्ण, सैनिक, राजा की जाति का किया गया है।[4] फोर्ब्स ने भी अपने हिन्दुस्तानी शब्द कोश में खत्री को हिन्दुओं के चार वर्णो में से दूसरा वर्ण माना है। हिन्दू जाति के विषय में अनेक खोजें करने वाले ब्रिगेडियर जनरल सर जान मैलकम ने भी अपने ग्रन्थ 'स्केच आफ द सिख' में क्षत्रिय के स्थान पर खत्री ही लिखा है। इसी प्रकार वेट, ब्राइस आदि के शब्द कोशों में भी ऐसा ही वर्णन है और रेवरेंड शेरिंग तक ने माना है कि 'खत्री असल में पंजाब से आये जहाँ क्षत्रिय और खत्री जाति के नाम के उच्चारण में भेद नहीं है।[5] जे0सी0 नेसफील्ड भी कहते है कि खत्री आज व्यापार करने वालों की जाति में बहुत प्रसिद्ध और ऊँची जाति है। यह नाम केवल उच्चारण के भेद से हुआ है। इस लिये इसकी उत्पत्ति खोजने में भूल नहीं करनी चाहिए।[6] स्वयं व्हीलर तक ने लिखा है कि भारत की भाषा में क्षत्रिय को खत्री कहते हैं।[1]

•• हिन्दूइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म–चार्ल्स इलियट–लंदन (1921)
1. उन्नाव क्रानिकल–सर0एच0 इलियट–पृष्ठ 4
2. क्षत्रिय कुल भूषण–हरिशचन्द्र शास्त्री (दिल्ली)
3. खत्रियों की उत्पत्ति–भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र–पृष्ठ–11 पंक्ति 5
4. ग्लासरी आफ जुडीशियल एण्ड रेवेन्यु टर्म्स आफ डिफरेन्ट लैंग्वेजेज आफ इण्डिया–प्रोफेसर एच.एच. विल्सन– **(Khatri-corruptly Khatri, Khetry-the soilder and the sovereign caste)**
5. हिन्दू ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स –रेवरेन्ड शेरिंग–पृष्ठ–278
6. कास्ट सिस्टम इन इण्डिया –जे0सी0 नेसफील्ड पृष्ठ–37

तवारीखे फरिश्ता में भी लिखा है कि हस्तिनापुर में खत्री राजा भरत हो गये हैं जो अपनी प्रजा पर वात्सल्य प्रेम रखते थे। इन्हीं के कुरु और पांडव हुए। उस समय तक क्षत्रिय और खत्री कहने में भेद न था, केवल उच्चारण मात्र का ही भेद था। इसी ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि राजा विक्रमादित्य खत्री थे जिसे 1,600 वर्ष हुए। आइने अकबरी भी (पृष्ठ 74 में) लिखता है कि छतरी (क्षत्रिय) आज कल खत्री के नाम से प्रसिद्ध हैं जो क्षत्री वर्ण को जाहिर करता है। उसी में आगे यह भी लिखा है (पृष्ठ 77) कि खत्री प्रायः 500 जाति से भी अधिक हैं जिनमें 52 जाति उच्च समझी जाती हैं किन्तु 12 घर उनसे भी श्रेष्ठ माने जाते हैं। आज कल उनका अपना झण्डा नहीं है। बहुतों ने युद्ध कर्म छोड़ दिया है। आजकल वे खत्री बोले जाते हैं। उसमें खत्रियों के दो भेद (1) खत्री (2) राजपूत लिखे हैं। अशरफ–उल–तवारीख में भी लिखा है कि "खत्री विशुद्ध क्षत्रिय हैं। विशुद्ध माता तथा पिता पक्ष की क्षत्रिय संतति हैं।" यहाँ तक कि अबुल फजल ने भी गीता के अनुवाद में क्षत्रिय को खत्री ही लिखा। 'तवारीखे बिहार' में भी यही बात विस्तार से कही गयी है।

प्राकृत भाषा में भी खत्रियों को 'खत्तिय' और स्त्रियों को 'खत्तियानी' लिखा है। (शब्द सागर) गुरु गोविन्द सिंह ने भी अपनी वंशावली बना कर अपने को लव कुश वंश में साबित किया था। वे स्वयं खत्री थे। ऐसा उल्लेख रेवरेंड शेंरिंग ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स' में किया है। गुरु नानक देव ने भी वैदिक आर्यों के चार वर्ण विभाग में ब्राह्मण के बाद खत्रिय ही लिखा है और हर जगह क्षत्रिय के लिए खत्री शब्द ही लिखा है। हाई कोर्ट और प्रिवी कौंसिल के फैसले भी इसी सत्य की पुष्टि करते हैं कि खत्री ही विशुद्ध क्षत्रिय हैं।[2]

आजकल के खत्री ही क्षत्री हैं इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये सन 1901 की जनगणना में उठे विवाद के बाद विद्वानों की तीन सभायें हुई थीं जिनमें से प्रथम सभा सन 1904 में नदिया प्रान्त में हुई जिसमें भारत के अनेक प्रान्तों के पंडित उपस्थित हुए। इस सभा में प्रमुख उल्लेखनीय पंडित थे श्री विद्यारत्न रजनीकान्त शर्मा, तर्करत्न जय नारायण शर्मा, चूड़ामणि ताराप्रश्न शर्मा, विद्यावाचस्पति शिवनाथ, वाचस्पति क्षतीशकान्त शर्मा, रामकृष्ण तर्क पंचानन, तर्करत्न आशुतोष शर्मा, सर्वभौम यदुनाथ शर्मा, स्मृतितीर्थ अनुकूल चन्द्र शर्मा, वेदान्त विद्यासागर गंगाचरण देव शर्मा, विद्यानिधि लालमोहन शर्मा, शान्तिपूर, कृष्ण नाथ शर्मा, पूर्वस्वामी। इस सभा ने निर्णय किया कि खत्री ही असल क्षत्री हैं। दूसरी सभा उसी साल काशी में हुई जिसमें महाराजा बनारस का भी सहयोग था तथा श्री कैलाश चन्द्र शर्मा शिरोमणि एवं श्री स्वामी श्री राम मिश्र शास्त्री उपस्थित थे। इसने भी खत्रियों को क्षत्री माना । तीसरी सभा लाहौर में हुई जिसमें यह सिद्ध किया गया कि वर्ण व्यवस्था के अनुसार खत्रियों का स्थान

(1) हिस्ट्री आफ इण्डिया–ह्वीलर–पृष्ठ 173 फुट नोट
(2) ब्रीफ इथनोलाजिकल सर्वे आफ दि खत्रीज–मोती लाल सेठ

द्वितीय श्रेणी में हैं। इस सभा में तत्कालीन पंजाब प्रान्त के धुरन्धर पंडित और ओरियंटल कालेज के प्रोफेसर पंडित भानुदत्त शर्मा, पंडित हरी नारायण, पंडित नाथू राम और पंडित तीर्थ राम उपस्थित थे।[1]

2. सन 1901 की जनगणना में क्षत्रिय वर्ण विवाद एवं निर्णय

इस सम्बन्ध में जाति निर्धारण के विषय में अंग्रेजों ने कई बार काफी खोज और अन्वेषण किया है। सन 1901 की जनगणना के समय में खत्री जाति के विषय में एक विवाद उठा। बंगाल में सेंसस वालों ने खत्रियों को बनिया कह दिया, जिसे खत्रियों ने अंग्रेजों द्वारा मचायी जा रहीं अंधेरगर्दी समझा और उन्हें लगा कि सदा से शुद्ध क्षत्रिय समझे जाने वाले खत्रियों को अब सेकेण्ड क्लास भी नहीं बल्कि थर्ड क्लास हिन्दू बनाया जा रहा है और अंग्रेज अपनी अकड़ की लाठी से खत्रियों को ढोरों की तरह हाँक रहे हैं। इसी लिये उसका विरोध शुरू हुआ।

सर जार्ज कैम्पबेल ने अपनी पुस्तक 'इथनोलाजी आफ इण्डिया' में और उसके भी पूर्व 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल की जर्नल 1866 (नम्बर 46)' में यह माना था कि पूर्व क्षत्रियों के वंशज होने का खत्रियों का ही दावा सर्वश्रेष्ठ है और कहा था कि अपने रूप रंग के कारण भी खत्रिय समाज की व्यवस्था में उच्च स्थान के अधिकारी हैं। दि सेविन मूर्स इण्डियन अपील्स में प्रिवी कौंसिल[2] द्वारा तथा भारतीय हाई कोर्टों द्वारा भी अपने निर्णयों में खत्रियों की उच्च सामाजिक स्थिति को स्वीकार किया जा चुका था। युद्ध कर्म का अभाव तथा सैनिक के रूप में जीवन यापन अनिवार्य आनुवंशिक बाध्यता नहीं है। कनिंघम ने अपने 'सिक्खों का इतिहास' में स्वीकार किया है कि एक समय के राजपुत्र इन क्षत्रियों में प्राचीन काल से ही शौर्य की परम्परा निरन्तर रही है और वे ही अनेक प्रान्तों के योग्य गर्वनर तथा अत्यन्त कुशल प्रशासक रहे हैं। सर विलयम हंटर ने भी–खत्रियों के मूल क्षत्रियों के वंशधर होने का दावा मान्य किया था और यह माना था कि क्षत्रिय का ही अपभ्रंश रूप खत्रिय है। 'कास्ट सिस्टम आफ इण्डिया' (पृष्ठ 37) में जे0 सी0 नेसफील्ड ने भी माना था कि खत्री भारत की

(1) देखें खत्री हितैषी मासिक अंक अप्रैल, 1940, पृष्ठ 8

(2) ....It is undoubted that there were originally four classes. First the Brahmans, second, the Khatries, third the Vaisyas, fourth the Soodras, the first three were the generate or twice born classes, the later the Servile class.

"....... Their Lordships have, neverthless, no doubt that the existence of the Khattri class, as one of the regenerate tribes, is fully recognised throughout India......No doubt, as far as we are aware, has ever been raised in the courts n India as to existence of the Khattri class as one of the regenerate tribes. The courts in all classes assume that the four great classes remain.

-Right Honourable Sir Edward Rine in Chaturya Ran Mardan Singh Vs. Saheb Prahlad Singh

- 7 Moors Indians Appeals 1857, Page 18-53

व्यापार करने वाली जातियों में बहुत प्रसिद्ध और ऊँची जाति है। खत्री शब्द क्षत्रिय का ही आधुनिक उच्चारण रूप है, इस लिये इसकी उत्पत्ति खोजने में भूल नहीं करनी चाहिये। स्वयं शेरिंग ने "हिन्दू ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स" (पृष्ठ 278) में भी लिखा है कि खत्रिय और क्षत्रिय के उच्चारण में भेद नहीं है।

खत्रियों को क्षत्रिय वर्ग में रखने की आपत्ति योगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य तथा उनके कुछ अनुयायियों ने उठायी थी। श्री भट्टाचार्य संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे। कुछ धन स्वाहा कर देने के अपराध में बर्दवान के खत्रिय राजा बन बिहारी कपूर ने इन्हें अपने यहाँ की नौकरी से निकाल दिया था। इसके बाद ही आपने "हिन्दू ट्राइब्स ऐण्ड कास्ट्स" पुस्तक लिखी और पर्याप्त जानकारी के अभाव तथा बर्दवान राज से बदला लेने के लिये आप ने जाति निन्दा भली भांति की।[1] खत्रियों की उत्पत्ति शूद्र पिता और क्षत्रिय माता से बताते हुए पुस्तक में उन्हों ने लिखा है कि "चूंकि ज्यादातर खत्री तिजारत करते है या क्लर्की अथवा मुनीमी

---

(1) "क्षत्ता" शब्द से खत्रिय बना है, यह देख कर ही श्री योगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य ने वैसा ही लिख दिया। उन्हें अंग्रेजी का तो अच्छा ज्ञान था पर संस्कृत का नहीं। उन्हों ने मनु स्मृति के अध्याय 10 के श्लोक 12 को अपना आधार बनाया था जो इस प्रकार है :

शूद्रदायोगवः क्षत्ता चन्डालश्चाधमो नृणाम।
वैश्य राजन्य विप्रासु जायन्ते वर्णसंस्करा।।

(शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया और ब्राह्मणी में उत्पन्न पुत्र क्रमशः आयोगव, क्षत्ता और चण्डाल वर्ण संकर को प्राप्त पुत्र होते हैं। वास्तव में क्षत्ता =क्षतृ (मानवधर्मशास्त्र) संस्कृत क्षतृ =वर्णसंकर को कहते हैं। 'ऋ' हिन्दी आदि भाषाओं में पलट जाता है। जैसे मातृ–माता, पितृ–पिता। कभी कभी "आई" से भी पलटता है जैसे जामातृ–जमाई। नियमानुसार वर्णसंकर के लिये शब्द क्षतृ का "क्षत्ता" हुआ। उससे खत्री नहीं हो सकता। संस्कृत में "तृ" और "त्री" में बहुत अन्तर है। क्षत्रियाणी =क्षत्रिय की स्त्री। क्षत्रियाणी शब्द क्षत्रिय से बना है न कि क्षतृ से (पाणिनि का व्याकरण–सिद्धान्त कौमुदी)

इन्द्र, वरुण, भवरुद्र, मृड,, हिमारण्य, यव, यवन, मातुलाचार्याणामानुक–4–7–4–49 अर्थ क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे। अर्याणी। आर्या, क्षत्रियाणी (सिद्धान्त कौमुदी पृष्ठ–43)। इसी क्षत्रियाणी का हिन्दी रूप खत्रियाणी या खतरानी हुआ। व्यवस्था दर्पण में बाबू श्याम चरण ने भी अध्याय–10 पृष्ठ 1164 में लिखा है–चार वर्ण थे, यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, या खत्रिय, वैश्य और शूद्र। क्षत्रिय, क्षत्रानी–खतरानी होता है। जैसे इन्द्र–इन्द्रानी और क्षतृ–छतृ–छतरी होता है।

महाभारत अनु0 अ–48 श्लोक 12 में लिखा है:
बन्दी तु जायते वैश्यामन्गधो वाक्यजीविनः।
शूद्रान्निषादो मत्स्यध्नः क्षत्रियां व्यतियोक्रमात्।।

क्षत्रियाणी और वैश्य से उत्पन्न संतान बन्दी और मागध होगी। शूद्र और क्षत्रियाणी की निषाद कहलाती है जिसकी जीविका मछली मारना है। 'जाति विवेक'–संस्कृत की पुरानी पुस्तक में लिखा है :

क्षत्रिया शूद्र संयोगात क्षत्तारं जनयेत् सुतम्।

की नौकरी करते हैं, इससे ऐसा लगता है कि उन्हें एक ओर तो राजपूत और दूसरी ओर बनियों तथा कायस्थों के वर्ग के बीच में कहीं रखा जाना चाहिये। खत्रियों के बाहरी रूप रंग में ब्राह्मणों के पुरुषोचित व्यक्तित्व तथा चौड़े मस्तक का अभाव है किन्तु आम तौर पर वे अत्यन्त सुन्दर होते हैं। उनके शरीर दुबले पतले, चमकती नीली आँखे तथा नाक नुकीली होती है। इनमें के कुछ तो बिलकुल यहूदियों जैसे दिखते हैं। इनका चरित्र भी यहूदियों जैसा ही है पर इनमें पारसियों जैसा उद्यम या ब्राह्मणों और कायस्थों जैसा उर्वर मस्तिष्क नहीं है।" (पृष्ठ 138)[1] इसके अलावा भी उन्हों ने उत्पत्ति सम्बन्धी अन्य भ्रांतियां भी फैलायीं।

निषाद इति विख्यातः सर्व वर्ण बहिष्कृतः।।
सदाचार विहीनश्च पापार्द्धिनिरतः सदा।।
वागुराशस्त्रपाणिस्तु मृग बन्धन कोविदः।।
अरण्यपशु जातीनामन्तकश्च वने चरः।
क्रोधाविन्तो मांसवृत्या तथाजीवेत् सदैवहि।
विक्रयं मधुनः कृत्वा धनमिच्छेत् स्ववृत्तये।।

शूद्र कमलाकर–क्षत्रियाँ मागधं वैश्यात शूद्रात क्षत्तरमेव च।
शूद्रादायोगवं वैश्यात जनयामास वै सुतम।।
मागधो = बन्दी। क्षत्ता–निषादो भिल्ल इति प्रसिद्धिः।
आयोगवः = पुल्कसः। तदाह हारीतः।।
क्षत्रियायां वैश्यशूद्रौ बन्दिनिषादो जनयतो।
वैश्यायं शूद्रः पुल्कसानिति।।

भावार्थ– मागध कहते हैं बन्दी को, क्षत्ता–निषाद जिसे भील कहते हैं, इनका कर्म है बिल खोद कर जन्तुओं को मार कर खाना। स्वयं मनु स्मृति के अध्याय 10, श्लोक 49 में क्षत्ता का कर्म बताया गया है कि–क्षत्तुग्र पुक्कसानां तु विलोकौवधबन्धनम्–क्षत्ता, उग्र व पुक्कुस बिल में रहने वाले जीवों को बांधे और मारें। श्री योगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य ने खत्रियों को यही क्षत्ता–निषाद समझा था। उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि महाभारत में लिखे–"क्षत्तात जायते यः सः क्षत्रियः" के अनुसार क्षत्त का रूपांतर "क्षत्रिय" शब्द है और "क्षत्ता" शब्द अलग है। मनु स्मृति के अध्याय–10 के श्लोक में "क्षत्ता" शब्द प्रयुक्त हुआ है और वहाँ उसका स्पष्ट अर्थ है निषाद, भिल्ल। यदि इसी क्षत्ता से खत्ता बना तो खत्ता के ऐसा खत्रियों का कोई कर्म नहीं होता। खत्ता 'मनु के अनुसार बिल से चूहे निकल कर खाते हैं। इनके हाथ का पानी नहीं चलता । (बिहार में आज भी मुसहर इसी प्रकार की जाति है।) इसी विवाद के सम्बन्ध में लाहौर की पण्डित सभा ने स्वीकार किया था कि खत्रियों की उत्पत्ति क्षत्ता (चांडाल) से नहीं बल्कि क्षत्रिय से है। संस्कृत का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण श्री योगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य ने ऐसा लिखा। कलकत्ते के श्री राय जगन्नाथ खन्ना ने श्री योगेन्द्र नाथ भट्टाचार्य के आक्षेप को देख कर इसका प्रतिवाद भी किया जो 'खत्री हितकारी', आगरा में छपा भी। श्री दीनानाथ टंडन व मुरलीधर सेठ, सम्पादक ने भी फरवरी, 1888 में इसका घोर विरोध किया। फिर किसी को इसकी चिन्ता नहीं रही। उनका यह पत्र श्री रिजले के हाथों में न पहुँचा और वह भ्रम जैसा का तैसा बना रह गया जो सन 1901 की जनगणना के साथ पुनः उभरा।

'ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ बंगाल' के लेखक श्री एच0 एच0 रिजले ने पहले तो खत्रियों के सम्बन्ध में श्री भट्टाचार्य के मत का समर्थन किया जब कि वह गलत सूचना एवं सामग्री पर आधारित था और द्वेषवश ही लिखा गया था। श्री भट्टाचार्य को इस जाति के विषय में पूरी जानकारी ही न थी। श्री रिजले ने लिखा था "मुझे ऐसा लगता है कि जातियों की जो सामाजिक संरचना है उससे यह निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि खत्रिय न तो ब्राह्मणों के वंशधर है और न क्षत्रियों के। उनके क्षत्रियों के वंशधर होने की जो बात कही जाती है उसका कोई पुष्ट आधार नहीं है और केवल नाम की समानता के आधार पर ही उन्हें क्षत्रिय कहा गया है। यह महज एक संयोग भी हो सकता है। उनके आकार और रूप रंग की दृष्टि से उन्हें अवश्य शुद्ध आर्यों की श्रेणी में रखा जा सकता है किन्तु उनके अनेकों नामों में वह पदवी (सिंह, पाल और मल आदि) नहीं मिलती जो राजपूत जातियों में विशेष रूप से पायी जाती हैं। अगर वे उन्हीं क्षत्रियों के वंशज होते जिनके राजपूत हैं तो उनके भी नामों के साथ उसी प्रकार की पदवी लगती होती। यह समझना कठिन है कि आखिरकार उन्हों ने वंश वाचक राजपूत पदवी वाले उपनामों को क्यों छोड़ दिया। उनके अपने अल्लों के अलावा उनके स्थायी ब्राह्मण गोत्र भी हैं लेकिन उनका विवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वे उन्हों ने अपने सारस्वत ब्राह्मण पुरोहितों से सम्मान के लिये ही ग्रहण कर लिये हैं। इस लिये अगर हिन्दू समाज की प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में उनका स्थान कही निश्चित करना आवश्यक है तो उन्हें वैश्य वर्ग में ही रखना उचित प्रतीत होता है। (खण्ड एक पृष्ठ 478)[2] इस प्रकार रिजले ने अपनी पुस्तक में उन्हें दूसरे दर्जे का भी नहीं बल्कि तीसरे क्लास का हिन्दू बना दिया।

---

(1) Since the majority of the Khatris live by trade or by service as clerks and accountants, their caste status ought it seems, to be intermediate between that of Rajputs on the one hand and the Banias and the Kayasthas on the other.In their outwards apperance the Khatries lack manly vigour and broad forehead of the Brahmans but they are generally very handsome, with their slender figures and their blue sparkling eyes and their acqualine nose,. Some of them look exactly like Jews whom they resemble also in character. But there is not found among them either the enterprise of the Parsis of the literary industry of the Brahmans and the Kayasthas.

- The Hindu Tribes and Castes -Jogendra Nath Bhattacharya page-138.

(2) It seems to me that the internal organisation of the caste furnishes almost conclusive proof that they are descended from neither Brahmans nor Kshatriyas, and that the theory connecting them with the later tribe rests upon no firmer foundation than a resemblance of name, which for all we know, may be wholly accidental.Their features and complexion indeed entitle them to be ranked as Aryans of comparatively pure lineage, but among their numerous sections one find none of those territorial names which are characteristic of Rajput sects. Were they descended from the same stock as the Rajputs, they must have lived the same set of section names, and it is difficult to see why they should have abondoned these for less distinguished patronymics? In addition to their

सन 1901 में रिजले को अंग्रेज सरकार द्वारा भारत का जनगणना कमिश्नर नियुक्त किया गया तब सही सही इतिहास बनाने की दृष्टि से रिजले ने सभी जातियों के सम्बन्ध में खोजबीन शुरू की। इसी समय मिस्टर बर्न को युनाइटेड प्राविंसेज ऐंड अवध का सुपरिनटेन्डेन्ट नियुक्त किया गया। श्री रिजले ने जिला अधिकारियों को एक सर्कुलर नं0 524–सी 60 दिनांक 25.02.1901 जारी किया और उसमें खत्रियों के चौथे वर्ग में रखने की अपनी मंशा जाहिर की। तब मिस्टर बर्न ने अपने पत्र संख्या सी.–804–60 दिनांक 25.04.1901 के साथ श्री रिजले का उपरोक्त पत्र संलग्न करते हुए सभी खत्री सभाओं के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा तथा उसकी प्रतिलिपि राय बहादुर लाला राम चरन दास, खत्री कन्या पाठशाला, इलाहाबाद को भी भेजी तथा यह कहा कि वे खत्रियों के क्षत्रिय होने के दावे के सम्बन्ध में प्रमाण पेश करें और सारे भारत से (जहाँ जहाँ खत्री रहते हों) श्री भट्टाचार्य द्वारा लिखी गयी पुस्तकों के बारे में उनकी राय मंगवायें तथा 'पर्याप्त प्रमाण मिलने पर मैं अपनी राय बदल दूंगा।"

इससे समाज में हलचल मच गयी। जगह जगह सभायें हुई। इतिहास खोजा जाने लगा। प्रमाण इकट्ठे किये गये और फिर एक पत्र के साथ सारे सबूत सेंसस कमिश्नर श्री रिजले को भेजे गये। (यही पत्र खत्री जाति का ऐतिहासिक दस्तावेज कहा जाता है जिसके उद्धरण इस पुस्तक में भी दिये गये हैं।) श्री रिजले ने इतने सारे प्रमाण, मेमोरियल और वृहत सामग्री का अध्ययन कर सैकड़ों बिन्दुओं के सम्बन्ध में कुछ और स्पष्टीकरण मांगा तथा अन्त में प्राप्त सामग्री का अध्ययन करने के बाद कहा–"इससे पता चलता है कि इस विषय में बहुत शोध की गयी है और यह शोध खत्रियों के इतिहास के लिये अत्यंत मूल्यवान सामग्री है।" अन्त में उन्हों ने अपना निर्णय दिया कि "मेरे सामने जो प्रमाण रखा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कम से कम ब्रिटिश भारत में, खत्रियों को सामान्यतया हिन्दू परम्परा के क्षत्रियों का आधुनिक वंशज माना जाता है।" "जनगणना के प्रयोजन के लिये यह तथ्य ही पर्याप्त है कि बहुत से लोगों का ऐसा विश्वास है। इस विश्वास के आधार को पूछना फिजूल है। इस लिये जनगणना निरीक्षकों को आदेश दिया जाता है कि जातियों के वर्गीकरण को अंकित करते समय खत्रियों को 'क्षत्रिय' वर्ग में रखा जाय।"[1]

---

own sections, they have also standard Brahmanical gotras, but these have no influence upon marriage and have clearly been borrowed honoris causa from the Saraswat Brahmans who serve them as priests. If then it is at all necessary to connect the Khatries with the ancient four fold system of castes, the only group to which we can affiliate them is the Vaishyas.

--The Tribes arid Castes of Bengal-H.H. Risley-Volume 1-Page 478

१. These representations exhibit considerable reseacrh and form a valuable contribution to the history of the Khatries of which, I hope to make use of in revising the article 'Khatries' in the Tribes and Castes of Bengal....(Para-2)...The evidence laid before me seems to make it clear that, in British India at any rate, the Khatries are generally believed to be the modern representatives of the Kshatriyas of the Hindu tradition. For the Census purposes, the fact that most people do have this belief is sufficient in itself, and it would be irrelevant to

सितम्बर, 1901 में भारत के सेन्सस कमिश्नर श्री रिजले का उपरोक्त उत्तर राजा साहब बर्दवान, बन बिहारी कपूर को मिला जो खत्री कान्फ्रेंस बरेली के अध्यक्ष थे। उस पत्र के मिलते ही देश भर के प्रमुख नगरों में तार खटखटाये जाने लगे। शहर शहर में खुशी की लहर दौड़ गयी। भारत सरकार ने अपनी गलती स्वीकार कर के उसे तत्काल सुधारने का आश्वासन भी दिया। लखनऊ में चौक के सबसे पुराने मुहल्ले कटारी टोले के शिवाले में खूब पूजा पाठ हुआ। यज्ञ हवन हुआ। कई सजातीय सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा धन धान्य दे कर पूरे खत्री सारस्वत समाज को भोज करवाया गया। उस समय सन 1901 की जनगणना के अनुसार लखनऊ में खत्रियों की कुल जनसंख्या 2,894 थी। कुछ लोगों की इच्छा हुई कि नाच गाने की महफिल भी करायी जाय पर उस समय के नजर बाग निवासी प्रसिद्ध डाक्टर देश दीपक टंडन (मूल निवासी सोंधी टोला) के विरोध से यह न हुआ। उन्हों ने कहा हमारे देश में इतना जबरदस्त अकाल पड़ रहा है और ये प्लेग की महामारी तेजी से फैलती चली जा रही है। इस समय एक जाति की खुशी में भारत की सभी जातियों का दुख भुलाया नहीं जा सकता।

नवाबी के दिनों में जब कोई हिन्दू लखनऊ में शिवाला बनवाने की जुर्रत भी नहीं कर सकता था[1] उस समय कटारी टोले का यह शिवाला लखनऊ में अवध के प्रथम नवाब सआदत खाँ 'बुरहान–उल–मुल्क' के साथ आ कर बसने वाले प्रतिष्ठित खत्री कालिका प्रसाद टण्डन ने अपने निवास स्थान के समीप बनवाया था, जो इस लेखक के पूर्वज थे। उन्हीं के छोटे भाई लाल बिहारी टण्डन के वंशज हर प्रसाद (कोकामल) टण्डन ने सन 1911 में इस शिवाले से लगभग 200 गज दूर फूल वाली गली में एक अन्य शिवाला बनवाया। दोनों ही शिवाले आज जनता की अतुल श्रद्धा के पात्र हैं। उनके पिता मुंशी माधोराम टण्डन ने कुछ ही समय पहले कटारी टोले के शिवाले में हुए सामाजिक सहभोज में भरपूर योगदान किया था पर सन 1904 के प्लेग में उनकी मृत्यु हो गयी।

लखनऊ में बसने वाले प्रतिष्ठित खत्री परिवार के द्वारा संस्थापित इन शिवालों के प्रति जनता की आस्था पूर्व की ही भांति आज तक विद्यमान है।[2]

---

enquire into the grounds upon which it is based. Superintendents of Census will accordingly be instructed to include Khatries under the heading 'Kshatriyas' in their classification of Castes.

---Para 2 and 6 of letter No. 577 dated September 23, 1901 from H.H. Risley--Census Commissioner of India communicated to Raja Ban Behari Kapoor of Burdwan sent from Simla.

(1) 12 मई, 1857 को अवध के चीफ कमिश्नर, सर हेनरी लारेन्स द्वारा बुलाये गये दरबार मे सेनाओं तथा लखनऊ की आम जनता के सामने उनका भाषण—–गदर के फूल–अमृत लाल नागर–पृष्ठ–192 तथा 'ए हिस्ट्री आफ दि ग्रेट रिवोल्ट'– जान विलयम काये–खण्ड–तीन–पृष्ठ 431–432 (1996 संस्करण)

2. टिप्पणी–यह सम्पूर्ण प्रसंग ऊपर उल्लिखित श्रोतों के अतिरिक्त 'खत्रिय इतिहास'–

3. क्षत्रियों का पूर्व निवास स्थान–प्राचीनता के विषय में विभिन्न मत

अनेक पश्चिमी विद्वानों ने माना है कि जल प्रलय के अनन्तर भारत वर्ष में ही वृक्ष, लता आदि की उत्पत्ति हुई और मनुष्यों की बस्तियाँ बसीं [1] तथा हिन्दुओं के चार युगों के निरूपण के सामने मूसा का समय जैसे कल की ही बात है।[2] यदि सृष्टि के आरम्भ को देखा जाय तो आर्यावर्त के अतिरिक्त अन्य किसी देश में सृष्टि के आरम्भ का हिसाब नहीं पाया जाता।[3] इसके अतिरिक्त आज तक जितने सिक्के पृथ्वीतल से निकले हैं उनमें सब से प्राचीन आर्यों के हैं जिनसे हिन्दुओं की प्राचीन सभ्यता का पता चलता है। ईसवी सन के प्रारम्भ से तीन

बाल कृष्ण प्रसाद, 'हिस्ट्री आफ खत्रीज'–मोती लाल सेठ, 'खत्रीज ऐ सोशियो हिस्टारिक स्टडी'–स्वर्गीय डाक्टर बैज नाथ पुरी (जो स्वयं मूलतः मुहल्ला कटारी टोला के निवासी थे), अमृत लाल नागर की पुस्तक–'गदर के फूल' व 'करवट' तथा अन्य अनेक ऐसे व्यक्तिगत एवं ऐतिहासिक दस्तावेजों पर आधारित है, जो व्यक्तिगत रिकार्ड है।

इस विषय में खत्री जाति के उपरोक्त ऐतिहासिक दस्तावेज का यह मत उल्लिखित करना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि सन 1869 ईसवी की जनगणना में खत्रियों को वैदिक क्षत्रियों का ही वंशज माना गया था और उन्हें ब्राह्मणों के बाद द्वितीय स्थान में ही रखा गया था फिर भी इस जनगणना के दौरान अंग्रेजों ने जान बूझ कर यह मान्यता प्रचारित की थी कि "केवल राजपूत ही वास्तव में क्षत्रिय हैं और उनसे भिन्न कोई भी वंश कभी भी क्षत्रिय नहीं हो सकता।" यद्यपि खत्री समाज की किंचित मात्र भी यह भावना नहीं थी कि वे अपने उन वीर राजपूत बन्धुओं के विषय में, जिनसे उनके सम्बन्ध बड़े मधुर रहे हैं, एक भी ऐसा शब्द कहें, जो उनके सम्मान के विपरीत हो। पर यह बड़े दुर्भाग्य की बात थी कि इस अप्रमाणित मान्यता ने खत्री समाज को बाध्य कर दिया कि वह इस मान्यता की आधारहीनता पर प्रकाश डाले। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से खत्री समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मन में राजपूत जाति के प्रति उच्चतम सम्मान की भावना थी। यह तो अत्यन्त दुख की बात थी कि जनगणना अधिकारियों ने खत्रियों को दूसरे दर्जे का भी नहीं बल्कि तीसरे दर्जे का हिन्दू बना देने का प्रस्ताव किया था जो अनजाने में ही क्यों न सही, ब्रिटिश राज्य की हिन्दू प्रजा में विभिन्न वर्गों के बीच विद्वेष की भावना पैदा करने वाला था। "इसी लिये जनगणना अधिकारियों की खत्रियों को क्षत्रियों के वर्ग में रखे जाने में जो आपत्तियाँ थीं, उनके बारे में विस्तृत शोध कर के सप्रमाण उत्तर देना आवश्यक हो गया और सम्पूर्ण भारत का क्षत्रिय (खत्रिय) समाज इससे उद्वेलित हो उठा। इससे तीन लाभ हुए। एक तो खत्रियों के ही विशुद्ध क्षत्रिय होने का शास्त्रीय, अभिलेखीय, परम्परागत एवं प्राचीन मान्यता विषयक पर्याप्त प्रमाण सामने आ गया। दूसरे जनगणना अधिकारियों ने अपनी आधारहीन एवं मनमानी मान्यता को त्याग दिया और खत्रियों का विशुद्ध रक्त के आर्य क्षत्रिय होने का दावा स्वीकार कर लिया। तीसरे खत्री (क्षत्रिय) समाज को सार्वजनिक रूप से अपने गौरवपूर्ण अतीत एवं पूर्व परम्परा का ज्ञान हो गया जिसकी झलक खत्री इतिहासों में दिखायी देने लगी।

(1) हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड–सर वाल्टर रैले

(2) हिन्दू सुपीरियारिटी–**Haulwed**

(3) राजस्थान–टाड

हजार वर्ष पहले के समय में ही हिन्दुओं की सभ्यता बहुत अधिक बढ़ी चढ़ी थी और उसके बहुत पूर्व रामायण के आधार श्री रामचन्द्र का समय था।[1]

अति पूर्व काल के जो वर्णन मिलते है उनमें यहाँ तक कहा गया है कि समुद्र की तरंगे हिमालय के तट तक पहुँचती थीं। फिर यह भी लिखा है कि उसके बाद राजमहल के निकट तक समुद्र तरंग आता था।[2] प्राचीन शास्त्रों में सरस्वती नदी का अत्यन्त विशद वर्णन है। ऋग्वेद संहिता की आलोचना करने से प्रगट होता है कि यह नदी भारतीय आर्य उपनिवेश के मध्य से बहती थी। इसे पुण्य सलिला माना जाता था तथा कोई भी पूजादि करने से पहले इसी नदी का आह्वान करना होता था। पंजाब में अक्षांश 30.23 उत्तरी तथा देशांतर 77.15 सिरमूर राज्य की छोटी शैलमाला से निकल कर यह नदी अम्बाला, थानेश्वर, कुरुक्षेत्र, कर्नाल, पटियाला, राज्य में गयी और कागर नदी में आ कर विलीन हो गयी हैं। पूर्व काल में इस मिलित नदी ने राजपूताने के अनेक स्थानों को जलसिक्त किया था तथा सिन्धु के साथ मिल गयी थी और इधर प्रयाग के निकट गंगा और यमुना से मिल कर त्रिवेणी हो गयी थी। मनु संहिता से पता चलता है कि सरस्वती और दृषवती का मध्यवर्ती जनपद ही ब्रह्मावर्त कहलाता था। ऋग्वेद के सातवें मंडल से यह भी पता चलता है कि सरस्वती नदी की धारा का प्रबल वेग और हिमगिरि से समुद्र पर्यन्त प्रवाह, अद्वितीय था।

प्रक्षोदसा धमाखा सस्त्र एषा सरस्वती धरूपाभायसी पूः।
प्रबावधाना रथ्येव याति विश्वा अपो महिना सिन्धुरन्या।।1।।
एकाचेसरस्वती नदीनां शुचिर्मती गिरिभ्य आ समुद्रात।
सयश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेघृतं पयो दुदहे नाहुषाय।।2।।
—ऋग्वेद मंडल 7—सूक्त 95—मंत्र 1—2

(1) एशियाटिक जनरल (1841)—कैप्टेन ट्रोवर

(2) नीलमत पुराण के अनुसार जल प्लावन के समय भगवान विष्णु ने मत्स्य रूप में काश्मीर में नवबन्धन गिरि के शिखर से ही नौका को बांधा था। नाव स्वरूप दुर्गा स्वयं हो गयी थी ताकि प्राणी नाश होने से बच जायं। बनिहाल से पश्चिम दिशा में चलने पर तीन शिखरों का एक समूह मिलता है उसे विष्णु, शिव एवं ब्रह्म शिखर कहते हैं। उनकी ऊंचाई 15,000 फीट है। इन शिखरों में पश्चिमी शिखर 15,523 फीट ऊँचा है। इसी को नवबन्धन तीर्थ कहते हैं। (नीलमत पुराण 39—41, 178, हरिचरित चिन्तामणि —4:27, सर्वावतार—3:4, 12:5:43)।

इस पुराण के अनुसार जलप्लावन के समय इस शिखर से नाव बाधने का तात्पर्य यही निकलता है कि जलप्लावन के समय समुद्रतल से लगभग 15,000 फीट की ऊँचाई तक समस्त पृथ्वी जलमग्न हुई थी जो जल प्लावन घटने के साथ साथ प्रगट होती गयी और तभी सभ्यता का विकास हुआ। जल प्लावन का कथानक बाइबिल वर्णित महात्मा नूह के आर्क से मिलता जुलता है।

सब ज्ञानों का आधार है ऐसी दृढ़ है मानों लोहे की बनी हुई है। सब प्रकार के अभ्युदयों के लिये एक पुरी के सदृश है। अज्ञानों के नाश करने वाले वेग से अनवरत प्रवाह से संसार का सिंचन कर रही है। यह ब्रह्म विद्या रूप अत्यन्त वेग से नदी के समान गमन करती और अपने महत्व से स्यंदन करती हुई सब जलों को ले जाने वाली और है।।1।।

इन नदियों के मध्य में सरस्वती रूप से सत्ता का लाभ किया (अर्थात उसमे बहुत सी क्षुद्र नदियां मिलीं)। जो हिमालय से निकल कर समुद्र तक जाती है वह धन देने वाली है, पवित्र रूप से बहती है और सांसारिक मनुष्यों को बहुत जल और दूध से पूर्ण करती है।।2।।

इसके अतिरिक्त कुछ और सरस्वती नदियों का भी वर्णन मिलता है और उनके भिन्न भिन्न नाम भी मिलते हैं, पर सप्त सिंधु और पंच नदियों के वर्णन से यही निश्चित होता है कि जहाँ सप्त सिंधु प्रवाहित है वहीं सारस्वत प्रदेश है और सरस्वती ही पाँच धाराओं से प्रवाहित नदियों के रूप में बहती हैं। •इसी सारस्वत प्रदेश को योग भूमि भी कहा है और इसी सरस्वती तीर निवासी आर्य ब्राह्मण वैदिक काल में ही सारस्वत कहलाये थे। इसी पुण्य भूमि में आर्य क्षत्रिय गण अपने सारस्वत पुरोहितों के साथ आ कर पहले बसे थे और इसी स्थान से पुनः आगे बढ़े। भारत में जो आर्य आये उनमें पहले सूर्य वंशी लोग थे। उनके भरत नामक राजा के कारण इस देश का नाम भरतखण्ड या भारतवर्ष पडा। ऋग्वेद का भरताः नाम सूर्य वंशी क्षत्रियों का ही है। इन्हीं भरत के पुरोहित गुरु वसिष्ठ जी थे और इनके अतिरिक्त विश्वामित्र और भरद्वाज सहकारी थे। इनके पीछे आये हुए चन्द्र वंशी आर्यों के आने का पता भी ऋग्वेद से ही चलता है। इसी वेद के कुछ सूत्रों में दाशराज्ञ नामक एक बड़े युद्ध का पता चलता है जो परूष्णी (रावी) के किनारे हुआ था। महाभारत मीमांसा (पृष्ठ 144) में लिखा है "वे (चंद्र वंशी) घाटियों से आ कर सरस्वती के किनारे आर्य राज्य में घुसे।" इनके ऋषि अंगिरस और कण्व थे। सूर्य चन्द्र वंश के आदि राजा पुरुरवा का राज्य रावी नदी के तीरवर्ती स्थान मद्र देश में था।

आज भी पंजाब खत्रियों का मुख्य निवास स्थान है और भारत के समस्त खत्री मात्र उसे मूल समझते हैं। यही सारस्वत प्रदेश अर्थात पंजाब ही खत्रियों का मूल निवास स्थान है जहाँ से खत्री और सारस्वत ब्राह्मण भारत के अन्य प्रदेशों में चारों ओर फैले।

अग्रजन्मा सारस्वत ब्राह्मणों की प्रथम उत्पत्ति

सारस्वत प्रदेश में ही अग्रजन्मा ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई थी। आर्यो का वहाँ बसना वेद से प्रमाणित है। इन्हीं ब्राह्मणों से पृथ्वी के मनुष्यमात्र ने शिक्षा पायी थी। भृगु, वशिष्ठ, अत्रि, अंगिरा, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु महर्षिगण गोत्र प्रवर्तक ऋषि भी यहीं हुए। इनकी तपोभूमि भी यहीं थी। यही याज्ञिक ब्राह्मण

•यह सरस्वती नदी 1900 ई. पर्व के आस पास धरती में समा कर विलीन हो गयी।

यज्ञोपलक्ष में विभिन्न स्थानों में गये और वहाँ बस गये। आदि में जिस समय बहुत सी पृथ्वी जलमग्न ही थी, ब्राह्मणों की सारस्वत संज्ञा पड़ चुकी थी इसी लिये शास्त्रों में प्राचीनतम सारस्वत ब्राह्मण शब्द पाया जाता है।

ये ब्राह्मण राजपूजित (पुरोहित) थे ओर लम्बे, चौड़े, सुन्दर, रूपवान तथा विशेषकर क्षत्रियों के पुरोहित होते थे। विल्सन ने भी सारस्वत ब्राह्मणों को ही क्षत्रियों का पुरोहित माना है। ये क्रमशः क्षत्रियों के साथ फैलते फैलते समस्त भारत में फैल गये क्योंकि इनके बिना क्षत्रियों के कोई देव कार्य आदि शुभ कर्म अथवा अशुभ कर्म नहीं होते थे। कुल परम्परा से क्षत्रियों ने जिस प्रकार निवास किया उसी प्रकार वशिष्ठ, अंगिरा, अत्रि और भृगु आदि परमर्षि भी रहे और ऋषि पुत्रों की जन्मभूमि भी सारस्वत प्रदेश ही रही।

मूल प्रदेश से बाहर फैलने के बाद इन सारस्वत ब्राह्मणों के अल्ल भी स्थानीय परिस्थितियों, भाषा, रीति रिवाज के अनुसार बदले तथा उनके मूल कार्य (शिक्षा पुरोहिताई आदि) में भी परिवर्तन हुए। गोमान्तक से नवीं, दसवीं, शताब्दी मे अनेक सारस्वत व्यापारी थाना जिला में जा बसे और सष्टी में रहने लगे तो पाई, प्रभु, नायक आदि उनके अल्ल हो गये। महाराष्ट्र में शेनाई, कोठारी, कमाटी, मंत्री, पेशवा आदि अनेक सारस्वत रहने लगे। केरल में सारस्वत देवरसा कीनी की हत्या की घटना अत्यन्त प्रसिद्ध है।[1]

(1) देवरसा कीनी ट्रावनकोर के एक समृद्ध सारस्वत व्यापारी थे। उस समय कोचीन के अन्य सारस्वत भी व्यापार में काफी समृद्ध हो चुके थे तथा सारस्वतों की गणना एक प्रभावशाली वर्ग के रूप में की जाती थी। देवरसा कीनी कोचीन के एक प्रमुख मंदिर के पुजारियों के मंडल में भी थे। सकटान टम्पूरन उस समय कोचीन के उस छोटे से राज्य में शासन कर रहा था। उसने अपनी सूक्ष्म दृष्टि एवं प्रशासनिक कुशलता से अपने राज्य की समृद्धि की तथा व्यापार एवं बैंकिंग को खूब बढ़ाया पर उसका प्रभाव एक छोटे से क्षेत्र तक ही सीमित था। राजमहल के आस पास का क्षेत्र एवं मंदिर तथा राज्य के अधिकांश भाग नायर सरदारों के अधीन थे जो हमेशा उसके प्रति वफादार नहीं रहते थे और कभी कभी जमोरिन का भी समर्थन करते थे। एक पलोयाम सरदार अच्छन ने राष्ट्रभक्ति की भावना से इन सरदारों का प्रभाव घटा कर राज्य को सुदृढ़ किया पर सन् 1779 में उसकी मृत्यु हो गयी तो सकटान टम्पूरन ने उसके उत्तराधिकारी को अपना प्रधान मंत्री बनाने से इनकार कर दिया क्योंकि वह अभी बालक ही था। स्वभाव से ही वह शीघ्र तैश में आ जाने वाला और कुछ सनकी प्रकृति का था। एक ओर तो जिन्हें वह अपना आदमी और नियम पालन करने वाला समझता उन्हें खूब जमीनें भेंट में देता दूसरी ओर जिन्हें वह अपने खिलाफ समझता उनके साथ अत्यंत क्रूर व्यवहार करता था। इस क्रूरता के प्रदर्शन में वह हर तरह के उपाय अपनाता तथा कभी कभी मनमानी भी करता था। लालची तो वह था ही, प्रायः वह समृद्ध व्यक्तियों से अनेक बहानों से धन वसूलता और इस वसूली में यूरोपीय जहाजों को भी न छोड़ता पर किसी और को अपनी प्रजा का उत्पीड़न करने नहीं देता था। सारस्वतों से भी उसने कई बार हजारों रुपये उधार ले कर नहीं लौटाये।

सितम्बर 1791 में संकटान टम्पूरन ने तिरपुनीथुरा में एक श्राद्ध आयोजित किया

और प्रमुख स्थानीय सारस्वत व्यापारी देवरसा कीनी से कहा कि तुम प्रत्येक सारस्वत व्यापारी से खजूर के गुड़ की एक एक भेली एकत्र कर के मुझे 100 थुलम खजूर का गुड़ दो। साथ ही यह भी आदेश दिया कि अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिये डचों के किले से रक्षक लेने की प्रथा बन्द कर दी जाय। स्वयं राजा सन 1772 में डचों से इस प्रकार की प्रथा का इकरारनामा कर चुका था अतः राजा के इस आदेश को उस इकरारनामे के विरुद्ध एवं उसकी मनमानी समझ कर सारस्वतों ने इस आदेश को मानने से इनकार कर दिया। इससे देवरसा कीनी की स्थिति नाजुक हो गयी। वह स्वयं राजा के पास गया और उससे कहा कि सबकी ओर से वह खुद सम्पूर्ण मांग पूरी कर देगा। सकटान टम्पूरन ने इसे देवरसा कीनी द्वारा अपनी दौलत के घमंड का प्रदर्शन समझा और क्रोध से तमतमा गया। तब वहाँ मौजूद उसके एक अधिकारी ने राजा से कहा कि अगली सुबह वह सब से पहले देवरसा कीनी का सिर ही राजा को दिखायेगा।

अगले दिन दीपावली थी। कप्तान पनिक्कर दो यूरोपीय अधिकारियों को साथ ले कर देवरसा कीनी के घर गया और रेशमी कपड़ों की कुछ अत्यावश्यक बड़ी खरीदारी करने के लिये उससे दुकान में चल कर कपड़े दिखाने को कहा। देवरसा कीनी दुकान में अभी कपड़े दिखा ही रहा था कि पनिक्कर ने अपनी कमर से बंधी लचीली गोल तलवार निकाली और कीनी का सर काट लिया तथा एक रेशमी कपड़े में लपेट कर उसे राजा को भेंट कर दिया। देवरसा कीनी का पुत्र कृष्णा, मनकू शेनाय, रावल मल्य, आनंद पुरक्क्ड़, रंगप्पा, तथा पुरक्कड़ का व्यापारी नरेन्द्र पाई भी मारे गये और शिष्टा पाई, सुक्कड़ो पाई, तिमन्ना तथा प्राक्कत मरथ्या घायल हो गये। उनकी सारी दुकानें, घर, दौलत, जवाहरात तक जब्त कर लिये गये। मंदिर के पुजारियों को जब्ती की पूर्व सूचना मिली तो उन्हों ने पहले ही मंदिर के जवाहरात एवं मूर्तियों को अलेप्पी भेज दिया। इस पर मंदिर भी लूट लिया गया और कुछ पुजारी भी गिरफ्तार कर महल में भेज दिये गये और मंदिर की शेष कई लाख की सम्पत्ति लूट ली गयी। राजा के आदेश से इन पुजारियों को फांसी दे दी गयी।

कोंकनी डचों की सुरक्षा में थे अतः इससे वे बिगड़ उठे और राजा से इसका स्पष्टीकरण मांगा। उसने कहा कि उसके राज्य के समस्त हिन्दू उसकी प्रजा हैं और डचों को इस मामले में दखल देने का कोई अधिकार नहीं है। तब अक्टूबर, 1791 में डचों ने यूरोपीय सिपाहियों एवं अस्त्रों के साथ राजा के महल पर हमला कर दिया और लूट का अधिकांश माल बरामद कर उसे त्रिपुनिथुरा भगा दिया। इसके बाद राजा ने कोचीन में डचों के किले पर हमला कर उन्हें वहाँ से भगाने की तैयारी की किन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी के एजेंट पावले ने हस्तक्षेप कर के दोनों पक्षों में समझौता करा दिया। डचों के रिकार्ड में इसी को 'डगवार्ईस कीनी वार' कहा गया है। इसके बाद डचों ने पाया कि उनके पास राजा का सामना करने के लिये पर्याप्त सेना नहीं है अतः उन्हों ने कोंकनी और ईसाइयों को राजा की कृपा पर छोड़ दिया।

—हिस्ट्री आफ केरला—के0पी0 पद्मनाभा मेनन—खंड 3 पृष्ठ 612 कम्यूनिटी ऐंड कास्ट इन ट्रेडीशन—ए स्टडी आफ सारस्वत कम्यूनिटी—वीरेन्द्र प्रकाश सिंह—पृष्ठ 54—98

कोचीन, कोट्टायम, अलेप्पी, क्विलोन आदि अनेक जगहें दक्षिण भारत में उनके निवास स्थान हैं। उत्तर भारत में झिगन, गौतम, टिक्के, मुहियाल, गढ़वाली आदि उनकी अनेक प्रजातियां हैं। पंजाब में सीमा प्रांत में दत्त, वैद, छिब्बर, मोहन, बाली, लान, भीमावाल, उत्तर प्रदेश के आगरा, मथुरा, अलीगढ़ के ब्रज क्षेत्रीय ब्राह्मण तथा अन्य सारस्वत, राजपूताना में माहेश्वरियों के पुरोहित, सिंध के देशी, परदेशी, तट्टाई तथा सतपाल ब्राह्मण, गुजरात काठियावाड़ के सोराठिया व सिंध्वास ब्राह्मण जो खत्रियों एवं ब्रह्म खत्रियों के पुरोहित भी हैं, भंड़ोच के ब्राह्मण, काश्मीर के पंडित (कौल, रैना, राजदान, सप्रू, नेहरू, कुंजरू, धर इत्यादि) आदि जिनका अब समूह ही बिल्कुल अलग है, सब सारस्वत ब्राह्मण ही हैं। उत्तर प्रदेश तथा अन्य स्थानों में ये सारस्वत परम्परावश प्रारम्भ से आज तक खत्रियों के ही पुरोहित हैं। इन दोनों के रीति रिवाज, खान पान, अधिकांशतः एवं प्रमुखतः जहाँ उनका आपसी संबंध बना हुआ है, एक से ही हैं पर दोनों में ही कालक्रम से अनेकों उपभेद हो गये और अनेक सारस्वत पुरोहिताई कभी की छोड़ चुके हैं।

4. सारस्वत ब्राह्मणों के भेद

ब्राह्मणों में अब गौड़, [1] कान्यकुब्ज तथा सारस्वत आदि भेद हैं जिनमें सारस्वत ब्राह्मणों को ही मूल आर्यो का वंशज माना जाता है, जो सरस्वती नदी के किनारे बसे हुए थे। भविष्योत्तर पुराण (40–41) के अनुसार क्षत्रिय वंश संहारक परशुराम सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति का संहार करने पर आमादा थे पर उनसे मारे गये क्षत्रियों की स्त्रियों, बच्चों तथा वृद्धों को छोड़ देने की प्रार्थना की गयी थी जिसे उन्हों ने स्वीकार कर लिया और जीवितों को यह आशीर्वाद भी दिया कि इनके वंशज उच्च एवं भाग्यशाली जाति के होंगे। उन्हों ने सारस्वत ब्राह्मणों से इन बालकों को अपनी शरण में लेने व उनका समस्त क्षत्रियोचित संस्कार करने को कहा।

"कुरुवन्तु कपि सर्वेशम संस्कारम् क्षत्रियः"। इन सारस्वत ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का संबंध तो इस पुराण के पहले से ही पुरोहित एवं यजमान का था किंतु यह संबंध पुनः किस समय बना इसका दिनांक कुछ निश्चित नहीं है। यह संबंध तो आज तक चला आता है और विभिन्न गोत्रों के सारस्वत पुरोहित ही उन्हीं गोत्रों के खत्रियों के पुरोहित होते हैं। पंजाब के सारस्वत भी मुख्यतः पाँच विभागों में बंटे हैं जिनमें जैतली, झिंगरन, तिक्खे, मोहिले और कुमड़िये हैं। एक अन्य पंजा जाति सूची में कालिये, मालिये, कपूरिये, भटूरिये और भग्गे हैं पर उनमें भी अनेक उप विभाग हैं जो उनके पूर्वजों के निवास स्थान या उनमें किन्हीं व्यक्तियों के पुकारे जाने के घरेलू नामों पर आधारित हैं। ये सब आपस में काफी घुल मिल गये हैं अतः इनमें सगोत्री आदि भेद करना बहुत कठिन है।

(1) गौड़ ब्राह्मण अधिकतर वैश्यों के गुरु (पुरोहित) होते हैं लेकिन उनकी कच्ची रसोई बिल्कुल नहीं खाते। यह वह ब्राह्मण हैं जो बाद में गौड़ देश (बंगाल प्रदेश) में जा कर आबाद हो गये।

सारस्वत ब्राह्मणों का मुख्य निवास स्थान, उपभेद तथा तड़बन्दी

सारस्वत ब्राह्मणों का मुख्य निवास स्थान उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, अलवर, राजपूताना, बम्बई तथा उत्तरी कोंकण है। आधुनिक अध्ययनों में पश्चिमी भारत के गौड़ सारस्वत ब्राह्मणों का जो अध्ययन किया गया है उससे यह भी स्पष्ट हुआ है कि बिहार के तिरहुत डिवीजन से बहुत से सारस्वत ब्राह्मण गोआ गये थे और वहाँ से भी अनेक ब्राह्मण और भी दक्षिण दिशा में गये। स्कन्द पुराण के सहयाद्रि खंड में यह भी उल्लेख है कि कान्यकुब्ज से अनेक ब्राह्मण दक्षिण में रामेश्वरम तक गये। आज ये सब कोंकण, उत्तर तथा दक्षिण कनारा, ट्रावनकोर कोचीन, मैसूर तथा गोआ में मुख्य रूप से पाये जाते हैं। गोआ से ही इनका प्रमुखतः दक्षिण की ओर निष्क्रमण हुआ था। उत्तरी भारत में सारस्वत ब्राह्मण एवं खत्रियों का पुरोहित एवं यजमान का प्रगाढ़ सम्बन्ध है और प्रमुखतः यही पुरोहित खत्रियों के विवाहादि संस्कार कराते, कच्ची पक्की रसोई का सबंध रखते तथा वार्षिक श्राद्ध, हंदे की प्रथा–यजमान से कच्ची रोटी स्वीकार करना–यह सब एक समय की सामान्य प्रथा थी। खत्रियों की ही तरह इनके भी दिलवालिये, लाहौरिये, आगरेवाल, पूर्विया, आदि विभाग हैं जिससे यह सिद्ध है कि जहाँ जहाँ खत्री गये, उनके पुरोहित सारस्वत ब्राह्मण भी उनके साथ ही गये। इनके अलग अलग अल्ल खत्रियों के भिन्न भिन्न अल्लों के साथ पूर्व की ही भांति अब तक संबंधित हैं जैसे मेहरोत्रों के पुरोहित जैतली, कपूरों के कपूरिया, खन्ना और टण्डन के झिंगरन, सेठों के तिक्खे, सहगल के मोहिले, कक्कड़ों के कुमारिया या कुमाड़िया, महेन्द्रू के भटूरिये, धवन तथा सूद के कालिया, चोपड़ों के बग्गे, बेरी और वाही के हौसला आदि।

स्कन्द पुराण सहयाद्रि खंड उ:5 में लिखा है–

सारस्वताः कान्यकुब्जाः गौड़ उत्कल मैथिलाः।

पंचगौड़ा इति ख्याता विन्ध्यस्योत्तर वासिनः।।

कपाटिकाश्च तैलंगाः द्राविड़ा महाराष्ट्रकाः।

गुर्जरा श्येति तैलंगाः द्राविड़ा विंध्य दक्षिणे।।

इसमें सारस्वत लिखने का कारण यह है कि उत्तर कोशल का कुछ भाग गौड़ देश कहलाता है जहाँ कुछ सारस्वत रहते थे इस लिये सारस्वतों को भी पंचगौड़ लिखा है। यथार्थ में पांच गौड़ ब्राह्मण नहीं हैं। पांच गौड़ जनपद था। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार भी "पंचगौड़" शब्द केवल ब्राह्मण के लिये कदापि नहीं है। राजपूतों में भी एक जाति गौड़ कहलाती है जो पांचवी शताब्दी में अपने प्राचीन गौड़ देश को छोड़ कर अजमेर के आस पास के देश में बसी थी और अब मध्य प्रदेश और आगरा के आस पास पायी जाती है।

पंडित गोविन्द नरायन मिश्र के अनुसार "पाञ्चजन्य अग्नि" की उत्पत्ति से

ही ऋषियों के अद्वितीय तेजस्वी कश्यप, वशिष्ठ, प्राण, अंगिरा और च्यवन पाँचों वंश वृद्धि को प्राप्त हुए थे इस लिये इस पंच वंश की संज्ञा ही पंचजना (पंच जाति) प्रसिद्ध हुई। चारुकुल को चौजाति तथा आठ ऋषि वंशजों को अष्ट वंश कहते हैं। विद्या, तप, प्रभाव आदि से चारु कुल कहलाया, पर कुल ब्राह्मण मात्र एक ही हैं।

इन पंजाबी सारस्वत ब्राह्मणों में भी खत्रियों की ही भांति पंजा जाति, अष्टवंश, छःवंश, बारह वंश, बहुजाति सारस्वत, दत्ता, होशियारपुर के सारस्वत, जम्ब जसरौटा के पहाड़ी सारस्वत, कांगडे के पहाड़ी सारस्वत आदि जैसी तड़बन्दी है जिसमें उनके भिन्न भिन्न अल्ल हैं।[1]

5. पुरोहिताई की वृत्ति

क्षत्रियों की उत्पत्ति के बाद ही उन्हें देव कार्य आदि शुभ कर्म कराने के लिये पुरोहित की आवश्यकता पड़ी। उसी समय से सारस्वत ब्राह्मणों को राजपुरोहित के आसन पर सुशोभित होना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण में कहा है "यत्क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति स युद्धकिंच कर्म्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणामित्रेण हैवास्मै तत्समृध्यते तस्माद् क्षत्रियेण कर्म्मकरिष्य मापोनोपसत्त व्यएव ब्राह्मणाः संहैवास्मैतव ब्रह्मप्रसूतं कमर्भार्ध्यते।" (शतपथ ब्राह्मण 4–1–4–6)। ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय की कर्म समृद्धि असंभव है इस लिये जिस क्षत्रिय को श्रौत स्मार्त कर्म करना हो वह ब्राह्मण से उस कर्म को करावे। सब से पहले वेनपुत्र महाराज पृथु ने राज्य सिंहासन प्राप्ति के समय ब्राह्मणों को अभिवादन कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की थी और शुक्राचार्य जी को अपना कुल पुरोहित स्वीकार कर मंत्री और ज्योतिषी आदि राजकीय पदों पर सब बालखिल्य गर्ग प्रभृति सारस्वत ब्राह्मणों को ही सुशोभित किया था। क्षत्रिय राजा भरत के वंशज जन्हू राजा के भतीजे संवरण को पांचाल राजा की सेना से पराजित हो कर वशिष्ठ जी से ही पुरोहित हो कर सहायता की प्रार्थना करनी पड़ी थी और वशिष्ठ जी ने ही सम्वरण को पुनः क्षत्रियों का अधीश्वर बना कर भरत की बसाई पुरी में राज सिंहासन पर अभिषिक्त किया था। (महाभारत)

अतः अत्यन्त प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों को सामान्यतया पुरोहित की ही वृत्ति स्वीकार करनी पड़ी थी। "बाद के वैदिक संहिता काल में जब ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की रचना हुई उस समय तक ब्राह्मणों के दो वर्ग हो गये थे। एक तो वे ब्राह्मण थे जो पुरोहित थे और राजाओं के पुरोहित के रूप में या उनके आमात्यवर्ग के रूप में उनके साथ रहते एवं उनके विशाल यज्ञों में भाग लेते थे। इनमें से कुछ यज्ञ तो ये पुरोहित कम से कम एक वर्ष तक अपने आश्रयदाता राजाओं के लिये कराते रहते थे, दूसरे वर्ग में वे पुरोहित थे जो गाँवों में रह कर साधारण जीवन यापन करते थे। इनका इस वर्ग से सम्पर्क कम रहता

1. खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 55–64

था और किसी समृद्ध सामन्त या व्यापारी द्वारा कोई यज्ञ कराये जाने के समय ही यज्ञ के विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिये इन्हें आमंत्रित किया जाता था।[1] इन ब्राह्मणों के लिये कठोर तपोनिष्ठ जीवन के दर्शन ब्राह्मण साहित्य, गाथाओं तथा पुराणों में सर्वत्र होते हैं। सादगी, संस्कृति एवं धर्म ही इनके जीवन के मार्गदर्शक सिद्धांत थे। ये ब्राह्मण अपनी आजीविका के प्राचीन साधनों जैसे यज्ञ (अन्य लोगों द्वारा कराये जाने वाले यज्ञों में पुरोहित का कार्य करना) को ही सर्वाधिक महत्व देते थे। इनमें भी अध्यापन का कार्य सर्वोत्तम माना जाता था। ब्राह्मण यथा सम्भव नौकरी, व्यापार, कृषि आदि का बहिष्कार ही करते थे और बिना आपदा पड़े इन कर्मो को स्वीकार नहीं करते थे। अर्थ संकट के समय यदि उनकी जीविका इन श्रेष्ठ साधनों से न चल सकती थी तो वे क्षत्रिय वृत्ति अपना सकते थे और यदि क्षत्रिय वृत्ति से भी उनका जीवन निर्वाह न होता तो वो वैश्य वृत्ति भी अपना सकते थे पर वे जिस वस्तु का चाहें उसका क्रय विक्रय नहीं कर सकते थे। पुराणों में उन वस्तुओं की सूची दी है जिनका विक्रय करने से ब्राह्मण पतित हुआ माना जाता है। वस्तुओं की अदला बदली में भी उनके लिये प्रतिबन्ध है। उन्हें यह भी निर्देश था कि ब्राह्मण कृषि भी स्वयं न कर के दूसरों से कराये क्योंकि इस कार्य में पशुओं को पीड़ा पहुंचती है तथा अनेक कृमियों की हत्या होती है।[2] जो ब्राह्मण अपनी जीविका के लिये उपरोक्त तीन पवित्र वृत्तियों (यज्ञ, अध्यापन और प्रतिगृह) के अतिरिक्त अन्य वृत्ति अपनाते थे उनकी मर्यादा निम्न समझी जाती थी। ऐसे ब्राह्मणों को बहुत नीची निगाह से देखा जाता था तथा उन्हें श्राद्ध कर्मो में आमंत्रण के अयोग्य समझा जाता था।[3] वैदिक काल में उपरोक्त व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मणों की उपरोक्त वृत्ति को सुरक्षित रखने के लिये धर्मशास्त्रों में अनेक कठोर नियम बनाये गये थे। इसी लिये पुराणों में भी ब्राह्मणों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये वैध उपायों द्वारा यथा भेंट या दान स्वीकार, पुरोहिताई, अध्यापन आदि जैसी उनकी वृत्ति सुरक्षित करने की अनेक गाथायें हैं और उनमें भी दान की महिमा सर्वोत्तम बतायी गयी है क्योंकि वही सबसे अधिक प्रभावी भी है और इससे सम्बन्धित अनेक प्रकरण पुराणों में भरे पड़े है। पुराण में यहाँ तक कहा गया है कि "दानम, एकम् कलि युगे"[4] दानं धर्मांति परो धर्मः भूतनाम नेह विधते।[5] दान से इह लोक और परलोक दोनों में मनुष्यों को अतुल ऐश्वर्य एवं सुख की प्राप्ति होती है। वह इस पृथ्वी पर स्वास्थ्य, समृद्धि, सुन्दर पत्नी तथा संतान का सुख भोग करता है तथा मृत्यु के उपरांत बिना प्रयास के ही ब्रह्म लोक एवं विष्णु लोक आदि को प्राप्त करता है।[6]

(1) कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया–खण्ड–1 पृष्ठ 127–128
(2) मनु स्मृति 10–75, गौतम 7, विष्णु पुराण 8, 38 से अंत तक, कूर्म पुराण 2–25–2–12
(3) मनु स्मृति 3–150, गौतम 15–18, विष्णु पुराण 3–15, 5–7 कूर्म पुराण 21–27
(4) कूर्म पुराण 1–28–17, मनु स्मृति–186
(5) कूर्म पुराण–2, 26, 56
(6) मत्स्य पुराण–26–16, 90–11

क्षत्रिय पुरोहित का वैमनस्य

"राजा निमि के कुल पुरोहित वशिष्ठ जी थे। किसी समय यज्ञों का सम्पादन करने से श्रांत हुए गुरु वशिष्ठ विश्राम कर रहे थे। उसी समय राजाओं में श्रेष्ठ राजा निमि ने उनके पास जा कर यज्ञ कराने को कहा तो गुरु वशिष्ठ ने उत्तर दिया–मैं आपके श्रेष्ठ यज्ञों का अनुष्ठान कराने से थक गया हूँ अतः कुछ काल तक प्रतीक्षा कर लीजिये। विश्राम करने के बाद मैं पुनः आपका यज्ञ कराऊँगा। इस पर राजा निमि ने धर्म कार्य में विलम्ब करना नीति विरूद्ध है और जीवन क्षणभंगुर है आदि कहते हुए यह कह दिया कि यदि आप अभी न करा सकेंगे तो मैं किसी दूसरे के पास जाऊँगा। निमि द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वशिष्ठ ने क्रोधपूर्वक निमि को श्राप देते हुए कहा कि –नरेन्द्र, यदि तुम धर्म के ज्ञाता हो कर भी मुझ थके हुए पुरोहित का परित्याग कर किसी अन्य ब्राह्मण श्रेष्ठ को याजक बनाना चाहते हो तो तुम शरीर रहित हो जाओगे। तब निमि ने उत्तर दिया–मैं धार्मिक कार्य के लिये उद्यत हूँ, किन्तु आप इसमें विघ्न डाल रहे हैं तथा दूसरे के द्वारा यज्ञ सम्पन्न होने देना भी नहीं चाहते, अतः मैं भी आप को शाप दे रहा हूँ कि आप भी विदेह हो जायेंगे। ऐसा कहते ही वे दोनों ब्राह्मण और राजा, शरीर रहित हो गये। तब उन दोनों के देह हीन जीव ब्रह्मा के पास गये। उन दोनों को आया हुआ देख कर ब्रह्मा ने कहा–'निमि रूप जीव! आज से तुम्हारे लिये एक स्थान दे रहा हूँ। तुम सभी प्राणियों के नेत्रों के पलकों में निवास करोगे। तुम्हारे संयोग से ही उनके निमेष–उन्मेष (आँख का खुलना और बन्द होना) होंगे। तब सभी मानव नेत्रों के पलकों को चलाते रहेंगे।" इस प्रकार कहे जाने पर निमि का जीव ब्रह्मा जी के वरदान से सभी मनुष्यों के नेत्र–पलकों पर स्थित हो गया।

तदनन्तर ब्रह्मा ने वशिष्ठ के जीव से कहा "वशिष्ठ ! तुम मित्रावरुण के पुत्र होओगे। वहाँ भी तुम्हारा नाम वशिष्ठ होगा और तुम्हें बीते हुए दो जन्मों का स्मरण बना रहेगा।"[1]

इस प्रकार दोनों ने एक दूसरे को श्राप दिया। निमि को यह देह त्यागना पड़ा और वशिष्ठ जी को दूसरा जन्म लेना पड़ा। इसी समय से कुल पुरोहितों का स्वत्व ऐसा सुदृढ़ हुआ कि एक दूसरे को कभी छोड़ते नहीं थे क्योंकि मनु स्मृति में भी कहा है "ना ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति–नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते। ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्धते।।"[2] अर्थात ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय और क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण बढ़ नही सकते, यदि यह दोनों मिले रहें तो लोक परलोक दोनों में प्रवृद्ध रहते हैं।

(1) मत्स्य पुराण–अध्याय 20–1–23 यह प्रसंग ऋग्वेद एवं विष्णु पुराण में भी है तथा खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ 65–66 में भी इसका वर्णन आया है।
(2) मनु स्मृति 9/322

चन्द्र वंशी हैहयों और तालजंघो ने मदमत्त हो कर सूर्य वंशी राजाओं पर चढ़ाई की। उसी झगड़े में पराजित हो कर राजा बाहु अपनी गर्भवती पत्नी सहित वन में चले गये। वहीं वृद्धावस्था के कारण सगर के पिता बाहु की मृत्यु हो गयी। निराश्रया शोक संतप्ता रानी सती होने चली। भाग्यवश महात्मा और्व ने उसके गर्भस्थ बालक की रक्षा रानी को सती होने से रोक कर की। सगर का जन्म हुआ। सगर के पिता वशिष्ठ कुल के यजमान थे परन्तु इस समय जाति कर्म्मादि संस्कार और्व ऋषि ने कराया और पुरोहित हुए तथा सगर ने बाद में प्रायः सभी हैहय और तालजन्घी राजाओं को नष्ट कर दिया।[1]

पुरोहित वृत्ति का अर्थ

'पुरोधीयते ऽसौ पुरोहितः' जो यजमान के यहाँ संस्कार, देवकार्य आदि में सबसे आगे रखा जाय। ऋग्वेद का पहला मंत्र "अग्नि मीळे पुरोहितं यज्ञस्य देव मृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्" देने तथा ग्रहण करने वाले (होतारम) को बार बार उत्पत्ति के समय में ही रत्नों के धारण करने वाले (पुरोहितम्) की स्तुति करते हुए कहता है। अतः पुरोहित कर्म की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। चन्द्र वंशी, सूर्य वंशी अनेक राजाओं ने सारस्वत भृगु जी तथा उनके वंशजों को अपना कुल पुरोहित माना था। सूर्य वंशी इक्ष्वाकु राजाओं के कुल पुरोहित वशिष्ठ जी हुए थे। इसी प्रकार भरद्वाज, गौतम, अत्रेय, कश्यप आदि प्रधान ऋषियों को पुरोहित के कार्य में प्रारम्भ में ही नियुक्त होना पड़ा था और जिस राजा ने उन्हें अपना पुरोहित बनाया भविष्य में उसी ऋषि के उत्तराधिकारी वंशजों की वह पुरोहित वृत्ति स्थिर हो गयी। इन पुरोहितों में भी इनके अपने पुरोहित उन्हीं के घर के मान्य यानी दामाद, नवासे, भांजे आदि होते हैं। यह लोग व्रत का रुपया व दान आदि लेते है।

पुरोहित वृत्ति के लिये वशिष्ठ एवं विश्वामित्र का झगड़ा

सुदास राजा के घर यज्ञ में वशिष्ठ के पुत्र शक्ति और विश्वामित्र का विरोध हुआ था। उसी में वशिष्ठ के सौ पुत्रों का विनाश हुआ था। वशिष्ठ ने ही तालजंघ कुल के कृतवीर्य के पुत्र सहस्त्रार्जुन यजमान वंश को श्राप दिया था कि तेरी इन भुजाओं को परशुराम ही काटेंगे।[2] पर यथाशक्ति न तो पुरोहित यजमान को छोड़ते थे और न यजमान ही पुरोहित को त्यागते थे।

खत्रिय अपने पुरोहित को आज भी गुरु ही कहते हैं क्योंकि एक तो यह पुरानी चाल थी दूसरे यज्ञोपवीत के समय पुरोहित ही क्षत्रियों को गायत्री का उपदेश देते हैं। इसी कारण से उन्हें गुरु भी कहते हैं। स्वयं दशरथ और राम चन्द्र ने कुल गुरु और पुरोहित दोनों ही शब्दों का प्रयोग किया है। यथा पुरोहितं

(1) विष्णु पुराण–चतुर्थ अंश–अध्याय 3–श्लोक 25–49
(2) ऋग्वेद के मंडल 3–सूक्त 53–ऋचा 1–24 में वशिष्ठ विश्वामित्र वैमनस्य का उल्लेख है।

वशिष्ठं (रामायण)। गुरु वशिष्ठ कहं गयऊ हंकारा। कथा सुनाई गुरुहिं सब, सादर दूत बोलाई (रामचरित मानस–दोहा 107) गुरु वशिष्ठ कुल पूज्य हमारे" आदि।

भविष्य पुराण भी कहता है "सारस्वतास्तु ये विप्राः क्षत्रियाणां पुरोहिताः।" आज क्षत्रिय राजा नहीं हैं। वह प्राचीन काल भी नहीं है किन्तु प्राचीन काल में पुरोहिताई का जो संबंध क्षत्रियों से था वहीं आज भी खत्रियों के साथ चल रहा है। सारस्वत ब्राह्मण और खत्रियों के सारे भारत में फैल जाने के बावजूद यह सम्बन्ध अब तक चला आ रहा है। सारस्वत ब्राह्मणों ने खत्रियों के अतिरिक्त दूसरी क्षत्रिय कही जाने वाली जाति की पुरोहिताई स्वीकार नहीं की। उनमें आपस में कच्ची पक्की रसोई का भेदभाव नहीं था बल्कि पंजाब में पुरोहित को हन्दा (की रोटी) दे कर ही भोजन करने का रिवाज खत्रियों में एक समय अधिक प्रचलित था[1] और हन्दे की रोटी के प्रकरण की भी अनेक कहानियाँ हैं जिसमें इन पुरोहितों को हन्दे की रोटी देने की भी अनेक सत्य कथायें हैं जिनके कारण 'खलखिच कुमड़िये' जैस अल्ल भी बना।

6 (i) ऋषि परम्परा–परमर्षि, महर्षि, सर्वप्रथम ऋषि, ऋषिक एवं श्रुतर्षि का वर्णन (मत्स्य पुराण–अध्याय 145–श्लोक 81–118)

"ऋषि" धातु का हिंसा और गति अर्थ में प्रयोग होता है। इसी से ऋषि शब्द निष्पन्न हुआ है। चूँकि उसे ब्रह्मा से विद्या, सत्य, तप, शास्त्र ज्ञान आदि समूहों की प्राप्ति होती है, इस लिये उसे ऋषि कहते हैं। यह अव्यक्त ऋषि निवृत्ति के समय जब बुद्धि बल से परम पद को प्राप्त कर लेता है, तब वह परमर्षि कहलाता है। गत्यर्थक (गति के ज्ञान, मोक्ष और गमन यहाँ तीनो अर्थ विवक्षित हैं) ऋषी धातु से ऋषि नाम की निष्पत्ति होती है तथा वह स्वयं उत्पन्न होता है, इस लिये उसकी ऋषिता मानी गयी है। ब्रह्मा के मानस पुत्र ऐश्वर्यशाली वे ऋषि स्वयं उत्पन्न हुए हैं। निवृत्ति मार्ग में लगे हुए ये ऋषि बुद्धि बल से परम महान पुरूष को प्राप्त कर लेते हैं। चूंकि वे ऋषि महान पुरुषत्व से युक्त रहते हैं, इस लिये "महर्षि" कहे जाते हैं। उन ऐश्वर्यशाली महर्षियों के जो मानस पुत्र

(1)बौघायन ऋषि की आज्ञा है–"अहरह ब्राह्मणेभ्योऽन्नःद्या दासूफ फल शाकेभ्यः अथैव मनुष्य यज्ञंसमाप्तनोति।" इसी को पुराणों में विस्तार से इस प्रकार कहा गया है–"ग्रास प्रमाणं भिक्षस्याक्ष्रं ग्रास चतुष्ठयं। अग्राच्य तुर्गुणुंप्राहुः हन्तकारं द्विजोत्तमाः। भोजनं हन्तकारं वा अग्रं भिक्षामथाऽपि अदत्वा तनु भोक्तव्यं यथा विभवमात्मनः"।।

सामर्थ्यानुसार नित्य एक ब्राह्मण भोजन से प्रारम्भ कर अन्ततः एक ग्रास तक भी दान किये बिना स्वयं भोजन करने का निषेध है। चार ग्रास परिमाण अन्न का नाम अग्र और सोलह ग्रास अन्न ही हन्ताकार या हन्दा कहलाता है। पंजाबी खत्री नित्य पुरोहित और यदि वह न हो तो किसी सारस्वत ब्राह्मण को 'हन्दा' दे कर भोजन करते थे। पंजाब मे इसी परिपाटी का निर्वाह होता था और इसी को हन्दा कहा जाता था जिसे सारस्वत पुरोहित अपनी कुल परम्परानुसार अपने यजमानों की अमूल्य जागीर मानते थे और उसे अपना पुश्तैनी अधिकार समझते थे।

एवं औरस पुत्र हुए, वे ऋषि परक होने के कारण प्राणियों में सर्वप्रथम ऋषि कहलाये। मैथुन द्वारा गर्भ से उत्पन्न हुए ऋषि पुत्रों को ऋषिक कहा जाता है। चूँकि ये जीवों को ब्रह्मपरक बनाते हैं इस लिये इन्हें ऋषिक कहा जाता है। ऋषिक के पुत्रों को ऋषि पुत्रक जानना चाहिये। वे दूसरे से ऋषि धर्म को सुन कर ज्ञान सम्पन्न होते हैं, इस लिये ऋुतर्षि कहलाते हैं, (और उनके वचन 'श्रुति' कहलाते हैं)। उनका वह ज्ञान अव्यक्तात्मा, महात्मा, अहंकारात्मा, भूतात्मा और इन्द्रियात्मा कहलाता है।

इस प्रकार ऋषि जाति पाँच प्रकार से विख्यात है। भृगु, मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, मनु, दक्ष, वशिष्ठ और पुलस्त्य ये दस ऐशवर्यशाली ऋषि ब्रह्मा के मानस पुत्र हैं और स्वयं उत्पन्न हुए हैं। ये ऋषिगण ब्रह्मपरत्व से युक्त है, इस लिये महर्षि माने गये हैं। इन ऐश्वर्यशाली महर्षियों के पुत्र रूप जो ऋषि हैं उनमें काव्य (शुक्राचार्य), बृहस्पति, कश्यप, च्यवन, उतथ्य, वामदेव, अगस्त्य, कौशिक, कर्दम, बालखिल्य, विश्रवा और शक्ति वर्धन ये सभी ऋषि कहलाते हैं जो अपने तपोबल से ऋषिता को प्राप्त हुए हैं। इन ऋषियों द्वारा गर्भ से उत्पन्न हुए ऋषीक नामक पुत्रों में वत्सर, नग्नहू, भरद्वाज, दीर्धतमा, वृहदक्षा, शरद्वान, वाजिश्रवा, सुचिन्त, शाव, पराशर, श्रृंगी, शंखपाद और राजा वैश्रवण–ये सभी ऋषिक हैं और सत्य के प्रभाव से ऋषिता को प्राप्त हुए हैं।

भृगु, कश्यप, प्रचेता, दधीचि, आत्मवान, ऊर्व, जमदग्नि, वेद, सारस्वत, आष्र्टिषेण, च्यवन, वीतिहव्य, वेधा, वैण्य, पृथु, दिवोदास, ब्राह्मवान, गृत्स और शौनक–ये उन्नीस भृगुवंशी ऋषि मन्त्रकर्ताओं में श्रेष्ठ हैं।

अंगिरा, त्रित, भरद्वाज, लक्ष्मण, कृतवाच, गर्ग, स्मृति, संकृति, गुरुवीत, मान्धाता, अम्बरीष, युवनाश्व, पुरुकुत्स, स्वश्रव, सदस्यवान, अजमीढ़, अस्वहार्य, उत्कल, कवि, पृषदश्व, विरूप, काव्य, मुद्गल, उतथ्य, शरद्वान, वाजिश्रवा, अपस्योष, सुचित्त, वामदेव, ऋषिज, बृहच्छुक्ल, दीर्धतमा, और कक्षीवान–ये तैंतीस श्रेष्ठ ऋषि अंगिरा गोत्रीय कहे जाते हैं। ये सभी मन्त्रकर्ता हैं।

कश्यप, सहवत्सार, नैध्रुव, नित्य, असित, और देवल ये छः ब्रह्मवादी ऋषि हैं।

अत्रि, अर्धस्वन, शावास्य, गविष्ठिर, सिद्धर्षि, कर्णक और पूर्वातिथि– ये छः मन्त्रकर्ता महर्षि अत्रि वंशोत्पन्न कहे गये हैं।

वशिष्ठ, शक्ति, तीसरे पराशर, इन्द्रप्रभति, पाँचवें भरद्वसु, छठे मित्रावरुण तथा सातवें कुण्डिन–इन सात ब्रह्मवादी ऋषियों को वशिष्ठ वंशोत्पन्न जानना चाहिये।

गाधिनन्दन विश्वामित्र, देवरात, बल, विद्वान मधुच्छन्दा, अघमर्षण, अष्टक, लोहित, भृतकील, अम्बुधि, देवपरायण देवरात, प्राचीन ऋषि धनंजय, शिशिर तथा महान तेजस्वी शालंकायन–इन तेरहों को कौशिक वंशोत्पन्न ब्रह्मवादी ऋषि समझना चाहिये।

अगस्त्य, दृढद्युम्न तथा इन्द्रबाहु ये तीनों परम यशस्वी ब्रह्मवादी ऋषि अगस्त्य कुल में उत्पन्न हुए हैं।

विवस्वान –पुत्र मनु तथा इला–नन्दन राजा पुरुरवा–क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए इन दोनों राजर्षियों को मन्त्रवादी जानना चाहिये।

भलन्दन, वासाश्व और संकील–वैश्यों में श्रेष्ठ इन तीनों को मन्त्रकर्ता समझना चाहिये।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कुल में उत्पन्न हुए बानवे ऋषियों ने मंत्रों को प्रकट किया है।

ऋषि पुत्र जो ऋुतर्षि कहलाते हैं, ऋषियों के पुत्र हैं।[1]

(ii) गोत्र का अर्थ एवं उत्पत्ति [2]

गोत्र का अर्थ है 'वंश परिचय', कुल। इसे आर्ष गोत्र कहते हैं। ये ब्राह्मणोचित गोत्र कहे जाते हैं। मनु से कहे हुए शाण्डिल्य आदि ऋषि से वा मूल पुरुष, जहाँ से वंश चला है, उसी मूल पुरुष के नाम से वह गोत्र प्रसिद्ध होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विजातियों में उनके भिन्न भिन्न गोत्रों की संज्ञा उनके मूल पुरुष या ब्राह्मण गुरु ऋषियों के नामों के अनुसार है। प्राचीन आर्यों ने अपने को सुविधा की दृष्टि से वर्णों में विभाजित किया था। वर्णभेद के बाद उपभेद प्रारम्भ हुए। खत्रियों (क्षत्रियों), सारस्वत ब्राह्मणों तथा अन्य आर्यवंशीय ब्राह्मणों में पुरातन काल से वर्तमान काल तक एक रूप में मिलने वाले जो गोत्र तथा शाखा के आधार पर विभाजन हुए (जिन्हें हम गोत्रोच्चार या शाखोच्चार के नाम से कहते हैं) खत्रियों की प्राचीनता तथा आर्यों के सच्चे वंशज होने का प्रमाण हैं। परम्परा से विवाह आदि अवसरों पर गोत्रों का उच्चारण यह प्रमाणित करता है कि खत्रियों का प्राचीन आर्य महर्षियों से उद्‌भव तथा सम्पर्क है। चारों

---

(1) मत्स्य पुराण–अध्याय–145–श्लोक 81–118

(2) गोत्र प्रवर निर्णय पर कई स्वतंत्र निबन्ध हैं पर वे सभी मत्स्य पुराण के अध्याय 195 से 203 पर आधारित हैं। वैसे ऋग्संहिता (7/18–6–8/3/9 तक) तथा स्कन्द पुराण–माहेश्वर खण्ड एवं ब्रह्मखण्ड में भी इस पर विस्तृत विचार है, किन्तु मत्स्य पुराण के उपरोक्त अध्यायों में ऋषियों के नाम, गोत्र, वंश, अवतार तथा प्रवरों की समता और विषमता इन विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। मत्स्य पुराण में अध्याय 146 श्लोक 98–118 में यह भी कहा गया है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कुल में उत्पन्न बानवे ऋषियों ने मंत्रों को प्रकट किया जिनमें 19 भृगु वंशी, 33 अंगिरा वंशी, 6 कश्यप गोत्री, 6 अत्रि वंशोत्पन्न, 7 वशिष्ठ कुलोत्पन्न, 13 कौशिक गोत्री, 3 अगस्त्य कुलोत्पन्न, 2 क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजर्षि (विवस्वान पुत्र मनु तथा इला नन्दन राजा पुरुरवा) तथा 3 वैश्यों में श्रेष्ठ मंत्रकर्ता (भलन्दन, वासाश्व और संकील) थे।

वेदों की विशेष शाखाओं के सूत्रों को सर्वमान्य रूप से मानने तथा ग्रहण करने और उन विशेष शाखाओं तथा सूत्रों से सम्बन्धित तत्कालीन महर्षियों से सम्बन्ध ा परम्परा की निरंतरता को अक्षुण्ण रखने के फलस्वरूप ही खत्रियों की विभिन्न अल्लों के अपने गोत्र हैं। एक अल्ल विशेष पुरातन आर्य किस राजर्षि का वंशज है इसका ज्ञान उसके अपने गोत्र से ही होता है।

प्राचीन आर्यों के वास्तविक वंशजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) का विभाजन, गोत्र प्रकार तथा शाखाओं के आधार पर जैसा पुरातन काल में हुआ था, वैसा ही आज तक चला आता है। शास्त्रों में कहा है–"जन्मना, जायते शूद्रः, संस्कार द्विज उच्यते।" अर्थात प्रत्येक प्राणी जन्म से तो शूद्र होता है और संस्कार से ही द्विज हो कर उच्चता को प्राप्त होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिन वर्तमान जातियों का इन गोत्रों आदि से सम्बन्ध व सम्पर्क नहीं है वे प्राचीन आर्यो के वास्तविक वंशज नहीं हैं। खत्रियों के अतिरिक्त क्षत्रिय कहलाने वाली जातियों में गोत्र आदि खत्रियों के समान तथा अनुरूप नहीं हैं। यह तथ्य भी यह प्रमाणित करता है कि वास्तविक क्षत्रिय वर्ण इन्हीं खत्रियों या खत्री लोगों का है। राजपूत तथा ठाकुर आदि क्षत्रिय आर्यों की वर्ण व्यवस्था वाले क्षत्रिय नहीं हैं। मनु स्मृति के आधार पर जिन आदि ऋषियों से वंश परम्परा चली वह उन्हीं मूल पुरुषों के नाम से "गोत्र" के रूप में प्रसिद्ध हुई। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जो द्विज (संस्कारयुक्त) थे, उनके भिन्न भिन्न गोत्र अपने विभिन्न ब्राह्मण गुरु महर्षियों या मूल पुरुषों के नाम पर चले। विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ तथा कश्यप यह आठ प्रमुख ब्रह्मर्षि थे। इसके अतिरिक्त अन्य ऋषि भी गोत्र प्रवर्तक हुए हैं।

गोत्र की पहचान

गोत्र केवल ब्राह्मणों के ही नहीं होते हैं। यह उन आर्ष महर्षियों के हैं जिनसे किसी जाति की विशेष अल्ल का प्रारम्भ हुआ है। किसी व्यक्ति का गोत्र कौशिक होने मात्र से ही नहीं कहा जा सकता कि वह विशेष व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य है क्योंकि तीनों में ही इस गोत्र के व्यक्ति मिलेंगे। अतः इसकी अग्रेतर पहचान के लिये वेदोक्त नियम यह है कि क्षत्रिय (खत्रिय) के गोत्रों के प्रवर (प्रधान पुरुष) और उनके पुरोहित के गोत्र प्रवर एक होने चाहिये। इस वेदोक्त नियम को काटा नहीं जा सकता। चूंकि केवल खत्री ही इस वेदोक्त नियम की कसौटी पर खरे उतरते हैं अतः वे ही विशुद्ध आर्य वंशज कहलाने के अधिकारी हैं।[1]

गोत्रज एवं उनके भेद

एक ही गोत्र में उत्पन्न हुए लोग गोत्री किंवा गोत्रज कहे जाते हैं। द्विज अर्थात ब्राह्मण, क्षत्रिय (खत्रिय), वैश्य अपने गोत्र को स्मरण रखते हैं। प्रत्येक

---

(1) शंका समाधान लेख डा0 प्रेम शंकर टण्डन–खत्री हितैषी–अंक अप्रैल, 1940 पृष्ठ –9

संस्कार के समय गोत्र का उच्चारण किया जाता है। विश्व में कही भी ऐसा नहीं पाया जाता है कि लोग अपने गोत्र को स्मरण रखते हों। सगोत्र में विवाह वर्जित किया गया है अतएव गोत्र स्मरण रखना आवश्यक है।

धर्मशास्त्रों के अनुसार एक ही गोत्र में उत्पन्न गोत्रज दो प्रकार के होते हैं–

(1) गोत्रज सपिंड और (2) गोत्रज समानोदक। सात पीढ़ी तक जिसके एक ही पूर्वज हों वे गोत्रज सपिंड और सात से ऊपर चौदह पीढ़ी तक वाले गोत्रज समानोदक कहलाते हैं। इसी को गोतिया कहते हैं। एक ही गोत्र वंश वालों में परस्पर विवाह कर्म नहीं होता और ऐसा सम्बन्ध शास्त्र निषिद्ध हैं।[1]

विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य गोत्र प्रवर्तक ऋषि हैं। कौशल्य ऋषि भी गोत्र प्रवर्तक हुए हैं। गोत्रर्षि बहुत हैं। गोत्र चलाने वाले मुनियों के समूह अर्थात गोत्र प्रवर्तक ऋषि की संतान में जो मंत्र दृष्टा ऋषि हुए वे गोत्र प्रवर कहलाते हैं। ब्राह्मण और क्षत्रियों के गोत्र एक भी हो सकते हैं। इसका कारण है एक तो सत्य संकल्पता से जन्म दूसरे इन दोनों वर्णों में हुए विवाह सम्बन्ध। ब्राह्मणों के क्षत्राणियों से तथा क्षत्रियों का ब्राह्मणी से भी विवाह सम्बन्ध हुआ है। इस विवाह से जो वंश आगे बढ़ा उसका मूल पुरुष तो वही पहला मनुष्य रहा। अतः ब्राह्मण और क्षत्रियों का गोत्र एक सा हो सकता है और होता है। भरद्वाज मुनि की वंशावली (विष्णु पुराण–अंश 4–अध्याय 19) इसका एक उदाहरण है जिसमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों हैं। अन्य भी अनेकों उदाहरण पुराणों में भरे पड़े हैं। इसी प्रकार अंगिरा ब्रह्मा के द्वितीय पुत्र हैं। खत्रियों का गोत्र अंगिरस है। सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हर्विभुजः सोमपास्तु कवेः पुत्राः हविष्मन्तोअंगिरः सुताः (मनु स्मृति –अध्याय 3 श्लोक 197–198) क्षत्रियों के पूर्वज हविर्भुज अंगिरस के बेटे हैं और हविर्भुज नाम अग्नि का है। अतः अंगिरा गोत्री खत्रिय अग्नि वंशी क्षत्रिय हैं।

ततः प्रभृति ते सव्वे क्षत्रिया द्विजपालिताः।
त्यक्त क्षत्रिय धर्म्मणो वणिग्वृत्ति समाश्रिताः।।
ते सूर्य शशि वंशीया अग्नि वंश समुद्भवाः।
उत्तमा क्षत्रियाः ख्याता इतरे मध्यमाः स्मृताः।।
–भविष्य पुराण, अध्याय–41

(यजमानों के लड़के जो परशुराम के युद्ध में सारस्वतों से रक्षा किये गये तथा जो आपत्ति के कारण व्यापार करने लगे वे सूर्य, चन्द्र और अग्नि वंश में हैं तथा वे श्रेष्ठ क्षत्रिय हैं। इनसे इतर मध्यम हैं वा उत्तम क्षत्रिय नहीं हैं।

पुरोहितों के प्रवरानुसार ही क्षत्रियों के प्रवर होते हैं। विवाह मे अपने वंश के पुरोहितों के गोत्र का ही ग्रहण और उच्चारण होना चाहिये। ऐसा मेधातिथि आदि का निचोड़ सिद्धांत है, अतः जिसे अपना गोत्र याद न हो वह अपने वंश के पुरोहित के गोत्र को ले सकता है।

*****

अध्याय–5 खत्रिय जाति का पराक्रम एवं सैनिक वृत्ति का ह्रास

मुसलमानों के राज्यकाल में खत्री सेना तथा प्रशासन में बड़े बड़े ओहदों पर तैनात थे। जार्ज कैम्पबेल के रायल एशियाटिक सोसाइटी की जरनल में दर्ज एक लेख के अनुसार पेशावर का हाकिम एक खत्री था और एक खत्री दीवान ही बदख्शां का कमांडर था। दीवान स्वराज व राजा चंदूलाल (दीवान हैदराबाद) की वीरता के चर्चे तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। जो मोर्चा सर नहीं होता था, राजा साहब वहाँ भेजे जाते थे और वे विजय प्राप्त कर के ही लौटते थे। इसी प्रकार बादशाह मुहम्मद तुगलक के यहाँ एक रिसाला सिर्फ खत्रियों का ही था जो कमलपोशें के नाम से मशहूर था। इस रिसाले में खत्रियों के अलावा और कोई भी व्यक्ति भरती नहीं हो सकता था। यह रिसाला इतना दिलेर समझा जाता था और बादशाह को इस पर इतना ऐतबार था कि वह अपने सफर में सिवाय इस रिसाले के सवारों के और किसी को साथ में न रखता था। जब नादिरशाह ने देहली पर हमला किया तो मुहम्मद तुगलक तो डर कर गुजरात को भाग गया लेकिन इस रिसाले ने वह जौहर अपनी जवांमर्दी व मरदानगी के दिखाये कि एक दफा नादिरशाह का भी मुंह फेर दिया और जब तक इस रिसाले का एक एक फौजी गिन गिन कर नहीं कट गया तब तक उसने नादिरशाह को दिल्ली के अन्दर दाखिल नहीं होने दिया। खत्रियों की ऐसी ही वीरता एवं सैनिक सेवाओं के कारण उन्हें हैदराबाद व विभिन्न रजवाड़ों में जागीरें प्रदान की गयी थीं। जहाँ कहीं भी खत्रियों के अलावा अन्य जातियों के लोग जागीरदार आदि थे, वे या तो तत्कालीन राजाओं/बादशाहों के भाई, बेटे आदि थे जिन्हें गुजारे के लिये ये जागीरें दी जाती थीं या कहीं कहीं कुछ ब्राह्मण थे जिन्हें किसी धार्मिक न्यास (ट्रस्ट) के तौर पर या उनकी पुरोहिताई के हक से कुछ जागीरें प्रदान कर दी गयी थीं।

एक समय महाराजा रणजीत सिंह की फौज में बीस हजार से अधिक खत्री योद्धा थे। वे स्वयं भी खत्रिय थे। बादशाह अलाउद्दीन खिलजी की फौज के केवल खत्रियों की सात पलटनें देवगिरि की लड़ाई में काम आयी थीं।

इस बादशाह के समय में सन 1216 ईसवी में खत्रियों की एक फौज गुजरात भेजी गयी जिसमें हजारों खत्रिय मारे गये। प्रचलित रिवाज के अनुसार उनके घरों की स्त्रियाँ अपने नातेदारों के साथ यमुना स्नान के लिये गयीं और वहाँ स्नान के बाद रोने लगीं। एक साथ बहुत से लोगों की रुलाई जब बादशाह ने सुनी तो उन्हें मालूम हुआ कि उनकी फौज के जो खत्रिय गुजरात में मारे गये हैं, उनकी विधवायें रो रही हैं। यह जान कर बादशाह ने अपने वजीर ऊधर मल को आदेश दिया कि अपनी अपनी वंश बेलों को बढ़ाने के लिये इन विधवाओं की शादी करा दो ताकि एक शूर वीर जाति का लोप न हो। उन्हों ने बादशाह की आज्ञा लल्लू मेहरे व जगधर मेहरे को सुना दी जिससे यह बात चारों तरफ फैल गयी। विधवा विवाह उस समय खत्रियों में जायज नहीं था अतः समूची खत्री

बिरादरी में हलचल मच गयी, और इसका चारों ओर से विरोध होने लगा। बिरादरी के दीवान ऊधर मल खत्री और चौधरी लल्लू जगधर ने बड़ी पैरवी की मगर किसी ने उनकी बात न मानी। यहाँ तक कि उनकी विधवा माँ ने भी विरोध किया और कहा कि यदि तुम इसका समर्थन करोगे तो सबसे पहले मैं अपना विवाह करूँगी। इस पर वे चुप हो गये। तभी से ''ऐसी की तैसी लल्लू जगधर की'' वाली कहावत चली।[1] खत्रियों के प्रतिनिधि बादशाह के पास पहुँचे और जाति प्रथा का हवाला देते हुए विधवा विवाह की आज्ञा पर विरोध प्रकट किया और न मानने पर सशस्त्र विद्रोह की धमकी तक दी।

बादशाह इस विरोध पर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसने खत्रियों की सेना की नौकरियाँ उनसे छीन लीं तथा भविष्य में खत्रियों को फौज में भरती न करने की आज्ञा जारी कर दी। परिणामतः खत्रियों को सैनिक का पेशा छोड़ना पड़ा। पुनः प्रार्थना करने पर उन्हें रोजी रोटी के लिये बाजार में बिकने वाली चीजों पर कुछ दलाली लेने की अनुमति पेट भरने के जरिये के रूप में मिल गयी और वे दलाली करने लगे तथा इस कार्य में उन्हों ने बहुत नाम पैदा किया। दिल्ली में तथा अन्य अनेक स्थानों में आज तक अनेक खत्री इसी पेशे में लगे हैं। इनमें अधिकांश निर्धन तथा मध्यम वर्ग के खत्री थे जो इस प्रकार वैश्य वृत्ति में आये।[2]

इस घटना में विरोध करने सबसे पहले मिहिरोत्रे, कपूर तथा कुछ खन्ने

---

(1) करवट – अमृत लाल नागर – पृष्ठ 125
(2) खत्री जाति परिचय – पृष्ठ 78

टिप्पणी – खत्री जाति परिचय तथा अन्य इतिहासों में भी प्रायः यही लिखा मिलता है, पर वास्तव में प्रारम्भ में यह दलाली नहीं थी बल्कि टैक्स था। हुआ यह था कि दक्खिन की लड़ाई में मारे गये खत्री सिपाहियों की केवल विधवायें और छोटे बच्चे रह गये थे जिनके गुजर बसर का कोई जरिया न था। उस समय आज कल के समान पेंशन वगैरह का कोई कायदा न था कि सिपाही की मौत के बाद उसके परिवार को मिले। लिहाजा सल्तनत की तरफ से यह हुक्म हुआ कि जो कोई दुकानदार कोई चीज फरोख्त करे और मृत सिपाहियों के उन लावारिस लड़कों में से कोई खत्री का लड़का उस वक्त आ जाये तो उसको फी रुपया एक या दो पैसे दें। फिर टैक्स किसी दूसरे नाम से मुकर्रर हुआ। जो कोई दुकानदार उसके देने में हीला हवाली करता उससे जबरदस्ती ले लिया जाता था। यह रवायत आज तक मशहूर है लेकिन उस टैक्स को अब लोग दलाली कहते हैं। इसी कारण बहुत से आदमी गलतफहमी से खत्रियों का पेशे दलाली बतलाने लगे। कालांतर में इसे खत्रियों ने ही नहीं बल्कि अन्य लोगों ने भी पेशी के रूप में अपना लिया और वे विक्रेता तथा खरीदार दोनों की मदद कर अपना कमीशन लेने लगे। (देखिये खत्री हितकारी, आगरा पत्रिका–अंक माह फरवरी, 1890 – पृष्ठ 302)।

अल्ल के परिवार के लोग पहुँचे थे, इस लिये उनकी मर्यादा जाति में ऊँची हो कर ढाई घर हो गयी। इसी प्रकार पहुँचने वाले अन्य लोगों की मर्यादा क्रमशः चार घर, बारह घर तथा बावन घर एवं बहुजाई बनी, जो पुनः केवल कर्म द्वारा स्थापित विशिष्टता ही है।

इन मेहरोत्रा, कपूर, खन्ना वंशजों में कुछ परिवार अढ़ाई घर के हैं तो कुछ चार घर के। दिलवालिये, आगरेवाल एवं पूर्विये खत्रियों में भी मेहरोत्रा, खन्ने, कपूर, सेठ, टंडन आदि कुछ परिवार अढ़ाई घर के हैं तो कुछ चार घर के जो उनके दिल्ली में विरोध हेतु पहुँचने के क्रम पर आधारित है। उसी से उनकी कुलीनता बनी। अतः यह बात कुलीनता के सिद्धान्त पर आधारित है जो न केवल खत्रियों में बल्कि बंगाल एवं मिथिला के उच्चतम ब्राह्मणों में भी प्रचलित है और यह बात पूर्णतया उनका उच्च वर्गीय मूल एवं उनकी जाति की विशुद्धता को ही बताती है।[1]

ढाई घर, चार घर, बारह घर और बावन जाति आदि बनने का असली कारण

यह तड़बन्दी अलाउद्दीन खिलजी के समय में विधवा विवाह के प्रश्न को ले कर बनी, इस पर अधिक विवाद नहीं है किन्तु कालांतर में इस ऊँच–नीच समझी जाने वाली तड़बन्दी का असली कारण क्या था और ऊँच–नीच की यह भावना फर्जी थी या नहीं, यह प्रश्न खत्री समाज में परम विवाद का विषय बना, यह अनुवर्ती परिस्थितियों से जाहिर है। ऐसा भी नहीं है कि ऊँच–नीच की यह भावना घरों की ऐसी मर्यादा स्थापित होने के साथ ही स्थापित कर दी गयी थी और इसके पीछे समाज के उस समय के बुजुर्गों का ऐसा कोई इरादा था बल्कि वास्तविकता यह है कि कुछ परिवारों को ऊँचा और कुछ को नीचा समझने की भावना बहुत बाद में धीरे धीरे पैदा हुई जिसका कोई ठोस आधार नहीं था। इसी से पुनः कालांतर में यह भावना समाप्त भी हो गयी। इसके अनेक कारण थे।

वास्तव में जिन लोगों को बादशाह अलाउद्दीन खिलजी के खत्री विधवाओं का पुनर्विवाह प्रचलित कराने के शाही फरमान की खबर देर से पहुँची और इस लिये वह घराने महज दूरी की वजह से देर से दिल्ली पहुँचे उनके लिये बिरादरी द्वारा ऐसा फतवा लगाना कि वह औरों से नीचे समझे जावें, जैसा कि बाद में व्यवहार में आया, तर्कसंगत नहीं हो सकता। जो लोग दूर दराज के इलाकों से सफर कर के अपने दावे के वास्ते ढाई घरों की सहायता करने आये और उनकी ही मदद से ढाई घरों को अपनी तजवीज में कामयाबी मिली, उन जैसे अपने ही मददगारों को अपने से नीचे दर्जे का ख्याल कोई नहीं कर सकता। ऐसा भी नहीं था कि दिल्ली वाले ढाई घर खत्री बिरादरी में कोई महाराजाधिराज रहे हों और बाकी घरों के लोग उनके अधीन रहने वाले कोई छोटे छोटे रजवाड़ों के थे जो अपनी बिरादरी के महाराजा का हुकुम पा कर

---

(1) खत्री जाति का ऐतिहासिक दस्तावेज– 1901

फौरन अधीनस्थ राजाओं की तरह उनकी मदद के लिये हाजिर हो गये बल्कि वास्तविक स्थिति इसके बिलकुल विपरीत प्रतीत होती है और ऐसा लगता है कि उस समय ढाई घर, चार घर और बारह घर के कुछ बुजुर्ग उस समय की खत्री पंचायत में अवश्य मौजूद थे जिन्हों ने इस मामले में बड़ी कोशिश और मदद की हो। उन्हें उस वक्त की पंचायत में कुल बिरादरी की तरफ से सम्मान देने एवं उनकी इज्जत बढ़ाने के लिये कुछ खिताब वगैरह प्रदान किये गये हों लेकिन उन खिताबों का यह मंशा हरगिज नहीं हो सकता कि खिताब पाये हुए लोग और उनकी आने वाली संतान अपने को ऊँचा समझ कर दूसरों के साथ अन्य नीचे वर्ण जैसा व्यवहार करे, जैसा कि बाद में हुआ, और उनको हिकारत की नजर से देखने लगे और उनसे वैसा ही बरताव करे।

इस समय के पूर्व भी सूर्य वंशी और चन्द्र वंशी फिरके खत्री समाज में विद्यमान थे और उस समय दोनों वंशों में शादी–ब्याह का संबंध इस बात को प्रमाणित करता है कि उस समय ऊँच नीच समझने की ऐसी कोई भावना विद्यमान नहीं थी। उस समय भी समाज के बुजुर्गों को खत्री समाज के लिये तथा देश के लिये किये गये सराहनीय कार्यों के लिये अवश्य सम्मानित किया जाता था और निकृष्ट कार्य करने वालों को समाज से बाहर करने आदि का दण्ड भी दिया जाता था जिससे लोगों को अच्छे कार्य करने के लिये उत्साह मिलता था और समाज की बुराइयाँ दबती थीं। वह व्यवस्था चरित्र बल को ऊँचा उठाने तथा सत्य धर्म का पालन कराने की भावना से प्रेरित थी अतः उससे किसी में ऊँच नीच की भावना नहीं व्यापती थी बल्कि अधिक सम्मान पाने का अवसर सुदृढ़ होता था। ऐसा ही कुछ इस ढाई घर, चार घर आदि की मर्यादा बांधने में भी हुआ होगा जिसका उद्देश्य केवल खत्री समाज की प्रगति, एकता एवं नींव को सुदृढ़ करने में हाथ बंटाने वालों को सम्मानित करना ही रहा होगा किन्तु कालान्तर में उसका रूप उलटा ही हो गया। खत्री समाज के जिन लोगों को इन पदकों से सम्मानित किया गया, उनकी संतानें इसे अपना पैतृक अधिकार समझ कर अपने को दूसरों से ऊँचा और दूसरों को अपने से बिलकुल निम्न कोटि का समझ कर प्राचीन चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के बिगड़े रूप के समान ही व्यवहार करने लगीं जो इस मर्यादा स्थापन के मूल उद्देश्य के बिलकुल ही विपरीत था। इसी कारण से समय आने पर वह लुप्त हो गया और अब प्रायः लोग इस भेद से ही पूर्णतः परिचित नहीं हैं।

सिख गुरु, गुरु नानक तथा गोविन्द सिंह जी भी खत्री ही थे। इनके अलावा भी सैनिक का पेशा अपना कर नाम उजागर करने वाले सैकड़ों में हैं जिनमें अनेकों राजे भी हैं।[1]

1. भारत में जब सुलतानों का राज्य शुरु हुआ तो दिल्ली के सुलतानों ने खत्रियों को अपना लिया। दिल्ली के सुलतान खत्रियों को सबसे अधिक वफादार और व्यवहार–कुशल मानते थे। सर्वप्रथम अलाउद्दीन खिलजी ने ही खत्रियों की शासन प्रबन्ध दक्षता का उपयोग किया था।

वंश व्याख्या – वंश भेद एवं अवान्तर भेद

प्राचीन समय में सूर्य और चन्द्र वंश क्षत्रियों के दो भेद होते थे। फिर हर एक वंश के अनेकों अवान्तर भेद भी होते थे। इनमें अनेकों लोग अपने मूल वंश नाम से नहीं बल्कि अवान्तर नाम से ही अधिक प्रसिद्ध होने लगे। उदाहरण के लिये सूर्य वंश में पहले राजा मनु हुए जिनके पुत्रों में एक करुष हुए जिनके नाम से एक अलग शाखा चली, जो कारुष नामक क्षत्रिय कहलाये।[1] इक्ष्वांकु के पुत्रों में निमि, जिनके विदेह हुए, उनकी अलग शाखा चली। चन्द्र वंशी ययाति से यदु की यादव नामक भिन्न शाखा चली। इनसे हैहय, तालजंघ, भोजक, अन्धक, आदि उपशाखायें चलीं। इसी तरह क्षत्रिय जो अपने को खत्रिय कहते और प्रसिद्ध हैं, इनमें भी अवान्तर भेद पाये जाते हैं जैसे चौजाति, पंजा जाति, बारह जाति आदि और यदि अल्लों की ओर ध्यान दिया जाय तो **4,600** से भी अधिक अल्लें इस समय विद्यमान हैं। ऐसे अवान्तर भेदां में उपभेद स्वतः ही किसी कारणवश उत्पन्न हो जाया करते हैं। इसमें कोई नयी बात नहीं है। ये चौजाति, पंजा जाति आदि उपभेद मुसलमानी राज्य के समय उत्पन्न हुए हैं। ये मात्र लौकिक गोत्र हैं और इनमें भी एक अल्ल के कई उपभेद हो गये हैं जैसे एक ही अल्ल मेहरोत्रा (मिहिरोत्रा–सूर्य) में एक किले के नीचे वीरतापूर्वक लड़ने से उस वंश वाले 'सफील तले के मेहरा' कहलाये, लल्लू मेहरे व जगधर मेहरे के वंशज क्रमशः 'ललुआना' व 'जगधरिया' मेहरा कहलाये, कन्नौज के निवासी 'कनौजिया मेहरा' कहलाये तथा नीम के पेड़ के समीप रहने वाले 'नीम तले के' एवं जिस वंश की स्त्रियाँ प्रथम पुत्र के होने पर नथ उतार देती थीं और फिर नहीं पहनती थीं वे 'नथखोल मेहरे' कहलाये आदि। यथार्थ में ये सभी एक हैं और केवल पहचान के लिये ये उपभेद हो गये जो निवास या कर्म इत्यादि से बने हैं। जैसे धनुष में निष्णात होने से धनुर्धर, भण्डार की रक्षा करने से भंडारी, वेदों के पाठन से वेदी, मालवा में रहने के कारण मालवी, राजपूताना में रहने के कारण राजपूतानिये, मुलतान में रहने के कारण मुलतानी आदि। देश में सब से अधिक जितनी आपत्तियाँ प्रारम्भ से ही पंजाब पर आयीं हैं उतनी देश के किसी भी भाग में नहीं आयीं इसी लिये सबसे अधिक उथल पुथल भी यहीं हुई है। विशेष रूप से महानन्द के समय क्षत्रियों की हुई बुरी दशा इतिहास प्रसिद्ध है। इन्हीं के

राजपूतों और खत्रियों में भेद यही था कि राजपूत केवल वीर थे लेकिन खत्री वीर और राजनीतिज्ञ दोनों थे। दिल्ली के सुल्तानों का राज्य स्थिर न था इस लिये खत्री अधिक आगे न बढ़ सके। शेरशाह के युग में राजा टोडरमल टंडन पुनः दिल्ली प्रशासन में आये और उन्हों ने शेरशाह का शासन प्रबन्ध सुव्यवस्थित किया और भू–नापन किया। दिल्ली सम्राट अकबर ने राजा टोडरमल का सही मूल्यांकन किया तथा इनका उपयोग रण और शासन दोनों में किया। इनका अपना अलग अत्यन्त गौरवपूर्ण इतिहास है।

1. विष्णु पुराण – अंश 4 – अध्याय 1/18

कारण तथा मुसलमान आक्रमणों के समय अनेकों क्षत्रियों एवं सारस्वत ब्राह्मणों को पंजाब छोड़ कर भारत के अन्य प्रान्तों में बसना पड़ा और परशुराम के समय क्षत्रियों को उनके क्षत्रिय वंश के नाश के प्रण के कारण अपनी क्षत्रिय जाति तक छुपानी पड़ी और उनकी प्रधान शाखाओं ने अपने जाति सूचक नाम भी बदल लिये जैसे मिहिरोत्तर (मिहिर = सूर्य – जिस वंश का उत्तर अर्थात प्रधान या श्रेष्ठ पुरुष सूर्य है– वह मिहिरोत्तर है। मिहिर (सूर्य+ उत्तर श्रेष्ठ) – मिहिरोत्तार)[1] अल्ल वालों ने मेहरोत्रा, मलहोत्रा और मेहरा अल्ल नाम रख लिया। कर्पूर, चन्द्र

1. मिहिर = सूर्यः मेहतीति मिहिरः अर्थात मेंह बरसाने वाला। सूर्य ही किरणों द्वारा जल और रस को खीच कर मेंह बरसाता है इस लिये मिहिर का नाम सूर्य हुआ जो सूर्य का ही पर्यायवाची शब्द है। मिहिर के (र) को (ल) कर के और स्वर में भेद कर के मलहोत्तरा सिद्ध हुआ। राजतरंगिणी 6/87 में भी लिखा है–''मिहिर कुल के राजा हस्त'' जो सूर्य वंश के लिये 'मिहिर कुल' का ही प्रयोग है। अतः इस कुल से कोई नया अल्ल नहीं बना बल्कि मूल शब्द का अपभ्रंश रूप ही क्षत्रिय के खत्रिय की तरह मिहिरोत्तर से मेहरोत्रा, मलहोत्तरा, मेहरा बन गया। मत्स्य पुराण के अध्याय 196 में भी मिहिरोत्तर क्षत्रियों का गोत्र अंगिरा के गण में ''कौशल्याः पार्थिवस्तथा'' लिख कर इनके अंगिरा, सुवोचतथ्य और उशिज ये तीन प्रवर उशिज गौतमों के अनुसार गिनाया गया है। (उतथ्य का नामांतर ही उशिज है) कौशल्य मेहरों का गोत्र भी गौतम गण का प्रसिद्ध कौशल्य गोत्र पुरोहितों ने अपने गण में से चुन कर दिया था। जैसे वत्स कुल के सेठों का गोत्र भी वत्स है वैसे ही हिरण्याभ कौशल्य के शिष्य इन कौशल्य मेहरे खत्रियों का गोत्र भी कौशल्य ही है और इनके त्रिप्रवर अंगिरस, औतथ्य और औशनस ही होने चाहिये। (सारस्वत सर्वस्व–गोविन्द नरायन मिश्र – पृष्ठ –133) इनके पुरोहित जैतली सारस्वत होते हैं। जयन्ती (शमी) वृक्ष की पूजा, ''छठी जंडी'' (पंजाबी में जयन्ती वृक्ष को ही जंडी कहते हैं) जैतली सारस्वत ब्राह्मण और मेहरोत्रों में होती आती है। मथुरा के पास जैतलपुर ग्राम भी इसी जैत वृक्ष के कारण हुआ है। यहाँ जैतलियों का निवास स्थान था। लाहौर में जन्माष्टमी को जयन्ती या जंडी का मेला भी होता था।

हिन्दी में शमी वृक्ष को जैत भी कहते हैं और जैत को अपराजिता भी कहते हैं। नील रुद्र की शक्ति का नाम अपराजिता है। जैतली शब्द इसी जैत से निकला है। महाभारत में लिखा है कि एक बार अग्नि विनष्ट हो गयी तो देवता घबरा कर अग्नि को खोजने लगे। अग्नि भी अश्वत्थ (पीपल का वृक्ष) से निकल कर शमी वृक्ष के अन्दर (गर्भ में) जा छिपी तो देवताओं ने यज्ञ में शमी से अग्नि के उत्पादन का उपाय निकाला। तभी से शमी या जैत के वृक्ष को पवित्र और देवताओं का आश्रय स्थल मान कर उसके स्थान को भी देवताओं का स्थान माना जाने लगा। ''अग्निगर्भा शमीमिव'' (शकुन्तला 4:2 तथा मनुस्मृति 8:247 याज्ञवल्क्य स्मृति 1:302) शमी वृक्ष की लकड़ी को परस्पर रगड़ने से अग्नि उत्पन्न हो जाती है। विजयादशमी के दिन शमी की पूजा, परिक्रमा आदि कर उसकी पत्ती पगड़ी या सिर पर रखते हैं।

श्रीमद्भागवत पुराण, नवम स्कन्ध अध्याय 14 में भी चन्द्र वंश के वर्णन में उल्लेख है कि राजा पुरुरवा की स्तुति से प्रसन्न हो कर गन्धर्वों ने उन्हें एक अग्नि स्थाली (अग्नि स्थापन करने का पात्र) दी जिसे वें उर्वशी समझते रहे और होश आने पर वन

अल्ल वंशियों ने अल्ल बदल कर कपूर अल्ल नाम रख लिया। इसमें क्षत्रियों के पुरोहित सारस्वत ब्राह्मणों ने उनकी बहुत सहायता की और परशुराम के प्रकोप से उन्हें बचाया। शेष अन्य अल्लों ने भी अपने को बाहु जाई (बहुजाति) ब्रह्मा की भुजा से उत्पन्न होने वाली जाति (क्षत्रिय) का कहा और भिन्न–भिन्न अल्ल कह कर अपना परिचय देने लगे।

वंश की श्रेष्ठता सूचक उपाधियों का जन्म

यदु वंश में यदु के पुत्र अंजिक की प्रसिद्धि उनकी श्रेष्ठता के कारण अधिक थी और यह श्रेष्ठता ही वंश की उपाधि सूचक जाति बन गयी थी अतः वे लोग अपने को श्रेष्ठ (सेठ) कहने लगे।

संस्कृत के संयुक्त ''र'' का पंजाबी भाषा में लोप हो जाता है। इसी लिये ब्राह्मण का बाह्मण, कर्म का कम्म और कर्पूर का कपूर होता है जो बोलचाल में ही नहीं, लिखने में भी ऐसा ही लिखा जाता है। चन्द्र के सारे नाम कर्पूर के नाम हैं। चन्द्रस्य संज्ञाः संज्ञाः यस्य स चन्द्रसंज्ञः अथ कर्पूर मस्त्रियाम्। घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिम–वालुका (अमर कोष 2/6/13) इसी लिये चन्द्र वंश न कह कर कर्पूर वंश नाम रख लिया क्योंकि मूल नाम को छिपाना ही अभीष्ट था और छिपाने से ही रक्त शुद्धता बनी रह सकती थी। सारस्वत सर्वस्व भी यही लिखता है कि ''कार्पूरि'' गोत्र के कारण क्षत्रियों की संज्ञा भी कर्पूर हो गयी।[1] वशिष्ठ के गण के अंतर्गत ही ''कार्पूरि'' गोत्र है। किसी कपूर द्वारा दीन दुखियों को भोजन के अलावा बर्तन, कपड़े देने में कीर्ति फैलने से कपूर नहीं हुआ और इस लिये यह कहना बिल्कुल गलत है कि मिहिर, कृपाकर, शंखन और मार्तण्ड से क्रमशः मेहरे, कपूर, खन्ने और टण्डन हुआ है। राजा नहुष के पौत्र यदु से ही युद वंश

में छोड़ आये। कालान्तर में जब उनके हृदय में तीनों वेद प्रकट हुए तब वे उस स्थान पर गये जहां उन्हों ने वह अग्नि स्थाली छोड़ी थी। अब उस स्थान पर शमी वृक्ष (बरगद) के गर्भ में एक पीपल का वृक्ष उग आया था। उसे देख कर उन्हों ने उससे दो अरणियाँ (मन्थन काष्ठ) बनायीं। फिर उन्हों ने उर्वशी लोक की कामना से नीचे की अरिणि को उर्वशी, ऊपर की अरिणि को पुरुरवा रूप से चिन्तन करते हुए अग्नि प्रज्जवलित करने वाले मंत्रों से मंथन किया। तीनों मन्थन से 'जातवेदा' नाम का अग्नि प्रकट हुआ। राजा पुरुरवा ने अग्नि देवता को त्रयी विद्या के द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीन भागों में विभक्त कर के पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया। फिर उर्वशी लोक की इच्छा से पुरुरवा ने उन तीनों अग्नियों द्वारा सर्वदेवस्वरूप, इन्द्रियातीत, यज्ञपति भगवान श्री हरि का यजन किया।

त्रेता के पूर्व सत्य युग में एक मात्र प्रणव (ऊँ कार) ही वेद था। सारे वेद शास्त्र उसी के अन्तर्भूत थे। देवता थे एक मात्र नारायण, और कोई भी न था। अग्नि भी तीन नहीं, केवल एक था और वर्ण भी केवल हंस ही था। त्रेता के आरम्भ में पुरुरवा से ही वेद त्रयी और अग्नित्रयी का आविर्भाव हुआ। राजा पुरुरवा ने अग्नि को सन्तान रूप से स्वीकार कर के गन्धर्व लोक की प्राप्ति की।। 42–49।।

– श्रीमदभागवत – नवम स्कन्ध – अध्याय–14 श्लोक 42–49

1. सारस्वत सर्वस्व – पं० गोविन्द नारायण मिश्र – पृष्ठ 158

संज्ञा चली। यदु के ज्येष्ठ पुत्र सहस्त्रजित के वंश में ही हैहय, वृष्णि, मधु, शूर, शूरसेनी और तालजंघ आदि परम प्रतापी राजा हुए थे जिनके नाम से यादवों के कुल की संज्ञा ही सारे संसार में प्रसिद्ध हो गयी थी और इसी लिये श्रीकृष्ण वृष्णि, माधव और यादव भी कहलाते थे। सेठ तथा कक्कड़ों के पुरोहित कुमड़िये सारस्वत हैं किन्तु तालजंघ कुल के क्षत्रिय महर्षि और्व के समय से ही वशिष्ठ कुल को मानने लगे थे। और्व ऋषि के क्रोध से इनकी विशेष वृद्धि भी नहीं हुई अतः ऐसे सेठ खत्री इन्हीं पुरोहित बदलने के कारण ही सेठी कहलाते हैं किन्तु आज भी सेठ, कक्कड़ और तालवाड़ खत्रियों की संज्ञा सेठ ही है। वशिष्ठ वंशज पराशर गोत्र सारस्वत जो पूर्व में पुरोहित थे वही सारस्वत इन तालजंघ या तालवाड़ों के पुरोहित आज तक चले आते हैं। अंग के यजमान न होने के कारण इनका गोत्र वशिष्ठ व पराशर से भिन्न ही रखा गया। "श्रुत्वा विनिष्टान वार्ष्णेयान सभोजान्धक कौक्कुरान"—महाभारत भीष्म पर्व के पंचम अध्याय के इस श्लोक में श्रेष्ठ वंशियों को ही कौक्कुर श्रेष्ठ कहा है। वत्स कुल के सेठ और राजा अन्धक के कौक्कुर वंशज सेठ कक्कड़ के कुल देव बाबा शिवाउ ही हैं तथा कुल पुरोहित जामदग्न्य वत्स गोत्रिय कुमडिये सारस्वत हैं।[1]

इन्हीं महाराज कुक्कुर के वंशज कौक्कुर कहलाये। यही कौक्कुर बिगड़ कर कक्कड़ शब्द बन गया जो खत्रियों का एक अल्ल है।[2]

वर्तमान समय में तिक्खे सारस्वतों के यजमान एकमात्र तालवाड़ हैं। तालजंघ कुल के सगर राजा के समय के क्षत्रियों के वंशज ही अब तालवाड़ के नाम से विख्यात हैं। भीष्म पितामह और बलदेव जी ने उस कुल का स्मारक तालवृक्ष मात्र अपनी ध्वजा में रखा था इसी से ये तालकेतु प्रसिद्ध थे। पहले के तालवाले, तालवाल से ही अब बिगड़ कर तालवाड़ शब्द की सृष्टि हुई है।

काश्यप के नैध्रुवों में ही एक गोत्र छागल्य भी है। इसी छागल्य का अपभ्रंश शैगल या सहगल हुआ है जिनके पुरोहित मोहिले सारस्वत होते हैं।

इसी प्रकार बहुत से अल्ल कर्म के कारण बने हैं, जैसे इन्द्र के समान महादान करने से महा+इन्द्र, महीन्द्र, महेन्द्र संज्ञा का बन जाना, भाला चलाने में निपुणता होने से भल्ला या भल्ले, खड्ग से युद्ध करने के कारण खग्गे, आगे चलने वाले अग्गेचल, अस्त्र धारण करने से अस्त्री, ज़िरह बख्तर चढ़ाने के कारण चड्ढे, चौधरी का काम करने से चौधर, कारुष के वंश वाले कुरखिये, कुर्छिये या कुर्षिये, शूरवीर पुकारे जाने वाले सूरी, व्यूह रचना तोड़ने में निपुणता रखने वाले व्यूहरे या वोहरे कहे जाने लगे और वही एक संज्ञा बन कर अल्ल हो गया। परम्परानुसार इन वोहरों में अब भी दशहरे के दिन व्यूह रचना कर पूजन करते हैं। ऐसी अल्लें किसी समय केवल कर्म सूचक थीं पर बाद में कर्म बदल गया

(1) खत्रिय इतिहास – बाल कृष्ण प्रसाद – पृष्ठ 202

(2). सारस्वत सर्वस्व – पं0 गोविन्द नारायन मिश्र – पृष्ठ 158

पर अल्ल वही रह गयीं। कर्म परिवर्तन के साथ पुनः अल्ल परिवर्तन नहीं हुआ और कर्म के द्योतक अल्ल वाले आज अपने पुराने काम भी नहीं करते। अल्ल विशेष संज्ञा अपनाने से काफी समय पूर्व भी उनके पूर्वज उक्त विशेष कर्म नहीं करते थे और बाद की पीढ़ियों में भी उस कर्म विशेष का लोप भी हो गया किन्तु उनसे जाति छिपाने के समय उन कर्मों से अपनायी गयी अल्लें वहीं की वहीं रह गयीं और आज तक प्रचलित हैं। इनका मूल जाति से कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्री राम चन्द्र के पुत्र लव और कुश थे। लव ने लाहौर और कुश ने कसूर नगर बसाया था। दोनों कुमारों का विवाह मद्र देश की राज कन्याओं से हुआ था। कसूर देश के राजा कुश के वंशज कालकेतु और लव वंशी काल राय लाहौर के राजा थे। बहुत दिनों के बाद दोनों भाइयों में लड़ाई हुई। कालकेतु बलवान थे। लव वंशज कालराय हार गये। लाहौर कसूर राज्य में मिला लिया गया। कालराय सुनौढ़ देश में गये। वहाँ के राजा ने अपनी कन्या का उनसे विवाह कर दिया जिनके पुत्र का नाम सोढी राय रखा। इन्हीं के वंशज सोढी खत्रिय कहलाते हैं।

कुछ दिन बाद जब सोढी राय ने अपना बल बढ़ाया तो कुश वंशियों पर चढ़ाई कर दी। वे हार गये। जो बचे थे वे काशी भाग आये। वहाँ वेद पढ़ कर नामी पंडित हुए। भाई ने बुलाया। राज्य दिया। इनके वेद पढ़ने के कारण इनके वंशज वेदी क्षत्रिय कहलाये। ये बातें दशवें पादशाही ग्रंथ (सिक्ख मत) में लिखी हैं। गुरु नानक ने इसमें स्वयं अपना वंश विवरण खोज कर लिखा है और वहाँ भी क्षत्रिय के स्थान पर खत्रिय ही लिखा है क्योंकि वहाँ की भाषा में उस समय तथा उसके पूर्व से (क्ष) अक्षर नहीं था और क्षत्रिय को ही खत्रिय लिखा जाता था।

अल्ल कैसे परिवर्तित होती है इसका सर्वोत्तम उदाहरण वर्तमान में ही स्वयं भारत के पूर्व प्रधानमंत्री पंडित नेहरू का परिवार है। उन्हों ने स्वयं अपनी आत्म कथा "मेरी कहानी" में लिखा है कि हमारे जो पुरखे सब से पहले आये, उनका नाम था राज कौल। राज कौल को एक मकान और कुछ जागीर दी गयी। मकान नहर के किनारे था। इसी से उनका नाम नेहरू पड़ गया। कौल जो उनका कौटुम्बिक नाम था, बदल कर नेहरू हो गया और आगे चल कर कौल तो गायब हो गया और महज नेहरू रह गया।

भ्रामक अल्ल नाम उपपत्तियाँ

जैसा कि पूर्व विवरण से स्पष्ट है, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में अंग्रेजों के शासन काल के दौरान जाति विषयक अनेक पुस्तकें अंग्रेजी भाषा में लिखी गयीं। उन्हीं में अन्य जातियों के साथ साथ खत्री जाति का इतिहास भी था। इस इतिहास के लिये सामग्री जुटाने में अंग्रेज लेखकों ने अथक परिश्रम किया और जो भी कुछ लिखित वैदिक पौराणिक, ऐतिहासिक, किंवदंती, कथा, कहानी के रूप में सामग्री उपलब्ध थी उसका विवेचन किया और उस पर अपने निष्कर्ष भी

दिये। भारतीय इतिहास परम्परा एवं सामाजिक संरचना एवं हिन्दू समाज की चार्तुवर्ण्य व्यवस्था से पूर्णतया परिचित न होने एवं भारतीय जनमानस की आस्था एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को भली प्रकार न समझने के कारण उन्हों ने इस एकत्रित इतिहास सामग्री को संबंधित समाजों द्वारा विवेचन, आलोचना, पुष्टिकरण अथवा सुधार करने हेतु प्रकाशित भी किया ताकि सही सही इतिहास लिखा जा सके। इस सामग्री का विवेचन करने, उस पर अपनी राय प्रगट करने तथा सही निष्कर्ष निकालने के लिये एवं खत्री समाज को संगठित करने, उसकी बुराइयों को दूर करने एवं खत्री समाज की चतुर्मुखी प्रगति में सहायता करने के लिये मई सन 1887 से एक जातीय पत्रिका 'खत्री हितकारी' कुछ अत्यन्त उत्साही एवं विद्वान खत्री बंधुओं के प्रयास से उर्दू भाषा में, जो उस समय की व्यवहार की एवं राजकाज की भाषा थी, प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई। उस समय हिन्दी या अंग्रेजी भाषा का समाज में प्रचलन न था। अंग्रेजी भाषा तो अभी अपने पैर ही जमा रही थी और हिन्दी केवल काव्य एवं साहित्य की तथा कहीं कहीं आपसी पत्र व्यवहार की भाषा थी। उस समय पूर्व से चली आ रही फारसी राजभाषा की प्रतिनिधि के रूप में उर्दू भाषा का ही बोलबाला था अतः इसी भाषा में निकलने वाली जातीय पत्रिका 'खत्री हितकारी' ने भी अंग्रेजों की ही भांति 'खत्री इतिहास' के लिये सामग्री प्रायः सभी उपलब्ध स्रोतों से और इस विषय के जानकार व्यक्तियों से भी एकत्र की तथा उसे अंग्रेज सरकार को भेजने के लिये अंग्रेजी भाषा में लगभग 250 पृष्ठ की एक पुस्तक "A Brief Ethnological Survey of the Khatri Caste" सन 1895 तक तैयार कर ली तथा उसका उर्दू भाषा में अनुवाद "खुलासा पड़ताल खत्री" के नाम से तैयार किया। इसी उर्दू अनुवाद के कुछ अध्यायों को खत्री हितकारी ने जून सन 1895 से 'तकसीम कौम खत्रियान' के नाम से लोगों की जानकारी, राय, संवर्धन एवं सुधार के लिये प्रकाशित करना प्रारम्भ किया।[1] इस प्रकार जो आधार सामग्री खत्री हितकारी ने तैयार की और प्रकाशित की उसमें वे रवायतें भी थीं जिनमें विभिन्न खत्री अल्लों की उत्पत्ति की कथा, कहानी, किंवदंती या ऐतिहासिक अथवा पौराणिक प्रमाण दिया गया था। इन्हीं रवायतों को खत्रिय इतिहास संबंधी हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकों में वंश व्युत्पत्ति विषयक प्रसंग में "किंवदंतियों या कथा–कहानी" के नाम से और अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों में "Legends"के नाम से संकलित किया गया था। खत्री हितकारी में प्रकाशित यही सब सामग्री बाद में लिखे गये प्रायः सभी खत्रिय इतिहासों का आधार बनी पर अनेक इतिहासों ने उनमें से किसी भी सामग्री की भूल–चूक का विवेचन नहीं किया और न सही निष्कर्ष निकाले। प्रायः सभी ने उक्त सामग्री ज्यों की त्यों ले ली और उसे उसी किंवदंती कथा–कहानी के रूप

1. इसी सामग्री को अग्रेतर शोध द्वारा परिष्कृत एवं व्यवस्थित कर के श्री मोती लाल सेठ ने इसी नाम की अंग्रेजी भाषा में लिखी 478 पृष्ठों की पुस्तक सन 1905 में प्रकाशित की जो खत्रिय इतिहास की सब से अधिक अधिकृत एवं प्रमाणिक पुस्तक मानी जाती है।

में प्रकाशित कर दिया और अभी तक छिटपुट रूप में प्रायः वैसा ही होता रहता है।

श्री बाल कृष्ण प्रसाद ने अपनी 'खत्रिय इतिहास' पुस्तक के पृष्ठ **190–191** पर इन वंश व्युत्पत्ति विषयक भारी भूलों पर विचार किया और कहा कि "अब तक खत्रिय इतिहास सम्बन्धी जितनी हिन्दी व अंग्रेजी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, प्रायः उन सब पुस्तकों में वंश व्युत्पत्ति विषयक एक भारी भूल लक्षित होती है। (फिर ऐसी कुछ भूलों को इंगित करते हुए कहा कि) समझ में आता है कि उपरोक्त भ्रमात्मक बातें बिना विचारे लिखी गयी हैं। यथार्थ में ऐसी बातों का कोई आधार नहीं, अतः निर्मूल दीख पड़ता है।"

ऐसा ही कुछ मत उपरोक्त बातों पर विचार करते हुए पंडित गोविन्द नारायन मिश्र ने अपनी पुस्तक 'सारस्वत सर्वस्व' में भी व्यक्त किया था। इन सभी अल्ल व्युत्पत्तियों पर पूर्ण विचार के लिये तो विस्तृत अनुसंधान, विवेचन एवं निष्कर्ष पर एक अलग पुस्तक ही लिखी जानी चाहिये जो बिना विशद शोध के संभव नहीं है पर उनमें से कुछ अल्लों की व्युत्पत्ति का विवेचन नीचे दिया जाता है।

(1) मेहरा, मेहरोत्रा या मलहोत्रा

एक रवायत यह भी मशहूर है कि एक खत्री साहब अपने साहबजादे की शादी करने को गये। उसने (समधी ने) अलावा दावत वगैरह के बहुत कुछ दहेज में दिया। आप ने खुश होकर बहू को गोद में ले कर मंडप के बीच में नचाना शुरू कर दिया। यह हरकत देख कर लोग हंसने लगे और उनको महरा (यानी जनाना) के नाम से पुकारा। तब से यह और उनकी औलाद मेहरा कहलाने लगे। कहा जाता है कि बहू के नचाने का दस्तूर वक्त शादी उसी वक्त से कौम में जारी हुआ है। (खत्री कुल चंद्रिका–पंडित द्वारका प्रसाद तिवारी पृष्ठ **22** से संकलित–खत्री हितकारी आगरा वर्ष **1895** पृष्ठ **100–101**, खत्री जाति परिचय पृष्ठ **28–30**, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ **190–196**)

यह तथाकथित किंवदंती कितनी हास्यास्पद है यह तो इसके पढ़ने से ही मालूम हो जाता है। मारे खुशी के बहू को नचाने की, सम्बन्धित खत्री को महरा पुकारे जाने एवं उस वंश में बहू नचाने का दस्तूर जारी हो जाने की घटना तो सत्य हो सकती है पर वह घटना खत्री जाति के सम्पूर्ण मेहरा अल्ल की उत्पत्ति का कारण बन सकती है यह नितांत आधारहीन एवं हास्यास्पद बात है। दूसरे यह रवायत यह भी नहीं बताती कि इस घटना के पूर्व वह खत्री किस अल्ल (मेहरोत्रा या अन्य) का था और न यह रवायत खत्रियों की अल्लों में ऊँची मानी जाने वाली 'मेहरोत्रा' अल्ल की प्रत्यक्ष सूर्यवंशी सप्रमाण उत्पत्ति के किसी कारण पर विचार करती है जब कि "विकर्तनार्क मार्तण्ड मिहिरारुण पूषणः" (अमरकोष) की व्युत्पत्ति के अनुसार मेहरोत्रा अल्ल "मिहिरोत्तर" (हिन्दी मिहिरोत्रा) पर्यायवाची

शब्द हो कर सूर्य वंश से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित होता है। मेहरोत्रा इसी शब्द का अपभ्रंश है। मेहरा सूक्ष्म नाम है, मेहरोत्रा पूर्ण नाम और भाषा विपर्यय से सवर्णता के कारण मलहोत्तरा या मलहोत्रा उसी का परिवर्तित रूप है। अत्यंत प्राचीन काल से सूर्य वंश के लिये मिहिर वंश या मिहिर कुल का प्रयोग होता आ रहा है जिसके प्रमाण राजतरंगिणी जैसे अनेकों ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी मिल जाते हैं। कुछ विद्वान (राजा रामचन्द्र को ले कर) 'मिहिरावतार' शब्द का ही अपभ्रंश 'मेहरोत्रा' मानते हैं। गोत्र निर्णय से भी प्राचीन काल में मिहिर क्षत्रियों के पुरोहित वशिष्ठ के पुत्र "जीतल" के वंशज जैतली सारस्वत ब्राह्मण आज तक मेहरोत्रा खत्रियों के पुरोहित चले आते हैं। एक अन्य रवायत यह भी कहती है कि सूर्य वंशी क्षत्रियों की एक शाखा ने अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने के लिये अपने कुल का नाम मेहरा रख लिया। वास्तव में इस मेहरोत्रा अल्ल को सूर्य वंशी शाखा का प्रमुख एवं प्रत्यक्ष प्रतिनिधि सिद्ध करने के लिये इतने अधिक प्रमाण अर्वाचीन साहित्य एवं शास्त्रों में उपलब्ध हैं कि खत्रियों की इस प्रमुख ऊँची अल्ल की व्युत्पत्ति किसी अन्य स्रोत से सिद्ध करने के लिये कोई भी अन्य रवायत या किंवदंती पूर्णतः आधारहीन व असत्य सिद्ध हो जाती है। वास्तव में उपरोक्त रवायत जैसी ही कुछ अन्य घटनाओं के कारण मेहरोत्रों में – 1. सफील (किले) तले के 2. नथ खोल (प्रथम पुत्र के जन्म के बाद स्त्रियों का नथ उतार देना), 3. ललुआना (लल्लू मेहरे के परिवार वाले), 4.जगधरिया (जगधर मेहरे के परिवार वाले), 5. नीम तले के (नीम के पेड़ के पास रहने वाला परिवार), 6. सनीचरा 7. बलिया, 8. कनौजिया (कन्नौज के रहने वाले), 9. करकटिये, 10. चूड़ी खोल, 11. काली चूड़ी के मेहरे (यह मूल परिवार संडीला जिला हरदोई में है), आदि जैसी अनेक उपशाखायें निकली हैं और उपभेद हुए हैं। इन्ही के उपभेदों के अनुसार इनके सारस्वत पुरोहितों के भी उसी वंशानुक्रम में टीका वाले जैतली, चूड़ा वाले जैतली, चाडां वाले जैतली, कर्कट जैतली आदि हैं जो अब तक उनके पुरोहित चले आते हैं। इस रवायत की गलत अल्ल व्युत्पत्ति सिद्ध करने के लिये और अधिक प्रमाण की आवश्यकता भी नहीं है।

(2) कपूर

एक खत्री महापुरुष अत्यंत उदार तथा परोपकारी थे। अपनी जाति के प्रत्येक निर्धन तथा आवश्यकता पीड़ित व्यक्ति की वह खुले हाथ यथाशकित सहायता करते थे। शीघ्र ही दूर दूर तक उनकी यश रूपी सुगन्ध फैल गयी जैसे कपूर की सुगन्ध खुलते ही चारों तरफ फैल जाती है। इसी से लोगों ने उनको कपूर के नाम से पुकारना शुरू कर दिया। तभी से वह और उनके वंशज कपूर कहलाने लगे। (खत्री हितकारी, आगरा– 1895, पृष्ठ 101, खत्री जाति परिचय पृष्ठ 32–33, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 196–197)।

यह रवायत या किंवदंती स्वयं अपने आप में व्यक्तिवाचक है और स्वयं सिद्ध कर देती है कि केवल एक व्यक्ति का गुण संपूर्ण अल्ल समूह की व्युत्पत्ति

का कारण नहीं हो सकता। दूसरे यही कपूर अल्ल सोम या चंद्र वंश के पर्यायवाची 'कर्पूर' के नाम से अत्यंत प्राचीन काल से प्रचलित था। 'अथ कर्पूर मस्त्रियाम। घनसारश्चन्द्र संज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका (अमरकोष 2/6/13), तो चन्द्र के सारे नामों को ही कर्पूर का नाम सिद्ध करती है। 'अत्रि वंश समुत्पन्नान गोत्रकारान निवोध मे। कर्पूरायण शाखेयास्तता शाराहणाश्च ये।। (विष्णु धर्मोत्तर पुराण–अध्याय 113), – (मार्कण्डेय उवाच)–अत्रि वंश में उत्पन्न हो कर जो राज ऋषि गोत्र प्रवर्तक हुए हैं उन्हें मुझ से जानो, कर्पूरायण शाखा वाले और शाराहण। पंडित गोविन्द नारायण मिश्र ने भी 'सारस्वत सर्वस्व' पृष्ठ 158 में लिखा है कि "कार्पूरि" गोत्र के कारण ही क्षत्रियों की संज्ञा भी कर्पूर हो गयी। पंजाबी भाषा में संस्कृत के संयुक्त 'र' का लोप हो जाने के कारण ही यही कर्पूर शब्द बोलचाल में ही नहीं बल्कि लिखने के समय भी कपूर लिखा जाने लगा। अतः यह तो सप्रमाण अत्यंत प्राचीन काल से ही सिद्ध है कि कपूर अल्ल सूर्य वंशी मेहरोत्रा अल्ल की भांति ही सोम या चन्द्र वंश की कपूर नाम से ज्ञात प्रमुख, प्रधान एवं मुख्य शाखा है जो खत्रियों की सोम वंशी अल्लों में ऊँचे माने गये हैं और जिनका प्रारम्भ सोम (चन्द्रमा) पुत्र बुध के पुत्र राजा पुरुरवा से माना जाता रहा है। इस वंश के सारस्वत पुरोहितों का आदि काल से अपने सोम (कर्पूर) वंशी यजमानों से संबंध तथा इनके अनेक उपभेद व उन सभी के साथ जुड़ा हुआ कपूर अल्ल इस अल्ल की प्राचीनता को स्वयं सिद्ध कर देते हैं। अतः उपरोक्त किंवदंती किसी भी दशा में इस प्रमुख चंद्र वंशी ऊँची अल्ल की व्युत्पत्ति का कारण तो हो ही नहीं सकती और निराधार है।

(3) खन्ना

(1) अलाउद्दीन खिलजी के समय में विधवा विवाह के प्रश्न को ले कर जिस खानदान के आधे लोगों ने उक्त फरमान का विरोध करने वालों का साथ दिया और आधे मैदान में न आये, उसमें जिन्हों ने साथ दिया, वे खन्ने कहलाये। (अशरफुल तवारीख–किशन दयाल खत्री)।

(2) खन्ना शब्द खान से निकला है जिसके माने है आधा (अशरफुल तवारीख)। 'खन' धातु से खन्ना बना। खन्ना या पलटन की जमीन खोदने वाले को सफरमैना कहते हैं।

(3) एक खत्री साहब एक अत्यंत समृद्धशाली परिवार में अपने पुत्र की बारात लेकर गये। समधी ने उनकी अच्छी खातिर तवाजो की और बहुत कुछ धन आदि दहेज में दिया किंतु जंड (अन्य जातियों में बढ़हार) के अवसर पर दामाद ने अपने श्वसुर से 'नेग' में बहुत अधिक सम्पत्ति की मांग की और बड़ा झगड़ा किया। परोसा पकवान सब सूखने लगा। लोगों ने बहुत कुछ समझाया मगर उसने एक न माना। बराबर जिद करता रहा और यही कहता रहा कि जो उसने मांगा है वही लेगा, उससे कम न लेगा। समझाना बुझाना तथा प्रार्थना आदि व्यर्थ सिद्ध हुई। अतः जंड के प्रचलित नियमों की थोड़ी बहुत अवहेलना कर के श्वसुर

ने दिक हो कर "जय लक्ष्मी नारायण की" कह कर नौशे की रजामंदी का इंतजार किये बिना स्वयं भोजन करना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि इसके अतिरिकत बेचारे के पास कोई चारा ही न था। अतः सब काम जंड तथा उसके बाद के जारी हो गये। दावत तो समाप्त हो गयी किंतु चूंकि वर के पिता ने अपने पुत्र की मांग पूरी न होने पर भी अर्ध रूप से इस समस्या का समाधान किया अतः दर्शको ने उस वंश का नाम 'खन्ना' अर्थात आधा रख दिया और तभी से इस वंश वाले 'खन्ना' कहलाने लगे। (खत्री कुल चंद्रिका–पंडित द्वारका प्रसाद तिवारी से संकलित, खत्री जाति परिचय पृष्ठ 30–32, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 198–201, खत्री हितकारी, आगरा वर्ष 1895, पृष्ठ 101)।

इस विषय में पहली रवायत या किंवदंती किसी अभिलेखीय प्रमाण पर नहीं बल्कि सुनी सुनायी बात पर आधारित है। उस समय ऐसा कोई अभिलेख नहीं रखा गया था, और न उपलब्ध है कि किस अल्ल के कितने लोग (सम्पूर्ण भारत से) विधवा विवाह के विरोध में शामिल हुए और कितने नहीं। दूसरे खन्ना अल्ल तो प्राचीन काल से ही इस वंश के आधे लोगों के ब्राह्मण वंश में जाने से 'खण्ड या क्षण्य' संस्कृत शब्द से निकल कर संस्कृत रूप में आ चुका था जो बिगड़ कर 'क्षण्य' के 'क्ष' का 'ख' हो जाने से खन्ना हुआ। अतः इस शब्द का तो मूलाधार ही एक वंश के दो खण्ड होना है जिसके प्रमाण में पंडित ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने ग्रंथ 'जाति भास्कर' के पृष्ठ 106 में लिखा है कि "क्षण्य गोत्र के कुलीन क्षत्रिय खन्ना कहलाते हैं।" पंडित गोविन्द नारायण मिश्र ने भी सारस्वत सर्वस्व में तथा प्रवर रत्न, प्रवर मंजरी आदि गोत्र निर्णय संबंधी ग्रंथों में खन्ना को 'क्षण्य' गोत्री क्षत्रिय कहा है तथा विष्णु पुराण का भी मत उन्हीं से मिलता है कि ये क्षण्य गोत्र के कुलीन राजवंश के क्षत्रिय ही हैं। यही 'क्षण्य' समय के फेर से विकृत हो कर अपभ्रंश के रूप में खन्ना बना है। अन्य अनेक पुराण गाथायें भी इस अल्ल की प्राचीनता को ही सिद्ध करती हैं और यह भी बताती हैं कि मूलतः सूर्य वंशी यह अल्ल कालान्तर में कुत्स की वंशधर हो कर अंगिरा वंश में उत्पन्न होने से अग्नि वंशी कहलाने लगी और इनका गोत्र कुत्स हो गया तथा अंगिरा, मान्धाता और कुत्स इनके तीन प्रवर हुए। तभी से ये लोग अपने को कुत्स गोत्री खन्ना कहने लगे और खंड होने के कारण ही खन्ना कहलाये। इसके और भी अनेक प्रमाण पुराणों में भरे पड़े हैं। अतः उक्त किंवंदती निराधार ही प्रतीत होती है।

दूसरी रवायत केवल शब्दों की ध्वनि की समानता के आधार पर लिखी गयी है अतः यह मनमानी कल्पना है। उसका कोई भी ठोस आधार नहीं है।

तीसरी रवायत को तो स्वयं खत्री जाति परिचय के पृष्ठ 31 पर 'एक कहानी' लिखा गया है जो किसी सच्ची घटना के रूप में पंडित द्वारका प्रसाद तिवारी के ज्ञान में आयी होगी और उन्हों ने उसे उसी रूप में खन्ना अल्ल की उत्पत्ति से जोड़ दिया किंतु मुंशी सरवन लाल टंडन ने अपने ग्रंथ ' क्षत्रिय

प्रकाश' (1895) में यही न्यायसंगत मत व्यक्त किया कि वैदिक काल में आर्यों के मध्य एक वंश के आधे लोग ब्राह्मण हो गये और शेष क्षत्रिय ही रहे। अतः जो क्षत्रिय रहे थे, वे खन्ना कहलाये जिसके माने होते हैं 'आधा'। आज भी खन्ना लोग अर्ध कौत्स अर्थात कौत्स के आधे भाग कहलाते हैं। इसके बाद इस कहानी पर किसी अन्य तर्क की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

(4) सेठ

इस फिरके के एक महापुरुष अपनी समाज सेवा तथा उच्च भावनाओं के लिये प्रसिद्ध थे। उन्हों ने निर्धन सारस्वत ब्राह्मणों की 125 कन्याओं तथा 525 पुत्रों के विवाह अपने धन से करा दिये। ब्राह्मण उनसे इस बात पर इतने अधिक प्रसन्न हुए कि उन्हें 'श्रेष्ठ' का खिताब प्रदान कर दिया। तब से वह और उनके वंश वाले श्रेष्ठ कहलाने लगे जो बाद में बिगड़ कर सेठ हो गया। (खत्री कुल चंद्रिका–पंडित द्वारका प्रसाद तिवारी से संकलित, खत्री हितकारी, आगरा वर्ष (1895), पृष्ठ 101, 102, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 202–207, खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 35–36) ।

इस रवायत में अंतर सिर्फ इतना ही है कि इसमें इस 'सेठ' अल्ल के वंश के केवल एक उत्तम कर्म को इस अल्ल की व्युत्पत्ति का आधार बताया गया है पर असल बात केवल इतनी ही नहीं है। विष्णु पुराण में इस वंश की कथा अत्यंत विस्तार से दी है जिसमें इस वंश के राजाओं द्वारा किये गये अनेक उत्तम कार्यों का विवरण है। इनके उत्तम कार्यों की संख्या इतनी अधिक थी कि उसी के कारण राजा यदु के समय से ही 'श्रेष्ठ' शब्द (यदु श्रेष्ठ –हरिवंश पुराण, अध्याय–30) इस वंश के साथ विशेषण के रूप में उपाधि वाचक एवं जाति वाचक हो कर लग गया था। उसी वंश परम्परा में प्रतापी राजर्षि दिवोदास के पुत्र महाराज प्रतर्दन को पिता द्वारा बारम्बार 'वत्स–वत्स' कह कर पुकारे जाने के कारण महाराज प्रतर्दन से ही इस 'श्रेष्ठ कुल' की वत्स संज्ञा का भी प्रारम्भ हो गया और भविष्य में इस वंश में उत्पन्न होने वाले सभी 'वत्स' ही कहलाने लगे और वही 'वत्स' इनका गोत्र भी हो गया। इस चंद्र वंशी कुल का सूर्य वंशी शाखाओं से भी समय समय पर संबंध होने के कारण इस की कोई शाखा सूर्य वंशी तथा कोई चंद्र वंशी कहलाती है और इन्हीं परिवर्तनों के कारण तालवाड़ सेठी, बैजल, कक्कड़, सेठ आदि की यही श्रेष्ठ वंशी शाखायें आज भी मौजूद हैं। इस सुविशाल वंश के वत्स कौक्कुर और तालजंघी क्षत्रिय आज भी अपने को सेठ ही लिखते हैं और श्रेष्ठों का गोत्र भी वंश परम्परा से आज भी वत्स ही है। वर्तमान सेठों की प्राचीन सभी संज्ञायें वस्तुतः आज भी विद्यमान हैं। वास्तव में इस वंश का जन्म, प्रसार, वृद्धि एवं विस्तार इतना विविध है कि हैहेय, वृष्णि, मधु, शूर, शूर सेनी, तालजंघ, और्व ऋषि, पराशर गोत्र सारस्वत, तिक्खे सारस्वत ब्राह्मण, तालकेतु आदि से संबंधित वंशों की कथा जोड़ कर अल्ल एवं गोत्र परिवर्तन का एक पूरा प्रमाणिक शास्त्रीय इतिहास ही लिखा जा सकता है जो किसी मूर्धन्य विद्वान का ही काम है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस श्रेष्ठ वंश के हजारों ही नहीं लाखों में से एक उत्तम कार्य को इस अल्ल की उत्पत्ति से जोड़ कर केवल अपने व्यक्तिगत अहं की तुष्टि की गयी है तथा उसका श्रेय ब्राह्मणों को देने का प्रयास किया गया है। यह प्रयास नितांत इतिहास विरुद्ध एवं प्रमाण विरुद्ध है क्योंकि उदारता एवं दानवीरता की केवल एक घटना सम्पूर्ण अल्ल की व्युत्पत्ति का कारण नहीं हो सकती।

(5) टंडन

इस अल्ल के विषय में कोई विशेष किंवदंती तो नहीं मिलती पर खत्री जाति परिचय तथा कुछ अन्य पुस्तकों में कुछ बातें लिखी मिलती हैं जैसे 'टन' शब्द के अर्थ हैं जो सदा लड़ने को प्रस्तुत रहे। टन के माने हैं 'युद्ध'। अतः जो जाति अत्यधिक युद्धप्रिय तथा लड़ाका थी, वह टंडन कहलायी। इससे संबंधित मुहावरे झगड़ा टंटा करना, झगड़ा टंटा पसंद न करना आदि हैं। कुछ कहते हैं कि जो जाति सदैव युद्ध में विजय प्राप्त करती थी, वह टंडन कहलाई। कुछ इसे 'मार्तण्डय' (सूर्य) से निकला बताते हैं तो पंडित गोविन्द नरायन मिश्र 'सारस्वत–सर्वस्व' में इसे 'तण्डिन' गोत्र से सृष्टि हुआ बतलाते हैं तथा अंगिरा ऋषि को इनका प्रवर बतलाते हैं, (खत्री हितकारी आगरा (1895) पृष्ठ 102, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 200–201, खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 37) ।

उपर्युक्त रवायतें तो अपने आप में ही निराधार और मनमानी आरोपित हैं अतः उनके तो स्पष्टीकरण की भी आवश्यकता नहीं है किंतु पुराणों एवं अन्य प्रमाणों से इतना अवश्य सिद्ध है कि टंडन खत्री प्रथमतः सूर्य वंशी थे किंतु इसी वंश में हुए अत्यंत तेजस्वी अंगिरा ऋषि के वंश में जाने के कारण, उनकी शाखा में होने से, अपने को अग्नि वंशी कहने लगे और उनका गोत्र आज तक अंगिरा ऋषि के नाम पर 'अंगिरस' ही है जो मनु स्मृति, रघुवंश आदि से प्रमाणित है।

जैसा कि पीछे सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंशों के राज्य स्थान के संबंध में बताया गया है, नभग वंश का राज्य गंगा की अन्तर्वेदी (दोआबा) में था। सोम वंशी ऐल राजाओं के कारण यह वंश राजविहीन हो गया। इस वंश में लोग वर्णान्तर कर के अंगिरस गोत्रीय रथीतर ब्राह्मण बन गये। अम्बरीष, विरूप, स्थीतर इस वंश के प्रमुख राजा थे। स्वयं रथीतर पहले सन्तानहीन था और उसे अंगिरा ऋषि की कृपा से ही सन्तान की प्राप्ति हुई थी और तभी से वे सूर्य वंशी क्षत्रिय होते हुए भी अंगिरा ऋषि के गोत्र में जाने के कारण अपने को अग्नि वंशी कहने लगे थे। खत्रियों में टण्डन अल्ल आज अग्नि वंशी एवं अंगिरस गोत्री कहलाती है जो सूर्य वंश की ही एक शाखा है। अतः यदि टण्डन (मार्तण्ड) अल्ल के खत्रियों का विकास स्वाभाविकतः इन मार्तण्ड (सूर्य) राजाओं की शाखा से ही हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर टण्डन अल्ल मार्तण्डय (सूर्य) से ही विकसित हुई इसे सिद्ध करने के लिये पुराणों एवं अन्य प्राचीन ग्रन्थों में विस्तृत शोध की अपेक्षा है।

(6) धवन

वैसे तो इसे संस्कृत शब्द "धावन" का बिगड़ा रूप माना जाता है। धावन का अर्थ युद्धभूमि में एक स्थान से दूसरे स्थान को समाचार ले जाने वाले का होता है पर खत्री हितकारी आगरा (1895) पृष्ठ 102 में इसकी एक रवायत इस प्रकार दी गयी है :

एक खत्री साहब शिव जी के बड़े भक्त थे। एक मरतबा राजा ने एक बड़ा यज्ञ कराया और ब्राह्मण व क्षत्रिय कुल के लोगों को आमंत्रित किया। यह साहब शिव जी की मूर्ति के आगे ध्यान में मसरूफ थे, इस वजह से शरीक न हो सके। जिस वक्त राजा को यह हाल मालूम हुआ, उस वक्त वह खुद उनको बुलाने के वास्ते गये। उन्हों ने चैतन्य हो कर राजा की दरख्वास्त को मंजूर किया और फौरन उनके हमराह हो लिये।

राजा ने मौके पर पहुंच कर सब के समक्ष कहा कि 'ध्यानी बाबा' आये और उनका बड़े आदर के साथ सत्कार किया। उस रोज से लोग उनको ध्यानी पुकारने लगे और यह ही खिताब उनकी औलाद का हो गया और बवजह कसरत इस्तेमाल के बिगड़ कर अब 'धवन' कहलाता है।

यह अत्यन्त मामूली घटना है और इसे 'धवन' अल्ल से जोड़ना इतना बेमानी है कि इसे बचकाना प्रयास ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि इस तथाकथित किंवदंती को किसी अन्य ग्रन्थ में संग्रह करने के काबिल भी नहीं समझा गया। अतः यह नितान्त भ्रामक अल्ल व्युत्पत्ति है।

(7) महेन्द्रू

प्राचीन काल में एक बार बहुत बड़ा अकाल पड़ा। एक अत्यन्त समृद्ध एवं धनवान खत्री ने अकाल के दौरान अपना अन्न का भंडार पूर्ण उदारता के साथ खोल दिया और हजारों सारस्वत ब्राह्मणों तथा खत्रियों को मृत्यु के मुख से बचाया और कीमत लेने से भी इनकार कर दिया जिससे ब्राह्मणों ने उन्हें आशीर्वाद दे कर उनकी तुलना इन्द्र से भी महान देवता के रूप में की। तभी से उस वंश वाले महा इन्द्र के समान दानी (महा+इन्द्र = महेन्द्रू) कहलाने लगे।

दूसरी रवायत यह कहती है कि एक खत्री इन्द्र के समान योद्धा तथा सेनापति थे अतः उन्हें सब सम्मानार्थ महेन्द्र कहने लगे। (खत्रिय हितकारी आगरा (1895) पृष्ठ 102, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 208, खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 38) ।

इस व्युत्पत्ति किंवदंती में विशेष कुछ नहीं है क्योंकि यह उदार एवं वीरमना (खत्रिय) जाति की जातीय विशेषतायें थीं और आज भी हैं। इसमें विशेष बात यह है कि प्राचीन समय में ब्राह्मण और आर्य क्षत्रिय इन्द्र की पूजा करते थे तथा ब्राह्मण घी, दूध इत्यादि से और आर्य क्षत्रिय मांस चढ़ा कर इन्द्र की पूजा करते थे। वह परम्परा आज भी चली आती है और शुभ कार्यों के अवसर पर क्षत्रियों के कुछ फिरकों में योगिनी को (चील आदि को) मांस खिलाया जाता है,

उसके पश्चात कार्यारम्भ किया जाता है। इन्द्र की पूजा पहले बहुत प्रचलित थी। भगवान कृष्ण की गोवर्धन धारण की कथा और उसका मान हरण श्री कृष्ण की कथा जानने वाले हिन्दू मात्र को ज्ञात है, जिसका कारण यही था कि बाद में वैश्य भी इन्द्र की (जो देवताओं का राजा एवं सेनापति था) पूजा करने लगे थे अतः श्री कृष्ण ने वह पूजा बंद करवा दी। वही इन्द्र के प्राचीन पूजक प्राचीन आर्य क्षत्रिय आज के महेन्द्रू कहलाते हैं। जे0 टालब्वायज व्हीलर ने भी प्राचीन आर्यों के इन्द्र पूजन के संबंध में इसी प्रकार का विवरण दिया है। चूंकि इन्द्र की पूजा अनेक आर्य क्षत्रिय फिरकों में प्रचलित थी अतः आज भी इस अल्ल महेन्द्रू के कई गोत्र आज तक वैसे ही कई गोत्रों में चले आते हैं।

(8) बोहरे, बहोरे या व्यूहरे

इस अल्ल के बारे में (खत्री हितकारी (1895) पृष्ठ 102–103, में एक रवायत यह दी गयी थी कि एक बार एक देश के राजा ने रिआया पर सख्त टैक्स लगाया। लोगों ने भागना शुरू कर दिया और चारों तरफ त्राहि त्राहि मच गयी। एक उदार खत्री साहूकार ने उनकी तरफ से राजा के पास जा कर टैक्स माफ करने की प्रार्थना की। राजा ने खजाना खाली होने और फौज को तीन चार साल की बकाया तनख्वाह देने की जरूरत के कारण दो करोड़ रुपये की तुरन्त आवश्यकता के कारण टैक्स माफ करने में असमर्थता व्यक्त की। राजा की मजबूरी एवं जनता की दीन हीन हालत को देखते हुए उस दरियादिल साहूकार ने राजा को दो करोड़ रुपया अपने पास से देना मंजूर किया और रिआया को टैक्स से बचा लिया। उस रोज से उनका नाम भी बहोरा हो गया और अब उनकी औलाद भी उसी नाम से मशहूर है।

इस रवायत का अन्य किसी ग्रन्थ में उल्लेख नहीं मिलता अतः यह सिद्ध है कि इसे काबिले गौर नहीं समझा गया। इसके विपरीत खत्रिय इतिहासों में इस अल्ल को संस्कृत शब्द 'व्यूह' (सेना को रणभूमि में एक विशेष ढंग से खड़ा करना) से निकला बताया गया है। महाभारत तथा अन्य ग्रंथों में व्यूह रचना का अनेक प्रकार का विवरण मिलता है। जो व्यक्ति व्यूह रचना में प्रवीण होते थे उन्हें ही उनकी इस विशेषता के कारण 'व्यूहरे' कहा जाता था। इस कला में मर्मज्ञ क्षत्रिय प्राचीन काल में दशहरे के दिन दीवार पर व्यूह का चित्र रच कर उसकी पूजा करते थे और इस अल्ल के खत्री आज भी उसी प्रकार से पूजन प्राचीन परम्परानुसार करते चले आते हैं। चूंकि व्यूह रचना की यह कला किसी एक ही फिरके के क्षत्रियों तक सीमित नहीं थी अतः आज भी इस अल्ल के खत्री केवल एक गोत्र के नहीं बल्कि काश्यप, कौशल्य आदि भिन्न–भिन्न गोत्रों (फिरकों) के पाये जाते हैं। अतः यह किंवदंती बिना विचारे जोड़ दी गयी है जिसकी कथा सत्य हो सकती है पर व्युत्पत्ति नहीं।

(9) चोपड़ा

एक खत्री वंश के पुराने पुरखे अत्यन्त कुशल जुआरी थे और चौपड़ या

चौसर के खेल में इतने निष्णात थे कि लोग उन्हें राजा नल का अवतार कहा करते थे। एक बार सरदार मलिक जाफर ने उनको वाहलीक देश से अपने यहाँ आये एक अत्यन्त कुशल जुआरी से जुआ खेलने के लिये तलब किया। उस जुआरी को अपने हुनर पर बड़ा नाज था। उसने इन खत्री महाशय से इस शर्त पर जुआ खेलना स्वीकार किया कि जो हार जाय वह अपनी कन्या विजेता से ब्याह दे। खेल शुरू हुआ और खत्री सज्जन जीत गये और उन्हों ने उस जुआरी की कन्या को अपने से नहीं, बल्कि मलिक जाफर से ब्याहने को बाध्य किया। उस रोज से उनको "चौपड़" की पदवी प्राप्त हुई। वही बिगड़ा रूप आज चोपड़ा कहलाता है।

यह किवदंती एक तो आधुनिक काल की है और मुसलमानों के काल से संबंध रखती है जब कि महाभारत काल में पांसा फेंक कर चौपड़ खेलने का जुआ प्रचलित था और युधिष्ठिर उसी जुए में दुर्योधन से अपना सर्वस्व दांव पर हार गये थे पर दुर्योधन को या चौपड़ में निष्णात शकुनि मामा को किसी ने 'चौपड़' की उपाधि से अलंकृत नहीं किया। इस अल्ल की ठीक ठीक व्युत्पत्ति तो ज्ञात नहीं पर यह लोग कौशल्य गोत्र के सूर्य वंशी क्षत्रिय हैं अतः बिना किसी प्रमाण के केवल आधुनिक घटना के आधार पर इस प्राचीन वंश की अल्ल को इस व्युत्पत्ति से जोड़ना नितांत भूल है एवं मान्य नहीं हो सकती। यह हो सकता है कि किसी प्राचीन वंश के लोग चौपड़ के खेल में निष्णात होने से उसकी पदवी पा गये हों और वही अब तक चली आती है पर वह घटना मलिक जाफर के काल में ही घटी और खत्रियों का कौन सा पूर्व अल्ल बदल कर चोपड़ा हुआ इसका विस्तृत अनुसंधान आवश्यक है।

(10) सूरी

विजय नगर या बीजापुर राज्य में राजा बलवन्त सिंह के समय में एक संदेशवाहक वीर सूरज वंशी खत्री थे। एक बार उन्हों ने बड़ी दिलेरी से एक बगावत को फतह किया जिससे राजा ने खुश हो कर उनको सूर यानी बहादुर का खिताब दिया। प्रकारान्तर से यह कहा जाता है कि एक बार गढ़ को शत्रुओं ने बुरी तरह से घेर लिया तब इस वीर ने अपार शौर्य का प्रदर्शन किया। उसकी सेवाओं के उपलक्ष में राजा ने उसे सूर (शूर) की पदवी प्रदान की। प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है कि इसी वंश के लोग विजय नगर के राजा बलवन्त सिंह के दूत थे। राजा ने कहा था कि जैसे ये शूरवीर हैं वैसा ही इनका अल्ल भी है। (खत्री हितकारी आगरा (1895) पृष्ठ 104, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 212, खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 39) ।

यह किंवदंती केवल इतना इंगित करती है कि यह अल्ल शूरवीरता की विशेषण संज्ञा से बनी है। इसके तीनों विवरणों में थोड़ा थोड़ा अन्तर है अतः

संभावना यही प्रतीत होती है कि किसी परिवार विशेष को उसकी वीरता के कारण शूरवीर पुकारते पुकारते उसका अपभ्रंश शूरे व सूरी हो गया है अतः इस पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

(11) बेदी या वेदी

ये लोग अपने को सूर्यवंशी मानते चले आते हैं और इसी वंश में सिक्खों के गुरु नानक देव जी ने अपना जन्म होना विचित्र नाटक एवं दसवें पादशाही ग्रन्थ में लिखा है। गुरु नानक देव जी के अनुसार सूर्य वंशी श्री रामचन्द्र जी के कुल में उनके दो पुत्र लव और कुश हुए। लव ने लाहौर और कुश ने कसूर नगर बसाया। दोनों कुमारों का विवाह मद्र देश के राजा की कन्याओं से हुआ। कसूर देश के राजा कुश के वंशज कालकेतु और लव वंशीय कालराय लाहौर के राजा थे। बहुत दिनों के बाद दोनों भाइयों में लड़ाई हुई। कालकेतु बलवान थे। लव वंशज काल राय हार गये। लाहौर कसूर राज्य में मिला लिया गया। कालराज सुनौढ़ देश में गये। वहाँ के राजा ने अपनी कन्या को उनके साथ ब्याह दिया। उससे उत्पन्न पुत्र का नाम सोढी राय रखा गया। इन्हीं के वंशज सोढी (सोंधी) खत्रिय कहलाते हैं जिनके वंश में सिक्ख गुरु गोविन्द सिंह जी का जन्म हुआ।

कुछ दिन बाद सोढ़ी राय ने अपना बल बढ़ा कर कुश वंशियों पर चढ़ाई कर दी। वे हार गये और जो बचे वह काशी भाग आये जहां वेद पढ़ कर वे नामी पंडित हुए। भाई ने उनकी विद्वता के चर्चे सुन कर उन्हें बुलाया और उनका राज्य भी लौटा दिया। इनके वेद पढ़ने के कारण इनके वंशज वेदी क्षत्रिय कहलाये जो पंजाबी भाषा में अपने को वेदी खत्रिय कहते आ रहे हैं क्योंकि पंजाबी में 'क्ष' का उच्चारण 'ख' ही होता है। (खत्रिय हितकारी आगरा (1895) पृष्ठ 104—105, खत्रिय इतिहास—बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ 213—216, खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 40) ।

दसवें पादशाही ग्रन्थ में सूर्य वंश की वंशावली गिनाते हुए गुरु नानक देव जी लिखते हैं कि "कहां लगे ते वरन सुनाऊँ। तिन नाम न संख्या पाऊँ।।" अतः उन्हों ने प्रत्येक पीढ़ी के प्रत्येक वंशधारी का नाम नहीं दिया है पर 'जिन वेद पढ़े पठियां सुवेदी कहाये' कहकर श्रृंखला सिद्ध की है। ऐसा विशद प्रयास किसी अन्य ने नहीं किया। इससे तो फिर यही बात सिद्ध होती है कि यह वेदी और सोढी या सोंधी अल्ल सूर्य या मिहिर वंश, जिसकी प्रधान अल्ल मेहरोत्रा, मेहरा, मलहोत्तरा या मलहोत्रा है और जिसमें स्वयं श्री राम चंद्र जी हुए थे, उसी की एक उपशाखा है जो कालांतर में विभिन्न कारणों से बदलते बदलते गुणवाचक परिवर्तित रूप अल्ल की शक्ल में आ गयी और उसका पूरा श्रेय गुरु नानक जी सरीखे परम सिद्ध पुरुष के परिश्रम को जाता है न कि किसी किंवदंती को। उन जैसा सिद्ध पुरुष तो किसी भी वर्ण का होने पर पूजयीय हो सकता था। उन्हें तो क्षत्रिय बनने के लिये अपने को श्री राम चन्द्र जी का वंशज सिद्ध करने की

आवश्यकता ही न थी पर उन्हों ने खोज कर अपना वंश विवरण लिखा और जो खोजा सो लिखा। अब अगर वह सूर्य वंशी क्षत्रिय (खत्रिय) निकला और उस वंश परम्परा में वह सिद्ध हुए तो उसके लिये किसी किवंदंती या रवायत का हवाला आवश्यक नहीं है।

(12) कक्कड़

(1) एक अहले बिरादरी के यहां कंकड़ का काम करने से कक्कड़ कहलाये। उनके ऐसा छोटा काम करने के कारण ही अन्य खत्री उनके यहां विवाह संबंध करने में शशोपंज करते हैं। दिलवाली कपूर उनके यहां लड़की लेने देने का संबंध नहीं करते। सेठ उनकी लड़की ले लेते हैं पर देते नहीं। एक समय कपूरों से उनका संबंध ही तर्क हो गया था। (खत्रिय हितकारी, आगरा (1895) पृष्ठ 104—105)

(2) एक गरीब सारस्वत ब्राह्मण की कुंवारी लड़की अत्यंत सुंदर थी। एक बार एक राजमार्ग से जाते समय कंधारी सेना के सेनापति की दृष्टि उस पर पड़ गयी तो उसने उस पर आशिक हो कर उसके बाप व भाई को बुला कर कन्या से अपनी शादी की ख्वाहिश जाहिर की और प्रचुर धन देने का वादा भी किया पर उनके इनकार करने पर उसके पिता व भाई का निर्दयता पूर्वक वध करा दिया तथा उनके घर को खाक में मिला कर कन्या को बलात उठवा लिया। उस कन्या ने भी उसी रोज जहर खा कर आत्महत्या कर ली। यह समाचार जब ब्राह्मण के एक धनी, बलवान एवं समृद्ध खत्री यजमान को मिला तो उसने अपने पुरोहित वंश की यह दुर्गति देख कर क्रोध में आ कर उस सिपहसालार (सेनापति) व उसकी सेना पर हमला कर के उसका सर्वनाश ही नहीं किया बल्कि उसके महल को भी खाक में मिला दिया। तब से उस यजमान का नाम खक्कड़ (अर्थात खाक में मिला देने वाला) पड़ गया जो बिगड़ कर कक्कड़ हो गया। (खत्रिय कुल चन्द्रिका—पंडित द्वारका प्रसाद तिवारी से संकलित)

एक रवायत यह भी कही जाती है कि घर में आग लगा देने के कारण ही उस यजमान ने 'कलाराग्नि' उपाधि पायी थी जो बिगड़ कर कक्कड़ हुआ। (खत्रिय हितकारी, आगरा (1895) पृष्ठ 104—106)

खत्रिय इतिहासों में दी गयी यह किंवदंती अत्यन्त प्रसिद्ध है और खत्री हितकारी में कक्कड़—कपूर वैमनस्य की घटना पूरे विस्तार से दी गयी है जिसमें बताया गया है कि एक अत्यन्त समृद्ध कपूर खत्री ने विवाह में अपने कक्कड़ दामाद से नेग के वक्त जो जी में चाहे मांगने को कहा और बिना हिचक देने का वादा किया तो उस कक्कड़ दामाद ने अपनी कुल जायदाद उसके हवाले कर देने को कहा। क्षत्रिय कुल रीति के अनुसार बिरादरी द्वारा मजबूर किये जाने पर

उस कपूर को अपनी कुल जायदाद अपने कक्कड़ दामाद के हवाले कर फकीरी बाना अख्त्यार करना पड़ा। इस अनुचित व्यवहार के कारण ही कपूरों ने प्रमुखतः तथा कुछ अन्य अल्ल के खत्रियों ने भी कक्कड़ों से विवाह संबंधों का नाता तोड़ लिया पर काफी समय के बाद लल्लू जगधर मेहरे ने बीच में पड़ कर समझौता करा दिया और बंद राह खुलवा दी।

वास्तव में इस घटना का कक्कड़ अल्ल की व्युत्पत्ति से कुछ लेना देना नहीं है। पुराणों में सूर्य वंश की अपेक्षा सुविशाल चंद्र वंश की व्याख्या बहुत ही अधिक विस्तार से दी गयी है जिसमें बताया गया है कि इस वंश में यदु के द्वितीय पुत्र कोष्टु के स्तम्भ में ही चंद्र वंशी राजा सात्वत की शाखा में 15 पीढ़ी के पश्चात श्री कृष्ण चन्द्र हुए थे। विष्णु पुराण अंश 4, अध्याय 13 में दिये गये यदु वंश के वर्णन में अन्धक पुत्र कुक्कुर के वंशजों का कौक्कुर कहलाना लिखा है। सारस्वत सर्वस्व (पंडित गोविन्द नरायन मिश्र) के अनुसार यही कौक्कुर शब्द बिगड़ कर 'कक्कड़' बन गया है। महाभारत भीष्म पर्व के 'श्रुत्वा विनष्टान वार्ष्णेयान सभोजान्धक कौक्कुरान' कुक्कुर श्रेष्ठ वंशियों को ही कौक्कुर कहा गया है। पुराणों के अन्य विवरण भी इन्हें श्रेष्ठ वंशी ही सिद्ध करते हैं। राजा यदु की श्रेष्ठ शाखा के खत्रियों का विवरण सेठ अल्ल के अन्तर्गत दिया जा चुका है अतः उसी शाखा के होने के कारण व्युत्पत्ति के संबंध में इस भ्रामक व्युत्पत्ति का कोई महत्व नहीं है।

जहाँ तक कक्कड़ों और कपूरों का संबंध न होने या संबंध तर्क हो जाने की बात है, हमारे पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थ, कुछ विद्वान तथा खत्रिय इतिहास ग्रन्थ में एक दूसरा ही विवरण मिलता है जो निम्नलिखित है –

महाराज गाधि के पुत्र हुए प्रज्वलित अग्नि के समान परम तेजस्वी विश्वामित्र जी। इन्हों ने अपने तपो बल से क्षत्रियत्व का त्याग कर के ब्रह्मतेज प्राप्त कर लिया। विश्वामित्र जी के सौ पुत्र थे। उनमें बिचले पुत्र का नाम था 'मधुच्छन्दा'। इस लिये सभी पुत्र 'मधुच्छन्दा' के ही नाम से विख्यात हुए।।28–29।।

श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध, अध्याय 7 एवं 16 तथा ऐतरेय ब्राह्मण में दी गयी कथा के अनुसार सूर्य वंशी त्रिशंकु के पुत्र थे सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र। उनके लिये विश्वामित्र और वशिष्ठ एक दूसरे को शाप दे कर पक्षी हो गये और बहुत वर्षों तक लड़ते रहे। हरिश्चन्द्र के कोई सन्तान न थी। नारद के उपदेश से उन्हों ने वरुण देव से पुत्र के लिये प्रार्थना की तथा वीर पुत्र प्राप्त होने पर उसी से उनका यजन करने का वचन दिया। वरुण की कृपा से हरिश्चन्द्र को रोहित नाम का पुत्र हुआ। पुत्र होते ही वरुण ने आ कर कहा– 'हरिश्चन्द्र तुम्हें पुत्र प्राप्त हो गया। अब इसके द्वारा मेरा यज्ञ करो।' हरिश्चन्द्र ने कहा– 'जब

आप का यह यज्ञ पशु (रोहित) दस दिन का हो जायेगा, तब यज्ञ करने योग्य होगा।' दस दिन के बाद वरुण के फिर कहने पर उन्हों ने पहले यज्ञ पशु के दांत निकलने, फिर दूध के दाँत गिरने, फिर दुबारा दांत आने, फिर क्षत्रिय पशु के कवच धारण करने आदि का हीला–हवाला कर के पुत्र स्नेह के कारण समय टालते रहे और वरुण देवता उनके बताये समय की बांट देखते रहे। जब रोहित को पता चला कि पिताजी तो मेरा बलिदान करना चाहते हैं तब वह अपने प्राणों की रक्षा के लिये हाथ में धनुष ले कर वन में चला गया और छः वर्ष तक वन में ही रहा। सातवें वर्ष जब वह अपने नगर को लौटने लगा तब उसने अजीगर्त से उसके मझले पुत्र शुनः शेप को मोल ले लिया और उसे यज्ञ पशु बनाने के लिये अपने पिता को सौंप कर उनके चरणों में नमस्कार किया।

हरिश्चन्द्र के यज्ञ में सुयवस का पुत्र अजीगर्त एक पुरोहित था। लालची अजीगर्त ने 300 गौओं के लोभ में अपने पुत्र शुनः शेप को खुद तलवार से काट कर बलि देना स्वीकार किया। पुत्र ने ऐसे बाप से पिंड छुड़ाने के लिये विश्वामित्र को अपना पिता बनाना चाहा और उनकी गोद में जा कर बैठ गया। अजीगर्त ने विश्वामित्र से कहा– 'ऋषि मेरे पुत्र को मुझे दे दो।''

''नहीं देवों ने इसे मुझे दिया है।'' उन्हों ने शुनः शेप का नाम बदल कर देवरात वैश्वामित्र रख दिया।

अजीगर्त ने पुत्र से प्रार्थना की – ''हम दोनों (माता पिता) तुझे बुलाते हैं। तू अंगिरस गोत्री–अजीगर्त का पुत्र ऋषि है। हे ऋषि, तू अपने बाप दादों के घर को मत छोड़। हमारे पास आ जा।''

शुनः शेप ने कहा – ''मैंने तेरे हाथ में वह चीज (तलवार) देखी है जो शूद्र भी नहीं लेता। हे अंगरिस, तूने तीन सौ गायों को मुझ से बढ़ कर समझा।''

अजीगर्त ने कहा – ''तात, मैं अपने किये पर दुखी हूँ। मैं उसका निवारण करता हूँ। मैं सौ गायें तुझे देता हूँ।''

शुनः शेप ने कहा– ''जो एक बार पाप कर सकता है वह दूसरी बार भी कर सकता है। तू शूद्रता से मुक्त नहीं है जो पाप तूने किया है वह किसी प्रकार निवारित नहीं हो सकता।''

विश्वामित्र ने बीच में कहा – ''हाँ निवारित नहीं हो सकता। यह सुयवस का पुत्र जब हाथ में तलवार लिये मारने को तैयार था, उस समय बड़ा भयानक लगता था। इस लिये तू अपने को उसका पुत्र मत समझ। मेरा पुत्र हो जा।''

विश्वामित्र जी ने भृगु वंशी अजीगर्त के पुत्र अपने भानजे शुनःशेप को,

जिसका एक नाम देवरात भी था, पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया और अपने पुत्रों से कहा कि– "तुम लोग इसे अपना बड़ा भाई मानो"।।30।।

(यह वही प्रसिद्ध भृगु वंशी शुनःशेप था, जो हरिश्चन्द्र के यज्ञ में यज्ञ पशु के रूप में मोल ले कर लाया गया था) विश्वामित्र जी ने प्रजापति वरुण आदि देवताओं की स्तुति कर उसे पाश बन्धन से छुड़ा लिया था। देवताओं के यज्ञ में यह शुनःशेप देवताओं द्वारा विश्वामित्र जी को दिया गया था, अतः "देवैः रातः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार गाधि वंश में यह तपस्वी देवरात के नाम से विख्यात हुआ।।31–32।।

'पुरबिये कुशिको' के संख्या और प्रभुत्व में बढ़े चढ़े होने के कारण ही शायद सुदास को अपने अभिषेक करने वाले तथा दाशराज्ञ युद्ध में परम सहायक वशिष्ठ की ओर से मुंह मोड़ कर विश्वामित्र की ओर मुंह फेरना पड़ा था। उस मनस्वी कार्यार्थी राजा के लिये एक उपकारक पुरोहित को छोड़ कर दूसरे पुरोहित को अपनाना स्वाभाविक था। इसी तोताचश्मी को देख कर वशिष्ठ पुत्र शक्ति ने विरोध किया, लेकिन प्राण गंवाने के सिवा उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ।' (इसी से वेदों में वर्णित प्रसिद्ध विश्वामित्र – वशिष्ठ वैमनस्य भी उत्पन्न हुआ था।)

विश्वामित्र के पुत्रों में जो बड़े थे, उन्हें शुनः शेप को बड़ा भाई मानने की बात अच्छी न लगी। इस पर विश्वामित्र जी ने क्रोधित हो कर उन्हें शाप दे दिया कि – "दुष्टों! तुम सब म्लेच्छ हो जाओ।" इस प्रकार जब उनचास भाई म्लेच्छ हो गये, तब विश्वामित्र जी के बिचले पुत्र मधुच्छन्दा ने अपने से छोटे पचास भाइयों के साथ कहा–"पिता जी ! आप हम लोगों को जो आज्ञा करते हैं हम उसका पालन करने के लिये तैयार हैं।" यह कह कर मधुच्छन्दा ने मन्त्रदृष्टा शुनःशेप को बड़ा भाई स्वीकार कर लिया और कहा कि 'हम सब तुम्हारे अनुयायी छोटे भाई हैं', तब विश्वामित्र जी ने अपने इन आज्ञाकारी पुत्रों से कहा– "तुम लोगों ने मेरी बात मान कर मेरे सम्मान की रक्षा की है, इस लिये तुम लोगों जैसे पुत्र प्राप्त कर मैं धन्य हुआ। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हें भी सुपुत्र प्राप्त होंगे। मेरे प्यारे पुत्रों ! यह देवरात शुनः शेप भी तुम्हारे ही गोत्र का है। तुम लोग इसकी आज्ञा में रहना।।33–36।।

विश्वामित्र जी के अष्टक, हारीत, जय और क्रतुमान आदि और भी पुत्र थे। इस प्रकार विश्वामित्र जी की सन्तानों से कौशिक गोत्र में कई भेद हो गये और देवरात को बड़ा भाई मानने के कारण उसका प्रवर ही दूसरा हो गया।।36–37।।

खत्री जाति परिचय में दी गयी चंद्र वंश की वंशावली के संबंध में पुराणों पर आधारित टिप्पणियों में डा0 प्रेम शंकर टण्डन द्वारा बताया गया है कि गाधितनय विश्वामित्र के बारह पुत्रों में केवल दो का परिवार चला जो शुनः शेप (देवरात) और मधुच्छन्दा का परिवार था। मधुच्छन्दा का कौशिक गोत्र ऋष्यान्तर वंश में विवाह हुआ पर वे समान प्रवर के नहीं थे। संभवतः इसी कारण से इन गोत्रों के कक्कड़ और कपूरों में परस्पर विवाह नहीं होता। मत्स्य पुराण के गोत्र प्रवर निर्णय प्रसंग में ऋषि विश्वामित्र के गोत्र निरूपण का प्रसंग भी इसी मत की पुष्टि करता है जिसमें देवरात एवं मधुच्छन्दा का वर्णन विश्वामित्र के ही प्रसंग में आता है।[1]

(13) सहगल

केवल खत्री हितकारी आगरा (1895) पृष्ठ 105–106 में इस अल्ल के बाबत यह रवायत दी गयी थी कि मथुरा में एक खत्री साहब श्री कृष्ण चन्द्र के बड़े भक्त एवं उपासक थे और उत्सव के समय सैकड़ों ब्राह्मण, साधू और भूखों को भोजन कराते थे। किसी बदमाश ने शाह अलादीन मोहम्मद गोरी बादशाह के पास जा कर चुगली कर दी कि एक खत्री साधू बना चोर और डाकुओं से चौथ लेता और हजारहा रुपया वाहयात कामों में फजूल खर्च करता है। बादशाह ने उनके पास जा कर और शहर वालों को बुला कर हाल दरयाफ्त किया। चुगलखोर के बयान को बिलकुल गलत पाया और उनसे कुछ मुकजान न किया बल्कि बड़ी खातिर तवाजो से पेश आया। मगर खत्री साहब नेक भगत के पक्के थे। बाद बादशाह से हाथ मिलाने के अपने ख्यालात के बमूजिब अपने आप को इस काबिल न समझा कि अपने शरीर से श्रीकृष्ण जी की सेवा करें लिहाजा अपने साहबजादा को अपना जांनशीन बना कर खुद हिमालय की बर्फ में जा कर गल गये। इस वजह से उनका नाम सह गल हो गया और अब सहगल बोला जाता है। बाज साहबान सहगल को संस्कृत शब्द 'शंकर' का बिगड़ा हुआ मन कता लाम बताते हैं।

यह रवायत तो प्रथम दृष्टया ही जोड़ तोड़ की मालूम होती है। इस पर आज तक किसी ने भी ध्यान नहीं दिया अतः इस पर व्युत्पत्ति विषयक कोई टिप्पणी व्यर्थ है।

---

1. श्रीमद्भागवत पुराण नवम स्कन्ध अध्याय 7–श्लोक 7–23 एवं अध्याय 16, श्लोक 28–37 ऋग्वेद मंडल 3. सूक्त 53, ऋचा 1–24, ऋग्वेदिक आर्य–राहुल सांकृत्यायन पृष्ठ 63–66, खत्री जाति परिचय पृष्ठ 24–चंद्र वंश वंशावली–(डॉ0 प्रेम शंकर टण्डन) से संकलित।

(14) वर्मन

पांचवी शताब्दी से ले कर दसवीं शताब्दी तक के इतिहास को देखने से पता चलता है कि उस काल में अनेक खत्री राजा ऐसे थे जो अपने नाम के साथ विष्णु पुराण एवं मनु स्मृति के आदेशानुसार 'वर्मा' शब्द लगाते थे। उन्हीं में इतिहास प्रसिद्ध मौखरी खत्री वंश के शासक भी थे जो अपने नामान्त में 'वर्मन' शब्द लगाते थे। जैसे प्रसिद्ध मौखरी खत्री राजा गृह वर्मन जिसे कन्नौज के वैश्य जाति के राजा हर्ष वर्धन की बहन ब्याही थी और राजा ईशान वर्मा आदि। हर्ष के वंश के लोग अपने नाम के अंत में 'वर्धन' शब्द का प्रयोग करते थे और अनेकों वैश्य राजाओं के नाम विष्णु पुराण एवं मनु स्मृति के आदेशानुसार गुप्त या गुप्ता नामान्त के साथ समाप्त होते थे। अतः संभावना यही है कि मौखरी राज वंश के क्षत्रिय जो अपने नाम के साथ 'वर्मन' शब्द का प्रयोग करते थे आज कल के 'वर्मन' खत्री ही हैं और उनकी इस अल्ल विशेष में उनके राज्य समाप्त हो जाने के बाद भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ है किंतु सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंश के किस विशिष्ट राजा से उनकी शाखा प्रस्फुटित हुई, यह विशेष शोध कर के ही जाना जा सकता है।

(15) चौधरी

यह तो भ्रामक अथवा स्पष्ट अल्ल नाम उत्पत्तियों के थोड़े से उदाहरण हैं। पर एक विचित्र उदाहरण 'चौधरी' अल्ल का भी है जो प्रायः अपने मूल रूप में विद्यमान रहने पर भी केवल अज्ञान के वश अनेक भ्रांतियों का कारण बनी हुई है।

बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास पृष्ठ 258 में तथा खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 77 में 'पछाही बावन जाति कलां' के अंतर्गत सूर्य चन्द्र तथा बाहु जाई सभी की सूची में क्रम संख्या 6 पर 'चौद्धर या (चौधरी) अल्ल दी है जो प्रथम 13 अल्लों में होने के कारण छः भिन्न भिन्न पुस्तकों (एथनोलाजी आफ दि खत्रीज, हरि दर्पण, क्षत्रिय दर्शनम, खत्री हितकारी आदि) में एक समान है। इसी पुस्तक के पृष्ठ 257 में बारह जाति के अंतर्गत यह भी कहा गया है कि इसकी दूसरी लिस्ट में चौपड़ की जगह 'चौद्धर' है तथा इसी में यह भी कहा गया है कि ये लोग खत्री विधवा विवाह का विरोध करने दिल्ली गये थे। इसी पुस्तक के पृष्ठ 261 में 'खत्री-धर्मान' के अंतर्गत भी चौधरी अल्ल दिया है। खत्री हितकारी आगरा (1895) के अगस्त अंक पृष्ठ 87 में बावन जाती या बुंजाई बावन जाति कलां के अंतर्गत क्रम संख्या 7 पर चौद्धर (चौधरी) लिखा गया है।

खत्री जाति परिचय पृष्ठ 56 में 'खत्री हितैषी' पत्रिका के जनवरी-फरवरी, 1941 अंक में श्री बाल कृष्ण प्रसाद की खोज द्वारा प्रकाशित एक ''चौहड्डा'' अल्ल भी दी है।

बाल कृष्ण प्रसाद ने खत्रिय इतिहास, पृष्ठ 211 पर इस चौधरी अल्ल के बारे में निम्न विवरण दिया है :

चौधर

चौधरी कहते हैं। (राजा यदु की शाखा के खत्रियों में) कुल श्रेष्ठी हैं। अगले समय में एक वा कई परगने के राजा वा अफसर होते थे, उन्हें चौधर या चद्धर कहा करते थे। एलफिन्सटन ने भारत के इतिहास के फुटनोट में लिखा है कि ये वैसे ही थे जैसे इंग्लैंड के लार्ड **(Chaudhari of Punjab as Lord in England)**। उनके वंशज आज भी उसी नाम से परिचित हैं। इनके गोत्र भिन्न भिन्न हैं। विजया दशमी में ये तलवार की पूजा अवश्य करते हैं और व्यूह बनाते हैं। सूर्य वंशी हैं। कोई बावन जाति में और कोई बारह घर में मानते हैं। मत शैव, कुल देवता भुवनेश्वरी।

खत्री जाति परिचय पृष्ठ 41 में भी लगभग यही विवरण इस प्रकार दिया है।

चौधर (चौजर)

पुराने समय में परगनों के राजा या अफसरों को चाधर या चद्धर कहते थे। चौधरी के माने ही हैं, अपनी जाति में श्रेष्ठ तथा सर्वमान। इन्हीं चौधरी अफसरों के वंशज चौधरी अल्ल के कहलाये। यह सूर्य वंशी हैं। इन खत्रियों के भी कई गोत्र हैं और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। दशहरा क्षत्रियों का सब से बड़ा त्यौहार है आज भी इस अल्ल वाले उस दिन तलवार तथा व्यूह के चित्र की पूजा करते हैं। कोई इन्हें बारह घर तथा कोई बावन घर खत्री मानते हैं। इनका मत शैव तथा कुल देवी भुवनेश्वरी हैं।''

संभवतः इसी अल्ल के जमशेदपुर निवासी (मूल निवासी पठानकोट, पंजाब) एक खत्री श्री राजपाल ने जो अपने को चौझड़ लिखते हैं और अपने वंश की जड़ों को खोजने के बहुत उत्सुक हैं अपने पत्र व्यवहार में यह बताया कि उनके वंश के 10-12 परिवार आज भी पठानकोट में हैं। कुछ परिवार अमृतसर के पास के तीन बड़े गांवों में थे जो प्लेग की महामारी में तबाह हो गये। कुछ परिवार महाराजा रंजीत सिंह की फौज में अच्छे ओहदों पर थे जो रंजीत सिंह के मरने के बाद सिख गदर में तितर बितर हो गये। कोई चंदू चौझड़ और चूहर चौझड़ नाम के भाई लखनऊ के इलाके में नंबरदार थे। स्वयं उनके पूर्वज इसी उथल पुथल में आजीविका की खोज में जमशेदपुर में आ कर बस गये और धीरे धीरे अपनी विख्यात वंश परम्परा को ही नहीं भूले बल्कि वंश परम्परागत पूजन विधि और कुल देवी को भी भूल गये। केवल स्वयं श्री राजपाल को अपने दादा जी के मुंह से सुनी यह बात याद रही कि वे कौशल्य गोत्री सूरज वंशी खत्रिय हैं।

उनका यह भी कहना है कि उनकी अल्ल चौझड़ को हिन्दी में लिखने में तो कोई कठिनाई नहीं पर अंग्रेजी में लिखने पर कठिनाई के कारण उनके कुछ वंशज अपने को चोजल **(Chojal)** लिखने लगे हैं। उनके मतानुसार "चौहज्डा" अल्ल ही पंजाबी बोली में चौझड़ है किंतु उनके कुछ परिवार वाले अब चोजल **CHOJAL** अल्ल लिखने लगे हैं।

इस संबंध में संपूर्ण विवरण को देखने से और खत्री इतिहासों में दिये गये इस विवरण से कि "इन चौधरी अल्ल में कई गोत्र हैं तथा वे दशहरे के दिन तलवार और व्यूह की पूजा करते हैं" एक बात तो यह स्पष्ट होती है कि इस अल्ल या फिरके के लोग किसी समय रणभूमि में विभिन्न प्रकार की व्यूह रचना की कला में खत्रियों की 'बहोरे या व्यूहरे' अल्ल की ही भांति अवश्य निष्णात रहे होंगे, इसी लिये व्यूह का चित्र बना कर दशहरे के दिन तलवार के साथ ही व्यूह की भी पूजा करते हैं। प्राचीन काल में व्यूह रचना की एवं उसके भेदन की युद्ध संबंधी यह कला किसी एक अल्ल के क्षत्रिय या फिरके तक सीमित नहीं थी बल्कि अनेक अल्ल या फिरके के लोग जिनके अपने भिन्न–भिन्न गोत्र होते थे, जब इस कला में निष्णात हो कर उस विशेष कला को अपनी आजीविका का साधन बनाते थे तो दशहरे के दिन तलवार के साथ साथ अपनी इस युद्ध कला का चित्र बना कर उसकी भी पूजा करते थे। यही कारण है कि बहोरे अल्ल में कुछ अन्य अल्लों की तरह एक ही गोत्र के नहीं बल्कि काश्यप, कौशल्य आदि जैसे कई गोत्र मिलते हैं जो स्वाभाविक है। इस चौधरी अल्ल में भी गोत्र एवं व्यूह पूजन की समान स्थिति के कारण एवं कौशल्य गोत्र की श्री राजपाल द्वारा बतायी गयी मौजूदगी ही के कारण इनके सूर्यवंशी क्षत्रिय होने की ही पुष्टि होती है।

इस विवरण के अनुसार एक ही चौधरी अल्ल के निम्नलिखित रूप इस समय विद्यमान हैं :– चौधरी, चौद्धर, चौहड्डा, चौधर, चद्धर, चाधर, चौझड़, चोजल और अज्ञानता के कारण इनकी अब तक ऐसी खिचड़ी बन गयी है कि आगे चल कर इनके कितने रूप बनेंगे, कहा नहीं जा सकता। इसका एक कारण तो यह प्रतीत होता है कि सूर्य वंशी इन खत्रियों का मूल अल्ल तो काफी समय पहले लुप्त हो चुका था और इन्हों ने या तो परशुराम जी के समय में या महापद्म नंद के क्षत्रिय दमन के समय में अपनी मूल जाति छिपाने के लिये अपनी कार्य उपाधि का अल्ल **(Functional Surname)** अपना लिया, जैसा कि अन्य सैकड़ों ही नहीं, हजारों अल्ल के क्षत्रियों ने किया था। इससे इनकी मूल सूर्य वंशी अल्ल, जो उसी वंश के किसी क्षत्रिय राजा से निकली रही होगी, लुप्त हो गयी किन्तु मात्र अपना गोत्र याद रखने से सूर्य वंशी क्षत्रियों से जुड़ी इनकी कड़ी सुरक्षित रह गयी। इस दिशा में इनके सारस्वत पुरोहितों की अल्ल तथा अपनी रीति रिवाज आदि की खोज कर के अन्य कड़ियां भी जोड़ी जा सकती हैं परन्तु यह कार्य अत्यन्त श्रम साध्य है।

इसी अल्ल से संबंधित एक अन्य रोचक तथ्य यह भी है कि फैजाबाद के अकबरपुर नगर का प्रसिद्ध मेहरोत्रा जमींदार परिवार जिला फैजाबाद के अकबरपुर परगना (तहसील– अब जिला अम्बेडकर नगर) में लाहौर से आ कर बादशाह अकबर के जमाने में बसा। बादशाह ने सैन्य संचालन में उनकी कुशलता से प्रभावित हो कर उन्हें यहाँ की जागीर प्रदान की और वे लोग अकबरपुर के शहजादपुर मोहल्ले में रहते हुए जमींदार हो कर चौधरी कहलाने लगे। तब से पिछले लगभग **450** वर्षों से इस परिवार को लोग अपने नाम के पूर्व चौधरी शब्द यथा 'चौधरी हरी नरायन मेहरोत्रा' लगाते आ रहे और लिखते आ रहे हैं तथा उसमें अभी तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु चौधरी की उपाधि ने मेहरोत्रा जैसी ऊँची अल्ल को प्रतिस्थापित नहीं किया। यह परिवार अब तक चौधरी परिवार ही कहलाता है पर जो लोग अपने नगर से बाहर जा बसे हैं वे अब प्रायः चौधरी शब्द का इस्तेमाल नहीं करते तथा जो अभी वहीं बसे हैं वे भी कभी कभी चौधरी लिखते अवश्य हैं पर उसमें विशेष रुचि नहीं रखते क्योंकि जमींदारी समाप्त हो जाने के कारण उनकी आजीविका के साधन बदल गये हैं और समाज में उनका पहले जैसा रुतबा नहीं रह जाने से चौधरी शब्द प्रतिष्ठावाचक भी नहीं रह गया है।

यह खत्री चौधरी अल्ल केवल खत्री समाज तक ही सीमित नहीं है। काश्मीर से ले कर बंगाल तक संपूर्ण उत्तरी तथा मध्य भारत में क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैश्य ही नहीं मुसलमान तक इस कार्य उपाधि को धारण करते रहे हैं, इसी लिये हमें चौधरी खली कुज्जमां, बंगाल में हरिश्चन्द्र राय चौधरी तथा शूद्र कही जाने वाली अनुसूचित जातियों जैसे धोबी आदि में भी हरिश्चन्द्र चौधरी जैसे नाम इस्तेमाल होते दिखते रहे हैं। किसी भी जाति के मुखिया, गाँव के प्रधान, बिरादरी के पंच, सभी चौधरी कहलाते हैं और लिखते हैं अतः यदि शोध की जाय कि कहाँ कहाँ कौन कौन इस शब्द उपाधि का क्यों इस्तेमाल करता है तो एक पूरा चौधरी पुराण ही तैयार हो जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि खत्रियों की इस प्रसिद्ध सूर्य वंशी चौधरी अल्ल को प्रायः सभी वर्गों एवं जातियों के लोगों द्वारा सम्मान सूचक समझ कर अपना लेने के कारण खत्रियों ने अपनी विशिष्टता बनाये रखने के लिये इस चौधरी अल्ल का रूप किसी समय कुछ बदला और शायद चौद्धर किया। भाषा विज्ञान के प्रयत्न लाघव सिद्धान्त के अनुसार यह शब्द बोलने में कुछ क्लिष्ट था अतः प्राकृत, मागधी, अपभ्रंश आदि भाषाओं में आ कर इस के वह रूप भाषा की प्रकृति के अनुसार बदलने लगे और भिन्न भिन्न भाषाओं में इसके वह रूप हो गये जो ऊपर दिये हैं किंतु इसका सरल रूप अभी तक व्यवहार में नहीं आ पाया, इसी लिये एक ही चौधरी अल्ल विभिन्न रूपों में अब तक चल रहा है और उसका कोई अल्ल रूप निश्चित नहीं हो पा रहा है। यह प्रक्रिया कब तक चलेगी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। सब कुछ इस अल्ल नाम वालों पर ही निर्भर है।

इसका एक पूर्व उदाहरण यह भी है कि एक समय में खत्रियों ने मनु स्मृति एवं विष्णु पुराण द्वारा चारों वर्णों के नामकरण के संबंध में ब्राह्मण के लिये शर्मा, क्षत्रिय के लिये वर्मा, वैश्य के लिए गुप्त और शूद्र के लिये दास नामान्त नामों की निर्धारण व्यवस्था को अपना लिया था तो सब वर्ण वैसा ही लिखने लगे। समय बीतने पर वैश्य एवं शूद्र वर्गों के लोगों, सुनारों, कायस्थों तथा अन्य अनेक लोगों ने अपनी श्रेष्ठता जताने के लिये अपने को वर्मा लिखना प्रारम्भ किया और आज भी लिखते हैं तो खत्रियों (क्षत्रियों) ने अपने को वर्मा लिखना बंद कर दिया, यद्यपि कुछ खत्री परिवार आज भी अपना समूह खत्री नाम वर्मा ही लिखते हैं जब कि उनकी वास्तविक अल्ल टंडन, सेठ या अन्य है। इसी प्रकार बढ़ई, कारीगर तथा अन्य छोटी जातियों द्वारा अपने को शर्मा लिखना प्रारम्भ कर देने पर अनेक ब्राह्मणों ने अपने को शर्मा लिखना बंद कर के अपनी वास्तविक अल्ल तिवारी, त्रिपाठी आदि लिखना प्रारम्भ कर दिया था और आज भी लिखते हैं पर अनेक लोग आज भी अपने को शर्मा ही लिखते चले आ रहे हैं।

(16) खत्रियों के साही या शाही वंश (के अल्ल) का उद्भव एवं विकास

खत्री जाति के इतिहास से संबंधित साहित्य में 'खत्री जाति की अल्ल' या वंश 'साही' को खत्री जाति परिचय के पृष्ठ 47 तथा बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास पृष्ठ 273 में सरीन खत्री के अंतर्गत गिनाया गया है और बाल कृष्ण प्रसाद ने उन्हें बर्दवान के खत्री विभाग में बावन जाई के अंतर्गत भी गिनाया है (पृष्ठ 275)। खत्री जाति परिचय के पृष्ठ 56 तथा खत्रिय इतिहास पृष्ठ 262, दोनों इतिहासों में शाही को बहुजाति खत्रियों में गिनाया गया है। इसी प्रकार खत्री जाति परिचय, पृष्ठ 56 तथा खत्रिय इतिहास पृष्ठ 268 में सूरशाही भी एक अल्ल के रूप में दी गयी है पर इस शाही वंश के उद्भव एवं विकास के बारे में खत्रिय इतिहासों में कोई संकेत नहीं मिलता सिवाय इसके कि शाही वंश वाले शाही या साही या सूरशाही कहलाये। परन्तु सन 1148–1150 ईसवी के बीच संस्कृत में लिखी गयी कल्हण कृत राजतरंगिणी में शाही वंश का विस्तार से उल्लेख मिलता है। उसमें कल्हण ने उल्लेख किया है :

महासाधनभागश्चेत्येता यैरभिधाः श्रिताः।
शाहिमुख्या येष्वभवन्नध्यक्षाः पृथिवीभुजः।। राजतरंगिणी 4/143

(तथा) पाँचवें का महासाधन भागादि (इस पदवी का वास्तविक अर्थ अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है) नाम थे जिन पर मुख्य मुख्य शाही वंशीय पृथिवीभुज अध्यक्ष हुए। जिस शाही वंश के बारे में कल्हण लिखता है वह मूलतः गांधार देश से संबंधित है। गांधार का नाम अति प्राचीन काल से भारतीय साहित्य में मिलता है। तक्षशिला से काबुल तक का भूखण्ड गान्धार देश में सम्मिलित था। चूंकि गांधार देश की सीमा समय समय पर बदलती रही है, कभी वह विस्तृत हो जाती थी, कभी संकुचित, अतः इसके कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता है। पेशावर तथा रावलपिंडी का जिला, उत्तर–पश्चिम पंजाब का क्षेत्र, गान्धार नाम से अभिहित

होता रहा है। परसियन अनुवादकों ने गांधार का नाम 'शाहीभंग' दिया है।

गांधार तथा वाहीक प्रदेश का सम्मिलित नाम उदीच्य था। प्राच्य तथा उदीच्य की सीमा शरावती नदी थी। गांधार से प्राच्य क्षेत्र तक पाणिनि काल में संस्कृत भाषा प्रचलित थी।

यूनानियों ने गान्धार को 'गन्दरायी' कहा है। उस समय यह प्रदेश तक्षशिला से कुनर नदी तक विस्तृत था। पश्चिमी गांधार की राजधानी पुष्कलावती थी। यूनानियों ने उसे 'पिउक लाउती' लिखा है। इस स्थान तथा काबुल नदी के संगम पर वर्तमान चारसद्दा है। गान्धार राज शकुनि दुर्योधन का मामा था। धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी इसी प्रदेश की थी। वह सुबल राजा की कन्या थी। कुछ इतिहासकारों का मत है कि ईसा पूर्व 558–530 मध्य में गान्धार पर ईरान के राजा साइरस अर्थात कुरु का शासन था।

ईसा पूर्व 331 ईसवी में परसियन साम्राज्य नष्ट हो जाने पर गान्धार पर सिकन्दर ने आक्रमण किया था। वह ईसा पूर्व 230 से 195 वर्षों तक यूनानी राजाओं के अंतर्गत था। तत्पश्चात ईसा पूर्व 175–156 में यह बलख के चतुर्थ राजा डेमेट्रियस के अधीन चला गया। कुशान काल में गान्धार की राजधानी पुरुषपुर अर्थात पेशावर थी। गान्धार देश का एक नाम दिहन्दास दिया गया है पर वह उदभाण्डपुर का अपर नाम है। बौद्ध ग्रन्थों में भी गान्धार का बहुत उल्लेख मिलता है। गान्धार जातक एवं कुम्भकार जातक इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। मोगलि पुत्र स्थविर ने तृतीय बौद्ध संगीति समाप्त कर मध्यान्तिक स्थविर को काश्मीर तथा गान्धार में धर्म प्रचारार्थ भेजा था। उस समय गान्धार जनपद की राजधानी तक्षशिला थी। पक्कुसाति वहाँ का राजा था। तक्षशिला में बौद्ध जगत के महान व्यक्ति जीवक, बन्धुल, प्रसेनजित, महालि आदि की शिक्षा हुई थी।

पाणिनि गान्धार देशवासी था। एक मत के अनुसार कौटिल्य की शिक्षा भी तक्षशिला में हुई थी। गान्धार एवं काश्मीर सम्राट कनिष्क के ही राज्य में थे। अशोक के समय गान्धार का विशेष उल्लेख मिलता है। तत्कालीन गान्धार बौद्ध धर्म का केन्द्र हो गया था। फाहियान अपने भारत पर्यटन में लिखता है कि अशोक के पुत्र धर्म विवर्धन ने गान्धार पर राज्य किया था। बौद्धों के योगाचार दर्शन के प्रवर्तक असंग ने यहीं जन्म लिया था।

सातवीं शताब्दी में हुएन्त्सांग ने उत्तरापथ में प्रवेश किया था। उस समय उद्भाण्डपुर कपिशा के राजा की द्वितीय राजधानी थी। उसमें लम्पक (लगमान) नग्रहार (जलालाबाद), वर्ण (वलू) जागद अर्थात दक्षिणी अफगानिस्तान, गजनी पड़ती थी।

आठवीं तथा नवीं शताब्दी में मुसलमानी शक्ति के उदय काल में गान्धार शनैः शनैः उनके प्रभाव में आ गया। सन 670 ईसवी में अरब सरदार याकूब ने अफगानिस्तान पर आंशिक विजय प्राप्त की। अलप्तगीन तथा सुबुक्तगीन के

आक्रमणों का सामना वहां के हिन्दू राजाओं ने किया। सन 990 ईसवी में लम्पक (लगमान) का दुर्ग हिन्दुओं के अधिकार से निकल गया। काफिरिस्तान के अतिरिक्त समस्त अफगानिस्तान ने मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लिया पर गान्धार वैदिक काल से सन 1947 में आजादी के पूर्व तक भारत का अंग बना रहा। गान्धार के भारतीय भाग में पश्चिमी पाकिस्तान के पेशावर तथा रावलपिंडी के जिले थे। गान्धार पूर्व काल से सिन्ध नदी के दोनों तटों पर अर्थात पूर्व एवं पश्चिम की ओर फैला था परन्तु बाद में केवल सिन्ध के पश्चिमी क्षेत्र तक सीमित मान लिया गया था। पश्चिमी गान्धार की राजधानी पुष्करावती तथा पूर्व की तक्षशिला थी। पुष्कलावती अथवा पुष्करावती नगर की नींव स्कन्द पुराण (4:5) के अनुसार भरत के पुत्र पुष्कर ने डाली थी। पुष्करावती नगरी स्वात प्रदेश के परगना चारसद्‌दा में पेशावर के उत्तर पूर्व 17 मील पर स्थित थी।

हिन्दू शाही वंश के अधिकार में गान्धार 11वीं तथा 12वीं शताब्दी में था।

जिस शाही वंश के बारे में कल्हण लिखता है उसकी स्थिति यह थी कि किसी समय काबुल (अफगानिस्तान) में बाह्मन शाही का शासन था। तत्पश्चात गजनी में मुसलमानों का शासन स्थापित होने पर काबुल तथा गान्धार के राजा लोग शाही कहे जाने लगे। अलबेरूनी ने उन्हें "हिन्दू शाहियां काबुल" कहा है। कल्हण ने शंकर वर्मा के राज्य काल में उद्‌भाण्ड में राज्य करने वाले प्रबल शाही राजाओं का उल्लेख किया है। अलबेरूनी वर्णित प्रथम शाही राजा 'कल्लर' सम्भवतः कल्हण वर्णित शाही राजा था। शाही पदवी भारतीय शक काल से ही राजाओं तथा सम्राटों के पद के लिये अभिहित होने लगी थी। श्वेत हूण तथा तुर्क, जो काबुल उपत्यका तथा गान्धार में राज्य करते थे, उन्हों ने शाही पदवी धारण की थी। अलबेरूनी ने इन शासकों को तुर्क वंशीय माना है। उनका मूल वास्तव में तिब्बती वंश था। यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि ओ कुंग जब गान्धार की यात्रा सन 753 तथा 764 ईसवी में कर रहा था तो उसे वहाँ तुर्कवंशीय राजा शासन करते मिले थे। चीन के तंग वंश के परावृत्त से पता चलता है कि तुर्क वंशीय इन राजाओं का नाम तथा राज्यकाल भी दिया हैं। वे आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में कपिन (गान्धार) में शासन करते थे। इसी समय काश्मीर के राजा मुक्तापीड (ललितादित्य) का राज्यकाल पड़ता है। इनमें एक शाही शासक काश्मीर के राजा के अधीन था। अतः इतिहास में शाही वंश का सर्वप्रथम उल्लेख राजा ललितादित्य के ही प्रसंग में किया गया है। इस ललितादित्य का समय सन 700 ईसवी था। कल्हण ने उसी के राज्य के संबंध में उपर्युक्त श्लोक रचा है जिसके अनुसार (श्लोक 4/141-142 के अर्थ सें) "महाप्रतिहार पीड़ा, महासंधि विग्रह, महाश्वशाला, महाभण्डार तथा पाँचवे महासाधन भागादि नाम के पदों पर मुख्य मुख्य शाही वंशीय पृथ्वीभुज अध्यक्ष हुए।"

पृथिवीभुज के उल्लेख से प्रकट होता है कि शाही वंशीय राजा या सामन्त ही उस समय राज्य अथवा शासन कर रहे थे और उनके ही वंशज कल्हण के

अनुसार ललितादित्य के यहाँ उच्च पदों पर नियुक्त थे। कल्हण ने शाही राजा का नाम नहीं दिया है पर यदि अलबेरूनी का वर्णन ठीक माना जाय तो शाही वंशज उस समय काबुल में राज्य करते थे। यदि वे मुसलमान होते तो चंकुण के समान कल्हण उनकी संज्ञा यवन, तुरुष्क अथवा म्लेच्छ से देता।

अलबेरूनी ने लिखा है कि शाही वंश काबुल में 60 पीढ़ी तक शासन करता रहा। तत्पश्चात हिन्दू शाही वंश ने राज्य प्राप्त किया। अंतिम तुर्क शाही राजा का नाम लुगत तूरमान मिलता है। यह अभारतीय राजा है। अलबेरूनी से चार शताब्दी बाद आये चीनी पर्यटक हुएन्त्सांग ने गान्धार के विषय में लिखा है कि उसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। राज वंश का लोप हो गया था। कपिसा राज के अन्तर्गत गाँव तथा नगर उजड़ गये थे। आबादी कम थी। कपिसा का राजा क्षत्री था। समकालीन ऐतिहासिक वर्णनों से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि हुएन्त्सांग वर्णित राजा भी शाही वंशीय रहे होंगे।

अलबेरूनी के अनुसार शाही वंश तुर्की तथ हिन्दू दोनों था। दोनो की स्थिति मुस्लिम शासन स्थापित होने के पूर्व थी। तुर्की शाही हिन्दू राज्य ने काबुल में 60 पीढ़ियों तक शासन किया था। इस वंश का अंतिम राजा लगतूरमाण था। उसके मन्त्री ने उसे राज्यच्युत कर हिन्दू शाही राज वंश की स्थापना की थी। शाही लोग क्षत्री माने जाते थे। आज भी शाही क्षत्री (खत्रिय) तथा भूमिहारों की एक उपजाति है।

अलबेरूनी हिन्दू शाही वंश का संस्थापक कल्लर को मानता है। प्रोफेसर सेबोल ने अपने प्रबन्ध में यह प्रमाणित किया है कि अरबी में "कल्लर" और "लल्लिय" लिखने में भ्रम हो जाता है। भ्रम के कारण 'कल्लर' और 'लल्लिय' एक ही नाम होते हुए भी दो समझ लिये गये हैं। (जेड0डी0एम0जी0 : 48: 700) जनरल कनिंघम ने भी 'कल्लर' एवं 'लल्लिय' को एक ही माना है। (आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स) अतः कल्लर राजतरंगिणी वर्णित लल्लिय ही माना गया है।

कल्हण ने लिखा है कि उस रागिणी की सम्पत्ति लुण्ठित कर उस कोशाध्यक्ष ने उद्‌भांड पुर का शाही राज्य विजय किया। उसने आज्ञा अतिक्रमणकारी शाही का राज्य लल्लिय पुत्र तोरमाण को कमलुक नाम रख कर प्रदान किया (राज 5:232: 233)।

अलबेरूनी लिखता है-'कनिक (कनिष्क) के वंश का अंतिम राजा लगतूरमाण था। उसका वजीर कल्लर ब्राह्मण था। वजीर को गुप्त खजाना मिल गया था। उस धन के कारण वह प्रभाव सम्पन्न एवं शक्तिशाली हो गया। तिब्बती (तुंर्क) कुल के राजा की शक्ति धीरे धीरे उसके हाथों से निकलती गयी। इसके अतिरिक्त लगतूरमाण का व्यवहार अच्छा नहीं था। उसका आचरण बुरा था। इस लिये जनता वजीर से राजा की शिकायत करती थी। वजीर ने राजा को उसकी दमनकारी नीति के कारण बन्दी बना लिया। उसने सुशिष्ट व्यवहार से शासन

आरम्भ किया। उसका धन उसकी योजना पूर्ण करने में सहायक हुआ। उसके पश्चात क्रमशः उसका पुत्र ब्राह्मण राजा सामन्द (सामन्त), कमलू, भीम (भीमा), जयपाल (जयपाला), आनन्दपाल, तरोजन पाल (त्रिलोचन पाल) ने राज्य किया। कमलू हिजरी 412 (सन 1021 ईसवी) में मार डाला गया। भीम उसका पुत्र पांच वर्ष पश्चात सन 1026 ईसवी में मार डाला गया।

तुर्की शाही वंश काबुल उपत्यका तथा गान्धार देश पर बहुत समय तक राज्य करता रहा। कल्लर ने हिन्दू शाही वंश की स्थापना की वही राजतरंगिणी का लल्लिय शाही है। लल्लिय बहुत दिनों तक काबुल पर शासन नहीं कर सका। सन 870 ईसवी में याकूब इब्नलेथ ने काबुल पर अधिकार कर लिया। लल्लिय ने पराजय के पश्चात उदभाण्डपुर (वर्तमान उण्ड) को अपनी राजधानी बनाया। यह उण्ड सिंध के दक्षिण तट पर अटक से पंद्रह मील ऊपर है और रावलपिंडी जिले में पड़ता है। लल्लिय का राज्य काबुल उपत्यका से कृष्ण गंगा उपत्यका अर्थात दूर देश तक विस्तृत था। अलखान का राज्य झेलम एवं चिनावब नदी के अधोभाग में पहाड़ियों के पूर्व था। वह तथा पंजाब का एक भाग लल्लिय के आश्रित था।

काश्मीर के राजा शंकर वर्मा (सन 883–902 ई0) ने अलाखान पर आक्रमण कर उससे टक्क देश ले लिया। टक्क देश चेनाव नदी के अधोभाग में पहाड़ियों के पूर्व था।

लल्लिय का पुत्र तूरमाण था। उसकी मृत्यु के पश्चात सिंहासन शाही वंश के एक वंशज द्वारा हस्तगत कर लिया गया था। 'श्री सामन्त' के नाम के इस शासक की मुद्रायें अफगानिस्तान में प्राप्त हुई हैं। शंकर वर्मा के मंत्री प्रभाकर ने उद्‌भाण्डपुर के लड़ाकू शाहियों का दमन किया और तूरमाण को सिंहासन पर बिठाया। उसका नाम कमलुक रखा गया। अलबेरूनी ने उसका नाम कमलू दिया है। शाही शब्द में तुर्क एवं हिन्दू शाही का समावेश हो जाता हैं। तुर्क जाति उस समय मुसलमान नहीं हुई थी यद्यपि कुछ लेखकों ने उन्हें मुसलमान मान कर भ्रम उत्पन्न किया है।

कमलुक ने एक विशाल सेना मुस्लिम शक्ति के विरुद्ध अभियान हेतु संघटित की थी किन्तु यह समाचार मिलने पर कि मुसलमानों ने एक बड़ी सेना लड़ने के लिए एकत्रित की है, कमलुक ने आक्रमण की योजना त्याग दी।

कमलुक की मृत्यु के पश्चात भीम राजा हुआ और उसने 5 वर्ष बाद स्वतंत्रता प्राप्त की। भीम की कन्या का विवाह लोहर वंशीय राजा सिंहराज के साथ हुआ। काश्मीर की रानी दिद्दा इसी भीम की दौहित्री तथा सिंहराज की कन्या थी। उसका विवाह क्षेमराज (काश्मीर राज) से हुआ था। इस समय तक हिन्दू शाही राज्य वजीरिस्तान अथवा उत्तरी प्रदेश तक विस्तृत हो गया था। भीम का उत्तराधिकारी जयपाल माना गया है। जयपाल ने लाहौर के राज्य पर सन 999 ईसवी में अधिकार कर लिया। वह सरहिन्द से लधमान तथा काश्मीर की

सीमा से मुलतान के मध्यवर्ती भूखण्ड का एकछत्र राजा था जिसमें वर्तमान पूर्वी अफगानिस्तान, पाकिस्तान का सीमान्त पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी पंजाब के भूखण्ड का समावेश हो जाता है।

गजनी शक्ति के उदय के साथ शाही लोगों का पतन आरम्भ हो गया। सुबुक्तगीन उद्‌भाण्डपुर अर्थात उण्ड के शाही राजाओं पर निरन्तर हमले करता रहा जिसे इतिहासकारों ने जेहाद की ही संज्ञा दी है। उसने शाही राज्य के सीमान्त दुर्गों तथा नगरों पर आक्रमण एवं लूटपाट कर काफी धन संग्रह कर लिया। अतः राजा जयपाल ने उसके साथ युद्ध का निश्चय किया। सन 986 – 987 ईसवी में गजनी और लमधान के मध्य युद्ध हुआ। जयपाल की सेना सफलता प्राप्त करती जा रही थी। सुबुक्तगीन ने प्रत्यक्ष युद्ध से विजय की आशा न होने से नीति से काम लिया। जयपाल के शिविर के पास ऊँची पहाड़ी थी। उसे उकवा धूजाक कहते हैं। उसकी एक श्रेणी में जलस्त्रोत था। उस अचल में जल श्रुति प्रचलित थी कि यदि जलस्रोत का जल गंदा हो जायेगा तो घनघोर काली घटा छा जायेगी, बवंडर उठेगा, पर्वत शिखर काला हो जायेगा, वर्षा होगी, समीपस्थ क्षेत्र में शीत लहरी फैल कर मृत्यु आ जायेगी। सुबुक्तगीन के अनुचरों ने गंदगी स्रोत में छोड़ दी जिसके कारण उपरोक्त घटनायें घटीं। जयपाल ने बाध्य हो कर संधि कर ली।

जयपाल अपनी सीमा में लौटते ही सन्धि से विमुख हो गया। सुबुक्तगीन क्रोधित हो उठा। उसमें और जयपाल में घोर युद्ध हुआ और विजय सुबुक्तगीन को मिली। उसने लघमान तक का क्षेत्र अपने अधिकार में कर लिया।

जयपाल ने पुनः सेना एकत्रित की और अपने देशों को वापस लेने का प्रयास किया। सुबुक्तगीन ने जयपाल की विशाल सेना आती देखा तो वह एक ऊँचे शिखर पर चढ़ गया। जयपाल की विशाल सेना से प्रत्यक्ष लड़ना संभव नहीं था। उसने पाँच सौ सैनिकों का एक–एक दल बना कर जयपाल की सेना पर आक्रमण करने के लिये भेजा। मुस्लिम इतिहासकारों के अनुसार सुबुक्तगीन की नीति के कारण जयपाल की सेना अस्त व्यस्त हो गयी और पराजित हो गयी। सुबुक्तगीन ने लघमान से पेशावर तक का भूखण्ड अपने राज्य में कर लिया।

महमूद गजनी ने भारत पर प्रथम आक्रमण सन 1000 ईसवी में किया था। जयपाल ने पेशावर के समीप महमूद की सेना का सामना किया परन्तु बन्दी बना लिया गया और अपने कुटुम्ब के साथ मिराँद स्थान पर बन्दी बना कर रखा गया। जयपाल दो लाख पचास हजार दीनार तथा पचीस हाथी देने पर मुक्त कर दिया गया किन्तु मुसलमानों से तीन बार पराजित होने के कारण जयपाल ने चितारोहण कर प्राण त्याग दिया। इसके बाद काबुल पर पुनः शाही वंश का कभी अधिकार नहीं हुआ। अलबेरूनी के अनुसार जयपाल के पश्चात आनन्दपाल और आनन्दपाल के अनन्तर त्रिलोचनपाल राजा हुआ था। कल्हण के अनुसार त्रिलोचनपाल ने राजा संग्रामराज से सहायता माँगी। राजा ने तुंग को त्रिलोचनपाल

की सहायतार्थ भेज दिया। शाही राजा त्रिलोचनपाल ने तुंग का आगे बढ़ कर स्वागत किया। तुंग ने पांच–छः दिन तक आनन्दपूर्वक स्वागत तथा आदर–सत्कार प्राप्त कर वहाँ निवास किया। तुंग को रात्रि में गुप्तचरों को कार्य करने तथा सैनिक अभ्यास न करते देख त्रिलोचनपाल ने कहा– 'तुर्कों की रणनीति का आप लोग जब तक अध्ययन न कर लें तब तक पर्वत मूल में ही सेना का निवास करना उचित है।'

युद्धोत्सुक तुंग को त्रिलोचनपाल की बात अच्छी न लगी। उसी समय तुरुष्क सेनापति हम्मीर (महमूद गजनी) ने सेना का एक दल तोषी नदी पर भेजा। तुंग ने तत्काल नदी पार कर तुरुष्कों की सेना को खदेड़ दिया।

इस साधारण विजय से तुंग का मन बढ़ गया और उसे अभिमान हो गया। त्रिलोचनपाल ने उसे पुनः समझाया कि तुरुष्कों की रणनीति समझ कर योजना बनानी चाहिये पर तुंग ने ध्यान नहीं दिया। दूसरे दिन महमूद गजनी ने कपट युद्ध का आश्रय लिया। उसने क्रुद्ध हो कर समस्त सेना के साथ स्वयं दार्वाभिसार की दिशा से शाही राज्य पर आक्रमण कर दिया। तुंग की सेना परास्त हो गयी परन्तु शाही सेना जो तुरुष्कों की रणनीति से परिचित थी, लड़ती रही। शाही राजा त्रिलोचनपाल ने युद्ध में अद्भुत वीरता प्रदर्शित की। त्रिलोचन युद्ध में मुसलमानों को परास्त कर कुछ दूर चला गया किंतु वहाँ पर पहुँचने से टिड्डी दल की तरह शत्रु सेना से वह भूखण्ड आच्छादित हो गया। त्रिलोचनपाल अपनी गज सेना के द्वारा विजय प्राप्त करने का प्रयास करने लगा किंतु भाग्य ने उसका साथ नहीं दिया। कुछ समय पश्चात शाही राज्य का अस्तित्व ही संसार से लुप्त हो गया (राजतरंगिणी 7 : 47–67)। कल्हण लिखता है कि राजा शंकर वर्मा के राज्यकाल में शाही राज्य के विपुल वैभव के वर्णन के बाद उस भूखण्ड को देख कर विचार करना पड़ता है कि वह विशाल शाही राज्य, वहाँ के राजा, परिजन, मन्त्री आदि कभी वहाँ थे भी या नहीं (राज 7 : 68–69)।

यद्यपि किसी न किसी भूखण्ड पर हिन्दू शाही वंशजों का अधिकार 11वीं तथा 12वीं शताब्दी तक बना रहा था पर इसके बाद हिन्दू शाही वंश समाप्त हुआ और उसके साथ अफगानिस्तान का शासक हिन्दू राज वंश भी समाप्त हो गया। शाही वंश ने अपनी गौरव गाथा, वीर गाथा इतिहास के दुखान्त अध्याय की तरह बन्द कर दी।

कल्हण ने शाही–वंशजों का जो विवरण दिया है उसके अनुसार शाही राजा के पुत्र रुद्रपाल आदि काश्मीर राजा के प्रिय मित्र थे। अत्यधिक वेतन ले कर वे राज्य धन का अपहरण करते थे। रुद्रपाल को प्रति दिन डेढ़ लाख दीनार मिलता था। रुद्रपाल ने काश्मीर राज की तरफ से दरदों तथा म्लेच्छों से युद्ध किया था। उसने शत्रु सेना को पराजित किया। म्लेच्छ अर्थात मुस्लिम राजे युद्ध में मारे गये। कालान्तर में रुद्रपाल लूता रोग से ग्रस्त हो कर मर गया। अन्य शाही पुत्र भी शीघ्र दिवंगत हो गये।

काश्मीर राज सभा में शाही वंशजों का आदर होता था। उन्हें कल्हण ने राजपुत्र विशेषण से सम्बोधित किया है। राजा कलश के मित्र शाही वंशीय राजपुत्र विज्ज, पित्थराज, पाज आदि थे। शाही वंश की कन्याओं का विवाह राज वंश में होता था। राजा हर्ष की रानी बसन्तलेखा शाही कुल की थी।

शाही वंश का राज्य शेष नहीं रह गया था तथापि देश में उनका आदर था। शाही वंश के पुरुष अपनी वीर परम्परा का निर्वाह करते थे। शाही राजकन्यायें राज कार्य में भाग लेती थीं। कल्हण लिखता है–शाही कुल में उत्पन्न रानियों ने हर्ष के पास संदेश भेजा कि मल्लराज. राजा के विरूद्ध षडयंत्र कर रहा है, उसकी यथाशीघ्र हत्या कर देनी चाहिये। राजा ने उसकी हत्या करा दी।

शाही वंश की रानियों की वीरता का उल्लेख करते हुए कल्हण लिखता है – 'जब शत्रु समीप आ गया तब रानियां व्याकुल हो गयीं। तत्काल शाही राजपुत्रियाँ तथा रानियाँ प्राण त्याग के लिये उत्सुक हो गयीं। हाथ में प्रज्जवलित मशालें ले कर शत्रुद्वार नामक हर्म्य चतुष्किका के ऊपर चढ़ गयीं। राजा हर्ष शत्रुओं से युद्ध कर रहा था परन्तु उसने संदेश भेजा कि रानियां अग्नि में प्रवेश न करें। राजा शत्रुओं पर काबू न पा सका। भयातुर हो कर उसने शतद्वार प्रांगण में प्रवेश किया। वह निराश था और कातर–दृष्टि से राजप्रासाद पर खड़ी रानियों की तरफ देखता था और रानियों को आग न लगाने का संकेत करता था।

वह राजप्रासाद के प्रांगण में भ्रमण कर रहा था। इसी समय राजप्रासाद के समीपस्थ मल्लराज के भवन में जनकचन्द्र ने आग लगा दी। पुत्र युवराज भोजदेव ने विजय की आशा न देख कर कुछ अश्वारोहियों के साथ द्वार पर खड़े अश्वारोहियों को चीरते हुए लोहर की ओर प्रस्थान किया। पुत्र को इस प्रकार जाता देख कर हर्ष की आंखों में आँसू आ गये। वह उसी ओर देख रहा था जिस ओर से युवराज गया था।

राजा हर्ष राजद्वार पर कुछ सैनिकों के साथ खड़ा हो गया। रानियों को आग लगाने के लिए तत्पर देख कर कुछ राजसेवक चिन्तित हुए। उन्हों ने बन्द द्वार तोड़ कर और उनके पास पहुँच कर उन्हें मृत्यु से विरत करने का प्रयास किया। वे चतुष्किका तोड़ने लगे पर उनका अभिप्राय रानियां समझ न सकी। शाही वंश की रानियों तथा अन्य सत्रह महिलाओं ने रक्षा का कोई उपाय न देख कर अग्निज्वाला में कूद कर अपने प्राण दे दिये (राज 5:1550–1571)।

शाही वंशज क्षत्री तथा भूमिहार आज भी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में फैले हैं परन्तु कितने जानते हैं अपने पूर्वजों का गौरवपूर्ण बलिदान, त्याग और अपनी बहनों और माताओं का अपूर्व उत्सर्ग।

इन शाही लोगों की गणना क्षत्रियों में होती थी यद्यपि मूलतः वे काबुल ब्राह्मण शाही वंशज थे। राज्य प्राप्त करने पर ब्राह्मण राजाओं तथा उनके वंशजों

ने याचक वृत्ति का त्याग कर अयाचक ब्राह्मण, महिवाल, त्यागी, भूमिधर एवं चितपावनों के समान हो गये थे। वैसे भी काश्मीर में जांत–पात का बंधन कभी कठोर न था और विभिन्न वर्णों में विवाह संबंध क्षत्रियों तथा राज वंशों में होते रहते थे।

ब्राह्मण राजा भी अपने नाम के साथ सिंह शब्द जोड़ते थे। यह प्रथा अभी प्रचलित है। भूमिहार आदि अपने को भूमिहार ब्राह्मण कहने पर भी कृषि, जमींदारी एवं शासन का कार्य करते रहे हैं। शताब्दियां बीतने पर वे अपने मूल रूप को भूल गये। यही कारण है कि उत्तर भारत की शाही जाति में भूमिहार ब्राह्मण तथा क्षत्री दोनों बड़ी संख्या में मिलते हैं। उनका संबंध उनके मूल स्थान से नहीं रहा। वे अपने ही घर में उजड़ गये अतएव उनकी परम्परा का भी लोप हो गया। वे देश में बिखर गये बिना जाने अपने गौरवशाली इतिहास को और केवल अल्ल नाम के शाही, साही या सूरशाही रह गये। (कल्हण कृत राजतरंगिणी एवं डा0 रघुनाथ सिंह द्वारा की गयी शोधों पर आधारित)।

(17) महथा

भारतवर्ष के मध्यकाल के इतिहास को देखने से पता चलता है कि मुगलकाल में ही नहीं बल्कि हर्षवर्धन के समय में भी राज्य शासन में लगे हुए अधिकारियों को कोई नकद वेतन नहीं मिलता था अपितु उन्हें राज्य की ओर से भरण पोषण के लिये भूमि मिली हुई थी जिसकी समस्त आय उनकी होती थी। राज्य की सम्पूर्ण आय का चौथाई भाग इस प्रकार राज्य के अधिकारी सेवकों के लिये नियत था।

राज्य प्रान्तों में बंटा था जिसके प्रान्तपति 'राजस्थानीय' नाम से जाने जाते थे। प्रान्तों में कई खंड थे जिन्हें भुक्ति कहते थे और उसका अधिकारी 'ओगिक' कहलाता था। इन भुक्तियों में अनेक विषय (आजकल के जिले) होते थे, जिनके अधिकारी 'विषयपति' कहलाते थे जो प्रायः प्रान्तपति द्वारा नियुक्त किये जाते थे। कभी कभी सीधे सम्राट द्वारा भी इनकी नियुक्ति होती थी। इनका प्रधान कार्यालय विषयाधिकरण कहा जाता था। प्रत्येक विषय में कई प्रथल होते थे जो कदाचित आज कल की तहसीलों के समान होते थे।

प्रशासन की सब से छोटी किन्तु सब से महत्वपूर्ण इकाई गाँव थी। गाँव का मुखिया और तमाम शासन का प्रधान 'महत्तर' कहलाता था। कहीं कहीं इसे चौधरी भी कहते थे। इसके प्रमुख कार्य थे गांव में शांति रखना, राजस्व की वसूली और अन्य स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति, ग्राम की भूमि तथा अन्य सम्पत्तियों से संबंधित कागजात भली प्रकार रखने के लिये 'ग्रामाक्ष पटलिक' नामक एक दूसरा अधिकारी हुआ करता था जो कदाचित उसका सहयोगी रहा होगा और बाद में पटेल कहलाया। शासन की अपनी इकाइयों में अक्ष पटलिकों

के प्रधान महाक्ष पटलाधिकृत कहलाते थे।

इस बात को देखते हुए कि खत्रियों की बहुत सी अल्लें स्पष्ट रूप से कार्य या कर्म प्रधान भी हैं यह संभावना भी प्रतीत होती है कि जो खत्री ग्राम शासन के प्रधान थे और जिनका पद कहीं 'महत्तर' या कहीं चौधरी का था वे ही बाद में अपने नाम के आगे महत्तर लगाने लगे और चौधरी या चद्धर लोग चौधरी की पदवी लगाने लगे। कालांतर में यही 'महत्तर' पद बिगड़ कर महथा या मेहता बन कर अल्ल रूप में रह गया। यह अनुमान केवल ध्वनि साम्यता पर ही आधारित है और इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है पर यदि महथा या मेहता अल्ल के खत्रियों के परिवारों का पूर्व इतिहास खोजा जाय तो इस बात के प्रमाण मिल सकते हैं कि उनके पूर्वजों में से कोई पूर्व काल के ग्राम शासन के प्रधान 'महत्तर' जैसे पद पर अवश्य आसीन रहा होगा। इसी प्रकार की स्थिति खत्रियों की अनेक कर्मवाचक अल्लों की हो सकती है किंतु उससे भी पूर्व में जाने पर उनका संबंध सूर्य, चन्द्र या अग्नि वंश से जुड़ना निश्चित है।

*****

अध्याय–6 क्षत्रिय (खत्रिय) जाति का उत्थान पतन

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और धर्म पुस्तकों, वेद, पुराण आदि को देखने से यही प्रकट होता है कि प्राचीन आर्य सभ्यता सिंधु और उसकी सहायक नदियों के मध्य की भूमि में पनपी। इसे वे पवित्र भूमि कहते थे। उत्तर प्रदेश से ले कर काबुल प्रदेश तक के बीच की भूमि में ही उसकी सभ्यता फैली थी और सारस्वत प्रदेश उसका केन्द्र था। वहीं से आगे बढ़ कर वे क्रमशः गंगा नदी के तटवर्ती स्थानों पर अधिकार करते और राज्य स्थापित करते गये। यदि इसे जल प्लावन की सुप्रसिद्ध पौराणिक घटना से जोड़ें तो स्पष्ट होगा कि जिस समय समुद्र की तरंगें हिमालय तक पहुँचती थीं उस समय यह प्रदेश भी जल मग्न हुआ होगा या उसके बाद जल घटने पर सबसे पहले यही भूमि प्रगट हुई जहाँ आर्य सभ्यता पनपी। बाद में समुद्र की तरंगे घटते घटते राजमहल तक आ गयी और जैसे जैसे जल घटने से धरती प्रगट होती गयीं, इस सभ्यता के राज्यों का विस्तार होता गया।

(1) पृथ्वी के प्रथम राजा पृथु – पृथ्वी को बसाने एवं कृषि तथा निवास योग्य बनाने का प्रयास

विष्णु पुराण में राजा वेन और पृथु के चरित्र के प्रसंग में यह वर्णन आता है कि 'अराजकता के समय (पृथ्वी के जलमग्न होने के समय) पृथिवी ने समस्त औषधियाँ अपने में लीन कर लीं (धरती के जलमग्न होने के कारण नष्ट हो गयीं)। अतः सम्पूर्ण प्रजा क्षीण हो गयी (भूखों मरने लगी)। प्रजा ने कहा– नृपश्रेष्ठ, जीवनदायक प्रजापति, आप क्षुधा रूप महारोग से पीड़ित हम प्रजा जनों को जीवन रूप ओषधि दीजिये। यह सुन कर महाराज पृथु अपना आजगव नामक दिव्य धनुष और दिव्य वाण लेकर अत्यन्त क्रोधपूर्वक पृथिवी के पीछे दौड़े। तब भय से अत्यन्त व्याकुल हुई पृथिवी गौ का रूप धारण कर भागी और ब्रह्म लोक आदि सभी लोकों में गयी। समस्त भूतों को धारण करने वाली पृथिवी जहां जहां भी गयी वहीं वहीं उसने वेनपुत्र पृथु को शस्त्र सन्धान किये अपने पीछे आते देखा (जहाँ जहाँ जलमग्न पृथ्वी की भूमि प्रगट होती गयी वहाँ वहाँ उसे पुनः कृषि एवं निवास योग्य बनाने का कार्य होता गया)। तब उन प्रबल पराक्रमी महाराज पृथु से, उनके वाण प्रहार (उद्योग) से बचने की कामना से कांपती हुई पृथिवी इस प्रकार बोली–"हे राजेन्द्र ! क्या आप को स्त्री वध का महा पाप नहीं दीख पड़ता (समस्त वनस्पति नष्ट करने का परिणाम नहीं दिखायी देता) जो मुझे मारने पर (समस्त वनस्पति नष्ट करने पर) आप ऐसे उतारू हो रहे हैं। हे नृपश्रेष्ठ ! यदि आप प्रजा के हित के लिये ही मुझे मारना चाहते हैं तो (मेरे मर जाने पर–अर्थात समस्त वनस्पति नष्ट हो जाने पर) आप की प्रजा का आधार क्या होगा? (वह किस प्रकार अपनी क्षुधा शान्त करेगी ?)

पृथु ने कहा– ""अरी वसुधे ! अपनी आज्ञा का उल्लंघन करने वाली तुझे मार कर मैं अपने योग बल (केवल सुनियोजित योजना के आधार पर) से ही इस प्रजा को धारण करूँगा।"

तब अत्यन्त भयभीत एवं कांपती हुई पृथिवी ने उन पृथिवीपति (आर्य सभ्यता के प्रतिनिधि) को पुनः प्रणाम कर के कहा– हे राजन ! यत्नपूर्वक आरम्भ किये हुए सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं। अतः मैं भी आप को एक उपाय बताती हूँ, यदि आप की इच्छा हो तो वैसा ही करें। हे नरनाथ ! मैंने जिन समस्त औषधियों को पचा लिया है उन्हें यदि आप की इच्छा हो तो दुग्ध रूप से मैं दे सकती हूँ। अतः हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाराज ! आप प्रजा के हित के लिये कोई ऐसा वत्स (बछड़ा) बनाइये जिससे वात्सल्यवश मैं उन्हें दुग्ध रूप से निकाल सकूँ और मुझ को आप सर्वत्र समतल कर दीजिये जिससे मैं उत्तमोत्तम औषधियों के बीज रूप दुग्ध को सर्वत्र उत्पन्न कर सकूँ (भूमि को समतल कर कृषि योग्य बनाने का यत्नपूर्वक उपाय कीजिये)।

(2) आर्य सभ्यता का विस्तार

तब महाराज पृथु ने अपने धनुष की कोटि से सैकड़ों हजारों पर्वतों को उखाड़ा और उन्हें एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया (जलमग्नता के बाद प्रगट हुई ऊबड़ खाबड़ धरती को समतल किया)। इससे पूर्व पृथिवी के समतल न होने से पुर और ग्राम आदि का कोई नियमित विभाग नहीं था (लोग एक स्थान पर रह नहीं पाते थे)। उस समय अन्न, गो रक्षा, कृषि और व्यापार का भी कोई क्रम न था। यह सब वेनपुत्र पृथु के समय से ही आरम्भ हुआ। जहाँ जहाँ भूमि समतल थी वहीं वहीं पर प्रजा ने निवास करना पसन्द किया। उस समय तक प्रजा का आहार केवल फल मूल आदि ही था, वह भी औषधियों के नष्ट हो जाने से बड़ा दुर्लभ हो गया था। तब पृथिवीपति पृथु ने स्वायम्भुव मनु को (मनुष्य जाति को) बछड़ा (साधन) बना कर अपने हाथ में ही (अपने योजना उद्योग से) पृथिवी से प्रजा के हित के लिये समस्त धान्यों को दुहा (कृषि प्रारम्भ करवायी)। उसी अन्न के आधार से अब भी सदा प्रजा (मनुष्य एवं प्राणि मात्र) जीवित रहती है।

महाराज पृथु प्राणदान करने के कारण भूमि के पिता हुए।[1] इस लिये उस सर्वभूत धारिणी को 'पृथिवी' नाम मिला।[2] अतः आर्य सभ्यता का विस्तार दर्पण की भाँति स्पष्ट है।

---

1. श्री विष्णु पुराण – प्रथम अंश– अध्याय–13 श्लोक 67–89
2. जन्म देने वाला, यज्ञोपवीत कराने वाला, अन्नदाता, भय से रक्षा करने वाला तथा जो विद्या दान करे – ये पांचों पिता माने गये हैं, जैसे कहा है :

सारस्वत प्रदेश से बढ़ कर गंगा नदी के तटस्थ स्थानों एवं उसके आगे राज्यों का विस्तार इसी प्रकार हुआ। कन्नौज को भी पांचाल की राजधानी पहले हर्षवर्धन ने सातवीं शताब्दी में, फिर मिहिरभोज और महेन्द्रपाल ने नवीं और दसवीं शताब्दी में बनाया। टाड राजस्थान में यह माना गया है कि सूर्य वंश के 40वें राजा अम्बरीष ने कन्नौज को बसाया था और इसी नगर का नाम गाधिपुर या गाधिनगर था। मिहिरभोज आदि सूर्य वंशी राजाओं के देवस्थान आज भी कन्नौज में हैं और वही देव स्थान आज भी सेठ, मेहरोत्रा और टंडन आदि खत्रियों के हैं। वहाँ प्रति वर्ष कुछ दूरस्थ खत्रिय मन्नत उतारने जाते रहे हैं। अयोध्या सूर्य वंशी इक्ष्वाकु की और मिथिला इक्ष्वाकु के पौत्र मिथिल की बसायी कही जाती है। आज भी बिहार प्रान्त में सर्वाधिक खत्री मिथिला में ही हैं। पुराणों के अनुसार राम चन्द्र जी के वंशज कुश के वंश में 58 पीढ़ी तक राज्य रहा और इसी वंश में सिख धर्म प्रचारक गुरु नानक जी वेदी खत्री हुए। लव वंश में कोई राजा न हुआ और सोढ़ी वंश में गुरु गोविन्द सिंह जी हुए।

(3) क्षत्रियों का दर्प

जिस प्रकार चन्द्र वंशी राजे राज्याधिकार धन–सम्पत्ति आदि से सम्पन्न हो गये थे उसी प्रकार सप्तर्षि वंश में भृगुवंशी भी दैत्य कुल से विपुल धन पा कर विशेष सम्पन्न और प्रभावशाली हुए थे। नहुष को ब्रह्मा जी ने वरदान दिया था कि "जिससे तेरा सामना होगा उसका तेज तुझ में आ जायेगा।" इससे नहुष को बड़ा गर्व हुआ और वह ब्राह्मणों पर भी अत्याचार करने लगा। यह भृगु जी के यजमान थे। भृगु ने देखा कि इसने सरस्वती तीर से अगस्त्य जी आदि को बुला कर सवारी में जोता, कोड़े मार कर तेज चलने को कहा और सिर में लात मारी तो भृगु जी ने श्राप दे दिया और वह सर्प हो गया। (महाभारत अनु)

(4) चन्द्र वंशी क्षत्रियों का दुस्साहस एवं उदण्डता

राजा नहुष की ऐसी दुर्गति देख कर चन्द्र वंशी राजे गुप्त भाव से अवसर देख रहे थे और इसकी हैहय और तालजंघ शाखायें उस समय बलिष्ठ हो रही थीं। राजा कृतवीर्य के हैहय वंशी राजाओं ने आपस में राय कर अपने पुरोहित भृगु जी से कहा कि ब्राह्मणों को धन से क्या काम, वह हमें दे दो, और बलपूर्वक उनसे धन ले भी लिया। वे यहीं तक नहीं रुके बल्कि उन्होंने ब्राह्मणों को मारना काटना आरम्भ कर दिया। यहाँ तक कि कुल पुरोहित का बीज नाश भी किया।

जनकश्चोपनेता च यश्च विद्याः प्रयच्छति।
अन्नदाता भयत्राता पंचैते पितरः स्मृताः।।

एक गर्भिणी विधवा ब्राह्मणी जिसने हिमालय की गुफाओं में आश्रय लिया था, उसे मारने भी अस्त्र शस्त्रों सहित वहाँ पहुँच गये। वे उस गर्भिणी को मारना ही चाहते थे कि माता की जंघा को विदीर्ण कर प्रलय काल के सूर्य सा तेज पुंज उदित हुआ। वहाँ गये हैहय गण उसी क्षण अंधे हो गये। उरु से उत्पन्न इस पुत्र का नाम और्व पड़ा। माता के कहने से उदार ह्रदय और्व जी ने उनका अपराध क्षमा कर आंख उन्हें दे दी। (परास्त करने के बाद भी जीवन दान दिया) किन्तु उन ब्रह्म द्रोहियों की आँख न खुली और उन्हों ने विरोध न छोड़ा। (महाभारत)

इन प्रबल प्रतापी चन्द्र वंशी उदण्ड हैहयों और तालजंघों ने जिस प्रकार गुरु कुल का विनाश किया था, उसी प्रकार सूर्य वंशी राजाओं पर भी चढ़ाई कर उनका राज्य छीनना आरंभ कर दिया था। सूर्य वंश के वृक का पुत्र बाहु नामक राजा हैहय और तालजंघी राजाओं से पराजित हो कर अपनी गर्भवती पटरानी के सहित वन में चला गया। अन्त में वृद्धावस्था के कारण और्व मुनि के आश्रम के समीप ही उसकी मृत्यु हुई और शोक सन्तप्ता रानी निराश्रित हो कर सती होने चली तो और्व ऋषि ने उसके गर्भ में चक्रवर्ती राजा के होने का विश्वास दिला कर गर्भस्थ बालक की रक्षा की और स्वयं उनके पुरोहित हो कर उस बालक को शास्त्र और शस्त्र की शिक्षा दी तथा यथोचित शास्त्र संस्कार कर उसका नाम 'सगर' रखा।

(5) सूर्य वंशी क्षत्रियों की विजय

बड़े हो कर सगर को अपने पिता के राज्य के चन्द्र वंशी हैहयों और तालजंघों द्वारा हरण की बात अपनी माता से मालूम हुई तो उसने उन सभी तालजंघ आदि क्षत्रियों को मार डालने का निश्चय किया। और्व जी का तो तालजंघों से सदा से ही द्वेष रहा था अतः उनसे प्राप्त प्रभाव एवं शक्ति से उसने प्रायः सभी हैहय एवं तालजंघ वंशीय राजाओं को नष्ट कर दिया।

(6) विदेशी जातियों का धर्म एवं जाति से बहिष्कार

इस समय तक भारत में शक, यवन, कम्बोज, पारद, हूण और पह्लव आदि जातियाँ आ चुकी थीं। इन्हीं जातियों ने हैहयों का साथ दिया था और उन्हीं के भरोसे उन्हों ने सर उठाया था। सगर ने राजाओं के पश्चात इन शक, यवन, कम्बोज, पारद और पह्लवगण को भी हताहत किया तो वे सगर के कुल गुरु वशिष्ठ जी की शरण में गये। वशिष्ठ जी ने उन्हें जीवन्मृत (जीते हुए ही मरे के समान) कर दिया और सगर से कहा कि–"बेटा! इन जीते जी मरे हुओं का पीछा करने से क्या लाभ है? देख तेरी प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये मैंने इन्हें स्वधर्म और द्विजातियों के संसर्ग से वंचित कर दिया है। राजा ने 'जो आज्ञा' कह कर गुरु जी के कथन का अनुमोदन किया और उनके वेष बदलवा दिये।

(7) म्लेच्छ व वृषल जातियाँ

"उसने यवनों के सिर मुंडवा दिये, शकों को अर्ध मुंडित कर दिया, पारदों के लम्बे लम्बे केश रखवा दिये, पहलवों के मूँछ दाढ़ी रखवा दी तथा इनके समान अन्य क्षत्रियों को भी स्वाध्याय और वषटकारादि से वंचित कर दिया। अपने धर्म को छोड़ देने के कारण ब्राह्मणों ने भी इनका परित्याग कर दिया, अतः ये म्लेच्छ हो गये।[1] संस्कार हीन होने से ये जातियाँ वृषल हो गयीं थीं और धर्म से बहिष्कृत कर दी गयी थीं।

(8) क्षत्रियों का ब्राह्मणों से वैर व उसका परिणाम

कितने ही क्षत्रिय जमदग्नि ऋषि को मार कर परशुराम के भय से पर्वतों की खोह में जा छिपे। उनके भय से उन्होंने अपने क्षत्रियोचित संस्कारों को भी त्याग दिया –

तेषां स्वविहितं कर्म तद् भयान्नानुतिष्ठिान।
प्रजा वृषलतां प्राप्तां ब्राह्मणा नाम दर्शनात।। (15)
(महाभारत अश्वमेध – अध्याय 30)

कुछ दिन बाद ये हिन्दुओं के साथ रह कर उन्हीं का गोत्र भी कहने लगे। उन्होंने अपना नाम, चाल व्यवहार सभी बदल दिया था।[2]

ब्राह्मणों से जो यह वैर प्रारम्भ हुआ तो उसने फिर क्षत्रियों को शीघ्र सिर नहीं उठाने दिया किन्तु परशुराम ने सभी क्षत्रियों को नहीं, बल्कि उन्हीं चन्द्र वंशी हैहयों और उनके उन साथियों को, जो क्षात्र धर्म को त्याग कर दस्यु वृत्ति करने लगे थे, उन्हीं से परशुराम जी ने पृथ्वी को शुद्ध किया था।

मत्स्य पुराण के अध्याय 50 में यह भी उल्लेख है कि ब्राह्म वैर की अग्नि जो भीतर ही भीतर सुलग रही थी (विश्वामित्र और वशिष्ठ की)[3] वह शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के विरोध से भभक उठी और काफी समय तक यह वैमनस्य चलता रहा।[4] ब्राह्मणों और क्षत्रियों के उपरोक्त मनमुटाव से भी घोर

1. विष्णु पुराण–चतुर्थ अंश–अध्याय–3, श्लोक 26–48
2. दि हिन्दू हिस्ट्री– ए0के0 मजूमदार पृष्ठ 76
"The latter Scythians (Sakas) were generally notrious for their corrupt outlandish manners. So they lived long aloof-thus gradual adoption of Hindu manners smoothened their way to Hindu recognition. Thus the Hunas, the Kushanas, the mongoloids became absorbed in the Hindu population."
3. ऋग्वेद के मंडल 3 – अध्याय–4 का सूत्र 53 इसी से संबंधित कहा जाता है।
4. महाभारत–वन पर्व 11 अ0

युद्ध आरम्भ हो गया, जिससे भृगुंओं के साथ हैहयों का द्वेष और भी बढ़ गया। और्व ऋषि के प्रपौत्र परशुराम और हैहयों के राजा अर्जुन जिसका उप नाम सहस्त्रबाहु भी था, भिड़ गये।[1] यह युद्ध गुणावती के उत्तर खाण्डवारण्य स्थित टीले पर हुआ। इसमें सहस्त्रार्जुन मारा गया और उसी वैर से धर्म मूर्ति हैहय वंशी यजमानों ने पुराना वैर चुकाने के लिये चुपचाप आ कर हवन कुंड के सामने भगवान के ध्यान में लीन जमदग्नि ऋषि (परशुराम के पिता) का वध कर अक्षय पुण्य संचय किया। अपनी माता रेणुका से इक्कीस दफा छाती पीट पीट कर इस कथा को सुनने के पश्चात परशुराम ने प्रण कर इक्कीस बार चन्द्र वंशी हैहय वंशी क्षत्रियों को मार कर कुरुक्षेत्र में पांच तालाब उन क्षत्रियों के रुधिर से भर कर स्नान कर, पृथ्वी कश्यप को दें, मदान्ध क्षत्रियों का दर्प चूर्ण किया। यह नया वैर इन हैहयों ने स्वयं ही प्रारम्भ किया था, क्योंकि परशुराम द्वारा अपने पिता सहस्त्रार्जुन का वध करने के बदले में सहस्त्रार्जुन के पुत्रों ने परशुराम के पिता जमदग्नि को मार डाला था।

इस क्षत्रिय वध लीला के समय भी कुछ वृद्ध स्त्री और बालकों की रक्षा सारस्वत ब्राह्मणों तथा सुधर्मा नामक वैश्य ने की और परशुराम जी से निवेदन किया था कि ये बालक क्षात्र धर्म को त्याग कर वैश्य धर्म का पालन करेंगे और कालांतर में वे व्यापार भी करने लगे।

(9) क्षत्रियों का आपसी युद्ध

धीरे धीरे वह दिन भी आया कि सब क्षत्रिय आपस में ही लड़ कर कट मरे और वह युद्ध था महाभारत का। कौरवों और पांडवों के इस युद्ध में भारत के अतिरिक्त बिलोचिस्तान, चीन तथा अन्य स्थानों से भी आये क्षत्रियों का सर्वनाश हुआ। महाभारत के सौप्तिक वध 48/49 के अनुसार अश्वत्थामा ने वध के पश्चात दुर्योधन से आ कर कहा था कि अब पांडवों के 7 और कौरवों के 3 वीर पुरुष ही शेष बचे हैं। इस महाभारत युद्ध का अवसान होने पर क्षत्रियों का सौभाग्य सूर्य अस्ताचल गामी हो गया। मोहान्धकार एवं राजद्वेष से अराजकता फैलने लगी और राजा क्षेमक से चन्द्र वंशियों के राज्य का अन्त हो गया तथा जरासिन्धु के वंश में राज्य चला गया।

(10) बौद्ध एवं जैन धर्म का उदय

तत्पश्चात शक जाति के राजा शुद्धोधन के 567 ई0पू0 जन्मे पुत्र गौतम बुद्ध का बौद्ध धर्म फैलने लगा जो वैदिक धर्म के प्रतिकूल था। इसी समय 547 ईसवी पूर्व में वैशाली के लिच्छवि क्षत्रिय (खत्रिय) घराने में (अथवा खत्रिय कुंड

1. श्रीमद्भागवत – नवम स्कन्ध – अध्याय 15 एवं 16

जिला मुंगेर में) जन्मे महावीर तीर्थकर का जैन धर्म भी ब्राह्मण धर्म के प्रतिकूल शिक्षा देने लगा। बौद्ध धर्म में जाति–पाँति का विचार नहीं था और सभी वर्ण के लोग बौद्ध भिक्षु हो कर आदर के पात्र समझे जाने लगे थे। खानपान का विचार जाता रहा। आश्रम व्यवस्था बिगड़ गयी। सनातन धर्म के लिये यह विकट समस्या थी क्योंकि सभी जातियां धड़ा धड़ बौद्ध धर्म में जा रही थीं। स्वयं क्षत्रिय वंशज बुद्ध देव ने अपने बौद्ध धर्म के कारण क्षत्रिय जाति के पैर में ऐसी कुल्हाड़ी मारी कि फिर वे उठ न सके। अनेकानेक क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रों ने इस धर्म में जा कर एक मंडली बना ली। क्रमशः इसका बल बढ़ता गया और सभी वर्ण के लोग इस नये धर्म में आने लगे। पांचवी–दसवीं शताब्दी के मध्य में सारे संसार के लगभग आधे मनुष्य बौद्ध धर्मावलम्बी हो गये।[1]

(11) वैदिक धर्म का पतन

भारत में बौद्ध राजा और बौद्ध धर्मावलम्बी बड़े बड़े लोग और प्रजा की बलवान मण्डली एक ओर बढ़ने लगी तो दूसरी ओर वैदिक धर्म निर्बल होने लगा। ब्राह्मणों के प्रति श्रद्धा घटने लगी। चातुर्वर्ण्य धर्म त्याग सब बातों में होने लगा। ऐसे कठिन समय में कुछ कट्टर वैदिक धर्मावलम्बी द्विज तो अपने धर्म पर आरूढ़ रहे और बहुतेरे जैन और बौद्ध धर्म में परिवर्तित हो गये। इस प्रकार सभी द्विजातियों के दो दल हो गये। फलतः क्षत्रियों के भी दो दल हुए। 1. वैदिक क्षत्रिय, 2. बौद्ध क्षत्रिय।

इन धर्मों के प्रवर्तकों के जन्म के लगभग एक शताब्दी से कुछ अधिक समय बाद ही 413 वर्ष ईसवी पूर्व में शिशुनाग वंश के अंतिम राजा नन्द के पुत्र महापद्मनन्द का जन्म शूद्रा स्त्री से हुआ।[2] इसके सम्बन्ध में विष्णु पुराण में निम्नलिखित भविष्यवाणी लिखी है :

(12) क्षत्रियों का विनाश

ये शिशुनाग वंशीय नृपतिगण 362 वर्ष पृथिवी का शासन करेंगे। महानन्दी के शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न महापद्म नामक नन्द दूसरे परशुराम के समान सम्पूर्ण क्षत्रियों का नाश करने वाला होगा। तब से शूद्र जातीय राजा राज्य करेंगे। एक महापद्म संपूर्ण पृथ्वी का एक छत्र और अनुल्लंघित राज्य शासन करेगा। उसके सुमाली आदि आठ पुत्र होंगे जो महापद्म के पीछे पृथिवी का राज्य भोगेंगे। महापद्म और उसके पुत्र सौ वर्ष तक पृथिवी का शासन करेंगे। तदनन्तर इन

1. हिस्ट्री आफ इण्डिया – आर0सी0 दत्त। इसमें संसार के धर्मों की लगभग संख्या इस प्रकार दी है (वर्ष 1920 में) यहूदी 70 लाख, ईसाई 32 करोड़ 80 लाख, हिन्दू 16 करोड़, मुसलमान 15 करोड़ 50 लाख, बौद्ध 50 करोड, अन्य 10 करोड़,– योग 1 अरब 25 करोड़।
2. मत्स्य पुराण – अध्याय 272

नवों नन्दों को कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण नष्ट करेगा। उनका अन्त होने पर मौर्य नृपति गण पृथिवी को भोगेंगे। कौटिल्य ही (मुरा नाम की दासी से नन्द द्वारा) उत्पन्न हुए चन्द्रगुप्त को राज्याभिषिक्त करेगा।[1]

(13) वृषल जातियों का क्षत्रियों से प्रतिशोध

यथार्थ में ऐसा ही हुआ भी। 372 ईसवी पूर्व में महापद्म नंद बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। वह पंजाब के छोटे–छोटे राज्यों को छीनता हुआ कत्ल करता पूर्व की ओर बढ़ा। क्षत्रियों का एक प्रकार से उसने नाश ही कर दिया। क्षत्रिय इधर उधर भागते और छिपते रहे। दूर दूर प्रदेशों में उनकी जातियाँ फैल गयीं और उसका राज्य पंजाब से बंगाल के अन्तिम किनारे तक फैल गया। इन नन्दों के जमाने में बौद्ध धर्म और भी बढ़ा और ब्राह्मण धर्म घटता ही गया। पूर्व में वृषल और जंगली कहलाने वाली जातियाँ तथा ये नौ नंद ब्राह्मणों और क्षत्रियों से बदला लेने लगीं पर साधारण प्रजा राजा से अप्रसन्न थी क्योंकि एक तो राजा का स्वभाव खराब था दूसरे यह समझा जाता था कि वह राजा का पुत्र न हो कर नाई का पुत्र है और राजा के असली पुत्रों का हक छीन कर राज्य दबा बैठा है। फिर आया चन्द्र गुप्त। चाणक्य उसे 'वृषल' कह कर पुकारा करता था। वह एक बलिष्ठ राजा था और उसके पौत्र अशोक के समय में तो बौद्ध धर्म, राज्य धर्म ही हो गया।

चन्द्रगुप्त के पूर्वज नौ नन्दों को मार कर चाणक्य ने उसे गद्दी पर बिठाया था। वह क्षत्रियों को अपने साथ मिलाने तथा रोटी बेटी का व्यवहार करने के लिये बाधित करने लगा और न मानने पर उन्हें निर्मूल करने पर उतारू हो गया। फलतः कितने ही तो मारे गये, कुछ ने राजा का साथ दिया और कितने ही पंजाब और हिमालय की तराई में जा छिपे।

(14) क्षत्रियों द्वारा वंशनाम परिवर्तन

युक्त प्रदेश, मगध आदि स्थानों के वैदिक धर्मावलम्बी क्षत्रिय पंजाब पहुँचे। वहाँ उनकी संख्या अधिक थी। वहाँ उन्हों ने अपने सारस्वत पुरोहितों से राय की और शत्रु के भय से पूर्व पुरुषों के रक्त की शुद्धता की रक्षा के लिये अपने प्राचीन सूर्य चन्द्र आदि वंश नाम बदल कर मिहरोत्रे, कर्पूर, बाहुजाई आदि नाम रख लिये। उस समय क्षत्रिय न कह कर खत्रिय जाति, नाम तो कहते ही थे। अग्रवाल वंशज भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'खत्रियों की उत्पत्ति' में यही लिखा है कि – "क्षत्री और खत्री में भेद राजा चन्द्रगुप्त के समय में हुआ। चन्द्रगुप्त शूद्रा के पेट से था। जब चन्द्रगुप्त यहाँ का राजा हुआ तो सब क्षत्रियों से रोटी और बेटी का व्यवहार खोलना चाहा, यह न करने से संहार

1. विष्णु पुराण– 4/24/19–28

करना आरम्भ किया तो ये सब क्षत्रिय खत्री कह कर बनिये बन गये।

कठिन परिस्थितियों में वंशनाम परिवर्तन के भी अनेकों उदाहरण हैं और अपना मुख्य पेशा बदल लेने की भी सैकड़ों घटनायें हैं। कपिलवस्तु में बसने वाली गौतम बुद्ध की क्षत्रिय जाति शाक्य अपने वंश की रक्त शुद्धता पर बहुत गर्व करती थी किन्तु जब विद्युदाय ने उसका अस्तित्व ही समाप्त करना चाहा तो उन्हों ने अपना वंश नाम ही बदल लिया। इसका कारण यह था कि शाक्यों ने उसके पिता कोशलराज के पास शाक्य राजकुमारी के नाम पर एक शूद्र कन्या (विडूडभ की माँ) उससे विवाह हेतु भेज दी थी और इसी अपमान का वह बदला लेना चाहता था। मौर्य (मयूर–मोर) इन्हीं शाक्यों के वंशज थे। मुस्लिम काल में भी राजपूत राजागण इसी प्रकार वंचनापूर्वक दासी पुत्री तथा कुल की अन्य कन्याओं को मुस्लिम बादशाहों एवं नवाबों के साथ विवाह कर अपने सम्मान की रक्षा करते थे पर मेवाड़ के राणाओं ने सात शताब्दियों तक अपने वंश की कन्याओं का डोला मुस्लिम बादशाहों को नहीं दिया और अपना मनोबल बनाये रखा। अतः परशुराम के भय से यदि कुछ क्षत्रियों ने अपने वंशनामों में परिवर्तन किया तो उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

(15) क्षत्रियेतर जातियों का आधिपत्य एवं जाति समिश्रण

क्षत्रियों का राज्य रहते समय तक विदेशियों की भारत पर चढ़ाइयाँ भी न हो पायी थीं। स्वयं सिकन्दर पंजाब में क्षत्रिय (खत्रिय) राजा पुरु से युद्ध होने के पश्चात क्षत्रियों का पराक्रम देख कर ही वापस लौट गया था। क्षत्रियों का तेज घटने और सनातन धर्म का ह्रास होते ही बाहरी आक्रमण भी होने लगे। इस काल की भविष्यवाणी विष्णु पुराण में इस प्रकार दी है :

"मगध में विश्वस्फटिक नामक राजा अन्य वर्णों को प्रवृत्त करेगा। वह कैवर्त, वटु, पुलिन्द और ब्राह्मणों को राज्य में नियुक्त करेगा। सम्पूर्ण क्षत्रिय जाति को उच्छिन्न कर पद्मावती पुरी में नाग गण तथा गंगा के निकटवर्ती प्रयाग और गया में मागध और गुप्त राजा लोग राज्य भोग करेंगे।" और इसी प्रकार अन्य प्रदेशों एवं उनके शासक राजाओं की सूची देते हुए कहा गया है कि इनमें गुह नरेश, मणिधान्यक वंशीय, व्रात्य, द्विज, आभीर, म्लेच्छ, शूद्र आदि राजाओं का आधिपत्य होगा जो सब एक ही समय में होंगे।"[1] और यथार्थ में ऐसा ही हुआ।

इन विदेशी आक्रमणों का तो पूरा इतिहास ही है। शक, यूची आदि

1. विष्णु पुराण – चतुर्थ अंश – अध्याय–24 श्लोक 61–70
2. हूण जाति चीन की सीमा पर बसती थी। इसका अपनी पड़ोसी घुमक्कड़ जाति (nomadic tribe) यूह ची से झगड़ा होता रहता था।

जातियाँ भारत में बाहर से आयीं[2] और हिन्दुओं के साथ मिल कर हिन्दू हो गयीं और शक तथा हूण विजेता क्षत्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध करके क्षत्रिय कहलाने लगे। यही देख कर सी. कालिन्स डेवीज ने भी लिखा है –

"कट्टर हिन्दू दृष्टिकोण के अनुसार राजपूत ही वैदिक भारत के क्षत्रियों के प्रत्यक्ष वंशज हैं लेकिन यह दावा संदेहास्पद वंश परम्परा पर आधारित है। प्राचीन भारत के क्षत्रिय तो इतिहास से लुप्त ही हो गये और इसका कारण शायद मध्य एशिया से हुए आक्रमणों में खोजा जा सकता है जिन्हों ने प्राचीन हिन्दू वर्ण व्यवस्था को नष्ट कर दिया। सामान्यतया यह स्वीकार किया जाता है कि यूह ची और हूण जैसे आक्रान्ता बहुत तेजी से हिन्दू समाज में घुल मिल गये और उनके नेताओं ने क्षत्रिय वर्ण अपना लिया तथा उन्हें क्षत्रिय स्वीकार भी कर लिया गया। इस मिलावट के बाद नये शासकों के साथ साथ एक नयी हिन्दू वर्ण व्यवस्था उत्पन्न हो गयी और हमलावरों के परिवारों को, जो अब सबसे उच्च वर्ग के हो गये थे, क्षत्रिय या राजपूत मान लिया गया। यहाँ यह भी नहीं भूलना चाहिये कि बाद के वर्षों में तथाकथित आदिवासी जातियों के अनेक मुखिया सरदारों ने भी राजपूत होने का सेहरा पहन लिया।"[1]

(16) संस्कार द्वारा बनाये गये क्षत्रिय

भारतवर्ष के इतिहास की कई पुस्तकों में [2] आबू पहाड़ पर यज्ञ करने और चार प्रकार के क्षत्रियों के उत्पन्न होने व संस्कार द्वारा क्षत्रिय बनाये जाने की बात लिखी है। कहा जाता है कि आबू पहाड़ पर वशिष्ठ आश्रम के पास स्थित गौमुख मंदिर ही वह स्थल है जहाँ यज्ञ करके राजपूतों के चार अग्नि कुलों की उत्पत्ति करायी गयी थी। जिस समय वैदिक धर्मानुरागियों पर बहुत सी आपत्तियाँ आयी थीं उस समय बौद्धों को परास्त करने के लिये ब्राह्मणों ने आबू पहाड़ पर यज्ञ किया था जिससे चार वीर पुरुष हुए। इनके नाम परमार, पड़िहार, सोलंकी [3] और चौहान हैं। ये जातियाँ वर्तमान समय में राजपूत जातियों में पायी जाती हैं। [4] फिर इनसे 36 प्रकार के क्षत्रिय और बने। इन लोगों ने धीरे धीरे राज्य

1. ऐन हिस्टारिकल ऐटलस आफ दि इंडियन पेनिनसुला–सी. कालिन्स डेवीज, प्रोफेसर इन इंडियन हिस्ट्री, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, पृष्ठ–2
2. टाड राजस्थान, हिन्दू हिस्ट्री–ए.के. मजुमदार–पृष्ठ 495, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया; खत्री जाति परिचय, खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ–189
3. सोलंकी ही 'चालुक्य' भी कहे जाते हैं जिनके बारे में यह कहा जाता है कि अग्नि कुंड से उत्पत्ति के समय उनका सृजन हाथ से बनाये गये चुल्लू में किया गया था। – दि ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज ऐंड अवध– विलियम क्रुक – खण्ड 4– पृष्ठ 325 तथा लखनऊ गजेटियर (1959) पृष्ठ 29
4. प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डाक्टर डी0आर. भंडारकर का कहना है कि सिद्धान्ततः राजपूत जातियों / वंशों में ब्राह्मण गोत्र नहीं लगाये जाते।

स्थापित किये और वैदिक धर्म में आने लगे। धैर्य, साहस और वीरता ने इनका साथ दिया। इस प्रकार क्षत्रियों के तीन दल हो गये– 1. वे वैदिक क्षत्रिय जो गौतम बुद्ध और चन्द्रगुप्त के उपद्रवों को सहन करते हुए वैदिक धर्म पर दृढ़ बने रहे। 2. ऐसे क्षत्रिय जो बौद्ध धर्म से पलट कर कुछ वैदिक धर्मावलम्बियों से आ मिले। 3. वे जो संस्कार द्वारा क्षत्रिय बनाये गये।

इनमें से पहले प्रकार के विशुद्ध क्षत्रिय वंशज समस्त उत्पातों से बच कर स्वदेश और राज्य के परहस्तगत होने के कारण शत्रु भय से पीड़ित, अपने पुरोहित सारस्वत ब्राह्मणों के आश्रित हो अपने भाइयों से मिल गये और कुछ जंगलों, पहाड़ों में पशुपालकों की बुरी दशा में जीवन रक्षा करते रहे और वहीं के अधिवासी हो गये। चम्बे आदि के पहाड़ों में जंगली जाति गद्दी के नाम से प्रसिद्ध पशुपालक एक ऐसी ही क्षत्रिय जाति के हैं जो पहाड़ों और जंगलों के ही अधिवासी हो गये। उनके पुरोहित उनके विवाह आदि संस्कार आज भी वेद मंत्रों से ही कराते हैं। वे अपने को भूले नहीं हैं और वास्तव में प्राचीन क्षत्रिय वंशज ही हैं। वे अपने पूर्वजों को लाहौर, अमृतसर आदि के निवासी बताते हैं। उनमें कितने तो ऐसे भी हैं जो मुसलमानी उपद्रवों के समय वहाँ जा बसे थे।[1] मुसलमानी राज्य के समय में भी पंजाब के खत्रियों और ब्राह्मणों को अनेक कष्ट भोगने पड़े थे और दीन इस्लाम को न मानने पर कितने ही मारे गये थे और गुरु गोविन्द सिंह जी के दो लड़के दीवारों में चुन दिये गये थे।[2]

इस सम्बन्ध में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देखना भी आवश्यक है। इस धरती से क्षत्रिय जाति का कभी लोप नहीं हुआ था। परिस्थितियों वश उन्हें समय समय पर इधर उधर भागना अवश्य पड़ा किन्तु जितने लोग अपनी रक्त शुद्धता सुरक्षित रखने के लिये इधर उधर गये उनसे अधिक भारत के उत्तर पश्चिम से आने वाले विदेशी क्षत्रियों में घुल मिल गये। अग्नि कुल की परम्परा और अग्नि कुंड से क्षत्रिय/राजपूतों की उत्पत्ति का सम्बन्ध ऐसे ही विदेशियों से है जो बाहर से आ कर भारतीय समाज में घुल मिल गये और अंततः उन्हें हिन्दू समाज में स्वीकार कर लिया गया। सामाजिक व्यवस्था में उन्हें सैनिक जाति या राजा का दर्जा दिया गया। इसमें कोई नयी बात नहीं थी। इसके भी पूर्व उशवदत्त एवं ऋषभदत्त जो शक थे, ब्राह्मण पुरोहितों को स्वर्ण मुद्रायें दे कर ब्राह्मण बने थे और उन्हों ने ब्राह्मण कन्याओं से विवाह किया था। उन्हें तीर्थराज पुष्कर में ब्राह्मण बनाया गया था। उससे भी पूर्व शुंग राजा भागभद्र के दरबार में यूनानी राजदूत ने विष्णु के सम्मान में विदिशा (मध्य प्रदेश) में गरुड़ ध्वज स्थापित किया था। सभी जातियों ने मिल कर एक समय रुद्रदमन को अपना शासक चुना था जो संभवतः शक ही था क्योंकि इसने अपने शिलालेखों में शक संवत का प्रयोग किया है। पह्लव भी इसी प्रकार हिन्दू समाज में स्वीकार किये गये थे। यद्यपि

1. एथनोलाजी
2. तजकीर उल उम्र, तबका तान ए सरी।

कहीं कहीं वैदिक क्षत्रियों (खत्रियों) के राज्य मौजूद थे, जैसे सन 550 ईसवी में कन्नौज को राजधानी बना कर राजा ईशान वर्मा, मौखरी खत्री राज्य कर रहा था। इस मौखरी खत्री वंश का शासन भी सन 606 ईसवी तक रहा पर इस समय तक वैदिक क्षत्रियों का राज्य एक प्रकार से समाप्त हो चला था और बौद्ध धर्म के उदय से वैदिक धर्म भी ह्रास को प्राप्त हो रहा था। वैदिक क्षत्रिय राजाओं द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने से एक ओर तो जहाँ वैदिक धर्म का संरक्षण समाप्त हुआ वहीं विदेशी आक्रांताओं ने इन्हीं बौद्ध राजाओं को अपदस्थ किया और स्वयं राजा बन गये। धीरे धीरे शकों के अनेक राज्य स्थापित होने लगे। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ले कर ईसा की सातवीं शताब्दी तक स्थिति यह थी कि ब्राह्मण वर्ग हर ऐसी जाति का समर्थन करने को तैयार था, चाहे वह भारतीय हो या विदेशी, जो उनके विरोधियों को हटा सके। ऐसी ही परिस्थिति में राजपूत (संस्कृत राजपुत्र)[1] की उपाधि संभवतः इन्हीं ब्राह्मणों द्वारा इन नये शासकों को प्रदान की गयी। कई पीढ़ियों तक शासन करने के बाद इन लोगों द्वारा राजपूत को ही एक नयी क्षत्रिय जाति बना लिया गया। ऐसे लोगों के लिये किसी जाति का सरदार या मुखिया होना, किसी फौज का सेनापति होना और उसके पास पर्याप्त जमीन होना तथा विवाह, घरेलू रीति रिवाज तथा अन्य वर्गों से सम्पर्क के सम्बन्ध में ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करना ही काफी था। कोई भी राजपूत जाति ईसा की पांचवी सदी से पूर्व अपनी वंशावली की बात नहीं करती। उसके पूर्व इनका अस्तित्व ही नहीं था। तथाकथित अग्नि कुल के चार प्रमुख वंश अपना मूल ब्राह्मणों द्वारा किये गये इस विशिष्ट कार्य से ही बतलाते हैं जिसके अन्तर्गत सूर्य और अग्नि की पूजा करने वाले हूणों और गुर्जरों को

1. चन्द्र वंश में चन्द्रमा पुत्र बुध को मत्स्य पुराण में 'राजपुत्र' कहा गया है। संभवतः इसी राजपुत्र शब्द से 'राजपूत' शब्द की उत्पत्ति हुई और नये शासक वर्ग को राजपूत (संस्कृत राजपुत्र) की उपाधि दे दी गयी। कुछ विद्वानों का यह भी अनुमान है कि राजपूतों के बाद उत्तर भारत में तुर्क प्रशासन स्थापित हो जाने और हिन्दू राज परिवारों की शक्ति और वैभव के समाप्त हो जाने के उपरान्त भी उनके उत्तराधिकारी सामान्यजनों द्वारा राजपूत अथवा महाराज जैसी प्राचीन प्रचलित संज्ञाओं द्वारा सम्मानित होते रहे। इस प्रकार हिन्दू समाज में एक नये राजपूत वर्ग की उत्पत्ति हुई जिसे तुर्कों द्वारा राजपुत्र के बिगड़े हुए रूप 'राजपूत' की संज्ञा प्रदान की गयी। राजपूतों का यह नया वर्ग उत्तरी भारत के ही कुछ भागों, आधुनिक राजस्थान, मालवा, गुजरात, बुंदेलखण्ड आदि तक ही सीमित रहा, जहाँ उस समय चाहमान (चौहान), परमार, चालुक्य, चंदेल और गहड़वाल नामक क्षत्रिय राज वंश शासन कर रहे थे और जो तुर्कों के विरुद्ध लगातार संघर्ष करते रहे। दक्षिण भारत में राजपूत शब्द उत्तर भारत की तरह जनप्रिय न हो सका। फिर भी राजपूतों की उत्पत्ति के संबंध में इतिहासकारों एवं विद्वानों के बीच मत मतान्तर काफी हैं और अभी तक उनमें मतैक्य नहीं हो सका है किन्तु इतना निश्चित है कि प्राचीन काल में 'राजपुत्र' शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये ही होता था जिन्हें उस समय राजन्य भी कहते थे। इसकी पुष्टि पाणिनि, भवभूति आदि के ग्रन्थों से भी होती है, जिन्हों ने राजपुत्र एवं राजपुत्री का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

राजपूताना के शासक वर्ग में प्रविष्ट किया गया था और वह सिसोदिया, चौहान, परमार, परिहार और सोलंकी या चालुक्य तथा संभवतः कच्छवाह शाखा के भी पूर्वज हुए। इन राजपूत वंशों का छठी शताब्दी में हूण साम्राज्य के पतन के कुछ समय पश्चात ही प्राधान्य हो गया। इस लिये राजपूतों की वंश परम्परा लगभग सातवीं शताब्दी से शुरू होती है। इसके बाद मुसलमानों के जो आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हुए और कुछ शताब्दियों तक जारी रहे, उसकी वजह से राजपूत अब ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित धर्म के पालन में और भी अधिक कट्टर हो गये। जहाँ ब्राह्मणों का प्रभाव ज्यादा था वहाँ धर्म के परिवर्तन से भी जाति के नियमों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अतः विदेशियों को भारतीय या हिन्दू समाज में मिलाने की प्रक्रिया निरन्तर जारी रही जिसका क्रम कभी बन्द नहीं हुआ। इस लिये क्षत्रिय जाति में समय समय पर जो वर्ग बनते गये उनमें उनके व्यवसाय, आचार विचार, व्यवहार तथा परम्पराओं में अन्तर बढ़ते गये। पहले जो क्षत्रिय राज्य करते थे और युद्धों में भाग लेते थे उनकी जगह नये क्षत्रिय बने समूहों ने ले ली जो अधिक उत्साही थे। हिन्दू वैदिक धर्म का पुनरुत्थान भी इन्हीं नये क्षत्रियों ने किया। इस विषय में शोध करने वाले कुछ विद्वानों ने पाया था कि एक समय जो क्षत्री (खत्री) बौद्ध मत के हो गये थे और पुनः संस्कार द्वारा दीक्षित हो कर क्षत्री हुए वह आज भी राजपूतों में मौजूद हैं और उनकी अल्लें इस प्रकार की हैं जैसे धवन से धान, भसीन, मेहरा, महेन्द्र से मेन्द्र, टण्डन से टन्नान, खन्ना, भंडारी से भंडारिया, अरोड़ा से रोड़ा इत्यादि। इस प्रकार पूर्व के विशुद्ध क्षत्रिय, मध्य के क्षत्रिय और समय समय पर भारत आने वाले विदेशियों के वंशज, ये तीन वर्ग हो गये। यही देख कर विदेशियों ने लिख मारा– "हम लोगों की आँखों के सामने ही सैकड़ों वर्ष से 'छत्री' (राजपूत) बनने की टकसाल बराबर जारी है और दो हजार वर्ष पूर्व की दशा भी वैसी ही होगी।"[1] ये राजपूत तो खेती भी करते थे और सैनिक का पेशा इन्हों ने अपनी आजीविका के रूप में अपनाया था। कुछ ने इसे एथनोलाजिकल पज़ल **(Ethnological puzzle)**[2] कह कर छोड़ दिया और कुछ ने कहा कि क्षत्रिय नाम तथा अल्ल नाम धारी कई जातियाँ हैं, उन सबकी उत्पत्ति एक समान नहीं है।[3]

जैसा कि उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि यह कहना बिल्कुल सत्य है कि खत्रिय, छत्री, या क्षत्री कहलाने वाली सभी जातियों की उत्पत्ति एक समान नहीं है परन्तु प्रमाण और ऐतिहासिक तथ्य अपनी जगह हैं। उन्हें झुठलाया नहीं जा

1. कास्ट सिस्टम–जे0सी0 नेसफील्ड – पृष्ठ 17
2. एच0ए0 रोज–जनगणना आयुक्त, पंजाब
3. It is evident, I think that admitting the term Khatri to be derived from Kshatriya, the modern Khatris are not all of the same origin. H.A. Rose The different legends relating to their different origin have been now and then set forth to account for the origin of the Khatris and have betrayed our ethnologists into serious blunders or made them opine that the Khatri caste is an "Ethnological Puzzle."
- Ethnological Survey of the Khatries - Page32

सकता। साथ ही यह भी एक ऐतिहासिक सत्य है कि अग्नि कुल की परम्परा इस तथ्य के प्रतीक चिन्ह के रूप में ली गयी है कि अग्नि कुंड में हवन कर के जिन विदेशी लोगों को संस्कार से शुद्ध कर के क्षत्रिय बनाया गया था वे उसकी शुद्धता प्रक्रिया को ही इस प्रतीक रूप में ग्रहण करते हैं। इन्हीं राजपूतों को ही देख कर सेंसस रिपोर्ट में उन्हें द्वितीय वर्ग में रखा गया था किन्तु सेंसस कमिश्नर यह तथ्य भूल गये थे कि प्रमुख राजपूत या तो सैनिक थे या उन्हों ने सैनिक का पेशा आजीविका के तौर पर चुना था और वे किसान थे। यह कहा गया है कि छोटा नागपुर के अनेक विदेशी जैसे कोल, और अनेक लोग जिनमें मंगोल जातियों का रक्त समिश्रण पाया जाता है अपने को राजपूत कहती हैं। नेपाल, कांगड़ा और उड़ीसा में भी ऐसी कुछ जातियाँ या समूह हैं जो अपने को राजपूत बताते हैं। अतः किसी जाति का ऐतिहासिक परम्परा, रूप रंग और निवास स्थान के अलावा किसी अन्य आधार पर वर्गीकरण करना बहुत मुश्किल काम है। प्रथम दो बातों के सम्बन्ध में तो पीछे काफी कुछ कहा गया है किन्तु निवास स्थान के सम्बन्ध में सन 1901 की जनगणना के अलावा अन्य कोई प्रमाणिक आधार अभी तक प्राप्त नहीं है क्योंकि उसी में जाति के आधार पर भी जनगणना हुई थी और अब जनगणना में जाति का वर्गीकरण प्रचलित नहीं है। इस विषय पर अंग्रेज लेखकों ने भी काफी लिखा है और जनगणना के ही आंकड़ों के आधार पर क्षत्रिय जातियों का वर्गीकरण एवं पर्याप्त विश्लेषण भी किया गया है। उपरोक्त तथ्यों के आधार पर और 1865 से लेकर 1931 तक की जनगणना के आंकड़ों को आधार बनाते हुए डा0 बैज नाथ पुरी ने भारत में खत्रियों का फैलाव एवं वर्गीकरण पर अच्छा विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है[1] जिससे न केवल खत्रियों के विभिन्न समूहों में वर्गीकरण पर ही प्रकाश पड़ता है बल्कि विभिन्न प्रथायें, किन्हीं विशेष स्थानों में खत्रियो के बसने के कारण, वंशनाम तथा अल्लों में परिवर्तन, ऐतिहासिक एवं सामाजिक मान्यतायें, पूर्व परम्परा और बदलती परिस्थितियों के परिवेश में भाषा तथा संस्कृति में आये बदलाव आदि स्पष्ट हो जाते हैं तथा उसमें अनेक ऐसे बिन्दु हैं जैसे पंजाब के कुछ स्थानों में खत्रियों के कुछ वंशों/अल्लों के प्रमुखता से पाये जाने के कारण आदि, जिन पर काफी रोचक शोध की जा सकती है।

*****

1. दि खत्रीज – ए सोशियो हिस्टारिक स्टडी – डा0 बैजनाथ पुरी (1988) अध्याय–2 दि डिस्ट्रीब्यूशन ऐंड क्लासीफिकेशन आफ खत्रीज इन इंडिया – पृष्ठ 19–41। इसका एक कारण यह भी है कि सन 1931 की जनगणना तक ही आखिरी बार जातियों एवं उपजातियों के आंकड़े एकत्र किये गये थे। सन 1941 तथा 1951 की जनगणना में जाति अथवा उप जाति सम्बन्धी कोई आंकड़े दर्ज ही नहीं किये गये। लखनऊ गजेटियर (1959) पृष्ठ 74

अध्याय– 7 क्षत्रियों (खत्रियों) की वर्तमान स्थिति

संसार में किसी का भी समय एक सा नहीं रहता। जल के स्थान में थल और महलों की जगह खंडहर सारे संसार में दिखायी देते हैं। उसी तरह समाज भी एक अवस्था में कभी नहीं रहता। एक समय वह था जब द्विजाति मात्र का खाना पीना, पढ़ना लिखना ही नहीं, सम्बन्ध भी होता था। फिर असवर्ण विवाह तथा खान पान छूट गया। ब्राह्मणों की एक से दस जातियाँ हो गयीं। क्षत्रियों के दो दल हो गये। खत्रिय और राजपूत। फिर जहां जहां खत्रिय जा कर बस गये, उसी स्थान के नाम से परिचित होने लगे। दूर दूर बस जाने के कारण उनके अपने मूल स्थान के रस्मों रिवाज में भी अन्तर पड़ने लगा और एक से अनेक कहलाने का समय आ गया।

खत्रियों के लाहौरिये, दिलवालिये, आगरेवाल, पछैंये और पूर्विये आदि विभाग हो गये। तीर्थ स्थलों में पंडों की बहियों में खत्रियों द्वारा किये गये दसखत और मोहर से पता चलता है कि 15वीं शताब्दी से पूर्व दिलवालिया शब्द ही प्रचलन में नहीं था।[1] इसी तरह गुजरात, हैदराबाद, पेशौरी, खोखरान और कांगड़ा पहाड़ की एक जाति ''गद्दी'' आदि जहां बस गयीं वहीं के नाम से प्रसिद्ध हो गयीं। खास पंजाब में भी मुलतानिये, अमृतसरिये, खुशहाविये आदि भिन्न भिन्न नाम पड़ गये। इसी तरह बहुतों के रीति रिवाज इत्यादि बदलते बदलते एक दूसरे से जुदा हो गये। यही नहीं अपनी उत्पत्ति भी न जानने के कारण लोग अपने को भिन्न बताने लगे किन्तु खोज करने से उनके भी खत्रिय होने के प्रमाण मिल जाते हैं। वर्तमान अल्लों एवं गोत्रों की पूर्व श्रृंखला को ढूँढने से भी अनेक शंकाओं का समाधान निकल आता है।[2] इस अल्ल तथा तड़बन्दी (हलकाबन्दी) के भी अनेक कारण रहे हैं जैसा कि पीछे स्पष्ट ही हो गया है।

खत्रियों की अलग अलग शाखायें

इन सब खोजों से ही उन खत्रियों की अल्लों का भी पता चला जो भारतवर्ष के बाहर सेना के साथ गये या तिजारत करने गये और वहीं बस गये।

1. इसकी पुष्टि आगरा के मास्टर बेनी राम सेठ ने सोरों गंगा के पंडों की संवत् 1546 अर्थात सन 1489 तक की मूल बहियों को देख कर की थी जिसमे उन्हों ने पाया था कि इन पंडों के पास मौजूद असली दसखती बहियों में समय समय पर सोरों जाने वाले बाज बाज खत्रियों ने अपने को फारसी भाषा में 'दिलवाली खत्री' लिखा है। उससे पूर्व 'दिलवाली खत्री' कहीं लिखा जाना नहीं पाया जाता। इससे सिद्ध होता है कि दिलवाली खत्री शब्द पंद्रहवीं शताब्दी से ही प्रचलन में आया।
–देखिये खत्री हितकारी, आगरा सन 1896–पृष्ठ–73

2. बाल कृष्ण प्रसाद के 'खत्रिय इतिहास' की भूमिका में श्याम सुन्दर दास (खत्री) ने इसी प्रकार की खोजों पर जोर दिया था।

स्वर्गीय बाल कृष्ण प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'खत्रिय इतिहास' में इन्हें 'बाहरियां खत्री' कहा है और इनकी अंखोर, इकरा, उठैले, कटवार, कनाड़े, खंगवाल, खुखराइन, गगरीले, चांदीहूक, चोगुला, छब्बासी, छुड़ीले, जनमेजी, जरजी, झलकमार, झाझा, टोंगा, ठाकुरायल, तांतिया, त्रिहन, दधिया, दागन, दादी पोता, धांगड़, नखराना, पलथन, पुरी, फूलमाल, बलसुहाई, बालवीरान, भामदिल, मुनारा, मुलिये, मोरे, स्वादा, हांडीसीर आदि जैसी 58 अल्लें पृष्ठ 270–271 पर अंकित की हैं। इसी प्रकार उन्हों ने सरीन के अल, असल, कचना, कनोठरा, कुलशिये, कंचन, गंधार, घूमन, चमनी, जोगिया, झाला, टाली, तलकी, तलैया, तिर्हन, पाड़ा, बजाज, बस्सी, बुधवाल, मरवाहा, महान, रावल, लोहिया, शिवनी, शिवपुरी, शोमी, सेठी, सोंधी, संगी, हड्डा, हरिया, आदि अनेक अल्ल दिये हैं।

'खोखर' ग्राम से बने शब्द खोखरान (खोखरायन) के बारे मे कहा जाता है कि उस ग्राम में जसरथ नाम के व्यक्ति रहते थे जो अपने गांव के नाम पर अपने को 'खोखरान' कहने लगे। कालक्रम से उनके समूह की एक पूरी बिरादरी ही अलग हो कर अपने को खोखरान कहने लगी। आनन्द, केरी, कोहली, चड्ढा, भसीन, साहनी, साभिरवाल, सूरी, सेठी आदि अनेक अल्लें इसी बिरादरी में हैं।

अगिया, अरिन, कग्गर, खुमाड़ चुनाई, छेमदा, तेहर, पखूरा, फलदा, भोगर, सोडिल आदि अनेक खत्रियों ने गुरु गोविन्द सिंह का साथ दे कर अपना संस्कार आदि बदल दिया था अतः वे सिखरा खत्री कहलाने लगे।

खोखरान और सरीनों की तरह गुजराती खत्रियों की एक अलग जमात है जो अपने को ब्रह्म क्षत्रिय (खत्रिय) कहते हैं। इनके अल्ल खत्रियों जैसे हैं यथा चलामेनी, झग्गर, टंडन, दोहरे, प्रथ, भल्ले, भूपेन्द्र, मालदार, मेहरा, वधरे, सहगल, साह, साहगल, सिक, सोनी आदि।

इन सब पृथक बिरादरियों में ही अरोड़ा खत्रियों के अल्लों की संख्या हजारों में है जिनमे अनेजा, असरानी, आनन्दा, अंगदा, उपवेजे, कलर, कलड़ा, कंधारी, कोचर, खुराने, गक्खड़, गान्धी, गुरुदत्ते, गुलाटी, चांदना, चावले, छाबड़े, जगरान, जनेजे, झांझरे, टनोजिये, डाबरे, डोडेजे, तगड़े, तनेजे, तलवार, थरेजे, देमला, धमीजे, नागपाल, नारंग, पनवानी, फाड़के, बजाज, बतरे, बवेजे, बुधरेजे, बंधवे, भटरेजे, भनेजे, भाटिया, मदान, मनचन्दे, मनूचे, याठ, रछपाल, रहरे, रहेजे, राजपाल, लोहाना, शोधे, सचदेव, सठखोरे, सलूजा, सिक्के, सुखेजा, सूरी, सेठी, सोनी, संगी, हंडे, हंस आदि हैं।

नागपुर की ओर लोहाणे खत्री भी कपूर, खन्ना, चोपड़ा, नन्दा तथा सेठ आदि अल्लें लिखते हैं।

भाटिया खत्रियों में भी पंजाब वाले अपने को खत्री तथा राजपूताना वाले अपने को राजपूत कहते हैं। मोती लाल सेठ ने इनके अंधार, उदेशी, कपूरा,

गगला, गजरिया, घैमर, छंदना, जूला, डांगा, नागर, परेमा, मालन, रविया, वेदा, सूरिया, सोथिया, आदि 84 भेद लिखे हैं।

सूद खत्री भी काफी समय तक अपनी अलग जमात में रहे किन्तु अखिल भारतीय खत्री सम्मेलन सन 1936 के लखनऊ में पारित हुए प्रस्ताव[1] के बाद से तथा विशेष रूप से भारत पाकिस्तान विभाजन के पश्चात लाखों की तादाद में सभी जमातों के खत्रियों के पाकिस्तानी प्रदेश से भारत आने के बाद इन सभी अलग अलग बिरादरियों का बहुत तेजी से एकीकरण हुआ है और पुरानी संकीर्ण मान्यतायें बहुत तेजी से टूटी हैं तथा लगभग समस्त खत्री जाति का एकीकरण अत्यन्त तीव्र गति से जारी है।

इन सब जातियों, उपजातियों का विवरण पीछे दिया जा चुका है। ये नाम तथा अल्ल स्थानीय परिस्थितियों एवं भाषाओं के कारण भी बदलते हैं। एक उदाहरण लीजिये। केरल की पारम्परिक सामाजिक रचना में क्षत्रियों का एक प्रमुख स्थान है। वहाँ क्षत्रिय या तो राजा थे या शासन करने वाले सरदार थे जो शासक परिवारों से सम्बन्धित होते थे। केरल की जनसंख्या में उनका अनुपात ब्राह्मणों की ही तरह एक छोटा वर्ग था।

ये क्षत्रिय अलग अलग नामों से पुकारे जाते थे जैसे टम्पान, टम्पूरन या कोइल टम्पूरन, टिरम्पुलाद और भांद्यत्तिल या पांडराथिल आदि। इन्हें ये नाम शासन करने वाले परिवारों से सम्बन्ध के आधार पर ही दिये गये थे। टम्पूरन वहाँ राज्य करने वाले परिवारों के सदस्य थे और थम्पान उनके दूर के रिश्तेदार थे।

एक पुराने संस्कृत श्लोक में केरल के क्षत्रियों के अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान आठ वर्ग गिनाये गये हैं :– 1. भूपाल या महाराजा, 2. रजक या राजा, 3. कोइल टम्पूरन, 4. पुखल या टम्पान, 5. श्री पुरोगम या तिरुमुलपाद, 6. भंडारी या पांडाराथिल, 7. तिरुपुलपट, 8. चेता या सामन्त।[2]

अब अगर केवल अल्लों की उत्पत्ति पर भाषा में उच्चारण की समानता पर विचार किया जाय तो उत्तर भारत से दक्षिण भारत के टंडन–टम्पान, टम्पूरन से, भंडारी, भंडारी या पांडाराथिल से, रजक, रजवाल से, तरनेजा, तिरुमलपट से मिलते जुलते प्रतीत होते है पर ये पूर्व क्षत्रियों की कौन सी शाखायें हैं जो दक्षिण में जा कर बसीं, यह शोध का विषय है।

---

1. राय बहादुर श्री राम सरन दास की अध्यक्षता में सन 1936 में पारित प्रस्ताव इस प्रकार था–''यह सम्मेलन घोषणा करता है कि अरोड़े, लोहाणे, बाहुबल, सूद और ब्रह्मखत्री खत्री जाति का अंग हैं। बिना रोटी बेटी का प्रश्न उठाये इनके साथ भाई – चारे का व्यवहार किया जाय।''

2. कम्युनिटी ऐंण्ड कास्ट इन ट्रैडीशन – श्री वीरेन्द्र प्रकाश सिंह– पृष्ठ 12–13

अध्याय – 8 क्षत्रियों (खत्रियों) की विशेषतायें

क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म का विवरण तो चन्द्र वंशी क्षत्रिय स्वयं श्री कृष्ण ने गीता में दिया है –

ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।41।।
शौर्य तेजो धृतिदक्षियं युद्धे चाप्यपलायनम।
दानावीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम।।43।।

– श्री मद्भगवत्गीता अध्याय 18, श्लोक 41–43

हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म उनके स्वाभाविक अर्थात प्रकृति सिद्ध गुणों के अनुसार पृथक पृथक बंटे हुए हैं (41)।

क्षत्रिय का स्वाभाविक गुण शूरता, तेजस्विता, धैर्य, दक्षता, युद्ध से न भागना, दान देना और प्रजा पर हुकूमत करना है (43)।

कर्म और स्वभाव गुण, इन दोनों का परस्पर संबंध बीजांकुर न्याय के समान है। यदि कर्म अक्षात्र हैं तो स्वभाव में भी तत्सम्बन्धी गुण लुप्त हो जायेंगे। परिस्थितिवश सदियों से खत्रियों का मुख्य क्षात्र कर्म छूटा तो क्षात्रोचित गुणों की ज्योति भी कम हुई और खत्री जाति के जिस जिस वर्ग ने जो जो कर्म अपनाया उसी के अनुसार उसमें स्वाभाविक कर्म गुणों का विकास होने लगा पर रक्त स्वभाव के मूल गुण कभी लुप्त नहीं होते। बीज रूप में तो वे वर्तमान रहते ही हैं।

काल क्रम से क्षत्रियों अर्थात वर्तमान खत्रियों की जाति का राज्य नहीं रहा परन्तु तब भी उनके प्राचीन पुरोहित सारस्वत ब्राह्मण उनका साथ देते रहे और आज तक देते हैं।[1] प्राचीन समय के ब्राह्मण पुरोहित तथा क्षत्रियों का एक रहा खान पान आज तक चला आता है किन्तु एक छत्री (राजपूत) का बनाया हुआ कोई ब्राह्मण नहीं खाता। यही नहीं बहुत से ब्राह्मणों की हाथ की बनी कच्ची रसोई खत्री नहीं खाते।[2] निस्संकोच कच्ची रसोई खाना तथा हन्दे की प्रथा आज भी चलती है। वैदिक क्षत्रिय संस्कार आज भी समय समय पर होते हैं तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमंतोनयन एवं देवकार्य खत्रियों के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं होते। यज्ञोपवीत अन्य क्षत्रिय (छत्री) जातियों के यहां विवाह के समय होने की भाँति नहीं बल्कि ठीक समय पर विधिवत होता आया है।

---

1. सारस्वतास्तु ये विप्राः क्षत्रियाणा पुरोहिताः – भविष्योत्तर पुराण।

2. कास्ट सिस्टम – जे0सी0 नेसफील्ड – पृष्ठ 132–133

सूतक पातक की धर्मशास्त्र द्वारा विहित मर्यादा भी आज तक वही की वही बनी है :

जाति विप्रो, दशाहेन, द्वादशाहेन भूमिपः।
वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रोमासेन शुद्धयति।। (पराशर)

भविष्य पुराण में ऋषियों ने लिखा है –

ततः प्रभृति सर्वे क्षत्रिया द्विज पालिता।
त्यक्त क्षत्रिय धर्माणे वणिग्वृत्तिः समाश्रिताः।।
ते सूर्य शशि वंशीया अग्नि वंश समुद्भवाः।
उत्तमा क्षत्रियाः ख्याता इतरे मध्यमाः स्मृताः।।

खत्रियों का सामान्य रूप से गोरा वर्ण तथा रूप सौंदर्य उनकी जाति की अलग पहचान है। इस विषय में एक कहावत भी प्रचलित है – 'खत्रिय से गोरा पांडु रोगी।' अर्थात खत्रिय से अधिक गोरा पीलिया का रोगी ही हो सकता है।

खत्रिय लोग ठाकुर शब्द का अपनी जाति में प्रयोग उस समय करते हैं जब वे अपने समधियों या अपने दामादों के पिता को पत्र लिखते हैं। अयोध्या में सूर्य वंशी भगवान राम चन्द्र जी ने जिस मंदिर में अपनी एवं सीता की मूर्ति स्थापित कर अश्वमेध यज्ञ किया था वह मन्दिर ही "त्रेता के ठाकुर" कहलाता था। महथा शब्द भी महाठाकुर के लिये प्रयुक्त होता है क्योंकि गाँव का मालिक एक ठाकुर कहलाता है। मिथिला में किसी समय "माथव" क्षत्रियों का राज्य था। यह क्षत्रिय सरस्वती तीर से चल कर सदानीर (गण्डक) में पहुँचे थे और वहाँ उन्हों ने अपना राज्य स्थापित किया था। सम्भव है यह माथव बिगड़ कर अपभ्रंश रूप मे महथा हुआ हो जिसका प्रयोग राजन्य के लिये किया जाता था और ठाकुर शब्द एक अल्ल के रूप में राजन्य जाति के लिये प्रयुक्त किया जाता रहा हो।

उत्तर भारत में काश्मीर के इतिहास पर अत्यत्न प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ कल्हण कृत राजतरंगिणी है जिसकी रचना राजाओं की तरंग सरिता अथवा इतिहास के रूप में सर्वप्रथम कल्हण ने सन 1148–1149 ईसवी में संस्कृत में की थी। कल्हण का चाचा राजमंत्री था पर वह स्वतंत्र कवि था। अपने इस ग्रन्थ में उसने महाभारत के काल में गोनन्द से काश्मीर के राजाओं का इतिहास प्रारम्भ किया है। उस समय काश्मीर के राजा प्रथम गोनन्द ने भगवान कृष्ण के विरुद्ध जरासन्ध की ओर से युद्ध किया था और उस युद्ध में उसने श्रीकृष्ण के भ्राता बलराम द्वारा उस मथुरा युद्ध में वीर गति प्राप्त की थी। इस प्रथम गोनन्द का पुत्र दामोदर था। उसने भी भगवान कृष्ण के हाथों वीर गति प्राप्त की थी। तब भगवान श्रीकृष्ण ने दामोदर के गर्भस्थ शिशु द्वितीय गोनन्द को काश्मीर का राजा घोषित किया था। वह गर्भ से ही काश्मीर का राजा था। अतः उसने इसी

गोनन्द से ले कर काश्मीर के राजा जय सिंह के सन 1149 ईसवी तक के समय के राजाओं तथा समाज की स्थिति का वर्णन किया है। उसी क्रम में जोनराज ने द्वितीय राजतरंगिणी की रचना जय सिंह के राज्य काल के अन्तिम पाँच वर्षों अर्थात सन 1149 ईसवी से ले कर सन 1339 तक के हिन्दू तथा सन 1339 ईसवी से 1459 ईसवी तक के काश्मीर के सुलतानों के इतिहास का वर्णन कर के की (उसकी सन 1459 ईसवी में मृत्यु हो गयी)। तीसरी श्रीवर कृत राजतरंगिणी 1459 से 1486 ईसवी तक तथा चतुर्थ शुक कृत राजतरंगिणी सन 1486 से 1596 ईसवीं तक के राजाओं के इतिहास से संबंधित है। ये अंतिम तीन इतिहास के प्रत्यक्षदर्शी थे। (इसके बाद फारसी में इतिहास लेखन प्रारम्भ हुआ) इस राजतरंगिणी में 'ठाकुर' अल्ल का उल्लेख हुआ है।

ठक्कुरैः सह सम्मंत्र्य युवराजोऽथ मंत्रवित।
लद्दराज, विनिघ्नतं हंसभट्टं रणेऽवधीति।।
– जोनराज कृत राजतरंगिणी – श्लोक 688

ठक्कुरः– यह ठक्कुर अथवा ठाकुर शब्द क्षत्रियों अथवा राजपूतों के नाम के साथ अल्ल स्वरूप जोड़ा जाता रहा है। काश्मीर में क्षत्रिय एवं राजपूत लोग धर्म परिवर्तन के पश्चात भी ठाकुर अल्ल से अभिहित होते रहे हैं। ठक्कुर एवं ठाकुर समानार्थक शब्द हैं। यह कुलीन क्षत्रियों तथा राजपूतों के नाम के साथ आदरसूचक अल्ल रूप में जोड़ा जाता है तथा दक्षिण काश्मीर निवासी क्षत्रियों एवं राजपूतों के नाम के साथ भी लगाया जाता है। लोहर के ठाकुरों का अत्यधिक उल्लेख राजतरंगिणी में मिलता है। कल्हण व्रप्प निल स्थान के पर्वतीय ठाकुरों का उल्लेख करता है (राजतरंगिणी 8 : 1989, 1993)। मुस्लिम काल में जो ठाकुर मुसलमान हो गये थे, वे अपने नाम के साथ अपनी जाति की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये ठक्कुर किंवा ठाकुर लिखते थे। ठक्कुर दौलत, ठक्कुर मुहम्मद , ठक्कुराल्हाद तथा ठाकुरौ शब्द का भी प्रयोग किया गया है। (जैन राज तरंगिणी 463.4 : 104, 347, 353, 379, 398, 412, 537)।

कुछ विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि तुर्की शब्द 'तोर्गन' से ही ठाकुर शब्द निकला है। यह शब्द विदेशी था इस लिये दक्षिण भारत में प्रचलित नहीं हो सका, यह तर्क भी उपस्थित किया गया है। गुजरात में ठाकुर को 'ठाकोर' कहते हैं। गुजरात में कोली जाति को ठाकोर कहा जाता है। उसका काम चोरों को पकड़ना तथा पता लगाना था। (ई0पी0 इण्डिया – भाग 13 पृष्ठ 287)।

एक ठक्कर किंवा ठाकुर जाति हिमाचल प्रदेश के चम्बा जिले में रहती है। चम्बा काश्मीर की सीमा पर है। चम्बा के उत्तर में लद्दाख, दक्षिण में

कांगड़ा, पश्चिम में कठुवा तथा पूर्व में लाहौल स्पिती हैं। चम्बा बहुत समय तक काश्मीर राजाओं द्वारा विजय कर काश्मीर राज्य का अंग बना रहा। पूर्व काल में काश्मीरी वर्ग राज्य में चम्बा शामिल था। चम्बा में ठाकुर जाति की स्थिति राजपूतों के समान थी। वे छोटे छोटे सामन्त थे और झेलम तथा रावी के मध्यवर्ती क्षेत्र में फैले हुए थे। वे जम्मू में ठाकुर तथा कांगड़ा में ठाकुर और राठी कहे जाते थे। उनका मुख्य उद्यम जाटों के समान कृषि था। चम्बा में ठाकुर जाति राठी के ऊपर भी कहीं कहीं मानी जाती है। राजपूतों और राठी के मध्य ठाकुरों की स्थिति चम्बा गजेटियर (पृष्ठ 88–89) के अनुसार प्रतीत होती हैं। चम्बा तथा समीपवर्ती पर्वतीय अंचल का परस्पर सम्पर्क काश्मीर से अत्यधिक रहा है अतः यह क्षत्रिय जाति भी विस्तृत शोध की अपेक्षा रखती है।

क्षत्रिय वर्ण के लोग वैसे भी प्रायः ठाकुर कहे जाते हैं। काश्मीर में प्रायः सभी क्षत्रिय मुसलमान हो गये हैं और हिन्दू केवल ब्राह्मण रह गये हैं। वे ठक्कुर, पदर, मियाँ, राजपूत आदि कहे जाते हैं। पंजाब के होशियारपुर में भी कुछ क्षत्रिय (खत्रिय) लोग अपने नाम के साथ मियाँ शब्द कुलीनता तथा उच्च कुल के प्रतीक स्वरूप लगाते थे और वहाँ कचहरी में वकीलों को सामान्यतया मिया कहा जाता था। ऐसे ही हिमालय अंचल के मूल निवासी होशियारपुर बार ऐसोसियेशन के सभापति प्रतिष्ठित वकील मियाँ ठाकुर मेहर चन्द ऐडवोकेट थे। ये मियाँ राजपूत मुख्यतया देवसर तहसील में थे। ऐसे क्षत्रियों (खत्रियों) के अलावा डोगरा राज्यकाल में कुछ डोगरा क्षत्रिय काश्मीर में आये थे पर वे सभी बाह्य देशीय हैं। कालान्तर में इस ठाकुर शब्द का प्रयोग राजन्य से बढ़ कर भगवान की मूर्तियों के लिये भी होने लगा और जिस मकान में भगवान की मूर्तियों की स्थापना होती थी, उसे भी घर के बजाय 'ठाकुरद्वारा' कहा जाने लगा जो आज तक प्रचलित हैं। अतः ठाकुर शब्द के अब दो प्रयोग हो गये हैं। एक तो क्षत्रिय का राजन्य जाति के सम्बन्ध में जिसे सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतीक माना जाता है और दूसरा भगवान के प्रतीक रूप में और दोनों ही बहु प्रचलित हैं। क्षत्रिय या राजन्य जाति के सम्बन्ध में जहाँ ठाकुर शब्द शूरता, वीरता एवं निर्भीकता का भी प्रतीक है वहीं धर्म के सम्बन्ध में ठाकुर शब्द अतुल श्रद्धा का प्रतीक हो गया है और स्पष्ट ही इसका एक प्रमुख कारण क्षत्रिय राजा रामचन्द्र द्वारा अपना मर्यादा स्वरूप स्थापित करने से उन्हें भगवान विष्णु का अवतार मान लिया जाना भी हो सकता है।

प्राचीन आर्यों के वास्तविक वंशजों का विभाजन

प्राचीन आर्यों के वास्तविक वंशजों का विभाजन (ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य) गोत्र, प्रवर और शाखाओं के आधार पर जैसा पुरातन काल में हुआ था, वैसा ही आज तक चला आता है। जिन वर्तमान जातियों का इन गोत्रों आदि से सम्पर्क और सम्बन्ध नहीं है वे प्राचीन आर्यों के वास्तविक वंशज नहीं हैं। शक, हूण आदि अनेक जातियों ने यहाँ की सभ्यता, संस्कृति तथा रीति रिवाज आदि

को अपनाया और यहाँ के निवासियों से घुल मिल गये। आगे चल कर इन्हीं प्राचीन जातियों ने अपने अलग अलग राज्य भी स्थापित कर लिये और ये अपने को क्षत्रिय कहने लगे। इन क्षत्रिय कहलाने वालों के गोत्र आदि खत्रियों के समान तथा अनुरूप नहीं हैं। इन्हीं में राजपूत, ठाकुर (चन्देल, चौहान आदि) छत्री कहे जाने वाले क्षत्रिय हैं।

खत्रिय जाति क्या, किसी भी जाति में प्राचीनता के तत्व ढूँढ़ने हों तो उनका आधार पारिवारिक संगठन, संस्कार, विवाह एवं मृत्यु के समय की प्रथायें, अन्य संस्कार, परम्परायें, समाज में स्त्रियों की स्थिति, त्यौहार तथा धार्मिक मान्यतायें आदि ही होते हैं क्योंकि ये मूलतः वेदों व शास्त्रों द्वारा प्रत्येक वर्ग के लिये अलग अलग विहित थे और प्रत्येक जाति अपने वर्ग की आवश्यकताओं एवं विशेषताओं के ही अनुसार उनका पालन करती थी। अतः इनमें प्राचीन सूत्रों की खोज के सहारे मूल वैदिक व्यवस्था तक पहुँचा जा सकता है। इनमें से अनेक परम्परायें एवं प्रथायें हिन्दू धर्म की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की विशेषताओं की ही द्योतक हैं। अतः खत्रियों की अनेक विशेषतायें उनके क्षत्रिय जाति के होने के प्रमाण हैं जब कि अनेक क्षत्रियेतर तथा अपने को क्षत्रिय कहने वाली जातियों में ये विशेषतायें नहीं मिलतीं, इस लिये खत्रिय जाति की इन विशेषताओं को समझना भी आवश्यक है।

खत्रिय जाति की कुछ अन्य विशेषतायें इस प्रकार हैं :–

"खत्रियों में पूस मास को निषिद्ध माना जाता है। विशेषकर टण्डनों के यहाँ इस मास में कोई शुभ काम नहीं होता, न कोई नयी वस्तु खरीदी जाती है। वैसे ही धवनों के यहाँ कार्तिक मास में कोई शुभ काम नही होता जैसे नयी चूड़ी बदलना आदि। पूस में विवाह संस्कार तथा अन्य संस्कार वर्जित हैं। श्रावण, भादों, कुंवार तथा कार्तिक के अधिकांश दिनों में विवाहादि नहीं होते क्योंकि इन दिनों देवता (हरि भगवान) सोते हैं परन्तु पंजाब में इन चार महीनों में भी शुभ कार्य होते हैं। वास्तव में जो लोग अपने पंजाब से दूर स्थानों पर जा बसे थे उन्हें इन चार मासों में वर्षा के कारण यातायात में कठिनाई होने के कारण शुभ कार्य करने को मना किया गया और कहा गया कि इन चार मासों में देव सोते हैं। वैसे ही अधिक मास में (जब भी वह पड़े) पूस में तथा जिन दिनों में शुक्र और बृहस्पति दिखाई न दें (जिसे तारा डूबा होना भी कहते हैं) तब विवाह तथा अन्य शुभ संस्कार वर्जित हैं। कक्कड़ों के लिए फाल्गुन अशुभ है। पूस मास अत्यधिक ठंडा होने के कारण शुभ कार्यों के लिए वर्जित है।

खत्रियों में ऊनी कपड़ा शुद्ध माना जाता है। इसका मूल कारण भी आर्यों की प्राचीन परम्परा ही है। पूर्व काल में आर्यों को पहनने के लिये कपड़ों की भी आवश्यकता थी जो ऊन या चमड़े के बने होते थे। आर्यों के निवास स्थान सप्त सिंधु की गरमी उस समय भी कम असह्य नहीं रही होगी पर वह ऊन की पोशाक पसन्द करते थे। इसे आदत कहना चाहिये, नहीं तो सिंधु उपत्यका के निवासी

(मोहन–जो–देड़ो व हड़प्पा की सभ्यता के) उनसे पहले सूती कपड़े पहनते थे। आज भी गड़रिये लोग कड़ी धूप में कम्बल ओढ़े अपनी भेड़ें चराते हैं। कहते हैं कम्बल तरावट देता है। यही बात सप्त सिंध के आर्य भी कहते होंगे। उनके घरों में कपड़े बुने जाते थे। आर्यों का तो उस समय मुख्य धन गाय, घोड़े और बकरियाँ ही थीं और वे मुख्यतया पशुपालक थे यद्यपि वह कुछ खेती भी करते थे। उस समय तक खान पान की छुआ छूत का विचार नहीं था। रोटी पानी में शूद्रों से नहीं बल्कि अति शूद्रों से भेद बरता जाता था जिसका कारण वर्ण नहीं बल्कि अधिक गंदे समझे जाने वाले काम थे। यह बिलकुल संभव है कि ऋग्वेदिक आर्यों के धनी परिवारों में दासियाँ भोजन बनाती थीं। उनके हाथ का खाने पीने में किसी को एतराज नहीं था। उस समय इन दास दासियों की गिनती शूद्र वर्ण में ही होती थी। कच्चे पक्के खाने और उसके छू जाने का भाव उस युग में नहीं हो सकता था। ऊन के वस्त्र को पवित्र मानना ऋग्वेदिक आर्यों की ही देन है। आर्यों का कपास के वस्त्र न व्यवहार कर ऊनी वस्त्र को अपनाना दोनों वस्त्रों के प्रति दो प्रकार के भावों को पैदा करने का कारण हुआ। कालान्तर में ऊन को शुद्ध मान लिया गया और कपास को अशुद्ध। सूती कपड़े को बदल कर खाना खाने रसोई में जाना चाहिये पर ऊनी कपड़ा स्वतः पवित्र है। काश्मीर में सर्दी के कारण गीला चौका लगाना सुखद नहीं है। वहाँ ऊनी लोई चौके का काम देती है और ऊनी कपड़े से ढंके घड़े का पानी या भात मुसलमान के हाथ में पड़ कर भी अशुद्ध नहीं होता। किसी समय बैल के चमड़े को भी ऊन के समान शुद्ध माना जाता था। कल्प सूत्रों (पारस्पर) में वर–वधू को बैल के चमड़े पर बैठा कर मधुपर्क देने का विधान है। गाय के चर्म की शुद्धता पीछे जाती रही पर मृगछाला अब भी शुद्ध एवं पवित्र माना जाता है। यह मान्यता आर्यों की चमड़े की पोशाक होने के कारण ही है।

तीन की संख्या अशुभ मानी जाती हैं। 5, 7, 11, 21, 51, 101 अत्यन्त शुभ माने जाते हैं। इस लिये व्यवहार में शुभ संख्या में ही लेन देन होता है।

किसी भी बालक या बालिका का वर्ण, वंश, गोत्र तथा अल्ल एवं राशि नाम उसकी जन्म पत्री में ही लिखा रहता है जो जन्म नक्षत्र के आधार पर होता है पर उस राशि नाम से उसे पुकारते नहीं हैं। यह अशुभ माना जाता है। उसका पुकारने का नाम दूसरा रखा जाता है। यदि किसी बच्चे का बड़ा भाई या बहन मर चुकी हो तो नये बच्चे का प्रायः भद्दा सा नाम रख देते हैं जैसे बुद्धूमल, छदम्मी लाल आदि, ऐसी कहीं कहीं प्रथा रही है।

इस जन्म पत्र का प्रयोग दो अवसरों पर खत्रियों में विशेष रूप से होता है। एक तो जीवन का शुभाशुभ जानने के लिये सम्पूर्ण जीवन में किसी भी समय और उसका विचार किसी विद्वान पंडित से ही कराया जा सकता है।

दूसरा उपयोग अब बालक बालिका के विवाह के समय जन्म पत्री द्वारा गुणों/दोषों के मिलान के लिये किया जाता है और यह कार्य किसी विशेषज्ञ पंडित द्वारा या पंचांग तथा ज्योतिष का थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर के किसी भी व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है।

वैदिक काल में श्री राम चन्द्र जी के समय, महाभारत काल तथा प्राक्–ऐतिहासिक काल में प्रायः ही स्वयंवर हुआ करते थे जिसमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य सभी भाग लिया करते थे। उस काल में वर कन्या निश्चित रूप से बालिग और समझदार हुआ करते थे और विवाह सुनिश्चित करने में परिवार के सदस्यों की तुलना में वर या कन्या की भूमिका निर्णायक हुआ करती थी किन्तु ईसा की प्रारम्भिक 5–6 शताब्दियों में स्थिति में बहुत परिवर्तन आया जिनमें **पहला परिवर्तन तो परशुराम के ही समय में प्रारम्भ** हो गया था जब क्षत्रियों (खत्रियों) को परशुराम के भय से अपने क्षत्रिय वंश नाम, अल्ल तथा जाति पहचान चिन्ह छिपाने पड़े थे और वे अपनी जन्म भूमि से विलग होकर दूर दूर के स्थानों में चले गये।

दूसरा परिवर्तन बौद्ध धर्म के उदय और वैदिक धर्म के पतन के समय आया जब अनेक वैदिक क्षत्रिय बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये और शुद्ध वैदिक क्षत्रिय उनसे विवाह सम्बन्ध करने से कतराने लगे। तीसरा परिवर्तन चन्द्रगुप्त मौर्य और महापद्म नन्द के समय में आया जब इन शूद्र वर्णी शासकों से विवाह सम्बन्ध करने से विशुद्ध क्षत्रियों ने इनकार कर दिया और उन्हें अपनी जन्मभूमि से पलायन करना पड़ा। जिन्हों ने उनसे सम्बन्ध किया उनकी पूरी जमात ही अलग हो गयी और उन्हें बौद्ध क्षत्रिय अथवा भ्रष्ट क्षत्रिय माना जाने लगा।

तीसरा परिवर्तन उस समय आया जब परिस्थिति वश विशुद्ध क्षत्रियों द्वारा रक्त शुद्धता बनाये रखने की दृष्टि से क्षात्र धर्म (सैन्य वृत्ति) को छोड़ कर व्यापार को अपना लिया गया और इन नये शासकों के अत्याचार और बौद्धों के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिये कोई क्षत्रिय शक्ति न रही और वैदिक हिन्दू धर्म का पतन होने लगा। इसी समय इस शून्य को भरने के लिये भारत पर विदेशी जातियों यथा यवन, शक हूण आदि के आक्रमण होने लगे जो प्रायः सफल भी होने लगे। एक समय इसके पूर्व भी ऐसा ही आया था। रमेश चन्द्र दत्त लिखते हैं कि –

"आर्य विजेताओं की लहर के बाद लहर आती गयी। एक के बाद एक नदियों के पार वे पहुँचते गये, जंगल के जंगल खोजे और साफ किये गये। उन्होंने धीरे धीरे प्रत्येक क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर ली। यह लहर उस समय तक चलती रही जब तक सम्पूर्ण भारत में आर्यों का प्रभुत्व नहीं हो गया। इसके बाद ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की स्थापना हुई। इन विजेताओं ने स्वयं ही अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के वंशगत विभागों में विभाजित कर लिया और इन विजित भूमियों में रहने वाले ऐसे मूल निवासियों को शूद्र का नाम दिया जिनको

उन्हों ने अपनी सेवा में ले लिया था।"[1]

प्रसिद्ध खत्रिय इतिहास लेखक श्री मोती लाल सेठ ने इस स्थिति को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया है।[2] उनका कहना है कि– "संभवतः इसी गाथाकाल में ही जब जाति व्यवस्था अपनी शैशवावस्था में ही थी, उच्च वर्गी ब्राह्मण पुरोहितों तथा गर्वीले क्षत्रियों में भयंकर विरोध प्रारम्भ हो गया जिसमें ब्राह्मणों की विजय हुई और इन ब्राह्मणों ने आयु या स्त्री पुरुष का विचार किये बिना ही क्षत्रियों की निर्मम हत्या की। क्षत्रियों का यह निर्मम हत्याकांड अथवा नरसंहार ही फरसाधारी परशुराम का आक्रोश के नाम से जाना जाता है। इस भीषण नरसंहार ने हिन्दू समाज की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था में क्षत्रिय समाज की नीवें तक हिला दीं और उनकी संख्या को अत्यधिक कम कर दिया। इससे उनकी जाति नष्ट तो नहीं हुई पर इससे उन्हें उबरने में काफी समय लग गया।" श्री मोती लाल सेठ ने यह भी लिखा है कि यह मानना भूल है कि इस समय क्षत्रिय जाति पूर्णतया नष्ट हो गयी क्योंकि सूर्य वंशी राम चन्द्र ने इसके बाद ही अपने पुत्र कुश को विन्ध्य प्रदेश का राज्य दिया जिसने कुशावती को अपनी राजधानी बनाया। लव को उत्तर कोशल का राज्य दिया जिसने श्रीवान्ती (श्रावस्ती) को अपनी राजधानी बनाया और बाद में लवपुर (लाहौर) भी बसाया। भरत के पुत्र तक्ष व पुष्कल को उन्हों ने क्रमश' गान्धार (कंधहार) का राज्य दिया जहाँ उन्हों ने तक्षशिला व पुष्कलावती नगरी बसायी। अपने दो भतीजों शत्रुघ्न पुत्र सहावु और शत्रुगति को उन्हों ने क्रमशः मथुरा और विदिशा का राज्य दिया तथा लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु एवं अंगद ने मल्ल भूमि में चंद्रकूट एवं अंगदिया नगरी बसायी। बाद में कुश के वंश की एक शाखा कन्नौज से निकल कर राजपूताने में जा बसी और मारवाड़ के वर्तमान शासक अपनी उत्पत्ति उन्हीं से बताते हैं। इन्हीं लव के कुछ वंशज कंकसेन के नेतृत्व में दक्षिण भी गये और सूरत पर विजय प्राप्त कर अपने राज्य की स्थापना की। मेवाड़ के राजप्रमुख अपने को इन्हीं लव का वंशज कहते हैं।

दूसरी विषम परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई जब क्षत्रिय जाति में ही गंगा जमुना के मैदानों में 557 ईसवी पूर्व में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ जिनसे बौद्ध धर्म का उदय हुआ। इनके कारण अनेक क्षत्रिय अपनी मूल जाति से विलग हो गये क्योंकि बौद्ध धर्म में स्त्री–पुरुष, जाति–पांति का भेद न था। यह धर्म इतनी तेजी से बढ़ा कि हजारों क्षत्रिय और वैश्य इसके झंडे तले आ गये जिससे ब्राह्मण धर्म ही संकट में पड़ गया और करीब एक हजार वर्ष तक इसका बोलबाला रहा। दोनों धर्मों के अनुयायी एक लम्बे समय तक आपस में कठिन संघर्ष करते रहे लेकिन बौद्ध धर्म के प्रसार को रोका नहीं जा सका। इससे क्षत्रिय जाति 1– ब्राह्मण धर्मी या वैदिक और 2 बौद्ध या गैर वैदिक, दो वर्गों में बंट गयी।

1. हिस्ट्री आफ सिविलीजेशन इन ऐनशियेन्ट इंडिया–रमेश चन्द्र दत्त
2. दि ओरिजन आफ खत्रीज–ए ब्रफ इथनोलाजिकल सर्वे आफ दि खत्रीज (1905) –मोती लाल सेठ–आगरा

इसके बाद 367 ईसवी पूर्व में महानन्द (विष्णु पुराण के अनुसार शिशुनाग के दसवें वंशज) के अवैध पुत्र नंद का एक शूद्रा पत्नी से जन्म हुआ जिसने अपने पिता की ही भाँति मुरा नाम की एक शूद्रा स्त्री से अपना सम्बन्ध जोड़ा। इस मुरा से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ जिसने देश का नया इतिहास बनाया। अपनी माता के पिता पर प्रभाव के कारण ही उसे मगध का राज्य मिला और वह भारत का सर्वशक्तिमान शासक बना। उसका राज्यारोहण भी क्षत्रियों के लिये उनके सामाजिक और राजनैतिक जीवन का नया अभिशाप बना। पूर्व में सिन्धु में विशाल आर्य साम्राज्य खड़े करने वाली, भारतीय पौराणिक गाथाओं में वर्णित, अनेक भयंकर युद्ध करने वाली तथा गंगा यमुना के मैदान में अपने विशाल राज्य स्थापित करने वाली इन्हीं वीर जातियों के वंशज और मुखिया जो तिरहुत में भी राज्य कर रहे थे, इस शक्तिशाली सम्राट के आगे नतमस्तक हो गये और सम्पूर्ण उत्तर भारत, पंजाब से ले कर बिहार तक उसके अधीनस्थ हो गया। जहाँ भी वह गया, विजय श्री उसी का वरण करती रही। (सन 320 ईसवीं पूर्व)

इसके बाद, चन्द्रगुप्त ने वैदिक तथा गैर वैदिक दोनों प्रकार के क्षत्रियों को अपने साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध करने के लिये बाध्य किया और अपने तथा अपने पिता के अवैध सम्बन्धों को मान्यता दिलानी चाही और इनकार करने पर परशुराम की तरह सम्पूर्ण क्षत्रियों का विनाश करने की धमकी दी। चहुं ओर विजय के दर्प से भरी उसकी धमकी का कुछ तो यह असर हुआ कि जो क्षत्रिय राज परिवार के थे वे और उनके रिश्तेदार जो चन्द्रगुप्त के राज्य में मंत्री आदि थे और उससे सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखते थे तथा गैर वैदिक क्षत्रिय थे, उन्हों ने प्राण भय से उसे अपनी जाति में मिला लिया किन्तु गंगा के मैदानों में बसे वैदिक क्षत्रियों ने खतरे की घंटी बजा दी और बड़ी संख्या में पंजाब की तरफ अपने भाइयों के पास भाग गये और यह कह दिया कि वे चन्द्रगुप्त के दरबार में रहने वाले क्षत्रियों से भिन्न प्रकार के क्षत्रिय हैं और उन क्षत्रियों में नहीं आते जो उसके (चन्द्रगुप्त के पिता) तथा उसके दरबार के वर्ग के हैं और जिनसे वह (चन्द्रगुप्त) अपना सम्बन्ध कर रहा है। (पंजाब में 'क्ष' के स्थान पर 'ख' ही बोला जाता है। अतः पंजाब में वे भी अपने को खत्रिय कहने लगे जब कि चन्द्रगुप्त का साथ देने वाले अपने को क्षत्रिय के बजाय छत्री कहने लगे)। जो क्षत्रिय गये नहीं बल्कि वहीं रह गये वे भी गैर वैदिक क्षत्रियों में मिल गये।

चन्द्रगुप्त के बाद भी बौद्ध धर्म का प्रसार अधिक हुआ। उसका पौत्र सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का सब से बड़ा संरक्षक हुआ। बौद्ध धर्म ही भारत का प्रमुख धर्म हुआ और वैदिक पक्ष बहुत कमजोर हो गया और इस स्थिति में नहीं रह गया कि गौतम बुद्ध के अनुयायियों के विरुद्ध कोई संघर्ष छेड़ सके।

इसी समय **शंकराचार्य का प्रादुर्भाव** हुआ जिन्होंने वेदों का उपदेश कर के बौद्धों को पुनः वैदिक धर्म में लाने का बीड़ा उठाया पर इसके लिये वैदिक क्षत्रियों द्वारा क्षात्र धर्म छोड़ कर व्यापार अपना लेने के कारण सैन्य जाति

उपलब्ध ही नहीं रह गयी थी अतः इस कमी को पूरा करने के लिये ब्राह्मणों ने आबू पर्वत (अन हुल कुन्द) पर यज्ञ कर के अग्नि संस्कार द्वारा नये प्रकार के क्षत्रिय बनाने का अभियान चलाया ताकि उनके सहारे बौद्ध धर्म के अनुयायियों को खदेड़ा जा सके और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया जा सके। इस समय तक अनेक विदेशी यवन, शक, हूण, परिवर्तित तथा मिली जुली विदेशी एवं भारतीय जातियाँ अपने को क्षत्रिय कहती, मानती व मनवाती थीं। ये सब आसानी से उपलब्ध थीं और क्षत्रिय मान्यता प्राप्त करने के लिये कुछ भी करने को तैयार थीं। ऐसे में 'अंधे को दो आँखे' मिलीं और आबू पहाड़ पर यज्ञ कर के अग्नि कुंड के माध्यम से अग्नि कुल की उत्पत्ति करा कर ऐसी गैर–आर्य, गैर–वैदिक जातियाँ क्षत्रिय या सैन्य जाति बन गयीं जो राजपूत (राजपुत्र) छत्री या ठाकुर कहलायीं। इन नयी सैन्य जातियों ने इतने अनूठे एवं असाधारण उत्साह से वेदों के धर्म को अपनाया और अपने को सूर्य वंशी और चंद्र वंशी कहने में इतना गर्व समझा कि जहाँ जहाँ वे गये, विजय ही प्राप्त करते गये। बौद्धों के आश्रम, मठ और स्तूप के स्तूप उनके समक्ष धराशायी हो गये तथा भारत की भूमि से बौद्ध धर्म का प्रायः समूल नाश हो गया। एक बार फिर आर्यावर्त में ब्राह्मण धर्म का वर्चस्व कायम हो गया तथा हिन्दू मंदिर एवं मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुईं (जिसका सम्पूर्ण श्रेय इन नये क्षत्रियों को ही है)। इसके बाद तो हजारों ही नहीं लाखों बौद्ध धर्मावलम्बी क्षत्रिय पुनः वैदिक धर्म में लौट आये। अंग्रेज इतिहासकारों ने इस घटना का समय ईसा के बाद का सन **600** ईसवी निश्चित किया है।[1]

इस समय तक जो क्षत्रिय बौद्ध धर्मावलम्बी बने रह गये थे, उन्हें छोड़ कर अब क्षत्रियों के तीन दल हो गये थे –

1. वैदिक क्षत्रिय, जो गौतम बुद्ध, चंद्रगुप्त मौर्य आदि के आंदोलन के बावजूद अपने धर्म पर दृढ़ रहे।
2. गैर–वैदिक क्षत्रिय, जो एक बार तो बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए थे, पर बाद में वैदिक धर्म में आ गये, और
3. गैर–वैदिक और गैर–आर्य क्षत्रिय, जो आर्येतर जातियों से सैन्य

---

1. इन जातियों के क्षत्रियत्व के गौरव की हकदार होने के दावों पर विचार करते हुए सर डब्लू.डब्लू. हण्टर कहते हैं– "किंतु उन सभी जातियों में जो क्षत्रियत्व के गौरव की दावेदार हैं, खत्रियों एवं राजपूतों का दावा सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत है। निस्संदेह इस बात में कुछ शंका है कि राजपूत लोग मनु द्वारा वर्गीकृत व्यवस्था की मूल क्षत्रिय वर्ण के हैं। अनेक अधिकारी विद्वानों के मतानुसार ये लोग मुसलमानों के तत्काल पूर्ववर्ती थे जिन्हों ने अनेक विजय श्रृंखलाओं में से, जो प्रारम्भिक काल से मध्य एशिया से भारत तक प्रवासित होती रही हैं, एक विजय श्रृंखला को प्राप्त किया था।
2. स्टेटिस्टिकल एकाउन्ट आफ बंगाल – सर डब्लू.डब्लू. हण्टर – पृष्ठ **47**

जाति के अंग बनाये गये।

इनमें से प्रथम तो अपने परिवार एवं सारस्वत पुरोहितों के साथ पंजाब में जा बसे और उन्हों ने वहाँ ब्राह्मण राज्यों की स्थापना की जो सुबुक्तगीन और उसके उत्तराधिकारियों के समय तक विद्यमान रहे जिन्हों ने उन्हें उखाड़ फेंका, पर वे अपने मूल क्षत्रिय (पंजाबी–खत्रिय) नाम को अपनाये रहे।

दूसरे वर्ग के गैर–वैदिक क्षत्रियों ने बिहार और अवध में अपने राज्य स्थापित किये तथा मगध में राज्य किया। अवध के इन्हीं नव क्षत्रियों ने "छत्री" नया नाम धारण कर लिया।

तीसरे वर्ग के लोगों ने कुछ ऐसे लोगों के साथ जो राजा राम चन्द्र के वंश से अपनी वंशावली खोज सके, राजस्थान में विजय प्राप्त की और अपने राज्य स्थापित किये। इसी क्षेत्र को राजपूताना कहा जाता है। इन्होंने अपना नया नाम राजपूत और ठाकुर सहर्ष स्वीकार कर लिया जिसके लिये अलग अलग लेखकों द्वारा उत्पत्ति के अलग अलग मत प्रकट किये जाते हैं। सत्य जो भी हो, पर यह एक वास्तविकता है कि अवध के छत्री अभी भी राजपूतों को उच्च दृष्टि से नहीं देखते और इन राजपूत नाम वालों को सामाजिक स्तर में नीचा समझा जाता है।

हैं तो यह तीनों ही क्षत्रिय पर भिन्न–भिन्न प्रकार के हैं और समस्त प्रयोजनों के लिये अपनी अलग अलग विभिन्नता बनाये रखते हैं। भारत के चारों वर्णों में इसी प्रकार के वैदिक और गैर–वैदिक दो विभाग हो गये हैं जिनमें से प्रथम तो अपने सामाजिक जीवन में प्राचीन हिन्दू शात्रों में वर्णित नियमों व विनियमों का पालन करते हैं लेकिन गैर–वैदिक एक सामान्य नियम के रूप मे इनका पालन नहीं करते और जब करते भी हैं तो उसका रूप निर्धारित प्रक्रिया से बिलकुल बदला हुआ होता है। वैदिक समूह के साथ तो पुरानी क्षत्रिय जाति के पुरोहित भी हैं और उन्हें वही सुविधायें प्राप्त हैं जो वैदिक युग में उनके पूर्वजों को प्राप्त थीं जब कि गैर–वैदिक समूह शुद्ध आर्य रक्त की किसी भी असली प्रथा का लेश मात्र भी चिन्ह नहीं दर्शाते और उनके तथाकथित पुरोहित उन्हें असली क्षत्रियों के किसी भी शास्त्रीय अधिकार की अनुमति नहीं देते। यह कहना कठिन है कि इन गैर–वैदिक क्षत्रियों ने अपनी इच्छा से ही इन कठोर वैदिक सिद्धान्तों को पूर्ण रूप से नहीं अपनाया है ताकि वे ब्राह्मणों के कठोर नियंत्रणों से दूर रह सकें या स्वयं ब्राह्मण ही उनसे अधिक घुलना मिलना नहीं चाहते।

समय बीतने के साथ साथ बौद्ध धर्म से पुनः वैदिक धर्म में आने वाले आर्य क्षत्रिय तथा गैर–आर्य परिवर्तित क्षत्रिय दोनों समूह मिल कर एक हो गये। प्रसिद्ध दार्शनिक एवं एथनोलाजिस्ट प्रोफेसर हक्सले का उदाहरण देते हुए मास्टर बेनी राम सेठ, अध्यक्ष खत्री सभा अजमेर अपने एक लेख में कहते हैं कि–

"हक्सले ने लिखा है कि मैंने जान बूझ कर उन्हें अबीसीनियनों तथा हिन्दुओं की तरह छोड़ दिया है जिनके बारे में ऐसा पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि वे विभिन्न वर्गों की वर्णसंकर उत्पत्ति हैं।" (हक्सले क्रिटिक्स – पृष्ठ 153) आगे प्रोफेसर लिखते हैं कि गौर वर्ण के लोगों का प्रसार इटली और उत्तरी भारत में हुआ और काले लोगों का प्रसार स्थूल रूप से आयरलैंड से ले कर हिन्दुस्तान तक हुआ। इस समीकरण से यह संभव नहीं लगता कि गोरे रंग की जाति पंचनद प्रदेश से आगे नहीं बढ़ी। इस लिये संभवतः इन गोरे एवं काले रंग के लोगों का मिश्रण पंजाब के आगे के मैदानों में ही हुआ।

इसी से वैदिक क्षत्रिय अपनी राज्य सत्ता न रहने पर भी और पंजाब में अपने राज्य छिन जाने पर भी अपनी पूर्व शुद्ध रक्त परम्परा का पहले जैसा ही आदर करते चले आते हैं। यही शुद्ध रक्त असली क्षत्रियों की धमनियों में प्रवाहित है जो उनके पूर्वजों की रक्त वाहिनियों में प्रवाहित था। दूसरी ओर गैर–वैदिक क्षत्रीय अपने विवाह सम्बन्धों में वैदिक क्षत्रियों की भांति पूर्ण सावधान नहीं रहे और उनके कुछ राजाओं ने अपनी पुत्रियाँ तक मुगल सम्राटों को ब्याह दीं।

इसी को देख कर नेसफील्ड आदि लेखकों ने कहा था कि "हमारी आंखों के सामने ही क्षत्रिय बनने की टकसाल अभी तक जारी है और आज जो हो रहा है वही विगत दो हजार वर्षों से होता आ रहा है।"

इसी लिये रूप रंग, जीवन पद्धति, धार्मिक संस्कारों के पालन, घरेलू रीति–रिवाज, पुरोहितों से सामाजिक सम्बन्ध आदि में वैदिक तथा गैर–वैदिक क्षत्रियों के बीच भिन्नता उत्पन्न होती है।

मास्टर बेनीराम सेठ कहते हैं कि यह भेद इतना व्यापक है कि इन क्षत्रियों का धर्म चाहे जो भी हो, उनकी सभ्यता का स्तर कितना ही ऊँचा क्यों न हो और उनकी विद्यमानता का युग जो भी रहा हो, है, और आगे भी रहे, उसे इस धरती का कोई भी व्यक्ति इस सामाजिक अलगाव या पक्षपात (**Social prejudice**)को मिटा नहीं सकता। स्वयं ईसाई धर्म तक में यह भेद समूल नष्ट नहीं हुआ है। स्वयं ईसाई मिशनरी भी इसका कठोरता से पालन नहीं करते। वहाँ भी एक योरोपियन मिशनरी तथा अन्य देश के मिशनरी, गोरे एवं काले मिशनरी में अन्तर रहता ही है। हालांकि वे कहते यही हैं कि एक ही गाड अर्थात ईश्वर ने पृथ्वी के समस्त राष्ट्रों के मनुष्यों को एक ही रक्त का बनाया है और वे यह कहने की हिम्मत नहीं रखते कि एक अंग्रेज मिशनरी की आत्मा ईश्वर की निगाह में एक हिन्दुस्तानी की आत्मा से महान है। स्वर्ग में भले ही किसी भारतीय के साथ बैठने में आपत्ति वे न करें पर धरती पर तो एक हिन्दुस्तानी को सामने की तरफ नीचे बैठना ही होगा। जब वे स्वयं इस पूर्वधारणा से मुक्त नहीं हैं तो भारतीय समाज से ऐसी उपधारणा कैसे मिटायी जा सकती है।

इसी लिये इन क्षत्रियों में जो रूढ़िवादी विशुद्ध क्षत्रिय वर्ग था उसने बौद्ध

धर्म से पुनः वैदिक धर्म में आये क्षत्रियों को अपने में मिलाने से इनकार कर दिया क्योंकि वे समझते थे कि बौद्ध धर्म स्वीकार कर के इन्हों ने क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा गिरायी है और चन्द्रगुप्त को अपने समान बना कर क्षत्रियों को नीचा दिखाया है। इन क्षत्रियों ने तो आबू पहाड़ पर भी अग्नि संस्कार कर के क्षत्रिय बनाये गये नये गैर–आर्य क्षत्रियों से भी भाई चारे का सम्बन्ध परिस्थिति की नाजुकता के कारण ही स्वीकार किया था।

इसी तरह समय और शताब्दियाँ बीतने लगीं और प्रथम वर्ग के यही शुद्ध वैदिक आर्य क्षत्रिय पंजाब में खत्रिय (खत्री) कहे जाने लगे। इन्हें अपने इस नये नामकरण पर भी एक तो मूल वर्ण रूप क्षत्रिय सुरक्षित रहने से और दूसरे अपनी विशिष्ट पहचान बनाये रखने की दृष्टि से संतोष एवं गर्व था पर लोग काल–क्रम से इस तथ्य को भूल गये। पर इनके प्रथम वर्ग के पुरोहित अब भी इन क्षत्रियों की जन्म पत्रियों में इनका सही क्षत्रिय वंश, गोत्र अल्ल आदि लिखा करते थे। विवाह सम्बन्धी लेखों, संस्कृत पुस्तकों आदि में अब भी यह सब लिखा जाता था तथा विवाह, यज्ञोपवीत आदि अनेक संस्कारों में भी शाखोच्चार के समय इनकी विधिवत घोषणा भी की जाती थी। संस्कृत निष्ठ होने के कारण इनका उच्चारण पुरोहित अथवा ज्ञानी जन ही करते थे और जन्मपत्रियों में इनका उल्लेख रहता था।

इन कई प्रकार के क्षत्रियों के उत्पन्न हो जाने के कारण विशुद्ध प्रकार के क्षत्रिय ढूँढ़ने में कठिनाई होने लगी। एक समय वह भी आया कि जब खत्रियों के इधर–उधर दूर तक बिखर जाने के कारण उत्पन्न कठिनाइयों को देखते हुए विवाह सम्बन्धों के लिये औरतों की राय और पुरोहित व नाई के बयान पर भरोसा किया जाने लगा। इन पुरोहित व नाई की रिपोर्ट हमेशा ही सही नहीं भी होती थी और कभी कभी ऐसा भी होता था कि अपने कमीशन के लालच में यह पुरोहित, नाई और भाट लोगों का विवाह सम्बन्ध असली बात छिपा कर गलत जगह भी करवा देते थे जिसका परिणाम लड़की या लड़के वाले को जीवन भर भुगतना पड़ता था जब कि पहले स्वयं अपने कुल की प्रतिष्ठा व सम्मान का ध्यान रखते हुए ही पूरी जांच–पड़ताल के बाद सगाई होती थी और अगर इसके बावजूद कभी कोई चूक हो भी गयी तो उस ब्याही हुई लड़की का निबाह करते थे। उसे दुःख नहीं होने देते थे। उस काल में पुरोहित व नाई द्वारा कराये गये खराब सम्बन्धों की झलक तत्कालीन लोक गीतों में भी देखने को मिल जाती है जिसमें ससुराल में दुःख पाने पर कन्या उन्हें कोसते हुए कहती है– 'मरे वह बरहमन नाई जी, करी जिसने मेरी सगाई जी।'

अतः ऐसी ही कुछ परिस्थितियों में रक्त शुद्धता को बनाये रखने की दृष्टि से इन्हीं सारस्वत कुल पुरोहितों की राय से जन्म पत्री का मिलान कर के विवाह संबंध करने की प्रथा प्रारम्भ हुई। इस प्रथा के प्रारम्भ का समय तो निश्चित रूप से उपरोक्त संघर्ष काल का ही समय है पर जैसा कि पेटखार गिरिडीह–बिहार

निवासी ज्योतिष वाचस्पति एवं ज्योतिष रत्न खत्री विद्या सागर महथा जी ने हितैषी स्वर्ण जयन्ती विशेषांक 1987 में उत्तर दिया है ''जन्म पत्र मिलाने की प्रथा कब से चली इसकी निश्चित तिथि का उल्लेख करना कठिन है किंतु हजार दो हजार वर्षों के भीतर भारत में अनेकों बार विदेशी आक्रमण हुए, फलस्वरूप सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ प्रभावित हुईं। कई बार प्रतिष्ठा की रक्षा के क्रम में बाल विवाह का सिलसिला चला और संभवतः इन्हीं दिनों पात्रों की चारित्रिक (एवं शुद्ध क्षत्रिय वंश, गोत्र एवं अल्ल) आदि विशेषताओं की जानकारी हेतु कुण्डली मिलाने की प्रथा चल पड़ी।'' आगे महथा जी स्वयं ही उत्तर देते हैं कि ''जन्म पत्री मिलाने की परम्परा बहुत वैज्ञानिक नहीं लगती क्योंकि सभी ग्रहों को नजरअन्दाज करते हुए मात्र चंद्रमा के नक्षत्र के आधार पर विवाह सुनिश्चित किया जाता है किंतु सभी ग्रहों पर सम्यक रूप से ध्यान दिया जाय तो वर या कन्या की चारित्रिक विशेषताओं को जाना जा सकता है। कुंडली मिलाने से यही लाभ है। कुंडली मिलाने के बहाने दूरस्थ भविष्य की जानकारी होती है। इससे हम जोड़े का चयन करते हैं, यह बात सही नहीं है। यों यह बात ज्यादा सटीक है कि जोड़े ऊपर से बन कर आते हैं।''

एक वंश एवं एक गोत्र की परिकल्पना कभी परस्पर विवाह वर्जित करने के लिये, उत्तम वंश वृद्धि के उद्देश्य से की गयी थी, ताकि सर्वोत्तम सजाति प्रथा (एक ही जाति में निकट सम्बन्ध का बराव कर के विवाह) द्वारा उत्तम एवं श्रेष्ठ संतान उत्पन्न हो किंतु इस समय एक ही अल्ल एवं गोत्र की संख्या लाखों में हो जाने के कारण माता की पांच पीढ़ी एवं पिता की सात पीढ़ी तक विवाह सम्बन्ध वर्जना की वैज्ञानिक विधि रखी गयी थी जो सभी को स्वीकार्य है।

वास्तव में **जन्म कुंडली** किसी के पूर्व कर्म के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले प्रभावों का दिग्दर्शन मात्र होती है। मनुष्य का भाग्य तो उसके अपने ही वर्तमान कर्मों से बनता एवं बिगड़ता है। अतः **जन्मपत्री मिलान** जन्मजात चारित्रिक एवं स्वभावगत गुण **दोषों का दिग्दर्शन एवं मिलान** मात्र है जो एक साधन है, पूर्णाधार नहीं। इसमें निम्नलिखित आठ बातें मिलायी जाती हैं। प्रथम तो वर्ण मिलाया जाता है अर्थात कौन जीव जन्म से (वंश में उत्पन्न होने से नहीं) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र है। वर वधू एक वर्ण के हों या वर कन्या से उच्च वर्ण का हो तो अच्छा माना जाता है। इसका एक गुण होता है। यह माना जाता है कि ब्राह्मण वर्ण की कन्या और शूद्र वर्ण का वर त्याज्य है। उच्च वर्ण की कन्या का पति नहीं जीता, जीवे तो पुत्र और धन रहित होता है।

दूसरा वश्य या वश मिलाया जाता है। राशिमान के रूप के अनुसार सब राशियाँ पांच भागों में विभाजित हैं। मिथुन, कुंभ, कन्या, तुला, धनु का प्रथम दल है। इन राशियों की संज्ञा द्विपद है। धनु का परार्ध और मकर का पूर्वार्ध, सिंह, वृष, मेष इनकी चतुष्पद संज्ञा है। मकर का उत्तरार्ध व मीन इनकी जलचर संज्ञा हैं। कर्क की कीट संज्ञा तथा वृश्चिक की सर्प संज्ञा हैं। एक सिंह को छोड़ कर

द्विपद के सब वश्य (वश में) है। जलचर द्विपद के भक्ष्य है तथा वृश्चिक भय स्थानी हैं। वृश्चिक को छोड़ कर सब राशि सिंह के वश में है इसको लौकिक रीति से जाना जाता है और यह सिद्ध होता है कि कन्या वर के वश में होनी चाहिये। इसी से वर कन्या दोनों का वश्य भक्ष्य हो तो आधा गुण, वश्य वैर हो तो एक गुण, दोनों वश्यों में मित्रता हो तो दो गुण और वैर व भक्ष्य दोनों से हो तो शून्य गुण होता है। इस मिलान के यही 2 गुण होते हैं।

तीसरा मिलान तारा का किया जाता है। कन्या के नक्षत्र से वर के नक्षत्र तक गिन कर उक्त संख्या में 9 का भाग दें। 3, 5, 7 बचे तो अशुभ, शेष शुभ है इसी प्रकार वर के नक्षत्र से कन्या के नक्षत्र तक गिनें और 9 का भाग दें। पूर्वोक्त शेष बचे तो अशुभ, शेष शुभ माना जाता है। इसमें एक का तारा शुभ दूसरे का अशुभ हो तो 1।। गुण, दोनों का शुभ हो तो तीन गुण और दोनों का अशुभ हो तो शून्य गुण और अशुभ फल देने वाला है।

चौथा मिलान योनि का किया जाता है। गाय और व्याघ्र का, भैंस और घोड़े का, श्वान (कुत्ता) और हिरन का, बिलाव और चूहे का, सिंह और हाथी का, वानर और मेढ़े का, न्योले और सर्प का, इनका आपस में बड़ा भारी वैर है। वर कन्या की योनि एक हो तो चार गुण, मित्रता हो तो तीन गुण, उदासीनता हो तो दो गुण, वैर में एक गुण और महा वैर में शून्य गुण होता है। सब नक्षत्र 14 योनियों में बंटे हैं। ऐसा सिद्धान्त है कि एक योनि से अत्यन्त उत्तम और वैर योनि से अत्यन्त निकृष्ट और अन्य योनियों में साधारण फल होता है। इसे मन्त्र प्रपंच के निम्नलिखित श्लोक से भी सिद्ध किया जाता है :

स्ववर्गात पंचमे श्त्रुश्चतुर्थो मित्र संज्ञकः। उदासीनं तृतीयं तु वर्ग संख्या विभेदतः।।
1. अ– खगेश, 2–क–मार्जार, 3–च–सिंह, 4–ट–श्वान, 5–त, सर्प, 6–य–मूषक, 7–म–मृग, 8–श–हस्ती।

पाँचवां मिलान राशीश (राशि स्वामी) से किया जाता है। इसी को ग्रह मैत्री गुण मिलान भी कहते हैं। नैसर्गिक ग्रह मैत्री चक्र पंचांगों में दिया रहता है। इसमें वर कन्या की राशियों की मित्रता होने से वर्ण, गण, योनि, द्विद्वार्शक, षडाष्टक, वर की दूरता, नवम–पंचम इनका दोष होने पर भी विवाह शुभ माना जाता है। इसमें वर कन्या के वैर में शून्य गुण, उदासीनता/शत्रुता में आधा गुण, शत्रु और मित्र होने पर एक गुण, दोनों की समता में तीन गुण, सम और मित्रता होने में चार गुण तथा दोनों की मित्रता या दोनों का राशि स्वामी एक होने से पांच गुण होते हैं जो अधिकतम मिलान है।

छठा मिलान देवता, मनुष्य व राक्षस गण का किया जाता है जो क्रमशः सत्व, रजस एवं तामस गुणों का मिलान है। अश्विनी, मृगशिरा, रेवती, हस्त, पुष्य, पुनर्वसु, अनुराधा, श्रवण, स्वाती, इन 9 नक्षत्रों की देवता गण (सात्विक गुण) तीनों पूर्वा, तीनों उत्तरा, आद्रा, रोहिणी, भरणी इन 9 नक्षत्रों की मनुष्य गण

(राजस गुण) तथा कृत्तिका, मघा, आश्लेषा, विशाखा, शतभिषा, चित्रा, ज्येष्ठा, धनिष्ठा, मूल, इन 9 नक्षत्रों की राक्षस गण (तामस गुण) संज्ञा है, जिसका आशय यही होता है कि किसमें कौन सा गुण अधिक है। इसमें वर कन्या एक गण हो तो परम प्रीति, देवता–मनुष्य में समानता, मनुष्य और राक्षस में मृत्यु तथा देवता एवं राक्षस में महा वैर होता है। इस मिलान में निम्न विचार मुख्य हैं :–

1. वर कन्या की राशि स्वामियों में अथवा राशि के नवांश स्वामी से मित्रता हो तो गण का दोष नहीं माना जाता है और विवाह शुभ होता है।
2. यदि राक्षस गण की कन्या हो और मनुष्य गण का वर हो तो आवश्यकता होने पर गुणों की अधिकता में विवाह किया जा सकता है।
3. राक्षस गण का वर हो व देव गण की कन्या हो तो योनि की मित्रता मिलने पर विवाह करें, ऐसा गर्गाचार्य का मत है।

सातवां भकूट अथवा राशि मिलान होता है। वर और कन्या की द्वितीय और बारहवीं राशि में मित्रता नहीं अर्थात निर्धनता है क्योंकि दूसरी धन की तथा बारहवीं व्यय की राशि होती है। इससे धन कहाँ ? नवम एवं पंचम होने से संतान का अभाव होता है क्योंकि पंचम स्थान संतान का और नवम तप का है। तपस्या में ब्रह्मचर्यादि नियम संधान से संतान कहां से हो सकती है। छठे और आठवें में (जिसे आम तौर पर छठाठें भी कहते हैं) मित्रता नहीं, आयुनाशक है, क्योंकि छठा स्थान शत्रु का और आठवाँ आयु का है। शत्रु होने से आयु कहाँ ? शेष चतुर्थ–दशम और तृतीय–एकादश सम–सप्तम राशियाँ शुभ हैं। इसी में तारतम्य प्रीति षडष्टक, नव पंचक, द्विदार्शक, दुष्ट कूट, विशेष द्वादश कूट आदि का विचार किया जाता है पर मुख्य विचार यह है कि वर की राशि से कन्या की राशि अधिक दूर हो तो विवाह शुभ नहीं होता है।

आठवाँ मिलान नाड़ी का होता है। ज्येष्ठा, मूल, अश्विनी, आद्रा, पुनर्वसु, शतभिष, पूर्वाभाद्रपद, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, नक्षत्र की आदि नाड़ी है। मृगशिरा, चित्रा, अनुराधा, भरणी, धनिष्ठा, पुष्य, पूर्वाषाढ़, पूर्वा फाल्गुनी, उत्तराभाद्रपद की मध्य नाड़ी है। रोहिणी, कृत्तिका, आश्लेषा, मघा, स्वाती, विशाखा, उत्तराषाढ़, श्रवण, रेवती इनकी अन्त नाड़ी है। कन्या–वर दोनों के नक्षत्र जो एक नाड़ी में पड़ें तो विवाह नेष्ट माना जाता है। मध्यम नाड़ी में मृत्यु हो, इससे सब प्रकार वर्जित है। सब कूटों का शिरोमणि नाड़ी कूट है इस लिये इस पर भले प्रकार विचार करना चाहिये क्योंकि ब्रह्मा ने इसको कन्या के गले में (सूत्र) कारण रूप से बनाया है।

नाड़ी दोषापवाद – नक्षत्र एक और राशि पृथक हो या राशि एक और नक्षत्र पृथक हो तो वर कन्या में अत्यन्त प्रीति हो। कृत्तिका, रोहिणी की तरह नाड़ी दोष नहीं है। राशि एक है, नक्षत्र अलग है। वर कन्या की एक राशि हो,

नक्षत्र पृथक हो तो वशिष्ठ ऋषि के मत से विवाह शुभ है, गण नाड़ी का भी विचार न करना चाहिये। एक नक्षत्र में उत्पन्न हुए वर कन्या का नाड़ी दोष नहीं है। अन्य नक्षत्रों में नाड़ी वेध त्यागना चाहिये। यदि कन्या की एक राशि और नक्षत्र पृथक हो तो विवाह शुभ है। सम्पूर्ण अर्थात राशि, नक्षत्र चरण एक हो तो मृत्यु कारक है। एक चरण के विषय में दृष्टांत रूप से भी निषेध किया गया है कि जैसे अग्नि अपनी तेजोरूप मूर्ति को नहीं जलाता, जिस प्रकार देखने वाला अपनी आँख नहीं देख सकता, इसी तरह एक चरण होने पर समानता हो गयी। समानता होने पर वर कन्या का मेल ठीक नहीं क्योंकि स्त्री पति के वश में न रहेगी।

इसी तरह नक्षत्र दोष परिहार भी होता है। विशाखा, आद्रा, श्रवण, पुष्य, रोहिणी, उत्तराभाद्रपद, रेवती, मघा ये नक्षत्र दोनों के हों तो एक नक्षत्र का दोष नहीं होता, औरों में होता है। नाड़ी दोष ब्राह्मणों को, वर्ण दोष क्षत्रियों को, गण दोष वैश्य को और योनि दोष शूद्र को विशेष विचारना चाहिये। आदि नाड़ी से वर की हानि, मध्य से कन्या की और अन्त्य नाड़ी दोनों की हानि करती है। नाड़ी दोष न होने से और गुण भी सार्थक हो जाते हैं। नाड़ी दोष होने पर सम्पूर्ण गुण बकरी के गले के थन के समान निरर्थक हो जाते हैं।

इस प्रकार उपरोक्त आठ प्रकार के कुल 36 गुणों का मिलान किया जाता है। 16 गुणों तक विवाह निन्दित है और नहीं किया जाता। 16 के उपरान्त 20 गुण तक मध्यम, 20 के उपरान्त शुभ और 30 के ऊपर सर्वश्रेष्ठ है। अत्यधिक गुण 34 तक मिलते हैं। प्रत्येक पत्रे या पंचांग में गुण सारिणी एवं गुण चक्र लगा होता है जिसके आधार पर कोई भी साधारण ज्ञान वाला व्यक्ति वर कन्या का नक्षत्र चरण देख कर गुणों का मिलान कर सकता है।

इस मिलान के पश्चात भी मंगल विचार किया जाता है क्योंकि कुंडली में मंगल योग रहने पर विवाह में अत्यधिक विलम्ब एक सामान्य सी बात है। अनेक प्रकार की अड़चनें आती हैं और ठीक ठीक कुंडली मिलान न करने पर अनिष्ठ फल भी प्राप्त होते हैं। वर कन्या की कुंडली में मंगल 1, 4, 7, 8, 12 इन स्थानों में पड़े तो मंगली दोष माना जाता है और इन भावों में पाप ग्रहों की स्थिति 35 प्रतिशत लोगों के दाम्पत्य सुख को हानि पहुँचाती है। यह स्थिति तब होती है जब मात्र जन्म लग्न से प्रारम्भ कर इन भावों में पाप ग्रहों की संभावना का विचार किया जाता है। इसको यों भी समझा जा सकता है कि लग्न में मंगल हो तो स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता हे। व्यक्ति स्वभाव से उग्र एवं जिद्दी होता है। चतुर्थ स्थान में मंगल होने पर जीवन में भोगोपभोग की सामग्री में कमी रहती है। यहाँ स्थित मंगल की सप्तम स्थान पर दृष्टि पड़ती है जो दाम्पत्य सुख को हानि तथा पत्नी के स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचाता है। इस सप्तम स्थान में स्थित मंगल की दशम एवं द्वितीय स्थान पर भी दृष्टि पड़ती हैं। दशम स्थान आजीविका का

तथा द्वितीय स्थान कुटुम्ब का होता है। अतः इस स्थान में स्थित मंगल आजीविका एवं कुटुम्ब पर भी अपना प्रभाव डालता है। अष्टम स्थान में स्थित मंगल जीवन में विघ्न, बाधा एवं अनिष्टकारक माना गया है। इस स्थान में स्थित मंगल कभी–कभी दम्पति में से किसी एक की मृत्यु भी कर सकता है। द्वादश स्थान में स्थित मंगल व्यक्ति की क्रयशक्ति (व्यय) को प्रभावित करने के साथ सप्तम स्थान पर अपनी दृष्टि द्वारा साक्षात दाम्पत्य सुख को भी प्रभावित करता है।

देखा जाय तो संसार के 80 प्रतिशत व्यक्ति लग्न, चंद्र, शुक्र अथवा लग्न से तुल्य स्थानों मे मंगल अथवा क्रूर ग्रह शनि, राहु, केतु, सूर्य के होने से कुछ न कुछ कष्टकारक स्थिति से प्रभावित रहते हैं। महात्मा गांधी, डाक्टर संपूर्णानन्द, मुसोलिनी, स्टालिन, प्रसिद्ध खत्री सम्राट वीर विक्रमादित्य, स्वयं भगवान रामचन्द्र, अमरीका के प्रेसीडेंट जान कैनेडी, महारानी एजिलाबेथ द्वितीय, सभी लग्न से गणना करने पर मंगली थे किन्तु उन्हों ने संसार में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त की। वास्तविकता तो यह है कि दाम्पत्य सुख का निर्णय करने वाले अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों में से मंगली दोष एक है। यह अकेला न तो दाम्पत्य जीवन को सुखमय बना सकता है और न ही दुःखमय। अतः केवल मंगली के नाम से घबड़ाना नहीं चाहिये तथा सभी ग्रहों की प्रभाव क्षमता का अच्छी तरह विश्लेषण एवं इसके समग्र प्रभाव का निर्णय किसी योग्य विद्वान से ही कराना चाहिये तथा उसकी राय के अनुसार कन्या के विवाह में विलम्ब व मंगल दोष दूर करने के निमित्त अमोघ उपाय (अनुष्ठान, जप, पूजन, मंगलागौरी व्रत, मंगलवार व्रत, मंगलस्त्रोत्र पाठ, लाल स्याही से राम राम लिखना आदि) करना चाहिये। मंगल के कारक, बली, कमजोर, अस्त या नीच अथवा उच्च का होने एवं उसके स्थान भेद से भी उसके प्रभाव में अंतर पड़ता है अतः मांगलिक योग होने पर मंगली कन्या का विवाह मंगला वर के साथ ही करना चाहिये। इससे मंगल दोष का शमन होता है। जिस स्थान में कन्या के मंगल हों वहीं वर के हों और पाप ग्रह भी इसी प्रकार हों तो विवाह शुभ होता है और आयु तथा संतान की वृद्धि करने वाला होता है। इसी तरह चन्द्रमा तथा शुक्र से 1, 4, 7, 8, 12 स्थानों में मंगल अथवा पाप ग्रह हों तो उन्हें दाम्पत्य सुख के लिये हानिकारक माना जाता है क्योंकि चंद्रमा मन का और शुक्र विवाह एवं दाम्पत्य सुख का प्रतिनिधि माना जाता है। गुणों की अधिकता अथवा दोनो के तुल्य मंगल हो तो ग्रह मेलापक अच्छा होने से विवाह शुभ माना जाता है।

मंगली दोष परिहार

राहु 1, 4, 7, 8, 12 इन स्थानों में हो तो मंगली का दोष नहीं होता। यदि शनि 1, 5, 7, 8, 12 स्थानों में हो तो मंगल का दोष दूर करता है। इसी प्रकार मंगल, शनि अथवा पाप ग्रह तुल्य स्थानों में हों तो भी मंगल का दोष नहीं होता।

यदि मंगल अपने घर, मेष–वृश्चिक (1, 8) का हो अथवा उच्च राशि मकर (10) का या वर्गोत्तम (अपने या मित्र के नवांशादिक में हो) या बलवान उपचय (3, 6, 10,11) में हो तो मंगल का दोष नहीं है।

इनके अलावा वैधव्यादि विचार, विषकन्या दोष एवं उसका परिहार, दाम्पनाशक योग, आयु विचार आदि भी किया जाता है जिसे सुहाग संतान आदि का विचार कहते हैं। इन विचारों में एक मुख्य तथ्य यह भी है कि जन्म कुंडली में बुध, गुरु, शुक्र (शुभ ग्रह) में इनमें से एक भी लग्न से केन्द्र (1, 4, 7, 10 स्थान) में हो तो संपूर्ण अरिष्टों का नाश करते हैं जैसे सूर्य अंधकार का। अकेला लग्नेश ही बली हो कर केन्द्र में स्थित हो तो सम्पूर्ण अरिष्टों का नाश करता है जैसे श्री महादेव जी ने त्रिपुरासुर का नाश किया था। शुक्ल पक्ष में जन्म हो और शुभ ग्रह लग्न को देखते हों तो भी समस्त अरिष्ट दूर हो जाते हैं। लग्न से चौथे यदि पाप ग्रह हो और केन्द्र यात्रिकोण (नवें, पांचवें) में गुरु (बृहस्पति) हो तो दोनों कुलों में आनन्द करे और रोग रहित तथा दीर्घायु वाला हो, ऐसा माना जाता है।

गुणों का साधारण मिलान तो कोई भी व्यक्ति साधारण ज्ञान से पंचांग या पत्रे के गुण सारिणी चक्र से ज्ञात कर सकता है पर अन्य विशिष्ट ज्ञान के लिये किसी विद्वान ज्योतिषी, पंडित, पुरोहित के पास जाना ही पड़ता है। इतने पर भी इससे केवल गुण दोषों के मिलान की दिशा ही जानी जा सकती है। गुण दोषों के बिना तो स्वयं ब्रह्मा भी नहीं हैं अतः पूर्णता की आशा करना तो व्यर्थ ही है। फिर मनुष्य के भाग्य में कर्म ही प्रधान है इस लिये स्वयं भगवान कृष्ण ने गीता में भी कर्म का ही उपदेश दिया है क्योंकि उसकी गति से प्राणि नाम का कोई भी जीव अछूता नहीं है। इस लिये जिन लोगों को इन चीजों में विश्वास है वही कुंडली का मिलान करवाते हैं और जो विश्वास नहीं रखते वे ठाकुर जी के समक्ष दोनों कुंडलियों को रख कर बिना मिलान करवाये ही सुहाग, सन्तान व अन्य सब बातों की व्यक्तिगत जानकारी कर के विवाह सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं।

सजातीय विवाह की वैज्ञानिक प्रथा

जन्म कुंडली के मिलान की प्रथा तो खत्रियों में एक समय शुद्ध रक्त के आर्यवंशी क्षत्रिय खोज कर संबंध निश्चित करने तथा सगोत्र विवाह से बचने एवं मातृमह की 5 व पिता की 7 पीढ़ियों में विवाह सम्बन्ध करने से बचने के लिये प्रारम्भ हुई थी, ऐसा प्रतीत होता है। पर चल वह अब तक रही है और खत्रियों में ही इसकी प्रथा विशेष रूप से है जो इसी जाति की विशेषता है।

किसी भी जाति की संस्कृति को गतिमान बनाये रखने में दो व्यवस्थाओं का बड़ा हाथ होता है। एक तो पिंड गति प्रगति को सुरक्षित बनाये रखना और दूसरा संस्कारगत प्रगति को संतुलित बनाये रखने का प्रयास। यह तो सर्वविदित है कि माता पिता अपने ही पारम्परिक संस्कार एवं गुण अपनी संतान को देते हैं इसी लिये उत्तम संतान की कामना से और रक्त पिण्ड की श्रेष्ठता बनाये रखने

के लिये पूर्ण प्रयास किया जाता है। यह कार्य विवाह सम्बन्धों पर प्रभावी नियंत्रण रख कर ही किया जाता हैं । विवाह सम्बन्ध साधारणतया तीन प्रकार के होते हैं :

1. **सगोत्र विवाह (Exogamy)** अर्थात अति निकट के सम्बन्धों में विवाह करना।
2. **सजातीय विवाह (Indogamy)** अर्थात एक ही प्रकार के रक्त समूह में परन्तु अति निकट के सम्बन्धों को बचा कर विवाह सम्बन्ध करना।
3. **विजातीय विवाह (Hypergamy)** अर्थात बिना किसी प्रकार के रक्त समूह का विचार किये विवाह सम्बन्ध स्थापित करना।

आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध हो चुका है कि अति निकट के विवाह सम्बन्ध सन्तान की मानसिक एवं शारीरिक प्रगति में बाधक होते हैं और विजातीय विवाह विकृतियाँ उत्पन्न करते हैं। इन्हीं वैज्ञानिक कारणों को ध्यान में रखते हुए हमारे पूर्वजों ने माता की पाँच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी तक विवाह सम्बन्धों को वर्जित माना था तथा अपने ही समूह में विवाह सम्बन्ध करने की अनुमति दी थी जो खत्रियों (क्षत्रियों) की जातीय परम्परा बनी जिसके कारण आज भी खत्रियों में खन्ना, खन्नों में लड़की नहीं देता। मेहरोत्रा, टण्डन, कपूर सेठ आदि कोई भी परिवार अपने ही अल्ल की लड़की लेना पसन्द नहीं करता। मनुष्य के शरीर में छिपे शक्तिशाली रक्त पिण्ड और उसके संस्कार ही उसके वैभव की बुनियाद होते हैं। खत्री जाति का तो सम्पूर्ण इतिहास ही इस सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने के प्रयास का ही इतिहास है और यही इस जाति के आर्थिक और सामाजिक वैभव की नींव है इसी लिये खत्री जाति में सजातीय विवाह ही होते हैं और सगोत्र तथा विजातीय विवाह की प्रथा से दूर ही रहा जाता है।[1]

देश के बंटवारे के पूर्व तक पच्छइयें (पश्चिमार्धे) खत्रियों के अधिकांश बच्चे जीवन में एक बार 'चोटी उतरवाने के लिये' पंजाब में बाबे के मन्दिर में जाते थे और इस प्रकार पंजाब से उनका सम्बन्ध भावनात्मक रूप से जुड़ा रहता था। इन पछैंयें खत्रियों में नू (बहू) धी (पुत्री) पुत्तर (पुत्र) भावों (माँ) कुड़ी (लड़की) गुत्त (चोटी) का प्रयोग अब तक होता आ रहा है और विवाह आदि के अवसर पर दोहे, सिठनी में भी बड़ी मात्रा में पंजाबी शब्दों का प्रयोग आज तक होता है। यहाँ तक कि इनके उच्चारण की ध्वनि भी वही है। खत्री भले ही आज देश के किसी भी भाग में बसे हों किन्तु इन शब्दों के प्रयोग के सहारे उनके प्राचीनता के मूल को अवश्य खोजा जा सकता है। एक दोहे का उदाहरण है :

अजो हन्थ जोड़ बिन्ती करूं, बे भाई समधी, कोई बहुत करूं अरदास।
गरीब घरों की बेटियाँ, बे कूडम राजे बेटियाँ, कोई रखना मन चितलाय।
वे साजन चिरंजिओ।।

1. खत्रियों की जातीय सम्पत्ति–विशेश्वर नाथ मेहरोत्रा–खत्री हितैषी स्वर्ण जयंती विशेषांक 1987 में प्रकाशित लेख।

दो खरबूजे रुत भरे, भाई समधी, कोई बीच चने की दाल।
समधी समधी दो जने, कोई हीरे कोई लाल।
वे साजन चिरंजिओ।।
सूरत तुमरी लिख धरूं, ले कर कलम दवात, वे साजन ले कर कलम दवात।
लाखों में पहचान लूं, तेरी वही कदीमी चाल।
वे साजन चिरंजिओ।।

पूर्विये, पच्छैंये, आगरे वाल, दिलवालिये, लाहौरिये किसी भी विभाग मे इसका प्रचलन ढूँढ़िये और मिलाइये तो केवल भाव और शब्दों में ही नहीं उच्चारण तक में समानता देख कर खत्रियों के इतिहास की परतें की परतें खुल जायेंगी। आवश्यकता केवल इनके संग्रह और खोज की है। पूर्वियों में तो स्पष्ट रूप से "वे साजन चिंरजिओ" की जगह "रे समधी (समधिन) जी हाँ" चलता है तथा सिठनी, दोहे पूर्णतः पंजाबी रूप में ही विद्यमान हैं। खेद की बात तो यह है कि इस प्रकार के पूर्णतः खत्री साहित्य को खोजने, उनके संग्रह और विशिष्ट विश्लेषण के प्रति किसी भी खत्री उत्साही युवक ने रुचि नहीं दिखायी है जब कि इनकी धारा प्राचीन काल से आज तक अबाध गति से बहती चली आ रही है और प्रायः इनमें मीठी–मीठी गालियों, तथा तीखी नोक झोंक की झलक भी होती है। यह प्रथा अब प्रायः लुप्त प्राय है। यही स्थिति विवाह के समय खत्रिय वर के द्वारा कहे जाने वाले छन्द/दोहों की भी हैं। अपने आप में यह एक ऐसा विशाल साहित्य है जिसमें खत्रिय समाज के सम्पूर्ण वर्गों/विभाजनों/तड़ों एवं अल्लों की पूर्ण झलक है।

खत्रिय समाज में **बहुपत्नी प्रथा** नहीं है और **दहेज प्रथा का भी अभाव है**। अतः इसी कारण से कन्या के जन्म को बहुत बुरा नहीं समझा जाता। कन्या को लक्ष्मी का ही अवतार माना जाता है और प्रायः पिता का स्नेह कन्या के प्रति अधिक होता है। पहले विधवा विवाह प्रथा नहीं थी पर अब उसे भी मान्यता मिल गयी है। पहले विवाह के बाद गौना होता था पर अब प्रायः दोनों रस्में एक साथ हो जाती हैं। विवाह अब भी मण्डप के नीचे होता है और वेदी बनायी जाती तथा फूलों से सजाई जाती है। मण्डप के पूर्व जयमाल की प्रथा पहले केवल पच्छइयें खत्रियों में ही थी पर अब प्रायः सभी वर्गों में है। वर मौर नहीं बांधता। लाहौरी खत्रियों में मुकुट की प्रथा हैं। वर तलवार ले कर घोड़े पर सवार हो कर ही विवाह के लिये जाता है। जयमाल, वेदी और वीर वेश तथा कन्या के मामा द्वारा मन्सा हुआ सौभाग्य का प्रतीक हाथी दाँत का लाल रंग का चूड़ा तथा कन्या द्वारा राजवंश का द्योतक सालू (विशेष रंग के कपड़े की ओढ़नी) खत्रियों की विशेष प्रथा है जो इनके क्षत्रिय वर्ग में होने की सूचक है। विवाह में भांवर, सप्तपदी, शाखोच्चार, ब्राह्म विवाह की रीति से होता है। भांवर के उपरान्त ही कन्या वर के वामांग में आती है और उस समय से उसका गोत्र पति का गोत्र हो जाता है।

प्राचीन समय से ले कर आज तक खत्री घरों में प्रायः सात्विक भोजन का

ही प्रयोग होता आया है। इनके यहाँ प्याज, लहसुन, गोश्त नहीं बनता था। अब भी प्रीतिभोजों और संस्कारों के अवसर पर इनका बहिष्कार किया जाता हैं। प्रायः दिन में कच्ची रसोई और शाम को पूरी खाने की प्रथा है। इसके बगैर किसी खत्री का पेट ही नहीं भरता। स्त्रियाँ अब भी पुरुषों के बाद ही भोजन करती हैं। स्त्रियाँ मांस–मदिरा का सेवन नहीं करतीं।

सामाजिक प्रथाओं में खत्री वैदिक धर्मावलम्बी होने के कारण धार्मिक दृष्टि से जैन मंदिरों में नहीं जाते। देव कार्य (देवकाज) के पहले अपनी कुल देवी के दर्शन नहीं करते। खत्रिय स्त्रियाँ पति के साथ ही यज्ञ आदि करती हैं। गर्भिणी उसी तल पर खड़े हो कर मृतक को नहीं देखती जहाँ लाश पड़ी हो। स्त्रियाँ या बिना जनेऊ (यज्ञोपवीत) वाले बालक श्राद्ध नहीं करते। स्त्री पुरुष भिक्षा नहीं मांगते और न दान ही स्वीकार करते हैं। गौ बेचना या हल चलाना खत्रियों में बुरा समझा जाता है। घरों में नवरात्रि में कलश स्थापन, ज्योति जलाना एवं दुर्गा पूजन कराना स्त्रियों का ही एकाधिकार है तथा दशहरे पर शस्त्र एवं बहीखाता आदि पूजन पुरुषों का। दीपावली के पहले अहोई अष्टमी पर किया जाने वाला पूजन वस्तुतः खत्रियों के प्राचीन पराक्रम और वैभव की स्मृति है। प्राचीन काल में इस 'कर अष्टमी' के दिन खत्री कुमार कर वसूल करके लाते और उत्सव मनाते थे परन्तु प्राचीन इतिहास के अज्ञान के कारण इसी का नाम अब भीख हो गया है। फलतः भीख समझने के कारण कर लेने की यह प्रथा अब बन्द हो रही है और केवल अहोई का पूजन किया जाता है। कर के नाम पर कोई राशि वसूलना अब सम्भव भी नहीं है।

प्रायः स्त्रियाँ ही घरों की प्रबन्धक होती हैं। भोजन व्यवस्था, बच्चों की देखभाल, घर की सुरक्षा, दैनिक खर्च और परिवार की आमदनी खर्च का हिसाब किताब प्रायः स्त्रियाँ ही करती हैं। बालिकाओं का पूजन देवी की तरह किया जाता हैं। स्त्रियाँ प्रायः पुरुषों से पहले ही उठती हैं। विधवा रंगीन कपड़े नही पहनती और बिन्दी भी नहीं लगाती है। अंत्येष्टि में पौत्र और दोहितों से सम्पन्न वृद्धों का विमान बनाया जाता है। सुहागिन की शवयात्रा सजा कर और चुँदरी उढ़ा कर की जाती है। दामाद शव को कंधा नहीं देते। यह कार्य परिवार वालों एवं इष्ट मित्रों का ही समझा जाता है। श्राद्ध एवं शव यात्रा में नाती की उपस्थिति विशेष रूप से उत्तम मानी जाती है।[1] शवदाह के बाद अस्थियों को फूल माना जाता है और इन फूलों का प्रयासतः पवित्र गंगा नदी के जल में या किसी अन्य पवित्र नदी के जल में विसर्जन किया जाता है। इस परम्परा में भी एक रहस्य है जो इस प्रकार हैः

अंतिम संस्कार का सूर्य, चन्द्र, अग्नि वंशी रहस्य

सर्वप्रथम तो केवल आदि पुरुष पुरुषोत्तम ही अव्यक्त रूप में था और जब उसकी व्यक्त रूप में आने की इच्छा हुई तो उसने जिन स्थूल तत्वों को प्रकट किया वह आकाश, वायु, अग्नि आदि ही थे, जो व्यक्त नहीं थे। व्यक्त रूप में

1. खत्री जाति परिचय–पृष्ठ 114, 115, 117 एवं 123–124

उस समय केवल जल ही प्रगट हुआ, जो प्रत्यक्ष था। वह जल आपः अर्थात स्त्री या गर्भ रूप हुआ जो धारणकर्ता था। प्रथम ऋषि अत्रि की उत्पत्ति उसी जल रूप (नेत्र जल) से हुई जिससे चन्द्र वंश के संस्थापक चन्द्रमा की उत्पत्ति हुई। फिर वह अव्यक्त स्थूल अण्ड रूप हो कर (मार्तण्ड रूप से) जल में प्रवेश कर गया और वर्षों तक जल रूप गर्भ में ही स्थित रहा। उसी से मार्तण्ड (सूर्य) उदित हुए और आदि में प्रकट होने से आदित्य कहलाये जो सूर्य वंश के आदि पुरुष हुए। अपनी प्रकृत अवस्था में धारणकर्ता गर्भ रूपी जल (स्त्री–चन्द्र) एवं अण्ड (मार्तण्ड) रूप सूर्य की अपनी अपनी अलग सत्ता थी किन्तु चेतनता न होने से दोनों ही अपनी अपनी जगह विद्यमान थे किंतु उनमें कोई वाह्य चेतनता नहीं हो रही थी। अतः वह अव्यक्त पुरुष ही चेतन अग्नि रूप से जल में स्थित उस अण्ड में प्रविष्ट हो गया और तब वह अण्ड में समाविष्ट यज्ञ पुरुष अग्नि तेज से युक्त हो कर बाहर निकल आया और मार्तण्ड हुआ। अंगिरा ऋषि ने घोर तपस्या द्वारा इन्हीं अग्नि पुरुष की समानता प्राप्त की अतः वे ही अग्नि वंश के प्रवर्तक हुए। इस प्रकार चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि यही तीनों वंश चलने लगे। मृत्यु के समय पुनः यह क्रम उलट जाता है। सर्वप्रथम अग्नि वंश या चेतन अग्नि शरीर को त्यागता है तो शरीर से उष्णता समाप्त हो जाती है और शरीर ठंडा हो जाता है तथा किसी काम का नहीं रह जाता। यही जल रूपी गर्भ में स्थित अण्ड शेष या सूर्य वंश है जिसे उसी अग्नि के माध्यम से भस्म कर समाप्त कर दिया जाता है। इससे सूर्य वंश समाप्त हो कर केवल उस परम पुरुष की स्मृति रूप कुछ पुष्प चिन्ह तत्व रूप से रह जाते हैं जिन्हें उसी को लौटाना होता है। अतः इन्हें पुनः उसी जल रूपी गर्भ चन्द्र वंश मे प्रवाहित कर दिया जाता है जो उस परम तत्व की प्रथम अभिव्यक्ति है। महाप्रलय के समय वह इस प्रथम अभिव्यक्ति जल रूप गर्भ को भी प्रथमतः विस्तार कर समस्त तत्वों को उसमें लीन कर पुनः अपने में ही लीन कर लेता है और अपने एकार्णव रूप में स्थित हो जाता एवं बाद में पुनः इसी प्रकार प्रगट करता है। इसी लिये धारणकर्ता जल की गर्भ (नारी) रूपी मातृशक्ति की पूजा होती है और यही मृत्यु संस्कार और उसका तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि वंश का अर्थ एवं रहस्य है जो अंततः एक ही अव्यक्त रूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार अग्नि संस्कार से सृष्टि प्रक्रिया ही दोहरायी जाती है।

*****

अध्याय–9 खत्रियों का परस्पर पारिवारिक सम्बन्ध

प्राचीन समय में जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की गयी थी उसमें ब्राह्मण का धर्म मोक्ष के लिये, क्षत्रिय का धर्म भोग के लिये, वैश्य का धर्म अर्थ के लिये और शूद्र का धर्म, धर्म के लिये विधान करते हुए सभी धर्मों की सिद्धि का मूल सेवा ही बताया गया था। श्रीमद्‌भागवत (3/6/30–33) में अपने से बड़ों एवं देवताओं के चरणों की वन्दना का प्राविधान इसी लिये किया गया था ताकि श्री हरि (भगवान श्री विष्णु) प्रसन्न हों। अतः प्राचीन समय में साष्टांग दण्डवत करने की प्रथा थी। ब्राह्मणों के पैर छू कर प्रणाम किया जाता था ताकि उनके आशीर्वाद से स्वधर्म पालन की क्षमता एवं मोक्ष प्राप्त हो। ब्राह्मण भी 'आयुष्मान भव', 'यजमान सुखी रहो' कह कर आशीर्वाद देते थे। पंजाब में ब्राह्मण को देवता तथा अन्य स्थानों में गुरू आदि संबोधित करते थे। दण्डवत के ही अन्य रूप मत्था टेकना, पैरों पड़ना, पांय लागी, नमस्ते, जय राम जी की, आदि हैं और उत्तर में आशीर्वाद के भी अन्य रूप, अवस्था के अनुसार 'सदा प्रसन्न रहो, सदा सुहागिन रहो, दूधो नहाओ, पूतों फलो, नाती पोते खिलाओ' आदि होते हैं। साथ ही अपने से बड़ों को उच्च्व स्थान देना, बड़ों या पूज्यों के आने पर उठ कर खड़े हो कर स्वागत करना आदि एक ऐसी परम्परा है जो आदर एवं सम्मान प्रगट करने के लिये आज तक अपनायी जाती रही है। इसी प्रकार अपनी बात को धर्म के साक्ष्य से पुष्ट करने के लिये, ईश्वर की, ईमान की, जनेऊ की, गंगा की, पिता की, विद्या माई की कसम खायी जाती है या अपने सर्वप्रिय संबंधियों, बेटा, बेटी, औलाद, अपना ही लहू, भाई आदि की कसम खाई जाती है। इनमें धार्मिकता का मुलम्मा तो शास्त्र सम्मत ही है और अन्य प्रकार सापेक्ष प्रमाण माने जाते हैं।

परिवार के बाद सामाजिक सम्बन्ध कई परिवारों के आपस में मिलने जुलने पर बनते हैं और ऐसे अवसर होते हैं विवाह अथवा मृत्यु के संस्कार। उस समय परिवार जाति में समा जाता है और उस समय जाति की एकरूपता प्रकट होती है। ऐसे समय पर जिन लोगों के पूर्वज एक हैं उनका संबंध अधिक प्रगाढ़ हो जाता है। इसी तरह जब किसी परिवार में कोई मृत्यु होती है तो जो लोग परिवार के हैं या जिनकी उस परिवार से रिश्तेदारी है उनका मृत्यु संस्कार में भाग लेना अनिवार्य हो जाता था।

किसी आगुन्तक के आने पर संस्कारकर्ता किसी को सलाम, प्रणाम, नमस्ते आदि अभिनन्दन का कोई शब्द नहीं कहता था और ऐसे समय किसी को स्वागत के लिये पान, इलायची आदि को नहीं पूछा जाता था। एक ही परिवार के लोग अपने सर भी मुंड़वाते थे। किसी विवाह में शामिल होने की तो उपेक्षा की जा सकती थी किन्तु मृत्यु संस्कार में नहीं और कोई नजदीकी रिश्तेदार मृत्यु संस्कार में भाग लेने की उपेक्षा नहीं कर सकता था। इसी को मुकामी चुकाना

भी कहते थे। यदि किसी परिवार से कोई सूचना मिलने पर भी व्यक्तिगत रूप से या संवेदना पत्र द्वारा कोई मुकामी नहीं चुकाता था तो उस परिवार से अग्रेतर सम्बन्ध तब तक बंद रहता था जब तक किसी प्रकार से मुकामी नहीं चुक जाती थी। शमसान से लौटने पर घर वाले अपने द्वार पर आ कर भीतर जा कर पुनः बाहर आ कर बिरादरी के सामने हाथ जोड़ कर कृतज्ञता प्रकट करते, तभी सब भाई व इष्ट मित्र अपने घर जाते थे। इसी प्रकार प्रारम्भ से अब तक विवाह सम्बन्ध मे औपचारिक बातचीत परिवार के मुखिया से ही की जाती रही है, उसके अन्य सदस्यों से नहीं। इससे परिवार का सम्बन्ध दृढ़ होता है तथा ऐसे ही मौकों पर सब का भाग लेना अनिवार्य हो जाता है। यह प्रथायें अभी तक विद्यमान हैं।

*****

अध्याय–10 खत्रिय संस्कार

खत्रियों में रजोधर्म, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोनयन (भोड़े या गोद भरना), जामा, नार काटना, चरुआ चढ़ाना, नामकरण, छठी, बधाई, ब्याही, वस्त्र (पेके के), देहली पूजन, चोला पहनाना, जंडी बाल, चौरसी, पैर फेरना, अन्न प्राशन, विद्यारम्भ, मुंडन, परमुंडन, देवकाज (देवकार्य), पूज, तनी कढ़ाई, शान्ति, विवाह, शगुन, कुंआरी, मिलनी, खिलौना चढ़ाना, राह खर्च, कन्या पक्ष का खर्च, नानका, परनानका, हथभरना, मुहूर्त कढ़ाई, बटना, बसना, अगवानी बारात, जनवासा, मेजवानी, बुस्सा, छक्क, हलूफा, मिलनी, (जनानी व मर्दानी) छन्दरी भरना (घड़ा घड़ौली), रसो, तनी छूना, विदंडा, वेदी, सजावट वेदी, टिक्की देना, काँजी चखाना, चूड़ा मंसना, सूपना, कुंआर धोती या सुहाग पिटारी, मैल खोलना, घोड़ी, तिलक, कन्यादान, सप्तपदी, फेरा, भांवरी, चौलावा, राजतखत, सरवरमठ, राजपीढ़ी, लहसी, मुँह दिखाई, फूल चढ़ाना, तहरी और स्नान, बरी, खट्ट मंसना, समधी ज्योनार या जंड, फड़, कन्या विदाई, सत्ताहूरा, कोंढ़ा, थाली, गंगा माता पूजन, तेहवारी, मुकलावा, दोहे या सिठनी, वर के पास तलवार का रहना, विवाह के पूर्व ससुराल तनी छूने जाना, द्वार पर टंगी चलनी तलवार से गिराना, विवाह के बाद तनी खोलना, भट्टी तोड़ना, कन्या का विवाह के समय सालू ओढ़ना आदि ऐसे अनेक रिवाज और रीतियाँ हैं जो प्राचीन समय के स्वयंवर और युद्धों के लक्षणों की प्रतीक हैं तथा अनेक रीतियाँ क्षत्रिय परम्पराओं का अनुकरण ही हैं जो किसी न किसी रूप में चली आ रही हैं। बहुत से रिवाज समाप्त हो गये हैं, बदल गये हैं या नये चल गये हैं। इन सबको खत्रिय जस्टिस वेद प्रकाश बेरी (जयपुर) की सद्य प्रकाशित पुस्तक "खत्रिय इतिहास' में अद्यावधिक किया गया है तथा प्रायः सभी खत्रिय इतिहासों में इनका वर्णन मिल जाता है जिससे एक बात सर्वमान्य रूप से स्पष्ट हो जाती है कि क्षत्रिय परम्परा के बहुत से रीति रिवाज आज भी नहीं बदले हैं और यह तथ्य स्वयं खत्रियों के शुद्ध रक्त के क्षत्रिय होने का स्वतः प्रमाण हैं। यही स्थिति अशुभ कार्यों सम्बन्धी संस्कारों की भी है जिसमे जापे में, मुंडन या जनेऊ से पहले की मौत, जवान की मृत्यु, अर्थी, कफन, पिंड, सपिंड, स्नान, वृद्ध अथवा विधवा अथवा सुहागिन की मृत्यु, मंत्र, अग्नि संस्कार, तिलांजलि, दिया जलाना, उठौनी, घट टांगना, बाहवां, दशगात्र, तेरहवीं, पिंड, पत्तल, क्रिया, षोडसी, सपिंडी, नारायणी, पूइया, पक्खा या सत्रहीं, मासिक श्राद्ध, सेजिया, छमाही, बरसी, बरीन, शुद्ध या चौबरसी, कनागत, पार्वण श्राद्ध, गंगा श्राद्ध, एकोदिष्ट आमान्न आदि सब वही हैं जो शास्त्रों में क्षत्रियों के लिये विहित हैं और इन पर प्रत्येक खत्रिय इतिहास में प्रकाश डाला जाता रहा है। फिर भी संक्षेप में इन्हें देखने से ही संस्कारों तथा विभिन्न रिवाजों में एकरूपता के आधार पर प्रायः सभी खत्रियों की वंश परम्परा का मूलाधार ढूँढ़ा जा सकता है और यदि कोई ऐसी सुविधा होती, जो अब सम्भवतः उपलब्ध होना कठिन है, तो प्राचीन इतिहास में खोज करते करते मूल वंश परम्परा तक पहुँचना कठिन कार्य नहीं होता।

खत्रियों में विवाह आदि की रस्में बिना किसी परिवर्तन के आज तक वैसी ही जारी हैं जैसी कि प्राचीन काल में वैदिक क्षत्रियों में प्रचलित थीं। यहाँ तक कि जो रस्में स्वयं श्री राम चन्द्र जी की शादी में अदा हुई थीं वह खत्रियों में बे हिचक अदा होती हैं। वेदी की रचना, नौशे का (चाँदी का) मुकुट बांधना और तलवार हाथ में ले कर घोड़े पर सवार हो कर ब्याहने जाना आदि वैसी की वैसी ही है।

यही स्थिति पुरोहित वृत्ति की भी है। क्षत्रियों (खत्रियों) के पुरोहित निर्विवाद रूप से सारस्वत ब्राह्मण रहे हैं। सूर्य वंश के पारिवारिक पुरोहित वशिष्ठ जी थे। इन्हीं के आठवें पुत्र 'जीतल' के वंशज 'जेतली' हुए जो सारस्वत ब्राह्मणों की एक उप जाति के हैं और आज भी मेहरोत्रों (सूर्य वंशी खत्रियों) के वे ही पुरोहित होते हैं। यह तथ्य भी सिद्ध कर देता है कि मेहरोत्रा खत्रिय श्री राम चन्द्र जी के प्रत्यक्ष वंशज हैं और उन्हीं की नस्ल के हैं। इन मेहरोत्रा खत्रियों की रीतियाँ व धार्मिक रस्में उसी तरीके पर हैं जो श्री राम चन्द्र जी के थे और जिनका विवरण पुराणों तथा श्री राम चन्द्र जी से सम्बन्धित गाथाओं, काव्यों, महाकाव्यों में व अन्य क्षत्रिय गाथाओं में मिल जाता है।[1]

शास्त्रों में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के लिये अलग अलग संस्कार विहित किये गये हैं और खत्रियों के संस्कार वही हैं जिनका विधान क्षत्रिय वर्ण के लिये किया गया है। अतः जो परिवार इन परम्पराओं का पालन नहीं करते उन्हें क्षत्रिय मानना तर्कसंगत नहीं है क्योंकि यह इस संसार में आने पर आवागमन के ही संस्कार हैं जो प्रत्येक वर्ग के लिये वेद शास्त्र सम्मत हैं।

संस्कारों की शास्त्रीय पृष्ठभूमि

संसार की प्रत्येक वस्तु जिस रूप में उत्पन्न होती है, वह उसी रूप में काम आने योग्य नहीं होती किन्तु दोष परिमार्जन, गुण आधान और हीनांग पूर्ति इन त्रिविध संस्कारों द्वारा संस्कृत हो जाने पर ही वह कार्योपयोगी बन पाती हैं। खेत में उत्पन्न हुए जौ, गेहूं और धान आदि को, प्रथम संस्कार से भूसी छिलका आदि दूर कर के, दूसरे से पीस कूट कर आटा बना कर और तीसरे से घृत नमक आदि सम्मिलित कर के भोजनोपयोगी बनाया जाता है। कपास का बिनौला निकाल कर धुनने, कातने और बुनने पर वस्त्र बनता है। उसे रंग, गोटा किनारी से सजा कर पहनने योग्य बनाया जाता है। खान से निकले सोने के अनपेक्षित मलिन अंश को फूंक–जला कर, काट छांट कर, कूट, छेद कर भूषण

1. इन तथ्यों का उल्लेख खत्री हितकारी, आगरा (पूर्व की मासिक पत्रिका) के अंक नवम्बर, 1889 पृष्ठ 216 पर तथा सन 1901 के खत्री जाति के ऐतिहासिक दस्तावेज (जो जनगणना आयुक्त श्री रिज़ले को भेजा गया) में भी है।

बनाया जाता है, फिर उसमें मोती हीरे आदि को जड़ कर पहनने लायक आभूषण बनाते हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्य में भी मातृ–पितृ–दोष अनेक कमियाँ स्वभावतः होती हैं। उनकी निवृत्ति के लिये और अनेक शिक्षाओं द्वारा उसे सुशिक्षित कर के विवाह द्वारा अर्धांग की पूर्ति कर के ब्रह्म–सायुज्य–प्राप्ति के योग्य बनाया जाता है। इन्हीं सब क्रियाओं का पारिभाषिक नाम संस्कार है।

जग्दगुरू भारत ने न केवल लोहा लक्कड़ आदि जड़ पदार्थों के ठीक ठाक करने मात्र के कारखाने खोलने में ही अपनी कर्त्तव्य परायणता समझी थी बल्कि जहाँ मनोवेग से चलने वाले महामहिम पुष्पक जैसे विमान बनाने में, शत योजन विस्तीर्ण समुद्रों पर सेतु बांध डालने में और वीर्य कीटाणुओं को गर्भ की भांति सुरक्षित रख कर सौ कौरवों, साठ हजार सगर पुत्रों को जन्म दे सकने योग्य 'घृत कुम्भ' नामक महायन्त्रों को बनाने में सिद्ध हस्त था (अभी हाल में अमरीका में भी एक भ्रूण को सात वर्ष तक सुरक्षित रखने के पश्चात उससे बालक उत्पन्न किया गया है) वही 'नर' को 'नारायण' बनाने योग्य 'संस्कार' नामक तत्तद धर्मानुष्ठानों से भी लाभान्वित होता था।

आज पाश्चात्य देशों को अपने कल कारखानों पर गर्व हो सकता है। ऐटम बम और हाइड्रोजन बमों पर अभिमान हो सकता है, परन्तु यह सब आविष्कार जिन अनुसंधानकर्ताओं के मस्तिष्कों ने किये हैं, उन मस्तिष्कों के निर्माणकर्ता नारायण के सारूप्य को प्राप्त हो जाने योग्य मानवों को बनाने की आध्यात्मिक विज्ञानशालायें यदि किसी देश में खुली हैं तो वह देश एकमात्र भारतवर्ष हैं। भारत में आज भी तादृश नर निर्माण के अमोघ रचनात्मक प्रयोग विद्यमान हैं जिनसे कि ध्रुव, प्रहलाद, अभिमन्यु, जुझावर, जोरावर और हकीकत राय जैसे बालक उत्पन्न किये जा सकते हैं, यह एक अत्यन्त गर्व का विषय हैं।

हिन्दू जाति का यह सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त है कि हमारा दाम्पत्य सम्बन्ध विषय वासना पूर्ति के लिये नहीं, अपितु पदे–पदे कटु अनुभव–प्राप्ति के क्षेत्रभूत गृहस्थ में सहैतुक निर्वेद द्वारा विषय–वैराग्य उत्पन्न कर के उसे 'कंचन–कामिनी' रूप दोनों घाटियों को लाँघने में समर्थ बना कर उसके समक्ष सायुज्य का निष्कंटक मार्ग प्रस्तुत करने के लिये हैं। 'पु' नामक नरक से त्र' =त्राण करने में सक्षम होने के कारण ही पुत्र–उत्पादन भी उक्त साधना का ही अन्यतम अंग है।

आज भले ही विषयासक्त माता पिताओं को स्वप्न में भी यह ध्यान नहीं होता कि हम क्या करने चले हैं, केवल विषयानन्द की सीमा तक ही उनका यह प्रयास होता है, ऐसी स्थिति में यदि इच्छा न रहते भी अतर्कित संतान बीच में कूद पड़ती है तो यह केवल विधि विधान ही कहा जा सकता हैं। आज का सहवास भी उद्देश्य शून्य है और उससे समुत्पन्न संतान भी आज की भाषा में

'ऐक्सीडेंटल' (आकस्मिक) संतान ही कही जा सकती है। व्यापारी अपनी रोकड़ में बड़ी सावधानी से जमा खर्च लिखते हैं। यदि कोई रकम रह जाये और सौ बार स्मरण करने पर भी याद न आये तो उसे बट्टे खाते में लिखते हैं। ठीक इसी प्रकार आज की संतान भी, दोनों को जिसका स्मरण नहीं होता, बट्टे खाते की रकम के बराबर ही है। ऐसी संतान से माता–पिता, जाति या देश का कुछ भला हो सकेगा–यह आशा रखना व्यर्थ है। इसी लिये हमारे यहाँ योग्य संतान निर्माण के लिये माता पिता को संयमी रह कर तत्तद् धर्मानुष्ठान करने का आदेश है।

पुराणों में एक कथा आती है कि जब सत्यभामा ने 'प्रद्युम्न' जैसी संतान उत्पन्न करने की अपनी अभिलाषा भगवान श्री कृष्ण के सामने प्रकट की तो भगवान ने कहा कि प्रद्युम्न के निमित्त मुझे और रुकिमणी जी को द्वादश वर्ष पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पूर्वक अमुक अमुक धर्मानुष्ठान करने पड़े हैं। अतः यदि तुम भी ऐसा करो तो वैसे पुत्र की माता बन सकती हो। वैसा किया गया, तभी 'साम्ब' की उत्पत्ति हुई।

हिन्दू शास्त्रों में 'गर्भाधान संस्कार' का विधान इसी उद्देश्य से किया गया है कि माता पिता दोनों सावधान हो कर धर्मानुष्ठान पूर्वक गुरुजनों की अनुमति से योग्य संतान उत्पन्न करने में समर्थ हों। यह बात प्रायः सिद्ध हो चुकी है कि गर्भाधान के समय पति पत्नी के हृदय में जिस प्रकार के विचार होते हैं–उनके हृदय और अन्तश्चक्षु के सम्मुख जो चित्र होता है, भावी शिशु उन्हीं सब के प्रतिबिम्ब को ले कर जन्म लेता है। अमेरिका में एक ऐसी घटना हुई कि एक अमेरिकन दम्पत्ति से हब्शी संतान उत्पन्न हुई तो पति को पत्नी के चरित्र पर शंका हुई। तलाक के मुकदमे के दौरान दोनों का रक्त जांच कर के जब प्रसूत बालक के रक्त से मिलाया गया तो वह हब्शी शक्ल का बालक उक्त दम्पत्ति द्वारा प्रसूत ही निश्चित हुआ। वैज्ञानिकों ने बाद में बहुत अनुसंधान कर के पता लगाया कि उक्त दम्पत्ति जिस कमरे में सोते थे उसमें सामने ही रेड इंडियन नस्ल के एक हब्शी का चित्र लटका था। वह महिला उसे बड़े मनोयोग से अक्सर देखा करती थी। तब यह निश्चित हुआ कि इसी का परिणाम वह विरूप बालक था।

अतः गर्भाधान से ले कर समावर्तन संस्कार पर्यन्त की सब क्रियायें बालक के मातृ पितृ, रजों वीर्य, दोष–परिमार्जन तथा गुण आधान में उपयुक्त होती हैं। इसके बाद होने वाली अन्त्येष्टि पर्यन्त समस्त क्रियायें हीनांग पूर्ति कारिणी मानी जाती हैं। यही संस्कारी बालक उत्पन्न करने का भारतीय शास्त्र सम्मत मार्ग है।

इन संस्कारों का विशिष्ट विवरण इस प्रकार है–

नैमित्तिक आचार

निमित्त शब्द का अर्थ है हेतु अथवा कारण। किसी हेतु के अवलम्बन या

उपलक्ष में जिन कर्मों को करने की आज्ञा शास्त्र में दी गयी है वे नैमित्तिक आचार के अन्तर्गत आते हैं अर्थात नित्यप्रति के कर्मों के अतिरिक्त जो भी शास्त्रोक्त कर्म किन्हीं विशेष समय पर करने चाहिये उन्हें नैमित्तिक कर्म कहते हैं।

इन्हीं नैमित्तिक कर्मों में से कुछ का नाम संस्कार है, कुछ का पूजा, कुछ का व्रत, कुछ का श्राद्ध और कुछ का नाम साधन हैं। इनमें संस्कार कार्य स्मृति शास्त्रोक्त है और इनमें वैदिक मंत्रों आदि का प्रयोग होता है। संस्कार ही वह आधार शिला है जिसके सहारे किसी जाति का जीवन का विशाल प्रसाद निर्मित होता हैं। जाति की संस्कृति ही उसका जीवन सर्वस्व होती है। जो जाति अपनी संस्कृति खो देती है उसका जीवित रहना कठिन हो जाता है और ऐसी जाति को पुनः अपनी जाति में मिलाने में बहुत कठिनाईयाँ पैदा हो जाती हैं। संस्कृति ही किसी जाति को उसके पूर्व गौरव और महान आदर्शों की याद दिलाती है। यही संस्कार और रस्मोरिवाज उन लक्षणों को प्रगट करते हैं जो खत्रिय जाति के प्राचीन क्षत्रिय होने के साक्षी है।

षोडस संस्कार

मीमांसा दर्शन के अनुसार कुल नैमित्तिक कर्म प्रायः 48 है। आह्निक सूत्रावली में भी यही संख्या दी है पर किसी किसी ग्रंथ में केवल 25 कर्मों के ही नाम दिये हैं। खत्रिय जाति में सोलह संस्कार प्रमुख रूप से होते हैं। यद्यपि पितृ यज्ञ, देव यज्ञ, श्रावणी, पार्वण, श्राद्धम इत्यादि कर्म भी होते रहे हैं। इनमें क्रमशः (1) गर्भाधान, (2) पुंसवन, (3) सीमन्तो, (4) जात कर्म, (5) नाम क्रिया, (6) निष्क्रमोऽन्नप्राशन, (7), (8) वपन क्रिया, (9) कर्ण वेधो, (10) व्रता देशो (उपनयन), (11) वेदारम्भ क्रियाविधि, (12) केशान्तेः, (13) स्नानम (समावर्तन), (14) विवाह, (15) विवाहाग्नि परिग्रह, (16) त्रेताग्नि संग्रहः ऐते षोडशः संस्काराः1

संस्कारों की पृष्ठभूमि

चित्रं क्रमद्यथानेकै रंग रूनमील्यते शनैः।
ब्राह्मण्ययपि तद्वत्स्यासंस्कारे विधि पूर्वकैः।।

अर्थात जैसे चित्र, चित्रकार की लेखनी के बार बार उस पर फिरने से

1. पारस्कर गृह सूत्र–गदाधर भाष्य–द्वितीय कांड–चूड़ाकरण पदार्थ क्रमप्रसंग टिप्पणी–

(1) संस्कार भास्कर में चूड़ाकरण छोड़ दिया गया है, और चतुर्वेद व्रत का चार संस्कार पृथक पृथक माना है। इसमें भी अग्नि संस्कार (अंत्येष्टि) को षोड्स संस्कार में नहीं माना है।

(2) स्वामी दयानन्द ने 13वां विवाह संस्कार और 14 वां गृहस्थ आश्रम माना है। इनके यहाँ 14 संस्कार ही हैं।

चित्र का अंग प्रत्यंग जिस प्रकार प्रस्फुटित हो उठता है वैसे ही संस्कारों के बार बार विधिपूर्वक होते रहने से द्विजातीय गुणों का पूर्ण विकास होता है।

इसी लिये शास्त्रों में कहा है–

"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारद्विज उच्यते" अर्थात जन्म से शूद्र होता है और संस्कार से द्विज उच्चता को प्राप्त करता है। मनुष्यों के सोलह संस्कारों का उल्लेख विष्णु पुराण के तृतीय अंश, दसवां अध्याय में भी है।

(1) गर्भाधान

संस्कार का उद्देश्य ब्राह्मण्य गुण का आधान या स्थापन है। इसी उच्चतम उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये सृष्टि के मूल ग्रन्थ वेद में ही यह अवधारित किया गया है कि यदि माता पिता के शरीर में कोई दोष रहता है तो वह उसकी संतान में भी संक्रमित होता है। इसी लिये गर्भाधान संस्कार की व्यवस्था कर उसमें गर्भाधान, गर्भ ग्रहण योग्यता तथा उपयुक्त काल का विधान किया गया और निर्णय किया गया कि सन्तान के जन्म के समय पिता माता का मन एकान्त पशु भाव से इन्द्रिय के वश में न हो कर पवित्र सात्विक भाव में मग्न हो। गर्भाधान के समय पति को चाहिये कि वेद मंत्र को पत्नी के पास पढ़ कर सुनाये और आनन्दपूर्वक पवित्र, सब लक्षणों को उद्दीप्त करने वाले भावों में रहे जिससे उसकी सन्तान सब प्रकार के सुलक्षणों से सम्पन्न हो कर जन्म ले। इसी कारण से खत्रियों में यह संस्कार शुभ दिन देख कर गणेश, नवग्रह पूजन तथा कहीं हवन कर के होता है और इसे सुहागरात या चन्द्र रात भी कहते हैं।

इस व्यवस्था के उल्लंघन से क्या होता है इसका उदाहरण स्वयं श्रीमदभागवत के षष्ठ स्कन्ध, अध्याय 18 में दिया है जिसमे कथा आयी है कि भगवान विष्णु ने इन्द्र का पक्ष ले कर दिति के दोनों पुत्रों हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष को मार डाला अतः दिति शोक की आग से सन्तप्त हो कर, क्रोध से जल कर, इन्द्र के घमंड को चूर चूर करने वाले पुत्र को जन्म देने का उपाय सोचने लगी। उसने अपनी सेवा सुश्रूषा, विनय, प्रेम और जितेन्द्रियता द्वारा अपने पति कश्यप जी को प्रसन्न कर लिया। तब चतुर दिति की सेवा से मोहित हो कर कश्यप जी ने उसकी इच्छा पूर्ण करने का आश्वासन दिया और वर मांगने को कहा। तब दिति ने इन्द्र का वध करने वाला पुत्र मांगा। यह सुन कर कश्यप जी खिन्न हो कर पछताने लगे और अपने जीवन में अधर्म का अवसर देख अत्यन्त दुखी हुए पर अब कोई अन्य उपाय न देख उन्हों ने दिति के लिये पुंसवन व्रत (गर्भ की रक्षा की विधि) की युक्ति का विधान कर उससे कहा कि यदि वह इस व्रत का एक वर्ष तक विधिपूर्वक पालन करेगी तो उसे इन्द्र को मारने वाला पुत्र प्राप्त होगा परन्तु यदि किसी प्रकार नियमों में त्रुटि हो गयी तो वह देवताओं का मित्र बन जायेगा। दिति ने इस 'पुंसवन व्रत' का पालन करना स्वीकार किया पर एक दिन उससे त्रुटि हो ही गयी। तब इन्द्र ने दिति के गर्भ

में प्रवेश कर उसके सात टुकड़े कर दिये और पुनः उनके भी सात टुकड़े कर दिये। वही उन्चास मरुद्गण हुए।[1]

इसी संकल्प द्वारा वांछित पुत्र उत्पन्न करने का दूसरा उदाहरण कश्यप पत्नी अदिति के संकल्प द्वारा असुरों को जीत कर अपने पुत्र देवताओं को उनका राज्य वापस दिलाने के लिये भगवान वामन को जन्म देने की कथा है।[2]

यह तो हुई संकल्प से विपर्यय की बात। अब निर्धारित समय का उल्लंघन करने का उदाहरण लें। "श्रीमदभागवत में ही उल्लेख है कि एक बार दक्ष की पुत्री दिति ने पुत्र प्राप्ति की इच्छा से कामातुर हो सायंकाल के समय ही अपने पति मरीचिनन्दन कश्यप जी से प्रार्थना की। कामदेव के वेग से अत्यन्त बेचैन और बेबस हो रही दिति को देख कर महर्षि ने उसे एक मुहूर्त ठहरने की सलाह दी और कहा कि सायंकाल का अत्यन्त घोर समय राक्षसादि घोर जीवों का है और देखने में भी बड़ा भयानक है तथा हर प्रकार से उसे वारित करने की चेष्टा की, पर पति के अनेक प्रकार से समझाने पर भी कामातुरा दिति ने वेश्या के समान निर्लज्ज हो कर ब्रह्मर्षि कश्यप जी का वस्त्र पकड़ लिया। तब कश्यप जी ने उस निन्दित कर्म में अपनी भार्या का बहुत आग्रह देख दैव को नमस्कार किया और एकान्त में उसके साथ समागम किया। बाद में दिति को भी उस निन्दित कर्म के कारण बड़ी लज्जा आयी और उसने ब्रह्मर्षि के पास जा कर थर थर कांपते हुए अपनी संतान की लौकिक और परलौकिक उन्नति के लिये प्रार्थना की तो कश्यप जी ने कहा– तुम्हारा चित्त कामवासना से मलिन था। वह समय भी ठीक नहीं था और तुमने मेरी बात भी नहीं मानी तथा देवताओं की भी अवहेलना की। अमंगलमयी चण्डी, तुम्हारी कोख से दो बड़े ही अमंगलमय और अधम पुत्र उत्पन्न होंगे। वे बार बार लोक और लोकपालों को अपने अत्याचारों से रुलायेंगे। श्री जगदीश्वर के हाथों ही उनका वध होगा। दिति द्वारा अपने किये पर शोक और पश्चाताप प्रगट करने तथा उसे उचित अनुचित का विचार हो जाने एवं भगवान तथा अपने प्रति आदर प्रगट करने से कश्यप जी ने केवल इतना संशोधन किया कि तुम्हारे एक पुत्र के चार पुत्रों में से एक ऐसा होगा जिसका सत्पुरुष भी मान करेंगे। दिति के वही पुत्र हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए जो सनकादि के श्राप से ग्रस्त भगवान विष्णु के द्वारपाल जय विजय ही थे और उनका पुत्र भक्त प्रहलाद था।[3]

(2) पुंसवन (अरोये) संस्कार

मानवी गर्भ के विनष्ट होने के दो समय होते हैं, एक तो गर्भ धारण के तीसरे से चौथे महीने तक और दूसरा छठे मास से ले कर आठवें मास के बीच

1. श्रीमदभागवत्–6/18–1–78
2. श्रीमदभागवत्–8/17–20
3. श्रीमदभागवत्– 3/14–17

में। अतएव इन दोनों समयों में विशेष सावधानी के साथ गर्भिणी की रक्षा करने की आवश्यकता होती है। शास्त्रों में इन दोनों समयों में दो संस्कारों की व्यवस्था की गयी है और महर्षि कश्यप ने भी इसी के लिये दिति से पुंसवन व्रत का पालन करने को कहा था।

पुंसवन का अर्थ है पुरुष संतान को उत्पन्न करना। गर्भाशय में स्थित गर्भ से पुत्र होगा या कन्या इसका निश्चय चौथे महीने तक नहीं होता, क्योंकि साध ारणतया चौथे महीने के पहले स्त्री या पुरुष का चिन्ह नहीं होता, अतएव इसके प्रगट होने के पूर्व इस संस्कार को करने की विधि बनायी गयी हैं। साधारणतः सभी देशों की और विशेष रूप से भारत की स्त्रियाँ पुत्र का गौरव अधिक करती हैं।

'पुंसवन पुरास्यन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा'[1] खत्रियों में यह संस्कार दूसरे या तीसरे मास में ही होता है और इसे ही रीति, छोटी रीति, बूढ़े बाबू या सोजी कहते हैं। इसमें गौरी और गणेश की पूजा, कहीं वृद्धि श्राद्ध और हवन किया जाता है तथा बड़ के दो फलों को उरद और यव के साथ मिला कर गर्भवती को सूंघने के लिये दिया जाता है और कोई दक्षिण नासिका में लक्ष्मण बूटी का रस देते हैं। थाली चढ़ाना एक मामूली बात हैं। सुश्रुत ने भी लिखा है कि बड़ योनि दोषों को नष्ट करता है। हवन आदि करने के बाद पति स्त्री से कहता है कि "मित्रावरुण नामक दोनों देवता पुरुष हैं, अश्विनी कुमार पुरुष है, अग्नि और वायु भी पुरुष हैं। तुम्हारे गर्भ में पुरुष का आविर्भाव हुआ है।" यह सुन कर गर्भिणी प्रफुल्लित हो उठती है, इससे उस समय का वमन आदि से उत्पन्न अवसाद एवं भीति और आलस्य आदि से उत्पन्न विषाद मिट जाता है और गर्भ पोषण का बल हरा हो जाता है। पुष्य, पुनर्वसु, मृगशिरा, हस्त, मूल और श्रवण इन नक्षत्रों में इस संस्कार का करना उत्तम माना जाता है।

(3) सीमन्तोनयन्त (भोड़े)

यह गर्भरक्षा विषयक दूसरा संस्कार है जो छठे या आठवें महीने में गर्भपात की आशंका के निवारण के लिये किया जाता है। इसमें वृद्धि श्राद्ध और चारुपाक आदि कर चुकने पर दो गूलर के पके हुए फल, पीपल के पत्ते की लकड़ी का शंकु, पीला नारा और कई मांगलिक पदार्थो को रेशमी वस्त्र से गर्भिणी के गले में बाँध कर मंत्र सुनाया जाता है। गर्भिणी के मस्तक में कंघी इस तरह फेरी जाती है कि कुछ बाल उखड़ जावें। उस दिन से गर्भिणी श्रंगार वेश से भूषित अथवा सुगन्ध आदि से सुवासित नहीं होती और सहवास का परित्याग करती है। उस दिन गोद भरी जाती हैं और आनन्द मनाया जाता हैं इसे अपनी बोली में 'भोड़े' और कोई 'सधोर' भी कहते हैं, सांख्यायन के मतानुसार इस संस्कार का सातवें महीने में करना चाहिये।

1. गोभिल एवं पराशर

(3) जात कर्म

यह संस्कार सन्तान के उत्पन्न होते ही नार या नाल (नालुआ) काटने के पूर्व बड़ी फुर्ती से किया जाता है। कुल देव के पूजन के पैसे निकाले जाते हैं। कहीं कहीं मधु, घृत, स्वर्ण चूर्ण बालक की जिहवा पर लगा दिया जाता है और तब नार काटा जाता है और वृद्धि सूतक होता है।

(5) नामकरण संस्कार

श्री विष्णु पुराण –तृतीय अंश–अध्याय 19 में लिखा है–

"ततश्च नाम कुर्वीत पितैव दशमेऽहनि"[1]

पुत्रोत्पत्ति के दसवें दिन पिता नामकरण संस्कार करे।

मनु स्मृति में लिखा है :
नामधेयं दशभ्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणात्विते।।"[2]

अतः छठी के स्नान के बाद दसवें या 12 वें दिन नामकरण करावे। यदि इन दिनों में न हो पावे तो किसी पुण्य तिथि को शुभ मुहूर्त और श्रेष्ठ गुण वाले नक्षत्र में करावे। इसी में शुभ साइत में जन्मपत्र लिखा जाता है और नक्षत्र के हिसाब से राशि नाम रखा जाता है। पुकारने का नाम इससे भिन्न होता है।

(6) निष्क्रमण संस्कार

यह संस्कार मनु जी की आज्ञानुसार "चतुर्थेमासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात।"[3] (चौथे मास शिशु को घर से बाहर निकाले) अतः यह संस्कार चौथे मास के शुक्ल पक्ष में होता है। इसे सूर्य दर्शन या पैर फेरना या पेहनी आदि नामों से भी कहा जाता है। इसमें बालक को उसकी माता या मायके व उसके परिवार, जो उसी नगर में हों, अथवा मन्दिर में अपने घर से बाहर किसी दूसरे स्थान में ले जाती है। इस दिन गणपति पूजन आदि का कृत्य होता है। इसके पूर्व बालक गृह के बाहर नहीं जाता है। यथार्थ में इसका तात्पर्य सूर्य का दर्शन कराना अर्थात घर से बाहर ले जाना है।

---

1. श्री विष्णु पुराण 3/10–7
2. मनु स्मृति–अध्याय 2–श्लोक 30
3. मनु स्मृति–अध्याय–2 श्लोक 34

(7) अन्न प्राशन संस्कार

" षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले"3 (छठे मास अन्न प्राशन करावे और अपने कुल के अनुसार जो इच्छित मंगल कार्य हो वह करे) की मनु जी की आज्ञानुसार यह संस्कार जन्म के छठे मास में होता है। इसी मास में बच्चों में अन्न पाचन की शक्ति आ जाती हैं। यह शुक्ल पक्ष में किसी शुभ लग्न में देव पूजन के बाद होता है। पिता और कहीं कहीं घर का बड़ा शिशु को गोद में ले कर अन्न चटा देता है। अन्न प्राशन के मीन, वृष, मिथुन, और कन्या शुभ लग्न हैं।

(8) चूड़ाकरण संस्कार (चौलम या मूंड़न)

यह संस्कार जन्म के तीसरे और पाँचवे वर्ष में होता है। इसके पूर्व कुल देवता की पूजा होती है। शास्त्रानुकूल पूजन के अन्त में शिशु के केश अस्तुरे से मुंडन किये जाते हैं। कुल रीति के अनुसार घर या मन्दिर या गंगा तट पर यह संस्कार होता है। इसके पूर्व यदि किसी कारणवश केश काटना ही हो तो केवल कैंची से काटा जाता है। उससे मुंडन नहीं रुकता, वह करना ही होता है।

बसन्त या ग्रीष्म ऋतु के किसी मास के शुक्ल पक्ष में यह कर्म होना उत्तम माना जाता है। इनमें वृष, कन्या, कुम्भ, धन, मकर, मीन ये लग्न और चन्द्र, बुध तथा शुक्रवार सर्वांग श्रेष्ठ माने जाते हैं। जन्म मास और रिक्ता तिथि वर्जित हैं :

चूड़ाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।
–मनु स्मृति –अध्याय–2 श्लोक 35

द्विजातियों का चूड़ाकर्म (मुंडन) संस्कार प्रथम या तीसरे वर्ष में धर्म के उद्देश्य से करे, यह श्रुति है। इस कार्य में ननिहाल से दामाद के वस्त्र, लड़की और दोहतों को चाँदी की कटोरी और छल्ला आता है।

(9) कर्णवेध संस्कार

इस कर्णछेदन या प्राजन भी कहते हैं। 'कर्णवेधो वर्षे तृतीये पंचमे वा' इस आश्वलायन गृह सूत्र के अनुसार शास्त्रानुकूल पूजन के बाद मुंडन कर्णवेध होता है। चैत्र, पौष, आषाढ़ शुक्ल 11 से कार्तिक शुक्ल तक त्याज्य हैं। किसी के यहाँ सोने की बाली और किसी के यहाँ चाँदी की छतूरी से कान छेदा जाता है।

(10) उपनयन संस्कार (जनेऊ पहनाना)

इसी को यज्ञोपवीत या जनेऊ भी कहते हैं। यह संस्कार द्विजातियों के लिये बड़े महत्व का है। इसी के बाद मनुष्य पूर्ण द्विजत्व को प्राप्त कर द्विजन्मा कहलाने के योग्य होता है और तभी देव एवं पितृ कर्म करने का अधिकारी होता है। वस्तुतः व्यक्ति में ज्ञान का उदय होने से तो मनुष्य का दूसरा जन्म हो जाता है इसी लिये उसे द्विजन्मा कहते हैं तथा यह संस्कार उसी का प्रतीक है।

मनु स्मृति एवं व्यास जी के अनुसार ब्राह्मणों के गर्भ से आठवें वर्ष, क्षत्रियों के ग्यारहवें वर्ष तथा वैश्य के बारहवें वर्ष में यह संस्कार हो जाना चाहिये और ब्रह्मतेज की कामना वाले ब्राह्मण का पाँचवे वर्ष, बल के इच्छुक क्षत्रिय का छठे वर्ष तथा धनाभिलाषी वैश्य का आठवें वर्ष उपनयन करावे। यदि किसी विशेष कारण से न हो सके तो सब को अपने दूने वर्ष तक अवश्य करना चाहिये। ब्राह्मण को सोलह वर्ष पर्यन्त सावित्री का अतिक्रमण नहीं होता (अर्थात इस आयु तक उनका उपनयन किया जा सकता है)। मनु स्मृति (अध्याय 2 श्लोक 36–39) के अनुसार हर हालत में ब्राह्मणों में 16 वर्ष, क्षत्रिय में 22 वर्ष तथा वैश्यों में 24 वर्ष तक यह संस्कार अवश्य हो जाना चाहिये। इस संस्कार के यथा समय न होने पर इन तीनों वर्णो के संस्कारहीन मनुष्य पतित कहलाते हैं, जिन्हे व्रात्य कहते हैं और व्रात्य को शूद्र के समान समझना चाहिये। खत्रियों में यह संस्कार 11वें वर्ष में करने की प्रथा रही है। इसका विस्तृत विवरण एवं विधि बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास (पृष्ठ 87–97) में तथा मनु स्मृति आदि अन्य विधि विधानों में दी है किन्तु अब इस संस्कार के पालन में उपेक्षा एवं मात्र औपचारिकता अधिक है तथा प्रायः द्विज कहलाने वाली जातियों में इस संस्कार की औपचारिकता विवाह के पूर्व पूरी कर ली जाती है।

(11) वेदारम्भ संस्कार

यह उपनयन होने के दिन साथ ही साथ प्रारम्भ होता है। इसमें गायत्री मंत्र धारण/श्रवण से ले कर चारों वेदों का अध्ययन एवं ब्रह्मचारी के वेश में रहने का प्रारम्भ होता है। इसी परम्परा में वेदों का पाठ करने से खत्रियों का एक अल्ल वेदी कहलाता है। अब गायत्री मंत्र के पूर्व, साथ में अथवा बाद में, अंग्रेजी पढ़ने की परम्परा चल रही है पर पूर्व में द्विजाति मात्र गुरु के यहाँ रह कर वेदों का अध्ययन करते थे।

(12) समावर्तन संस्कार

इसका अर्थ है ब्रह्मचर्य व्रत पूरा कर के घर को लौट कर गृहस्थ आश्रम

को ग्रहण करना। श्री विष्णु पुराण, तृतीय अंश के अध्याय 9 में ब्रह्मचर्य आश्रम का तथा 11वें एवं 12 वें अध्याय में गृहस्थ धर्म का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें गृहस्थ धर्म पालन के उपयुक्त गुणावली का स्मरण कर के अग्नि स्थापना व हवन किया जाता है।

(13) केशांत संस्कार

केशान्तः षोडसे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्य बन्धोर्द्वाविंशे वैशस्य द्वयाधि के ततः।।[1]

ब्राह्मण का केशांत कर्म सोलहवें वर्ष, क्षत्रिय का बाइसवें वर्ष और वैश्य का चौबीसवें वर्ष में युक्त है।

यह संस्कार प्रत्येक द्विजाति मात्र के यहाँ समावर्त के साथ ही हो जाता है। इसमें ब्रह्मचर्य व्रत के दौरान रखे गये जटा आदि कटवाया जाता, हजामत बनवायी जाती तथा सात पात्रों में रखे हुए जल से स्नान कराया जाता, जनेऊ बदलता तथा त्रिकुश्य ले दिव्य पितरों का तर्पण कर के ब्रह्मचर्य के प्रतीक वस्त्र एवं खड़ाऊँ आदि त्याग कर नये वस्त्र एवं जूते आदि पहने जाते हैं। हवन होता है, सेहरा बांधा जाता है और सारे संस्कार एक ही दिन में पूरे किये जाते हैं। इसी के साथ ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त हो जाता है।

(14) विवाह संस्कार

गृहस्थाश्रम धर्म में प्रवेश कर संतानोत्पत्ति के लिये स्त्री पुरुष का सम्बन्ध इस विवाह संस्कार से होता है। ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्रजापति, असुर, गन्धर्व, राक्षस और पैशाच, यह आठ प्रकार के विवाह शास्त्रों में वर्णित हैं जिनमें ब्रह्म विवाह सब से उत्तम माना जाता है। इसका विस्तृत विवरण तो सभी शास्त्रों में और ग्रन्थों में दिया है पर मुख्य निर्देश यह है कि पुरुष की आयु स्त्री से अधिक हो, वह सपिंड न हो तथा उसके कुल, शरीर, स्वास्थ्य की परीक्षा कर के विवाह किया जाय। जितना दूर विवाह हो उतना उत्तम होता है तथा बचपन का व अनमेल विवाह बुरा समझा जाता है।

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्धेन नारी तस्तां स विराजमत्सृजप्रभुः।।

मनु स्मृति – 1–32

---

1. मनु स्मृति अध्याय–2 श्लोक 65

प्रभु ब्रह्मा ने अपने शरीर के दो खण्ड कर आधे से पुरुष और दूसरे आधे से स्त्री की सृष्टि कर उस नारी में विराट पुरुष का सृजन किया अतः विवाह संस्कार द्वारा पहले विभाजित दो खण्ड (पाणि) फिर से एक किये जाते हैं। यही पाणिग्रहण है—पुरुष और स्त्री दो होने पर भी पाणिग्रहण हो जाने पर एक हो जाते हैं। यही मनु जी ने कहा है। इस संस्कार के समय जो मंत्र (यजुर्वेदीय मंत्र) पढ़े जाते हैं उनका भी यही अर्थ होता है कि मै लक्ष्मी हीन हूँ, तुम लक्ष्मी हो, बिना तुम्हारे मैं शून्य हूँ। तुम मेरी लक्ष्मी हो ! मैं साम वेद सा हूँ, तुम ऋग्वेद सी प्रशंसित हो। मैं आकाश के समान वर्षा करने वाला हूँ, तुम धरती के समान गर्भ आदि धारण करने वाली हो। हम दोनों मिलने से ही पूर्ण हुए, आदि। अतः यह वैवाहिक एकीकरण ही यथार्थ एकीकरण है।

सप्तपदी आदि में जो सिल पर पैर रखने की चाल है वह यही प्रदर्शित करती है कि हमारा तुम्हारा संग ऐसा दृढ़ रहे जैसा कि पत्थर दृढ़ है। अग्नि (हवनकुण्ड) के समक्ष यह कृत्य कर के अग्नि को साक्षी बनाते हैं। वेदी (मंडप) के बाहर आ कर पति पत्नी को ध्रुव तारा दिखा कर यही दिखाता है कि जैसे ध्रुव तारा अपने स्थान से जो सम्बन्ध पृथ्वी के साथ है उसे नहीं त्यागता (सदैव पृथ्वी के उत्तर दिशा में ही रहता है) उसी प्रकार तुम भी मुझ से और मेरे परिवार के साथ मिल कर रहना अर्थात पृथक न होना। पत्नी भी अरुंधती तारे के समान दृढ़ निश्चय वाली रहने का व्रत लेती है तथा दोनों के सम्बन्ध की दृढ़ता की कामना करती है।

विवाह में जामा पायजामा, पगड़ी, दुपट्टा, चीरा, पटुका और मुकुट (जिसमें पंच देव की मूर्ति रहती है) आदि वस्त्र होते हैं। घोड़ी पर चढ़ने के पूर्व नारियल की बलि देवों को भेंट की जाती है। दुल्हन को सालू ओढ़ाया जाता है जिसका अर्थ होता है कि राजा की शक्ति से रंगा लाल वस्त्र, जो राजन्य का प्रतीक है। यही प्राचीन क्षत्रियों की चाल है जो आज तक चली आ रही है। अन्य किसी भी जाति में इस रंग की कैद नहीं है पर खत्रियों में यही रंग अनिवार्य है और खत्री मात्र में प्रचलित पाया जाता है।

यही सब कारण हैं कि भारतीयों में वैवाहिक जीवन अत्यंत उच्च, सर्वांगपूर्ण और उदाहरणीय होता है। इसका कारण विवाहकालीन धर्मशास्त्र की वैवाहिक शिक्षायें ही हैं और इसी धर्म को पतिव्रत धर्म कहते हैं जिसमें पत्नी प्रेम वह विषय है जो पत्नी मृत्यु के बाद भी पति का साहचर्य नहीं छोड़ना चाहती और साधारणतया पति अपनी पत्नी के साथ अत्यधिक बंधे होते हैं। ऐसे विवाहों की न तो रजिस्ट्री होती है, न दैन या मेहर का करार होता है। ऐसे विवाहों को ही धर्म माना जाता है और अग्नि ही उसका साक्षी होता है तथा सप्तपदी से ही दो दिल, दो तन, और दो मन एक हो कर दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करते हैं। समस्त हिन्दू मात्र इसे जन्म जन्मान्तर का बंधन मानते हैं। ऐसा सामाजिक

संगठन संसार के सामाजिक इतिहास में कही भी सुलभ नहीं है। यह शास्त्रीय और वैज्ञानिक तत्वों के आधार पर अवलम्बित है जिससे सुख और शान्ति की वृद्धि होती है।

(15) विवाहाग्निपरिग्रह

विवाह की अग्नि में चतुर्थी को हवन करने के बाद इसी अग्नि को ले कर अग्निहोत्र होता है। स्मार्त अग्निहोत्र पहले होता है। इसमें पाक यज्ञ में उपासना, होम और वैश्वदेव कर्म होता है। इसी का नाम पंच महायज्ञ है।

(16) त्रेताग्नि संग्रह

कात्यायन श्रौत सूत्र ग्रीष्म में क्षत्रिय विधान से अग्नि को श्रौत यज्ञ में अमावस्या तथा पूर्णिमा को यज्ञ करते हैं जो 25 वर्ष के ऊपर और 40 वर्ष की आयु के भीतर वाले पुत्र ही पिता की जीवितावस्था में इस श्रौत्र अग्निहोत्र यज्ञ को सम्पन्न कर सकते हैं। इसमें दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आह्वनीयाग्नि नामक तीनों अग्नियों को मिला कर त्रैताग्नि संग्रह किया जाता है। कोई कोई विवाहाग्नि परिग्रह तथा त्रेताग्नि संग्रह दोनों यज्ञ करते हैं।

किसी के मत से 15 वाँ संस्कार अन्य येष्ठी और 16वाँ अग्निहोत्र मानते हैं। कोई चतुर्थी को 15वाँ होम कर के शेष अंश को छोड़ 16वें में अग्नि संचय कर अग्निहोत्र करते हैं। अग्निहोत्री बहुत कम हैं किन्तु थोड़े से लोग अब भी अग्निहोत्री हैं।

विवाह संस्कार

सबसे पहले विवाह संस्कार को ही लें जिसका प्रारम्भ विवाह विषयक बातचीत के प्रारम्भ से होता है। इसमें कही कहीं कुछ परिवर्तन इसी तरह हो गया है कि जिसे बिहार और उत्तर प्रदेश में होली का त्यौहार कहते हैं उसे पंजाब में 'होला' कहते हैं। पंजाब में जिसे भ्राजी कहते हैं पूर्व में उसे भाई जी कहते हैं तथा पूरब वाले जिसे तिलक या टीका कहते हैं पश्चिम वाले उस रिवाज को बोलते हैं 'तम्बोल'। इसी तरह हलूफा (शुद्ध अरबी अलूफा = रसद) बटहरी, पुंसवन–अरोया, सीमन्तोनयन, भोड़े या भौंरे आदि हैं। संस्कार वहीं है पर संस्कृत न जानने के कारण, अपने पुरोहित के निकट न रहने के कारण एवं खर्चे के ख्याल से दूर के पुरोहित को न बुला कर निकटवर्ती सारस्वत या अन्य ब्राह्मण से काम चला लेना, बड़े बूढ़ों का छोटी सन्तानों को छोड़ कर स्वर्ग सिधारना, किसी बालक के असमय काल कवलित होने या विवाह के बाद शीघ्र मर जाने अथवा किसी की किसी पर्व अथवा त्योहार के ही दिन मृत्यु हो जाने पर बहुधा संस्कार बंद कर दिये जाते, बदल दिये जाते अथवा परिवर्तित रूप में प्रारम्भ हो जाते हैं। इसी लिये ऐसे संस्कारों को खोटा हो जाना अथवा कुरीति (स्त्रियों की

भाषा में) कहते हैं। कभी कभी इन्हीं कारणों से रस्म की रीति जान बूझ कर बदल दी जाती है या शुभ अवसरों के आ जाने पर वे पुनः प्रारम्भ भी हो जाते हैं। एक उदाहरण लें—किसी परिवार में सम्पूर्ण वंश के एकमात्र पुरुष बालक की, जन्म दिन मनाने के संस्कार (उसके जन्म दिवस को मनाने) के ही दिन मृत्यु हो जाने पर भारी शोक के कारण जन्म दिन मनाने की प्रथा ही जो एक बार बंद हो जाती है तो उसका पुनः प्रारम्भ जल्दी संभव नहीं होता। यदि कभी 50–60 वर्ष में पुनः प्रारम्भ हुआ भी तो संयोगवश वैसी ही घटना की पुनरावृत्ति होने पर फिर लम्बे समय तक के लिये प्रथा बन्द हो जाती है। इसी तरह नवरात्रि में परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर कलश स्थापन की रीति यदि अज्ञानवश उस वर्ष बन्द हो जाती है तो तब तक पुनः प्रारम्भ नहीं होती जब तक उस परिवार में कोई बालक नवरात्रि में ही जन्म न ले। यदि किसी के यहाँ गहना पहनाने की प्रथा न फली हो तो वह भी बन्द हो जाती है। ऐसे खोटे त्योहार या रीतियां किसी पुरोहित या बड़े बुजुर्ग के मार्ग दर्शक न होने के कारण होती हैं। इसी कारण से रीति रिवाज, संस्कार में अन्तर हो जाता है पर यथार्थ में आगे पीछे नाम बदल कर या एक ही रस्म सभी खत्रियों के यहाँ होती है।

उस परब्रह्म परमेश्वर द्वारा प्रारम्भ की गयी मैथुनी सृष्टि का क्रम प्रवाह बनाये रखने के लिये खत्रियों में विवाह की रस्म का प्रारम्भ लड़की वालों से जन्मपत्र या तो प्रत्यक्ष रूप से या किसी के माध्यम से मांग कर सोलह संस्कारों में सबसे महत्वपूर्ण विवाह संस्कार का प्रारम्भ किया जाता है। कहीं कहीं लड़का लड़की पसंद हो जाने से ठाकुर जी के समक्ष जन्म कुंडलियाँ रख कर विवाह की बात पक्की कर लेते हैं। प्रायः बातचीत लड़की वालों की ओर से ही प्रारम्भ होती है। यही नियम है और यही पहला कदम है। दोनों पक्षों की ओर से कुंडली मिलान एवं गुण मिल जाने तथा ग्रहों आदि के बारे में संतुष्टि हो जाने पर आगे बात प्रारम्भ होती है। विवाह की आयु लड़की लड़के की, पहले की आयु 15–18 वर्ष से ले कर अब प्रायः 18–21 न्यूनतम हो गयी है। खत्रियों में अभी तक लड़का लड़की, घर परिवार आदि की पसन्द ही सर्वोपरि रही है। कोई भी खत्री कभी कन्या पक्ष से तिलक और दहेज में रुपया लेने के लिये काठ का बड़ा सन्दूक या थैली नहीं बनवाता। विवाह के पहले किसी प्रकार का करार या मांग जाँच नहीं होती है। ऐसी घटनायें प्रायः होती है कि वर पक्ष द्वारा किसी प्रकार की कोई मांग जाँच किये जाने पर बातचीत टूट जाती है और यदि किसी परिवार में किसी बहू को दहेज के कारण जलाने या मारने की घटना हुई हो तो उस परिवार का विवाह आदि के मामलों में प्रायः सामाजिक बहिष्कार सा हो जाता है। ऐसी परम्परा सामान्य रूप से चलती आ रही है। अतः दहेज प्रथा खत्री जाति में नहीं बराबर हैं। छिटपुट अपवाद होना दूसरी बात है। इसी कारण से तथा विवाह की प्रथाओं में सादगी के कारण किसी भी धनी या गरीब लड़की का दहेज

के कारण कुंवारी रहना खत्रिय समाज में नहीं पाया जाता। केवल मात्र एक धोती या साड़ी पहना कर लड़की विदा करना या मात्र हाथ पीले करना, कन्या के घर बारात में मात्र पाँच आदमी बारात में ले कर आना इस बिरादरी का एक गौरवपूर्ण रिवाज है। जो अब तक चला आ रहा है और इसे भी पूर्ण सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है यहाँ तक कि ऐसे विवाहों में कन्या पक्ष को अन्य विवाहों की अपेक्षा सम्मान सर्वदा अधिक मिलता है। ऐसे विवाहों में आवश्यक चीजें है—कन्या का वस्त्र—कोरा मारकीन हल्दी का रंग (पीला रंग) छींटा हुआ, सालू की चादर, हाथ में हाथी दाँत की चूड़ी (या चूड़ा), चाँदी के छल्ले (अनवट बिछिया), नाक की नथ और गले में अमलतास तथा मेवे की माला (छोहारा 1, बादाम 1, गरी गोला 1, अखरोट 1) आवश्यक हैं। वर के लिये कन्यादन की धोती और उपरना, एक सोने की अंगूठी तथा पूजन की सामग्री—बस यही आवश्यक चीजें हैं। इन सब प्रथाओं की जानकारी न होने के कारण ही मिस्टर क्रुक्स ने "ट्राइब्स ऐंड कास्ट्स आफ मिर्जापुर" में यह लिख दिया था कि यहाँ लड़कियाँ कुँवारी रह जाती हैं।

प्रचलित विवाहादि संस्कार व रिवाज एवं उनका अर्थ

पहले तो ऐसे विवाहों के सम्बन्ध में रिश्ता पक्का करने का निर्णय माँ बाप ही लेते थे और लड़के लड़की से कुछ पूछने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी और वे उनकी बात काट नहीं सकते थे किन्तु समय परिवर्तन के साथ उनकी राय और पसन्द को भी प्रमुखता दी जाने लगी है यद्यपि उसकी पूर्वता होने पर भी माँ बाप की सहमति प्रायः अनिवार्य है। इस विषय में प्रचलित मान्यताओं में परिवर्तन की गति अभी बहुत धीमी है।

सम्बन्ध पक्का हो जाने पर उसकी पुष्टि के लिये कन्या पक्ष वाले रोक या शगुन देते हैं जिसमें एक कटोरा, लड्डू, बताशा, मीठा, नमकीन, फल, वर के कपड़े, नारियल एवं कुछ नकद देते हैं तथा वर पक्ष के बड़े लोगों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये कुछ रुपये प्रतीक रूप में (प्रायः 7, 11,21,51) प्रत्येक को या एकमुश्त कोई छोटी धनराशि दिये जाते हैं। नकद में सामान्यतः सोने की एक गिन्नी हुआ करती है। कन्या का पिता भावी वर को तिलक करता है और उसके पश्चात पुरोहित द्वारा सम्बन्ध की घोषणा कर दी जाती है। कुल मिला कर यह एक अत्यन्त सादगी का समारोह होता है।

इसके पश्चात लड़के वाले कुछ मिठाई, चाँदी, काठ और चीनी के खिलौने तथा जेवर आदि पेकन कन्या के घर जा कर उसे वस्त्राभूषण पहनाते हैं तथा उसे औपचारिक रूप से देखते हैं। इस समय भी कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष के लोगों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये कुछ नकद रुपये भेंट स्वरूप पुच्छ के रूप में तथा एक एक वस्त्र दिये जाते हैं व यथोचित सत्कार किया जाता है। इसके साथ ही **कुंआरी मिलनी, खिलौना चढ़ाना**, राह खर्च (जहाँ रिवाज हो—प्रायः यह रिवाज नहीं के बराबर है) लेना आदि रस्में भी होती हैं। यही **गहना पहनाने का रिवाज** है और अनिवार्य है।

विवाह के कुछ समय पूर्व **टीका या तिलक** की रस्म होती है जिसे लड़की का भाई व पुरोहित वर पक्ष के घर पर वर को तिलक कर के पूर्ण करता है। इसमे भी पुनः मीठा, फल, नकद, वस्त्र आदि तथा अन्य कुछ वस्तुयें, जो कन्या पक्ष वर को भेंट करना चाहे, देता है। इसमें भी कोई करार नहीं रहता है। कन्या पक्ष यथा सामर्थ्य ही भेंट प्रस्तुत करता है। समय बदलने के साथ इन प्रथाओं के मूल रूप में आज भी कोई परिवर्तन नहीं आया है किन्तु समयानुसार इनमें भेंट की वस्तुओं की मात्रा आदि में थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है किन्तु मूल स्वरूप वही है। उसके साथ ही सम्बन्ध तय होने के समय से ले कर विवाह के समय तक पड़ने वाले त्यौहारों पर रिवाज के अनुसार दोनों ओर से प्रतीक वस्तुओं का आदान प्रदान होता रहता है। हरियाली तीज पर हरी चूड़ी एवं हरे वस्त्र भेजना, दिवाली पर खिलौने तथा बिद भेजना, होली पर रंग गुलाल तथा नये वस्त्र भेजना आदि ऐसे ही रिवाज हैं जो सम्बन्धित बिरादरी की प्रथानुसार प्रायः वर पक्ष की ओर से प्रारम्भ होते हैं और विवाह होने के समय तक चलते रहते हैं।

कन्या पक्ष के यहाँ विवाह संस्कार निश्चित तारीख से कुछ समय पूर्व किसी शुभ दिन **ढोलक पूज कर गाना बजाना प्रारम्भ** करने से होता है और यह गाना बजाना ब्याह तक चलता रहता है। इसके साथ ही हथ भरना का भी रिवाज है जो किसी शुभ दिन से विवाह का काम प्रारम्भ कर के होता है। उसी को हाथ लगाना कहते हैं और उसी के बाद किसी दिन हलवाई को बैठा कर नवग्रह आदि देवताओं का पूजन, भट्टी और कढ़ाही की पूजा करायी जाती है। विवाह के बाद वर भट्टी में लात मार कर उसे तोड़ देता है। इसे भट्टी तोड़ना कहते हैं। इन रिवाजों के प्रारम्भ होने को ही सहालग कहते हैं।

विवाह के पूर्व **तनी कढ़ाही**, [1] **तनी शान्ति, बटना, अगवानी बरात, जनवासा, मेजवानी** आदि की रस्में होती हैं तथा कन्या के ननिहाल पक्ष से सगुन की चीजें जैसे अनवट, बिछिया एवं नथनी आदि आती है। इसके साथ ही हलूफा आदि की रस्में होती थीं जो अब समाप्त हो चली हैं।

---

1. **तनी कढ़ाही–** इसका उद्देश्य तो शास्त्रों में काम का शुरू करना दिया है। इसका तनी नाम तो इस कारण से मालूम होता है कि एक तनी में चार सकोरे लटकाये जाते हैं जिसमें परिवार के अतिरिक्त सभी गैर आदमियों को यह मालूम हो जाय कि उनके घर में उस शुभ कार्य का आरम्भ हो गया है और हर व्यक्ति को हर वक्त यह ध्यान रहे कि यह काम करना है। दूसरा अर्थ तनी का यह है कि सब तन के यानी कुनबे के आदमी जमा हो कर काम करते हैं। तीसरे यह कि काम में मन लगाते हैं अर्थात जिस लड़के या लड़की का काम हो, उसके घर चाहे कितने ही नौकर चाकर क्यों न हो, उसके घर वाले कितने ही बड़े आदमी क्यों न हों, उससे ज्यादा उमर वाले अपने हाथों पहले मंगली चीज, हल्दी की गिरह तोड़ते हैं। इसी लिये बरेली, मुरादाबाद की तरफ उसे "हल्द कढ़ाई" बोलते हैं। उसी दिन घर में कोई विशेष स्थान तलाश कर के कुल देवी बैठायी जाती है और उस वक्त कढ़ाई चढ़ा कर सुहाई (सुहलिया) उतरवा

वास्तव में देखा जाय तो ये सब प्रारम्भिक रस्में हैं। विवाह का वास्तविक कार्य तो शान्ति पूजन से प्रारम्भ होता है जिसे कुछ परिवारों में **सात बंगाली** भी कहते हैं जो समस्त अशुभों एवं विघ्नों की शान्ति का उपाय ही हैं। इसमें सात जोड़े पति पत्नी चकिया में हल्दी की गांठ व धनिया पीस कर तथा कहीं कहीं बरियां भी डाल कर विवाह कार्य में आने वाले समस्त विघ्नों, अशुभों के निवारण की प्रार्थना करते हैं। इसके बाद ही मूंज की डोरी चार कोनों में बांध कर उसमें एक हंड़िया तथा सकोरे लाल कपड़े में लपेट कर तथा उसमें अक्षत–चावल–रोली और पूजा की सुपाड़ी रख कर बीच में बांध कर लटकाये जाते हैं। यह कार्य या तो लड़की का जीजा, बहनोई करता है या मामा करता है। महाराष्ट्र में ऐसे प्रत्येक अवसर पर गणेश पूजन का रिवाज है। इसके बाद एक घड़ा और उस पर लाल कपड़ा लपेट कर एक सकोरे में देशी घी एवं दिया बाती रख कर जलाया जाता है जो समस्त संस्कार पूरे होने तक जलता रहता है। दिल्ली और पंजाब में इसी को पूजा कहते हैं और वहाँ के खत्रियों में इस पूजा के बाद सभी उपस्थित व्यक्तियों को बड़े बड़े बताशे या शकर के कूजे बांटे जाते हैं। यही प्रथा वर पक्ष के यहाँ भी होती है।

कुछ रिवाज स्त्रियों के द्वारा ही किये जाते है जो कई प्रकार के हैं। इन रिवाजों में विवाह के पूर्व उसी दिन वर की बहन तथा कुछ औरतें रसों ले कर कन्या के घर जातीं कन्या से हाथ लगवाती तथा गोद में सात मैदे की पूरी, थोड़ी खीर और सिकरन देतीं और तब क्वांर धोती उसके सिर पर रखती हैं। इसे **रसो** कहते हैं।

कन्या पक्ष के यहाँ कहीं कहीं इन प्रथाओं के साथ ही किसी कूप पर जा कर कुएं एवं जल का पूजन करने तथा कुम्हार के घर जा कर उसकी चाक एवं **मृतिका (मिट्टी)** के पूजन की भी प्रथा है जिसके द्वारा जल के देवता, वरुण देवता एवं धरती माता से समस्त विघ्नों को शांत करने की प्रार्थना की जाती है।

कहीं **घड़ा घड़ौली** (छन्दरी भरना) का रिवाज है जिसमें कन्या की बहन बहनोई गांठ जोड़ कर एक हाथ से पानी भर कर स्नान के लिये लाते हैं। पानी भरने वालों को टीका व गद और पीठ पर ऐपन का थापा दिया जाता है।

विवाह के पूर्व विघ्न शान्ति के कुछ अन्य छोटे छोटे रिवाज भी होते हैं। जैसे **तिलबट्टे या तिलवा** आदि। शान्ति पूजन या गणेश पूजन के बाद वर कन्या दोनों को अपने अपने घरों में पटरे पर बैठाया जाता है तथा देवताओं के लिये घास के गुच्छे को तेल में भिगो कर उससे कुछ तेल पहले गिरा कर उसकी कुछ बूंदे दोनों के पैर, हाथ और माथे पर समस्त रिश्तेदारों द्वारा चढ़ाई जाती है तथा औरतें दोनों के लिये मंगलमय विवाहित जीवन की कामना करते हुए कुछ गीत गाती हैं जिन्हें बन्ना/बन्नी कहते हैं।

कर गणेश जी और कुल देवी का भोग लगाते हैं। कहीं कहीं सुहाई उतारने का यह कार्य पहले पुरोहित या ऊँची जाति का कोई ब्राह्मण या घर का कोई बड़ा व्यक्ति करता है। इसी लिये इस प्रथा का नाम 'तनी कढ़ाही' पड़ा प्रतीत होता है।

—खत्री हितकारी (आगरा)—अंक सितम्बर 1889—पृष्ठ 143

यह प्रथा वास्तव में वैदिक अभिषेक प्रथा या पवित्रीकरण संस्कार है जो वैदिक काल में ब्राह्मणों के समक्ष उनके निर्देशानुसार मन्त्रोच्चार के साथ किया जाता था। इसके पश्चात एक थाल में कई आरती सजा कर उससे वर कन्या दोनों की अपने अपने घरों में आरती उतारी जाती है। साथ ही मंगलमय गीत भी गाये जाते हैं। इसके साथ ही कहीं कहीं संगीत भी होता है और मिठाइयां बाटी जाती हैं।

एक अन्य प्रथा है **कुंवार धोती भेजना**। इसमें बिना माड़ी की (कोरी) धोती, मेंहदी, चावल, गुड़, हल्दी, सोने चाँदी की वरक लगे फल, पीतल की तश्तरियों में रख कर भेजे जाते हैं। पहले इन्हें गौरी देवी जी को चढ़ाया जाता है और फिर कन्या द्वारा उन्हें छुआ जाता है। उसके नाक की नथ और चूड़ा (हाथी दाँत का लाल रंग का) वधू के नाना या उसके पुत्र (मामा) द्वारा दिया जाता है। इसी को सोहाग पिटारी भी कहते हैं। दिल्ली वाल तथा लाहौरी खत्री इसे रसो के साथ भेजते हैं। अन्य खत्री घोड़ी के समय भेजते हैं।

सोहाग पिटारी या सुहाग पूड़ा वास्तव में बांस की एक पिटारी होती है जिसमें एक रंगा कागज चढ़ा होता व गोटा टंका रहता है। उसमें निम्नलिखित चीजें रहती हैं– खण्डी, यह लड़की के गले में पहनायी जाती है जिसमें गरी गोला, छोटा अमलतास, सुपाड़ी, कठकरेजा, अखरोट, बादाम, छुआरा सब चीज एक–एक रहती है, उसमें छेद कर के वर्क लपेट कर मौली में पिरोते हैं। इसी माला को खंडी कहते हैं। बनिया सुहाग पूड़े में ये सब चीजें बांध कर देता है। सब चीज की अलग अलग सात पुड़ियाँ रहती है, फिर सब पुड़ियों की एक बड़ी पुड़िया मौली से बांधी जाती है। इसी को सोहाग पूड़ा कहते हैं।

एक अन्य प्रथा **मैल खोलना** होती है। पसाहे जाने के समय मैल रखने वाली का मैल खुलता है। इस प्रथा के लिये वर कन्या दोनों की ननिहाल से मैल खुलाई की धोती आती है जो मैल रखने वाली को दी जाती है। गोद भरी जाती है और गद दिया जाता है जो केवल घर की बड़ी औरत देती है।

पसाये जाने के इस रिवाज को सूपनो या पसाया जाना कहते हैं। इसमें दही से सिर मल कर वर को स्नान कराया जाता है। आगरेवाल खत्रियों में इसी को सूपनों कहते हैं। बटना लगा कर छन्दरी भरे हुए जल से स्नान खारे पर बैठा कर कराया जाता है। स्त्रियाँ राई वार कर सात सिकोरों में रख देती हैं, वर लात से सिकोरों को तोड़ कर फर्श पर आ बैठता है। इसी प्रकार कन्या भी पसाई जाती है।

स्नान के बाद कन्या को कोरे मारकीन का सुथन (पंजाबी चाल) किनारा हल्दी से रंग और सालू का चादर ओढ़ा (जिसे चोप चोला कहते हैं) उसे देने का ज़ेवर पहना कर छन्द के पास **गौरी पूजन** को बिठा देते हैं।

वर पक्ष वाले वर को, जो कपड़ा उसके ससुराल से आया है, उसे पहनाते हैं। लाहौरिये खत्रियों में पैजामे के इजारबंद में जो अठलस का बटुआ बंधा रहता है, उसे 'क्योड़ा' कहते हैं। इसमें लौंग, इलायची और एक चाँदी की डिबिया में

इत्र का फाहा रहता है। मुकुट, तलवार, सेहरा, बद्धी, की प्रतिष्ठा कर उसे वर को पहनाते हैं। **मुकुट या पगड़ी** अथवा साफे मे पंचदेव की मूर्ति रहती है। यह घर का होता है।

इनके बाद **घोड़ी या पेशकारा** की प्रथा प्रारम्भ होती है जिसे कहीं कहीं बारात भी कहा जाता है। घोड़ी कन्या पक्ष वाले भेजते हैं जिसका प्रबन्ध कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष की ओर से किया जाता है। जब वर कपड़े आदि पहन कर तैयार हो जाता है तो गणपति आदि का पूजन करने के बाद और कहीं कहीं निर्विघ्न मंगल कार्य सम्पादन के लिये गुरु नानक जी की अरदास करने के पश्चात उपस्थित गुरुजनों एवं बड़ों का आशीर्वाद ले कर परिवार के बुजुर्ग व्यक्ति द्वारा वर के सेहरा बांधा जाता है इसे शिरोमाला भी कहते हैं।

दंष्ट्राकरालबदने शिरोमाला विभूषणे।

चामुण्डे मुण्डमथने नारायणि नमोऽस्तुते।।

—मार्कण्डेय पुराण

सेहरा का संस्कृत रूप **शेखर, शेखरः** या **शेखरकः** है और प्राकृत में इसे "सहरओं" कहते हैं और उसी का हिन्दी एवं पंजाबी रूप सेहरा या सिहरा है।[1] वास्तव में इसका व्यवहार देवी के प्रसाद के रूप मे ही होता है। संस्कृत का 'ख' प्राकृत और हिन्दी में 'ह' से पलट जाता है। जैसे मुख का मुँह हो जाता है। वर घोड़ी पर ही जाता है:

ब्राह्मणस्य सितो वाजी, पीतो वाजी नृपस्यश्च।

रक्तो वाजी तुवैश्यस्य, श्यामो वाजी तु पद्भुवः।।

चतुर्ण्यमेव वर्णानां यथैवाहुस्तुरंगमम्।

अन्यासामिह जातीनां नैव वाहन मुच्यते।

– (च. वर्ग चिन्तामणि)

अब घोड़े के रंग का विचार तो नहीं रहा पर हाथ में तलवार आवश्यक चीज है। श्री राम चन्द्र जी सहित चारों भाई भी घोड़े पर ही ब्याहने गये थे। प्राचीन काल में स्वयम्वर के समय सभी क्षत्रिय कुमार हाथ में खड्ग रखते थे। उस समय युद्ध की आशंका भी होती थी। अतः वही रिवाज अब तक चला आ रहा है।

सेहरे के बाद वर की बहनों तथा भाभियों द्वारा उसे बुरी नजर से बचाने के लिये **आँख में काजल** व माथे के कोने पर अनखा लगाने एवं उसकी **आरती उतारने की प्रथा** अब तक पूर्ववत चली आ रही है। इस उपलक्ष में भौजाइयों को आरती में कुछ रूपये भेंट में देने का रिवाज है।

---

1. क्षत्रिय प्रकाश—श्रवण लाल टंडन—भाग—2 पृष्ठ 365

यही बहनें वर के घोड़ी पर चढ़ने पर घोड़ी को चने की दाल का भोजन कराती हैं तथा प्रस्थान करने के पूर्व घोड़ी की रास पकड़ कर खड़ी हो जाती हैं और अपना नेग मांगती हैं। प्रायः प्रत्येक खत्री बिरादरी में इस अवसर पर अपनी बहन को कुछ नकद धनराशि भेंट देने का रिवाज है।

इसके पश्चात **पेशकारा या बारात** ले कर कन्या के घर जाने का कार्य प्रारम्भ होता है। पहले इस बारात के कन्या के घर पहुँचने तक का यह सीधा सादा कार्यक्रम था। बारातों में वर की बहनों के अतिरिक्त न अन्य कोई औरतें जाती थीं न रास्ते में नाच गाना, भांगड़ा आदि होता था। केवल बारात के आगे शहनाई बजा करती थी और लड़की वाले बारात के पास आने पर कुछ आगे बढ़ कर उनकी आगवानी करते थे किंतु अब इसमें कानफोड़ बैंड संगीत, अश्लीलता एवं स्त्री पुरुषों का मदिरा पी कर उन्मत्त नृत्य करना एक आम बात हो गयी है। इस अगवानी में कन्या पक्ष के बुजुर्ग आगे बढ़ कर वर पक्ष वालों का स्वागत करते तथा उन्हें वैवाहिक कार्यक्रम में सम्मिलित होने के लिये आमंत्रित करते हैं। इसी प्रकार का कार्यारम्भ बारात के जनवासे में आने पर समधियों को **शरबत का घड़ा** भेज कर प्रारम्भ किया जाता है ताकि समस्त कार्य का प्रारम्भ मिठास भरे स्वर में हो और इसके द्वारा स्वागत की सूचना भी दी जाती है।

इन विवाहों में **निमंत्रण का कार्य** जो पहले नाऊ तथा घर के छोटे छोटे बच्चों द्वारा होता था, उसका स्थान अब छपे निमंत्रण पत्रों ने ले लिया है। पहले बारातियों के अतिरिक्त कोई भी बाहर का संबंधी या रिश्तेदार लड़की वालों के यहाँ खाते पीते नहीं थे पर अब उसका रिवाज उलटा हो गया है।

बारात के घर आ जाने पर पहला कार्यक्रम दोनों पक्ष की आपस में गले मिल कर **मिलनी** का होता है और कन्या पक्ष वाले मिलनी करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कुछ नकद धनराशि भेंट कर उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। साथ ही दादका, ननिहाल तथा पर ननिहाल वालों को भी दादा, नाना और परनाना के लिये नानका तथा परनानका कह कर भेंट से सम्मानित कर के उनका हक दिया जाता है, भले ही वे जीवित हों या मृत, उस समय उपस्थित हों या अनुपस्थित। इसके साथ ही दोनों पक्षों के पुरोहितों तथा घोड़ी वाले को भी कुछ धनराशि प्रदान की जाती है। इसी समय दोनों पक्ष यदि कोई दातव्य धनराशि किसी सभा, सोसाइटी या मंदिर आदि को देना चाहते हैं तो उसकी भी घोषणा पुरोहितों द्वारा ही की जाती है जो इस समय सारे कार्यक्रम का संचालन करते हैं। यही वह समय है जब पुरोहित लोग अपने अपने यजमानों का नाम, वंश और गोत्र परिचय आदि सब के सामने देते थे और इस समय क्षत्रियों के लिये ठाकुर साहब का प्रयोग करते हुए सभी घोषणायें की जाती थीं। प्रथा अब भी वही है

पर इन चीजों पर अब कोई अधिक ध्यान नहीं देता। सम्बन्धियों द्वारा एक दूसरे के सिर के चारों ओर सिक्का घुमा कर न्योछावर करने का **वारफेर का रिवाज** अब भी कायम है जो परजों में बांट दिया जाता है। खत्रियों में कन्या के घर आंगन में **वेदी** बनती है जिसे वितान या मण्डप कहते हैं। कही कहीं आंगन में चौकोर चबूतरा बना रहता है उसे भी वेदी कहते हैं पर जहाँ चबूतरे वाली वेदी नहीं है वहाँ आँगन में चार केले के खम्भे खड़े कर बांसों के सहारे चौकोर दीवार बना लेते हैं। अब यह बिना छावनी का मकान सा हो जाता है। इसमें चारों ओर चार द्वार और अगल बगल चार खिड़कियाँ हो जाती है। खिड़कियों में फूल की जाली बनवाते हैं या कमचियां बांध कर कई खाने बनाते हैं। बांस और कमचियों में लाल हरे कपड़े लपेट कर गोटा लपेटते हैं। बस, इसी का नाम वेदी है। कहीं कहीं चार के बदले बारह केले के स्तम्भ देते हैं और उसी से द्वार बन जाता है। वेदी के द्वार और खिड़कियों पर मेहताब बना कर बंदनवार बांध कर सजावट करते हैं। मेहराब तथा खिड़कियों के खाने के कमचियों में खिलौने, तसवीर, आइने, वर्क लगे मेवे और मिठाइयाँ लटका दी जाती है जिन्हें सिंदूरदान के समय वर पक्ष वाले बालक लूट लेते हैं। पंजाब में वेदी की सजावट विशेष रूप से होती है। कहीं कहीं ऊपर सालू या फूल का चंदवा भी देते हैं और कोई उसे खाली ही रखते हैं। इस वेदी के कार्य को विशेषज्ञ ही करते थे।

कन्या के यहाँ एक रस्म **टिक्की देने** की भी होती है। कन्या को नये वस्त्र पहना कर पीयल होता है। टिक्की गोद में दी जाती है। वेदी बन जाने पर चूड़ा मंसना या कांदी की रस्म होती है। लड़की के मामा वेदी (मंडप) में बैठ कर हाथी दाँत का लाल रंग का चूड़ा, अनवट, बिछिया, पैर का कड़ा या चूड़ी तथा कोई नथ संकल्प कर अपनी बहन को देते हैं। दूसरी स्त्रियाँ जो चौलावा या सरवर मठ देती हैं वे भी इस समय संकल्प करती हैं। नवग्रह आदि का पूजन कर के चूड़ा मंसा जाता है। **माइयाँ का रिवाज** वर कन्या दोनों के यहाँ होता था जिसमें अपने नातेदार मिठाई इत्यादि व नगद देते थे। अब केवल कोई वस्तु या नकद भेंट में देने का रिवाज हो गया है जिसे व्यवहार कहते हैं।

विवाह कार्यक्रम में मिलनी का कार्य समाप्त होने के पश्चात कन्या का भाई या कोई अन्य बुजुर्ग वर को घोड़ी से उतार कर घर के द्वार पर ले जाता है जहाँ वर की सास थाली में दिये सजा कर अपने होने वाले **दामाद की आरती** उतारती है तथा इस समय घर की अन्य स्त्रियाँ मंगलाचार के गीत गाती हैं। इस आरती के द्वारा सास अपने भावी दामाद को आशीर्वाद देती है और उसके कल्याण की कामना करती है। इसके पश्चात बरातियों को जलपान एवं भोजन कराया जाता है तथा वर को घर के अन्दर ले जाया जाता है। वर्तमान समय में इसी समय दोनों ओर के पक्षों के लिये भोज, संगीत आदि के कार्यक्रम होते है

तथा वर कन्या दोनों के जयमाल एवं अंगूठी पहनाने का रिवाज हो गया है और कन्या भी वर की आरती उतारती है। यह प्रथा अब अत्यधिक तड़क भड़क पूर्ण एवं एकमात्र महत्व की रह गयी है। अब वर के साथ उसका भांजा या भतीजा भी उसके साथ घोड़ी पर बैठ कर **सहबाला** के रूप में आता है। उसे भी तिलक कर के भेंट आदि दी जाती है। मूलतः इस प्रथा में सहबाला किसी ब्राह्मण के अविवाहित लड़के को ही बनाया जाता था और उसे सेहरा पहना कर पाँच लड्डू तथा एक रुपया दिया जाता था।[1] कहीं कहीं ब्राह्मण पुत्र को ही सहबाला बनाये, जाने की प्रथा अब भी विद्यमान है।

वर के साथ तलवार का सम्पूर्ण विवाह संस्कार के दौरान हाथ में रहना प्राचीन क्षत्रिय परम्परा का सूचक है और किसी भी बिरादरी के खत्री में विवाह संस्कार की यह एक अनिवार्य शर्त है जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।

इसकी अनुमति उत्तर प्रदेश सरकार से निम्नलिखित पत्र द्वारा भी मिल चुकी है :

पत्र सं0 3344–दो/आठ–21051–17 दिनांक 13 मई, 1948
मंत्री,
अखिल भारतीय खत्री महासभा,
लखनऊ।

आपके पत्र सं0 335 दिनांक 19 अप्रैल, 1948 के उत्तर में मुझे आप को सूचित करने की आज्ञा हुई है कि इस विषय के आदेश दे दिये गये हैं कि खत्री वरों के पास म्यान में रखी तलवार को आपत्तिजनक न समझा जाय।

हस्ताक्षर
असिस्टेन्ट सुपरिन्टेन्डेन्ट
गृह विभाग (पुलिस–ख)

इसके पश्चात विवाह संस्कार के लिये वर पक्ष की ओर से कुछ लोग कन्या के घर रुकते हैं तथा स्थानीय बारात होने पर बराती अपने घर और बाहर की बारात होने पर जनवासे वापस चले जाते हैं परन्तु बारात कन्या के द्वार पर आने के समय तथा वर पक्ष के लोगों की मौजूदगी में जब जब वे घर पर आते हैं कन्या पक्ष की औरतें समधियों को मीठे मीठे दोहे भी सुनाती हैं जिसमें उनसे कन्या के दोषों को माफ कर उसे प्यार एवं सम्मान से रखने की प्रार्थना होती है। समधियों को चिरंजीवी होने का आशीर्वाद दिया जाता हैं। मीठे मीठे उलाहने दिये जाते हैं और कभी कभी मीठी गालियां भी दी जाती हैं पर यह सब शुभ माना जाता है। कोई इसका बुरा नहीं मानता। पहले इस प्रथा में दोनों ओर से कभी कभी कवित्व शक्ति की प्रतियोगिता भी हो जाती थी। यह रिवाज घर की बड़ी

1. खत्रियों की प्रथा–सीताराम सेठ (1928)–पृष्ठ 51

बूढ़ी औरतों तक ही सीमित था पर अब खत्म होता जा रहा है। इस रिवाज को **सिठनी देना** कहते है।

विवाह से पूर्व वर अपनी तलवार की नोक से कन्या के घर जा कर **तनी छूता** है और द्वार पर टंगी **चलनी गिराता** है जो इस बात का द्योतक है कि वर अपनी वीरता से समस्त आपदाओं का नाश करने में समर्थ है। विवाह के बाद वेदी तोड़ना, भट्ठी तोड़ना तथा एक ही लात के वार से सात सिकोरे तोड़ना, प्राचीन समय की लड़ाई के ही चिन्ह हैं। कन्या का विवाह के समय सालू ओढ़ना तथा दामाद को राजतख्त या गद्दी आदि कन्या पक्ष से वर को चोलावे में देना क्षत्रियों की ही आदि चाल है। चौलावे में चार कटोरियाँ चीनी भरी होती हैं और हर भाँवर के फेरे में एक एक कटोरी दी जाती है तथा सरवरमठ में गगरा, तेवर या साड़ी, आभूषण और नगद होता है जो अन्तिम फेरे में दिया जाता है। इसी समय अन्तिम फेरे में राजपीढ़ी (राजतख्त या गद्दी अर्थात चाँदी की चौकी में बिछावन), वस्त्र, भूषण आदि जो स्त्रियाँ देना चाहें, देती हैं। यह चाल केवल खत्रियों में ही पायी जाती है जो प्राचीन क्षत्रिय परम्पराओं में से चली आ रही है।

विवाह में **प्रथम गणेश पूजन, नवग्रह शान्ति** तथा कन्या के मण्डप में आने के पूर्व अन्य औपचारिक पूजन आदि होते हैं। पहले विवाह के दिन कन्या भोजन भी नहीं करती थी पर अब खिला देते हैं। कमर में मौली, चन्दन लेप, बड़े जीजा द्वारा लाये गये जल से स्नान (घट भरना), बालों में लटें बनाना, हाथों में मेंहदी और पैरों में मेंहदी, सर से पांव तक ज़ेवर तथा लाल वस्त्र पहना कर वधू को सजा कर मंडप में लाया जाता तथा उसे मंडप में वर की दाहिनी ओर पटरे पर बिठाया जाता है। रात्रि में **विवाह संस्कार** काफी समय तक चलते हैं जिनके **तीन भाग** होते हैं।[1] पहले में वर वधू अग्नि का पूजन करते हैं और एक दूसरे को सात तथा पाँच वचन देते हैं जिनमें सुख दुख में परस्पर प्रेम, आज्ञा पालन, सुरक्षा आदि के वचन देते हैं जिसके पश्चात वर कन्या को अपनी अर्द्धांगिनी बनाता है। इन वचनों का पालन जीवन पर्यन्त, जब तक मृत्यु उन्हें जुदा न कर दे, पूर्ण रूप से करना होता हैं। इसके बाद दूसरे भाग में सप्तपदी होती है जिसमें वर अपनी भार्या के पल्लू से गांठ बांध कर आगे चलता है और पत्नी उसके पीछे उसकी अनुगामिनी हो कर अग्नि कुंड की अग्नि को साक्षी मान कर, पवित्र अग्नि को अपने बंधन का साक्षी मानते हैं। वही सृष्टि के लिये अनिवार्य चेतन अग्नि इस सम्बन्ध का भी प्रमाण होती है इसी लिये ऋग्वेद का पहला मंत्र भी –अग्नि मीळे पुरोहितम, यज्ञस्य देवमृत्विगम' से प्रारम्भ होता है। अर्थात अग्नि ही पुरोहित रूप से इस सम्बन्ध का भी साक्षी है। सामाजिक,

1. 'विवाह एक यज्ञ–विवाह एक संस्कार' शीर्षक से एक लेख खत्री हितैषी के प्रबन्ध सम्पादक खत्री सतीश चन्द्र सेठ ने खत्री हितैषी स्वर्ण जयंती विशेषांक (1987) में प्रकाशित किया था। उसमें विवाह संस्कार के तीनों भाग विस्तार से देखे जा सकते हैं।

नैतिक, विधिक तथा कानूनी सभी दृष्टियों से इस सप्तपदी (या सात फेरे) के पूर्व कोई भी विवाह जायज नहीं माना जाता। इसके पूर्व माता पिता कन्यादान करते हैं और वर को भेंट आदि देते हैं। खत्री विवाह संस्कार में यही दो कृत्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। इनके बिना कोई विवाह सम्पन्न नहीं होता। इसके बाद की बहुत सी प्रथायें हैं जो सभी खत्री बिरादरियों में समान हैं पर प्रायः सभी अब समाप्ति की ओर हैं। ब्याह के दौरान कन्या की बहनों द्वारा अपने जीजा के जूते चुराना, पान में मिर्चा या नमक भर कर खिलाना आदि मनोरंजन के ऐसे रिवाज हैं जो कभी कभी विवाह का सारा माहौल किरकिरा कर देते हैं और कभी स्वस्थ मनोरंजन के साधन बन जाते हैं।

कन्या की मांग में **सिंदूर भरना** या **सिंदूर दान** एक ऐसा अवसर है जब वर कन्या का मुख अच्छी तरह देखता है। उसके बाद वर वधू दोनों पारिवारिक देवी का पूजन कर उनका आशीर्वाद लेते हैं जो कार्य स्त्रियाँ ही कराती हैं जिनकी अगुवा कन्या की माँ ही होती है। इसी समय वर की कवित्व शक्ति की भी परीक्षा की जाती है और वर को कुछ दोहे या तो स्वयं बना कर या किसी से पूछ कर सुनाने पड़ते हैं और प्रत्येक ऐसे दोहे या छंद कहलाने वाला वर को कोई न कोई भेंट अवश्य देता है। इसके पश्चात भेंटे दी जाती थीं जिन्हें सरवर मठ कहते थे। तत्पश्चात धान का लावा (खीलें) ली दी जाती हैं और उन्हीं को वार कर वर वधू को सुखी जीवन का आशीर्वाद दिया जाता है और **बरी पलंग मंस** कर कन्या विदा हो जाती है। बरी पलंग को ही **खट्ट मंसना** भी कहते है। मंसना शब्द का प्रयोग प्रायः दान करने के अर्थ में होता है। इस प्रथा का वास्तविक अर्थ यह है कि कन्या का पिता पलंग और उसके सभी सामान तथा बरतन आदि जो बेटी दामाद को देना है, वेदी में रख कर यथा विधि पूजन कर, लड़की का नाना या मामा और यदि वे न हों, तो दादा या पिता मन्स कर दामाद को दे देता है। उसी समय कन्या का समस्त परिवार खाट के पीछे खड़ा हो जाता है और लड़की पीठ की ओर धान फेंकती है जिसे वे झोली में ले लेते हैं। चूंकि जितनी जमीन में वेदी बनी है वह दान हो जाती है अतः कन्या का पिता इस प्रकार दामाद को उसका मूल्य दे कर वह भूमि उससे लौटा लेता है। इसी समय नारियल का भी बलिदान होता है।

अब से कुछ वर्षो पहले तक दूसरे दिन कठौती स्नान, जिसमें वर को लकड़ी के कठौते में बिठा कर सुगंधित जल से स्नान करवा कर नये वस्त्र दिये जाते थे, बरी चढ़ाना, जिसमें वर पक्ष द्वारा कन्या के लिये व्यवस्थित वस्त्रादि का प्रदर्शन किया जाता था जिसमे कन्या पक्ष को वधू के लिये कोई भी आभूषण एवं वस्त्र चुन कर पहनाने की स्वतंत्रता होती थी, रात्रि को ज्योनार या जंड, जो बारातों का सर्वप्रमुख अंग हुआ करता था, बारातियों को उपहार तथा फड़ और उसके पश्चात बरी –पलंग , फूल चढ़ाना आदि अनेक रस्में थी जो अब बंद हो गयी हैं, बदल गयी हैं या पहले कर ली जाती हैं। फड़ (मुख्यतः पूर्वियों की रस्म) के समय पहले एक दूसरे पक्ष का लेना देना, परजों को इनाम, पुरोहितों को

दक्षिणा, दादका नानका परनानका आदि (क्योंकि पूर्वियों में घोड़ी के समय केवल समधी समधी की मिलनी तथा पुच्छ होती थी) तथा अन्य भुगतान कार्य समाप्त कर विदाई कर दी जाती थी। अब यह कार्य विवाह के पश्चात तुरन्त ही कर लिया जाता है। घोड़ी, बैंड, शहनाई, आतिशबाजी, जनवासे एवं बारात के लिये प्रकाश का प्रबंध कन्या पक्ष द्वारा वर पक्ष की ओर से किया जाता है क्योंकि कन्या के द्वार तक बारात लाने की जिम्मेदारी वर पक्ष की ही होती है अतः इसका खर्च उन्हीं से लिया जाता रहा है। वर के वस्त्र, उनकी सिलाई, पुच्छ (नजराना) तथा अन्य खर्च जो कन्या पक्ष ने वर पक्ष के माध्यम से सुविधानुसार अपनी ओर से करवाये हों, वह कन्या पक्ष देता था। इनका हिसाब किताब इसी फड़ में किया जाता था पर अब सब विवाह के तुरन्त पश्चात निपटा दिया जाता है। पहले विदा पालकी में होती थी अब गाड़ी या कार से होती है। पुत्र वधू को ले जाते समय वर से बड़े, जो वहाँ पर हों, प्रायः कंगलों के लिये कुछ रेजगारी और पैसे खुशी में लुटाते हैं। पुरोहितों की जजमानी वृत्ति घटने के कारण भी इन प्रथाओं और संस्कारों में काफी परिवर्तन आ रहा है पर मूल प्रथायें अभी तक किसी न किसी रूप में विद्यमान हैं। स्थानानुसार उनके नाम बदले हुए हैं। अब विवाह संस्कार पहले के समान कई दिन का संस्कार न हो कर प्रायः एक ही दिन का संस्कार रह गया है जिसमें कन्या के घर पर बारातियों का स्वागत, वर वधू द्वारा एक दूसरे को जयमाल पहनाना, भरपूर भोज, केवल सप्तपदी तथा कन्यादान एवं अन्य छोटे मोटे रिवाज, उसी समय बरी पलंग आदि तथा विदाई, यही विवाहों का अंग रह गये हैं जिनमें तड़क भड़क, दिखावा, वैभव का प्रदर्शन तथा फिजूलखर्ची खूब होती है। धीरे–धीरे लुप्त हो रही प्रथाओं में कन्या के विवाह में उसके ननिहाल से ननिहाली अर्थात कुछ जेवर, वस्त्र तथा भेंट लेना और पुत्र के विवाह में ननिहाल वालों को विवाह में मिले सामान का एक तिहाई देना आदि है जिसमें अब केवल रीतिक वस्तुओं का आदान प्रदान ही होता है। यह रस्में पहले छक्क कहलाती थीं। विवाह के बाद प्रथम विदा को ही गौना कहते हैं। इसमें भी कुछ लेन देन होता है।

लुप्त होती कुछ विशिष्ट प्रथायें

सत्ताहूरा– यह मुख्यतः जनाना टेहुला है जिसके भिन्न भिन्न रूप अलग अलग बिरादरियों में चलते रहे हैं। यह रस्म होती सबके यहाँ है किन्तु इसकी रीति भिन्न भिन्न है। इसमें किसी के यहाँ चने की दाल की खिचड़ी बनती, दहेड़ी आती, समधिनों की चादरें रंगी जाती हैं। किसी के यहाँ बहू का सिर खोल कर स्नान कराया जाता है (जिसे सिर खुलना कहते हैं, यह जब बारात घर लौट कर आती है, उसके दूसरे दिन होता है), तथा वर सात सुहागिनों से टुकटुकी (यह एक विशेष शब्द है) शकरपाला मांगता है और वह बहू के पल्ले में दिया जाता है। किसी के यहाँ दही और चीनी अथवा रबड़ी देते हैं। इसके साथ कुलदेवता की भेंट और पूजन, टीका तथा गद भी होता है।

इस रस्म में विभिन्नता का एक कारण यह भी है कि किसी के यहाँ स्त्रियाँ बारात के संग ही जाती हैं और उनके कुल रस्म बेटी वाले के ग्राम या नगर में ही होते हैं और वर के घर में कुछ भी नहीं होता। अतः उन्हे सभी रस्में दूसरे के ग्राम या नगर में ही समाप्त कर के लौटना होता है।

दूसरे वे लोग है जिनके यहाँ पूज, तनी कढ़ाई इत्यादि अपने घर पर ही कर के बारात ले जाते हैं और स्त्रियाँ बारात के साथ नहीं जाती अतः स्त्रियों की रस्में वर वधू के घर पर आ जाने पर ही होती हैं तथा जो स्त्रियाँ घर पर रह जाती हैं वे बारात के चले जाने के बाद घर पर 'पड़वा' का कार्यक्रम रात्रि भर जाग कर करती हैं जो अधिकांशतः अश्लीलता भरा कार्यक्रम होता है। यह प्रायः रात्रि में देर से प्रारम्भ होता है और भोर तक चलता है। इसमें पुरुषों या बालकों का प्रवेश पूर्णतः वर्जित होता है।

कोंढा– इसमें वर पक्ष की स्त्रियाँ लड़की वाले के घर मेवा इत्यादि ले जाती हैं और वेदी में वर कन्या को बैठा कर कन्या की गोद में मेवे, मिठाई, फल डाल कर लेने देन करती हैं।

थाली– जब सब रस्में हो जाती हैं तब वर पक्ष वाले बहू के लिये मेवे, गरी, छुहारे, किशमिश, बादाम, अखरोट, इलायची, दाने, पिस्ता, चिरौंजी, मिश्री के कूजे, मिठाईयाँ, नमकीन, फूल के गहने कन्या पक्ष को भेजते हैं। थाली का दाम चुकाया जाता है।

अन्य लोग यह थाली फूल के गहनों के साथ विवाह के दूसरे ही दिन भेजते हैं। लाहौरिये इसे अन्त में भेजते हैं। फूल के गहनों की थाली पूर्वियों में भी भेजी जाती है।

गंगा माता पूजन– यह रीति सभी जगह, सभी के यहाँ प्रायः विवाह के सब काम खत्म हो जाने के बाद होती है किन्तु जहाँ गंगा जी न हों, वहाँ नहीं भी होती या समय मिलने पर बाद में भी होती है। प्रायः सभी के यहाँ बारात के लौट आने पर वर वधू को देवी दर्शन कराने का रिवाज अभी तक प्रचलित है।

मुँह दिखाई– ब्याह के बाद जब बहू जनवासे में जाती है तब वर के नातेदार नयी आयी हुई बहू को देखते और जिससे जैसा व्यवहार हो, बहू को गहना या नगद देते हैं। बहू भी मुंह दिखाई करने वाले को सूही कर के अर्थात उनके पांव छू कर कुछ नगद धनराशि देती है। पंजाबी में 'सूई' के ही अर्थ सूही अर्थात पांव लगना होते हैं और 'नू' वधू को कहते हैं। अतः जब बहू अपने से बड़ों के पाँव छू कर उनके प्रति आदर प्रकट करती है तो, उसी को सूही देना कहते हैं। बहू द्वारा दी जाने वाली धनराशि प्रतीक मात्र होती है।

विवाह के बाद की अन्य प्रथायें व संस्कार

कोई भी स्त्री जब पहली बार ऋतुमती होती है तब चौथे दिन के स्नान के बाद गाना बजाना, खाना पीना और अपने सम्बन्धियों में कुछ लेन देन भी होता है। स्नान के बाद बहू को नया वस्त्र पहना कर पाँच सौभाग्यवती स्त्रियाँ उसकी गोद भरती हैं जिसमें फल, मिठाइयाँ व कसार रहता है तथा कुछ रुपया नगद भी दिया जाता है। इसे कसार की रीति भी कहते हैं। नातेदार भी अपने संबंध के अनुसार देते हैं तथा बहू के मायके वालों को भी इसी प्रकार भेजना होता है। यही प्रथा **ऋतु या रीत या रजोधर्म** कहलाती है जिसे **छोटी रीति** भी कहते है।

ऋतुमती होने के पश्चात (चाहे वह मायके में हो या ससुराल में) पहली बार जो सहवास व गर्भाधान का अवसर दिया जाता है उसे ही **सोहागरात** या चन्द्ररात भी कहते हैं। इसमें वधू का श्रृंगार कर उसे उसके पति के पास भेजा जाता है जिसमें वधू प्रायः कमरे में पहले से उपस्थित रहती है और पति बाद में आता है।

गर्भ रह जाने के तीसरे महीने में किसी शुभ दिन को **अरोहे (अरोये)** या चुपकी की रीति होती है। कोई कोई इसी संस्कार को **बूढ़े बाबू** और कोई **छोटी रीतें** भी कहते हैं। इसमें पूजन के लिये एक पटरा, कलसा (मटका या पुरवा), शिकोरा, अक्षत, पान, 5 सुपाड़ी, नैवेद्य, धूपदीप, सालू का टूकड़ा 1 आदि रख कर सूर्य, गौरी व गणपति का पूजन होता है। यह रस्म घर में ही चुपके की जाती है इसी लिये इसे **चुपकी रीति** कहते हैं। बैजल सेठ इसी को बूढ़े बाबू कहते हैं। इसमें नातेदारों के यहाँ जो भाजी भेजी जाती है उसे सोजी कहते हैं। इस संस्कार को ही **पुंसवन कहते** हैं।

पुंसवन के बाद ही गर्भ रहने के सातवें या नौंवे मास में **सीमन्तोनयन संस्कार** होता है जिसे खत्रियों में भोड़े कहा जाता हैं। इसे सधोर या सोहन भी कहते है। कुछ लोग इसे 7वें और कुछ इसे 9वें महीने में करते है। यह सातवें या नवें मास के शुक्ल पक्ष में होता है। इसमें गणपति व नवग्रह का पूजन होता है। वधू का श्रृंगार होता है और पूजन के बाद निमंत्रित लोग टीका, नकद, मीठा व वस्त्र आदि देते हैं जो पति पत्नी को ही नहीं बल्कि पति के माता पिता को भी दिया जाता है। अपने लोगों को सूही भी वर के पिता देते हैं। इसमें घर के बने पकवान तथा मिठाई की थालियाँ रखी जाती है और गोद भरी जाती है। इसी लिये इस रस्म को **गोद भराई** भी कहते हैं।

इस रस्म का प्रयोजन गर्भ में बालक की सुरक्षा तथा अवधि पूरी होने पर सफल प्रसव की प्रार्थना करना होता है। यह प्रथा अभी तक विद्यमान है।

1. सालू–यह रंग आर्यों के समय का है। क्षत्रियों के यहाँ विवाह के समय कन्या को ओढ़ाया जाता था।

प्रसव के लिये पहले घरों में एक निश्चित स्थान होता था जहाँ दाई के आने के पूर्व घर की बड़ी या बूढ़ी कुछ पैसे जच्चा के हाथ से कुल देवता को निकाल कर अलग रख देती थी। इसे ही **प्रसव ग्रह या जापा** कहते थे। उस घर के बाहर तलवार या लोहे की चीज रख दी जाती थी ताकि ऊपरी प्रेत बाधा आदि का निवारण हो सके। यदि पुत्र पैदा होता तो नार काटने पर घर के बड़े बूढ़े के जनेऊ का काम पड़ता था और कांसे की थाली बजायी जाती थी। कन्या होने पर घर की बड़ी सुहागिन के सिर की मौली (परौंदा) या चर्खे का काम पड़ता था। आगरेवाले खत्रियों में किवाड़ की कुण्डी बजायी जाती थी। अब प्रायः सभी प्रसव अस्पताल या नर्सिंग होम में होते हैं अतः यह प्रथा समाप्त हो चली है।

बालक के जन्म के दूसरे दिन **चरुआ चढ़ाने** की रीति होती है जिसे रीत या पानी चढ़ाना भी कहते है। इसे घर की बड़ी बूढ़ी औरत बालक के जन्म के दूसरे दिन सम्पादन करती है जिस के लिये उसे एक साड़ी और नकद रुपये दिये जाते हैं तथा लड़की वालों की ओर से बधाई व रुपया दिया जाता है। इसके पश्चात विभिन्न विभिन्न घरों मं कुलाचरण के अनुसार भिन्न भिन्न समय पर **नामकरण संस्कार** होता है जो पंडित बुला कर करवाया जाता है तथा गणपति व नवग्रह का पूजन होता हैं। हल्दी, मजीठ, अलता, कागज, पीली मिट्टी , पटरा, मौली, कलम तथा रंगा कागज जन्मपत्र लिखने के लिये रखा जाता है जिस पर पंडित जन्म पत्र लिखता और राशि नाम रखता है तथा परिवार के बुजुर्ग उसका पुकारने का नाम रखते हैं। इस संस्कार के पूर्व तक परिवार में सूतक माना जाता है। यदि बच्चा मूलों में पैदा हुआ हो तो इसी समय मूल शान्ति भी करायी जाती है।

बच्चे का जच्चा प्रायः तीसरे दिन और किसी किसी के यहाँ उसी दिन जच्चा बच्चे को दूध पिलाती है तो उसे थनलगनी कहते हैं। उसके पहले बच्चा गाय का दूध पीता है। छठे, तेरहवें, इक्कीसवें और सवा महीने का स्नान होता है और छठी के दिन या इसके पूर्व जच्चा के कपड़े व बिछावन आदि दाई को दे दिये जाते हैं। इसके बाद एक कहारिन या नाइन सवा महीने तक जच्चा व बच्चे की मालिश व नहलाने आदि का कार्य करती है। लड़के के जन्म में नाना की ओर से बधाई का रुपया दिया जाता है। कन्या के जन्म की बधाई नहीं होती। **छठी** के दिन स्त्रियाँ एक छोटे पटरे पर मूर्ति बनातीं, लाल कपड़ा पहनाती, पूजन कराती व पैसे चढ़ाती हैं और पूजन में गुड़, धनियां, पूरी, सोंठ व बड़े चढ़ाती और जच्चा को गोद देती हैं तथा दाई को गुड़ धनिया दे कर विदा करती हैं। इसे ही **ब्याही बिदा करना** कहते हैं। किसी किसी के यहाँ छठी के दिन आटे की तलवार बालक के मुख से लगायी जाती है क्योंकि उसका जीवन तलवार पर ही निर्भर है। जच्चा, बच्चा और लड़के के पिता को पीले रंग का कपड़ा पहना कर बच्चे को वस्त्र पहनाने की चाल को ही **वस्त्र पहनाना या चोले**

पहनाना कहते है। कोई नया कुर्ता टोपी उसी दिन, कोई चोले के दिन पहनाते, कोई बिना कली का कुरता पहनाते हैं और तब तक बच्चा पुराने वस्त्र ही पहनता है। इस अवसर के लिये वधू के मायके से दामाद के वस्त्र, लड़की की साड़ी, बच्चे का कुर्ता टोपी, भूषण जो हो सके, टुकड़ा कपड़ा, गद व सूही के रुपये उस दिन या चोला देने के दिन दिया जाता है जिसे **पेके से** (मायके से) कहते हैं। इसके पश्चात बालक के जन्म के 13वें दिन **देहली पूजन** होता है। इसके बाद **चोला पड़ना** की रस्म होती है। जिन के यहाँ छठी के दिन बच्चों को नया कुरता नहीं पहनाया जाता उनके यहाँ इस दिन पहनाया जाता है। नाना के यहाँ से छठी पर या इस समय चीजें आती हैं। गणपति व नवग्रह का पूजन होता है। पीपल के पत्ते की चोंगी बना कर पिता बच्चे के कान में उसका नाम कह देता है। कपड़ा हल्दी के रंग में रंगा जाता है। कोई कोई बच्चे के जन्म के बाद पहले नवरात्र की अष्टमी को ज्योति की पूजा कर के बच्चे को नया वस्त्र पहनाते है। आगरेवाल मेहरोत्रा और सरहिंदियों में विशेषकर भादों बदी अष्टमी को जंडी (शमी) के पेड़ के नीचे पूजा कर नया वस्त्र पहनाते हैं। जंडी की पूजा भिन्न भिन्न प्रकार से लोग अपने अपने रिवाज के अनुसार करते हैं।

बच्चे के जन्म के बाद चौथे महीने की किसी शुभ साइत में जच्चा बच्चे को ले कर मैके जाती है या पुरोहित अथवा किसी दूसरे कुटुम्ब में जाती है। वहाँ उसे धान की खील (लावा) और कटोरा तथा नकद रुपया दिया जाता है। इसे पैर फेरना या **निष्क्रमण** कहते हैं। जिस दिन बालक को अन्न चटाते हैं या खिलाते हैं उसे **अन्नप्राशन संस्कार** कहते है। अन्नप्राशन संस्कार में सामान्यतया छठे महीने परिवार के मुखिया द्वारा बच्चे को हलवा, दूध के खोये की मिठाई या चावल उसके मुँह में चम्मच रख कर चटाया जाता है। उसके विद्यारम्भ के दिन नवग्रह की पूजा तथा नये कागज पर गणेश, विष्णु, सरस्वती, लक्ष्मी आदि पाँच देवताओं का नाम लिख कर विद्यारम्भ करवाते हैं। इस दिन इष्ट मित्रों को निमंत्रण होता है, टीका दिया जाता है, व लड्डू बंटते हैं।

बच्चे के कुछ महीने का हो जाने के बाद और अन्नप्राशन के पश्चात बच्चे को पहली बार सिले हुए वस्त्र पहनाने के संस्कार को **पेहनी पड़ना** या डालना कहते हैं। प्रायः यह संस्कार परम्परागत देवस्थान और पारिवारिक परम्परानुसार एक निश्चित आयु में ही होता है और बालक के बाल की एक लट कटवा कर, उसे नहला धुला कर, नये सिले वस्त्र पहना कर देव स्थान के दर्शन कराते हैं यह पारिवारिक संस्कार है।

बालक के तीसरे या पाँचवे वर्ष में कुल देवता का आशीर्वाद प्राप्त कर **मुंण्डन या चूड़ाकर्म** संस्कार होता है और नाई बालक के सर के बाल पहली बार उतारता है। यह कार्य या तो किसी नदी के किनारे या किसी धार्मिक स्थान में कुल परम्परानुसार होता है। इसमें प्रायः पारिवारिक परम्परा का ही पालन किया जाता है और इसी के साथ सम्बद्ध है खत्रियों का **देव कार्य या देवकाज** जो खत्रियों की विशेष प्रथा है पर सबके यहाँ नहीं भी होती। यह घर घर की चाल

है। यह स्त्रियों के प्रथम बालक के मुंडन संस्कार के तुरन्त बाद ही होता है जिसमें सप्तपदी एवं कन्यादान को छोड़ कर प्रायः समस्त संस्कार दोहराये जाते हैं और कुल देवता की कढ़ाही अनिवार्य होती हैं। कही कहीं दूसरे या तीसरे दिन पर मुंडन भी होता है।

इस देव कार्य में पूजन के पश्चात पति अपनी पत्नी को लात से छूता है जो क्रोध का प्रदर्शन है। बात की बात में कुछ झगड़ा हो जाता है और पत्नी रूठ जाती है तथा अपने मायके के किसी रिश्तेदार के यहाँ बच्चे को ले कर चली जाती है। तब पति नये वस्त्र पहन कर एवं सेहरा बांध कर अपने घर वालों के साथ पत्नी को मनाने उसके मायके जाता है और गाजे बाजे के साथ उसे भी मना कर, गांठ बांध कर बच्चे व पत्नी सहित घर आता हैं और वे दोनों गांठ जोड़ कर कुल देवता का पूजन करते हैं। उसके पश्चात वह बालक प्रथम बार कुल देवता का दर्शन करता है। इसके पश्चात ही बहू को अपने परिवार की पारम्परिक पूजा सम्पन्न कराने का पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है जो अब तक उसकी सास का ही अधिकार रहा था। इसी लिये खत्रियों के घर में बिना देव कार्य हुए नवरात्रि की पूजा नयीं बहुएं नहीं करा पाती थीं जो उनका ही अधिकार है।

इसके पश्चात विवाह के पूर्व यज्ञोपवीत या जनेऊ पहनाने का संस्कार होता है जो परम्परागत कुल देवता के स्थान, गंगा तट या अन्य कुल स्थान में ही होता है जिसमें कुल पुरोहित बालक के कान में पहली बार गायत्री मंत्र सुनाता व जनेऊ पहनाता है। उसके बाद ही लड़का गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है।

खत्रियों की विशेष रीति देवकाज या देव कार्य

खत्रियों में विशेष रूप से प्रचलित यह संस्कार किसी और जाति में नहीं पाया जाता और खत्रियों में भी पछैयें, पूर्विये, दिलवाली और आगरेवाल सभी विभाग के लोगों के सभी वर्गों में भी इसका प्रचलन नहीं पाया जाता अतः उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में खत्री इतिहास की तहकीकात के साथ ही साथ इस प्रथा की छान बीन भी प्रारम्भ हुई और मई 1889 के पूर्व के खत्री हितकारी, आगरा के किसी अंक में (संभवतः अप्रैल, 1889 में) सहारनपुर के एक खत्री सौदागर पारचा, बाबू ज्वाला प्रसाद का एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमें यह बताया गया था कि यह रस्म शास्त्रोक्त नहीं है और केवल खत्रियों में पायी जाती है। उक्त लेख में इस रस्म के किसी प्राचीन राजा मलनाथ जी से प्रारम्भ होने की बात कही गयी थी और यह कहा गया था कि यह रस्म अब भी उसी तरह अदा होती है, जैसे मलनाथ जी ने अदा की थी।

मलनाथ जी एक राजकुमार थे। उनके पत्नी और पुत्र भी था जिसका नाम सुंदर था। एक दिन अचानक उनमें वैराग्य उत्पन्न हुआ और उन्हों ने गृहस्थ आश्रम त्याग कर वैराग्य लेने की ठानी और फकीरी बाना धारण कर

लिया। पति के वैराग्य लेने की बात को जान कर उनकी हठीली और बहुत जिद्दी पत्नी कुछ ब्राह्मणों और पुत्र को साथ ले कर उन्हें रोकने पहुंची। सबों ने बहुत प्रकार से मलनाथ जी को समझाया और अनेक तर्क दिये पर मलनाथ जी वापस आने को राजी न हुए तो उसने अपने पुत्र को पिता के हक का राज्य वापस दिलाने के लिये वापस चलने को कहा और न मानने पर (ब्राह्मणों की ही राय से) ब्राह्मणों की हत्या कर देने की धमकी दी तथा अपने से दुबारा शादी करने का (त्रिया) हठ किया (जैसा कि सीता ने राम से कहा था कि मुझे वन में नहीं ले जायेंगे तो यहाँ जहर खा कर प्राण दे दूंगी)।

पत्नी एवं पुत्र के मोह में आ कर मलनाथ जी लौट गये। रस्म देव कारज अदा की तथा पुत्र को उसके हक का राज्य (हिस्सा) अपने पिता से वापस दिलाया। उसी समय से यह रस्म जारी है।

इस लेख पर बहुत दिनों तक काफी आलोचना प्रत्यालोचना होती रही किन्तु इस कथा की मूल स्त्रोत पुस्तक का नाम ज्ञात न होने एवं अनेक विसंगतियां होने के कारण इस बहस का कोई परिणाम निकला नहीं प्रतीत होता और इसके बाद के लिखे खत्रिय इतिहासों में इस किंवदन्ती का कहीं जिक्र प्रायः नहीं मिलता।

इसके पश्चात खत्रियों के इतिहास की तहकीकात के एक अध्याय का "तकसीम कौम खत्रियान' के नाम से उर्दू अनुवाद खत्री हितकारी, आगरा के माह जून सन 1895 के अंक से प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ और उसके जून 1896 के अंक (पृष्ठ 75–79) में सेठ खत्रियों की कुल देवी वाराही के संबंध में विवरण देते हुए देवकाज की प्रथा के प्रारम्भ की एक दूसरी ही संभावना व्यक्त की गयी। उक्त विवरण संक्षेप में कुछ इस प्रकार हैः (भाषा थोड़ी हिन्दी कर दी गयी है):

"वाराही जिसका जिकर तकसीम कौम खत्रियान में हुआ है, फिरका सेठ के कुल देव हैं। सेठों के पुरोहित इनको एक लाल कपड़े में लपेट कर अत्यन्त सावधानी के साथ अपने कब्जे में रखते हैं और इसके दर्शन, इसके पूजने वालों को सिर्फ उनके देव कारज की रस्म के वक्त कराये जाते हैं। दर्शन के वक्त कपड़े के अंदर कोई तावीज वगैरह जैसी चीज़ मालूम नहीं होती। जिस वक्त खोला जाता है सिर्फ एक पुराना जंग लगा हुआ धातु का त्रिशूल की शक्ल का आला करीब डेढ फुट लम्बा व एक बालिस्त चौड़ा लाल मोटे देसी कपड़े में लिपटा हुआ नज़र आता है। इस दूसरे कपड़े पर वाराही यानी वाराह अवतार की शक्ति की खाम (धुंधली) तसवीर खिंची होती है। इस तसवीर मे एक कुंवारी लड़की की शक्ल नजर आती है जिसके बारे में कहा जाता है कि उसकी अत्यंत सुंदर व मोहिनी मूरत उसकी युवावस्था की है तथा उसका समस्त अंग कीमती वस्त्र एवं कान, गले, हाथ, पांव कुल सोने के आभूषणों से सज्जित है। अत्यंत नफीस रेशमी वस्त्र की चोली पहने उस लड़की के सर पर अनेकों हीरों से जड़ा

ताज शोभित होता है। वाराह पर सवार यह लड़की दाहिने हाथ में त्रिशूल एवं अत्यंत तीक्ष्ण धार वाले चक्र से शोभित है। इसी को वाराही देवी के नाम से पुकारा जाता है।

सरसरी नजर से देखने वाले को इस तसवीर में सिवाय निहायत बचपने और पल्ले दरजे की हिमाकत तथा मूर्ति पूजन के साक्ष्य के अलावा और कुछ नजर न आयेगा। इसे देख कर उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह होती है कि उसके पूर्वजों ने जिस प्रकार से अपनी औलाद को जवानी हासिल करने और लड़का पैदा होने पर इस तरह पर इसके दर्शन करने की ताकीद की है, जैसे कोई साहूकार निहायत खुफिया तरीके से अपने उत्तराधिकारियों को अपना गुप्त खजाना दिखाता है, वह निहायत जहालत से भरी हुई है। यह भी संभव है कि इसे देख कर वह अपने पूर्वजों की तुलना अफ्रीका के हब्शियों से भी बदतर रूप में करने लगे लेकिन जिन लोगों ने इस पर ध्यान से गौर करते हुए इसका मतलब समझने की कोशिश की होगी, उन्हें इसका मतलब बिलकुल इसके विपरीत मालूम हुआ होगा। प्राचीन आर्य, जिन्हें सारा संसार अत्यन्त बुद्धिमान लोगों में मानता है, इतने नादान नहीं थे कि अपनी आइन्दा नसलों को व्यर्थ की मूर्ति पूजा के दलदल में गिरफ्तार करा देते। उन्हों ने इस मामले में भी अपनी अत्यंत उच्च भावना एवं बुद्धि की तीक्ष्णता को प्रकट किया है। यह लोगों की गलतफहमी का नतीजा है कि इस सार्थक तसवीर का उन्हों ने दूसरा अर्थ लगा कर, कुलदेव करार दे कर उसको इस तरह पोशीदा रखते हैं। यदि लोगों ने अपने पूर्वजों की इस तजवीज का साफ साफ अर्थ समझने की कोशिश की होती और उस पर अमल करने से न बचते तो उससे उन्हों ने कहीं अधिक फायदा उठाया होता।

वास्तव में यह तसवीर फिरका सेठ (श्रेष्ठ कुल) के बुजुर्गो की बहादुरी की दास्तान है जो यह बताती है कि उनके पूर्वजों ने इस देश के असली बाशिन्दों (अनार्य लोगों) के साथ बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ लड़ीं, उन पर विजय पायी और अनार्यों की उजड़ी हुई भूमि को हरा भरा उपजाऊ देश बना दिया। मिश्र देश के इतिहास को पढ़ने वाले इसका मतलब बखूबी लगा सकते हैं और यह समझ सकते हैं कि इस तसवीर मे हू ब हू वहीं की प्रथा की नकल उतारी गयी है और वही वाराही देवी की इस तसवीर का सही अर्थ लगा सकते हैं। देवकाज की रस्म ही एक ऐसी रस्म है जिससे इस तसवीर के सही अर्थ की संगति भी बैठती है कि उसकी असल मुराद बच्चा पैदा होने के बाद कुल पुरोहित की मार्फत समस्त बिरादरी के समक्ष नौजावन आदमी को कुल देव के दर्शन कराना एवं कुल की रीति बताना ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जिस समय क्षत्रियों की कीर्ति चारों ओर फैल रही थी, उस समय इस रस्म का अदा करना फिरका फौजी के जवान को तमग़ा फौज अदा करना था। उस समय इस कौम का प्रत्येक मर्द युवावस्था में पहुँचने और प्रथम पुत्र के उत्पन्न हो जाने के तीसरे, पांचवें या सातवें साल में इस रस्म को अदा किया करता था और इस मौके पर

हर शख्स को उसका कुल पुरोहित उसके फिरके के असलहे जंग मय एक खास सार्थक चिन्ह शिनाख्त के नज़र करता था। इस समय उसे इस तमगे के अर्थ साफ साफ समझाये जाते थे और उससे प्रतिज्ञा करायी जाती थी कि इस अर्थ को अपने ह्रदय में गुप्त ही रखेगा। फिरका सेठ में यह तमग़ा एक त्रिशूल और वाराही के एक चित्र के रूप में होता था (अन्य फिरकों मे उनकी कुल परम्परा के अनुसार अन्य चिन्ह रहे होंगे)। सम्भवतः उस समय उसे कुछ निम्नलिखित प्रकार का उपदेश किया जाता था–

"आज तुम्हें सिपाही का तमग़ा अता किया गया है। तुमको चाहिये कि हमेशा एक त्रिशूल अपने हाथ में रखो और जीवन भर उसको बहादुरी से काम में लाते रहो। ईश्वर को अपना मददगार समझो, हिम्मत से काम लो। इस त्रिशूल की तेज धार और उसकी शक्ति पर भरोसा रखो और दुनियाँ में नामावरी हासिल करो। तुम्हारे बुजुर्गो ने इसकी मदद से राक्षसों को मुल्क से निकाल दिया था। तुम भी इसको उसी तरह बेखौफ हो कर काम में लाओ कि जिस तरह तुम्हारे बुजुर्गों ने उससे काम लिया था। ईश्वर ने तुम्हारा नाम दुनियाँ में कायम रखने के लिये तुम्हें एक लड़का दे दिया है और वह लड़का इस समय चेचक आदि जैसी बाल महामारियों से अकाल मृत्यु के भय से निकल गया है अतः अब तुम्हें वंश क्षय का भय भी नहीं है। अब अगर सैनिक के पेशे में तुम्हारी जान भी जाती रहे तो भी अपने वंश के कायम रहने की उम्मीद से तुम अपने क्षात्र–धर्म से विरत न हो। तुम्हें चाहिये कि तुम अपने पूर्वजों की वीरता के गुण गाते और उनके पद चिन्हों पर चलते रहो।

देखो, यह तसवीर (वाराही की तसवीर दिखा कर) तुम्हारे बुजुर्गो की बहादुरी और जवाँमर्दी का इज़हार करने वाली है। तुम्हें मुनासिब है कि दिलोजान से हमेशा उस फर्ज को पूरे जोर पर अदा करते रहो कि जो इस तमगे के साथ आज की तारीख में तुम्हारे सिपुर्द किया जाता है। यह त्रिशूल लो। एक चक्र भी अपने पास रखो और इन हथियारों को इस कदर बे खौफ हो कर चलाते रहो कि जिस कदर बेबाकी के साथ शक्ति इस तसवीर में चला रही है। राक्षसों को जो इस देश में घोर पाप के कारण हो रहे हैं, समूल नष्ट कर दो और बराबर अपने बुजुर्गों की सलतनत में इजाफा करते रहो। जिस तरह पर वाराह जिसकी शकल इस तसवीर में वाराही शक्ति की सवारी के तौर पर बनी हुई है, बैखौफ सीधा अपने शिकार पर आता है, उसी तरह तुम भी अपने दुश्मनों पर हमला करो, कभी पशोपेश न हो। जिस तरह ये जंगली जानवर पीठ दिखाना नहीं जानता, उसी तरह तुम भी अपने दुश्मनों से मुकाबला करने में, वह चाहे कितना ही ताकतवर क्यों न हो, मैदाने जंग से न भागो। इसके अतिरिक्त जिस तरह यह खूंख्वार जानवर अपने खूंख्वार एवं तेज दाँतों तथा थूथन से जमीन को खोद डालता और दरख्तों एवं झाड़ियों को जड़ से उखाड़ डालता है, तुम भी उसी तरह से भूमि प्राप्त करो और उसे मुलायम कर के हरा भरा और उपजाऊ बनाओ। तुम इससे सबक सीखो। अगर तुम मेरी नसीहत पर अमल करोगे तो

तुमको बहुत बड़ी कामयाबी हासिल होगी। जैसा तुम इस तसवीर में वाराही देवी को देखते हो वैसे ही यह रत्न आभूषण तुम्हें भी प्राप्त होंगे और सोने का ताज सर पर होगा। यह वाराही तुम्हारे बुजुर्गों की बहादुरी का नक़्श है। अगर तुम उस वीरता के गुण गाओगे और उनका अनुकरण करने की कोशिश करोगे तो वही पराक्रम, वही शौर्य, वही दिलेरी तुम्हारी रगों व दिल में भी समा जायेगी और तुम्हें उन्नति के शिखर तक पहुँचायेगी।

इससे एक बात साफ साफ समझ में आती है कि वाराही की तसवीर खत्रियों के सेठ फिरके के बुजुर्गों की दिलेरी और जवाँमर्दी की यादगार का पुराने किस्म का नक्श (चिन्ह) है और लोगों ने अपनी गलतफहमी से उसका दूसरा अर्थ लगा कर उसे अपनी कुल देवी करार दे दिया है। अब यहाँ पर यह सवाल पैदा होता है कि अगर यही कैफियत है तो इस कदर राज़दारी क्यों काम में लायी जाती है। इसका उत्तर मास्टर बेनी राम साहब ने यह दिया है कि प्राचीन काल के आर्यों में शस्त्र संचालन के हर फन के उस्ताद अपने फन को गुप्त ही रखते थे इसी वजह से उसमें गोपनीयता अपनायी जाती थी जो सांकेतिक रूप में अब तक चली आती है।''

यह वर्णन इस रूप में तो तर्क संगत लगता है कि हो सकता है कि आज कल के सैनिक शपथ ग्रहण समारोह की भाँति प्राचीन काल में यह समारोह किसी परेड के मैदान में नहीं बल्कि प्रत्येक सैनिक के घर में सामाजिक उत्सव के बाद उसके समाज के लोगों की उपस्थिति में उसके कुल के पुरोहित द्वारा इस शपथ को धर्म की शक्ति एवं उसके पूर्वजों की परम्परागत वीरता का उदाहरण दे कर कराया जाता रहा हो। इस प्रकार का रीतिक उत्सव एक ओर तो उसकी क्षात्र धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा को सुनिश्चित करता था, दूसरी ओर उसे उसकी पारिवारिक एवं वंश वृद्धि की चिन्ता से भी मुक्त करता था। वास्तव में यदि उस समय इस प्रकार के चिन्तामुक्त लोगों को सेना में लेने की प्रथा रही हो और उसे धार्मिकता, शूरवीरता एवं सामाजिक प्रतिज्ञाबद्धता का जामा पहनाया गया रहा हो तो यह अत्यन्त उच्च कोटि की एवं अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धि की उपज रही होगी।

इस प्रथा में गोपनीयता बरते जाने को एक कारण यह भी रहा हो सकता है कि यह प्रथा बाद में धीरे धीरे विकसित हुई और इसका संबंध क्षात्र धर्म की एक प्रक्रिया के रूप में रहा, इस कारण से धर्म शास्त्रों, पुराणों आदि में इसका उल्लेख नहीं मिलता। परशुराम जी के क्षत्रिय संहार की घटना के समय प्रायः सभी क्षात्र धर्म, क्रियाकलाप एवं चिन्ह छुपाये गये थे और क्षत्रियों (खत्रियों) ने अपने क्षत्रिय वर्ण सूचक अल्ल नाम तक बदल लिये थे। अतः संभावना यह भी प्रतीत होती है कि उसी समय से देव काज रूपी शपथ ग्रहण समारोह जैसा विशुद्ध क्षत्रिय संस्कार भी धार्मिक संस्कार के बहाने से गुप्त रीति से किया जाने लगा और क्षत्रियों को उनके हथियार, कुल देव एवं पूर्वजों की वीर गाथा अत्यंत

गोपनीय ढंग से बतायी जाने लगी जिसका पता सम्बन्धित लोगों के अतिरिक्त किसी अन्य को न चलता था। कालान्तर में अनेक परिवर्तनों के कारण धीरे–धीरे लोग इसके वास्तविक अर्थ को भूल गये। क्षत्रियों के वास्तविक क्षत्रिय धर्म भी बदल गये किन्तु खत्रियों में यह प्रथा धार्मिकता का पुट लिये बनी रह गयी। उस समय चूंकि यह प्रथा सभी फिरकों में प्रचलित नहीं रही होगी अतः जहाँ जहाँ यह उस समय प्रचलित रही होगी, वहीं वहीं आज भी चली आती है ओर यही कारण इसके हर फिरके में न पाये जाने एवं शास्त्रों में उल्लेख न होने का है। इतने पर भी यह विवरण देवकाज की रीति में अपनायी जाने वाली वास्तविक विधियों पर कोई प्रकाश नहीं डालता अतः यह रीति अब भी अग्रेतर शोध का ही विषय बनी हुई है।

अशुभ संस्कार

इस पृथ्वी को, जहाँ हम लोग रहते है, मर्त्यलोक कहते हैं क्योंकि यहाँ जन्म लेने के बाद मरना भी आवश्यक है और मरना ही मनुष्य भूल जाता है तथा जीवन भर नाना क्रियाकलापों में पड़ा रहता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (गणपति खण्ड, अध्याय 40) में कहा गया है कि समय आने पर इन्द्र मानव हो जायेंगे। समय आने पर ब्रह्मा भी मरेंगे। समय आने पर वह प्रकृति भी उस परब्रह्म के शरीर में तिरोहित हो जायेगी जिस शक्ति के बिना मायापति परमेश्वर भी सृष्टि का विधान करने में समर्थ नहीं हैं। समय आने पर सभी देवता मर जायेंगे और समय आने पर त्रिलोकी में स्थित समस्त चर अचर प्राणी नष्ट हो जायेंगे क्योंकि काल का अतिक्रमण करना दुष्कर होता है। भाई–बन्धु आदि कुटुम्ब के लोग जिस सांकेतिक नाम का उच्चारण कर के रुदन करते है, उसे वे सौ वर्षो तक रोते रहने पर भी नहीं पा सकते–यह निश्चित है, क्योंकि त्वचा आदि पृथ्वी के अंश को पृथ्वी, जलांग को जल, शून्यांश को आकाश, वायु के अंश को वायु तथा तेजांश को तेज ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार सभी अंश अपने अपने अंशों में विलीन हो जाते हैं, रोने से कोई वापस नहीं आता। मरने के बाद तो नाम, शास्त्र, ज्ञान, यश और कर्म की कथा मात्र ही अवशिष्ट रह जाती है किन्तु पुत्र जन्म से स्वर्ग प्राप्त होता है। पौत्र जन्म से मनुष्य चिरकाल तक स्वर्ग में रहता है व प्रपौत्र के जन्म से सूर्य लोक में स्थित होता है, अतः परलोक के लिये हितकारी वेद विहित पारलौकिक कर्म किये जाते हैं, क्योंकि कहा है कि :

पुं नाम्नौ नरकाद्यस्यात् त्रायते पितरं सुतः।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवः।।
–मनु स्मृति 9/138

जिस कारण से पुत्र ''पुं'' नामक नरक से पितरों का उद्धार करता है उसी कारण से स्वयं ब्रह्मा ने अपने से उत्पन्न को पुत्र कहा है। इसी लिये हिन्दुओं में मरने के बाद भी श्राद्ध होता है जो शास्त्रीय उपदेश और विश्वास का विषय है। उसमें कहा गया है कि मृत पुरुष की आत्मा ही रूपान्तर में पुत्र प्रदत्त श्राद्धीय

भोजन ग्रहण करने आती है। मनु स्मृति में श्राद्ध की विधि विस्तार से लिखी है और वेदों में भी "ये निखाता" "ये प्रोक्ता" इत्यादि अनेक मन्त्रों द्वारा श्राद्ध सिद्ध है। संहिता, ब्राह्मण, वेदांग, श्रौत गृह्यसूत्र आदि सैकड़ो आर्ष ग्रन्थों में श्राद्ध के सहस्त्रों प्रमाण हैं। भीष्म ने शान्तनु का श्राद्ध किया था और श्री रामचन्द्र ने चित्रकूट में पिता के स्वर्गवास का समाचार सुन कर श्राद्धान्तर ब्राह्मण भोजन कराने का प्रबंध फल मूल से किया था जिसमें सीता जी ब्राह्मणों को भोजन परोसने जा कर भी लज्जा से कुटी में चली गयीं और राम के कारण पूछने पर उन्हों ने कहा कि ब्राह्मणों के बीच अपने श्वसुर दशरथ जी और उन्हीं के समान दो और महाराज को बैठे देखा था। पहले उनके सामने घूँघट डाल कर जाती थी। आज वत्कल धारण कर उनके सामने जाने से लज्जा हो आयी। इसी से नहीं गयी। इस पर श्री राम ने कहा कि वे हमारे पिता, पितामह और प्रपितामह की आत्मायें श्राद्ध का भाग लेने आयी थीं। उनके सामने संकोच न करना था।[1]

हिन्दू धर्म में तो अपने मरे हुए बाप के हाड़ को भी फूल कहते हैं, श्राद्ध और तर्पण करते हैं। एक शोकातुर पिता ने अपने पुत्र की बेरहमी पर कहा भी था–

ऐ पिसर तू अजब मुसलमानी,
जिन्दा वालिद जि आब तरसानी।
आफरी बाद हिन्दुआँ नायम बाब,
मुर्दा राजों देहन्द नायम आब।।

(ऐ बेटा! तू अजीब मुसलमान है जो अपने जिन्दा पिता को पानी के लिये तरसा रहा है। तुझसे तो हिन्दू अच्छे हैं जो पिता के मरने के बाद भी उसे भोजन पानी देते हैं।)

सनातन धर्मी सभी खत्रिय मात्र श्राद्ध करते हैं और शास्त्रानुकूल करते हैं।

इन संस्कारों में किसी बच्चे के जन्म के तेरह दिन के अन्दर मर जाने पर उसे मलमल के टुकड़े मे लपेट कर नदी में प्रवाह करते हैं, यदि नदी न हो तो गाड़ देते हैं। तेरह दिन के बाद और मुंडन के पूर्व यदि लड़का हो तो मलमल और लड़की हो तो शाल में नहला कर लपेट देते तथा घड़ा या पत्थर बाँध कर धारे में छोड़ देते है जिससे मुर्दा बहता हुआ न जाये। जनेऊ से पहले की मौत में मर्द की मौत मुंडन के बाद और जनेऊ के पहले हो और लड़की की मौत में मुंडन के बाद और विवाह के पूर्व हो, तो दाह कर्म होता है। यदि चेचक से मरे तो प्रवाह करते और नदी न हो तो गाड़ देते हैं। जवान, बुड्ढे, सुहागिन, विधवा की मौत में अर्थी बनती है व अग्नि संस्कार होता है तथा शव का अधिक भाग जल जाने पर कपाल क्रिया होती है। इस संस्कार में किये जाने वाले पिंडों में

1. पद्म पुराण–सृष्टि खंड

1 घर पर, 2 द्वार पर, 3 रास्ते में विश्राम के समय, 4 घाट पर, 5 चिता पर, 6 चिता बुझाने के बाद उसी स्थान पर कुल छः पिंड होते हैं। वृद्ध की मौत पर विमान बनाते, फूलों से सजाते हैं। सुहागिन की मौत पर कफन सफेद मलमल का न दे कर लाल सालू का देते हैं। पहनाने को लाल लहंगा और चुन्नी गोआ टंकी, एक घर का दूसरा पिता के यहाँ का होता है। नथ, चाँदी के अंगूठे के छल्ले पाँव के, चूड़ी लाल रंग की, कान के लिये चाँदी की ढूरियाँ, मेंहदी मिस्सी केसर, रोली विशेष होती है। सभी सामान ससुराल का ही होता है। यदि नैहर में मरे तब भी सामान ससुराल का ही होता है। पति गद डालता है। नाती पोते वाली हो तो घंटा घड़ियाल बजाते हैं। यदि उसकी माँ या सास जीवित हो तो घर में ही घंटा घडियाल बजाते हैं। यदि प्रसव गृह में मरी हो तो 107 घंटी जल से सूप से नहलातें और ब्राह्मण मंत्र पढ़ते हैं और रास्ते में सरसों और राल डालते जाते हैं। विधवा की मौत में सारी बातें जवान की मौत सी होती है। शेष सारे संस्कार दिया, घट, महाजनी, उठौनी या चतुर्थी (चौथा), दशवां, बारहवां या दशगात्र, पिंड, क्रिया, तेरहीं, षोडसी, सपिंडी, पूइया, पक्खा या सत्रहीं शास्त्र विधि के अनुसार होते हैं। क्रिया तक सारे कार्य महाब्राह्मण तथा सत्रहीं का कार्य पुरोहित कराते हैं। तत्पश्चात मासिक, छमाही तथा बरसी का श्राद्ध ग्यारहवें महीने की उसी तिथि को, जिस दिन मृत्यु हुई हो, कर के फिर कनागत मे तथा अंत मे गया श्राद्ध करते हैं। बरसी के पश्चात शुभ कार्यों को करने की राह खुल जाती है।

इन्हीं संस्कारों में निकट संबंधियों एवं परिवार वालों की उपस्थिति अनिवार्य होती है। मृतक का क्रिया कर्म करने वाले को टोपी या साफा उसका श्वसुर ही पहनाता है और उसके साथ ही उसका दामाद अपने परिवार के मुखिया का स्थान ग्रहण करता हैं। अभी तक ये सब प्रथायें पूर्ण रूप से खत्रियों में निभायी जाती थीं परन्तु अब धीरे धीरे आर्य समाज रीति से होम कर के क्रिया सम्पन्न करने का प्रचलन बढ़ रहा है जिससे इन संस्कारों की अवधि 13 दिन से घट कर 4 दिन रह गयी है तथा दाग देने वाले व्यक्ति के अलावा अन्य लोग सर भी नहीं मुंड़ाते। स्त्रियों का शोक प्रकट करने का संस्कार स्यापा भी समाप्त हो गया है तथा बरसी भी अब पहले ही कर ली जाती है।[1]

आशौच विमर्श

हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार जन्म और मृत्यु में आशौच मनाने की प्रथा प्रचलित है। धर्मशास्त्र का विषय अति गहन और जटिल है। इसमें जगह जगह मत–मतान्तर मिलते हैं और मनु स्मृति के अध्याय 5 में भी इसका विस्तार से

1. आभ्युदिक श्राद्ध, प्रेतकर्म तथा श्राद्धादि का विचार–अध्याय 13, श्राद्ध प्रशंसा, में श्राद्ध पात्रापात्र का विचार–अध्याय 14, श्राद्ध विधि–अध्याय 15, श्राद्ध धर्म में विहित और अविहित वस्तुओं का विचार–अध्याय 16, इनके विस्तृत विवरण के लिये श्री विष्णु पुराण का तृतीय अंश देखिये।

विवेचन किया गया है जिसका विस्तार अन्य ग्रन्थों में मिलता है। ऐसी स्थिति में कुछ विद्वानों द्वारा सामान्य जन के लिये निर्णय सिन्धु, धर्मसिन्धु, याज्ञवल्क्य स्मृति, पारस्कर गृह्मसूत्र आदि प्रमुख ग्रंथों के अनुसार आशौच–विषयक संकलन किया गया है जिसे नीचे दिया जा रहा है। इनकी समय–समय पर आवश्यकता पड़ती रहती है। जन्म और मृत्यु के आशौच में विभिन्न देश–देशान्तर में विविध प्रथायें पायी जाती हैं। कहीं कहीं पर शास्त्रीय मत से अधिक लौकिक मत भी प्रबल देखा गया है। अतः अपने देशकाल परिस्थिति के अनुसार लौकिक प्रथा का भी अनुसरण किया जा सकता है परन्तु पुरोहितो का कथन है कि जहाँ तक सम्भव हो धर्मशास्त्रीय मत के मार्ग का ही पालन करना चाहिये।

आज का विज्ञान भौतिकवाद से अधिक सम्बन्ध रखता है पर अध्यात्म और लोकोत्तर जीवन दोनों ही विज्ञान की पहुँच से दूर हैं। आशौच मुख्यतः पितृ तथा देवकर्म से सम्बन्ध रखता है–**'न वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति'** (कौषीतकि ब्राह्मण)। देवता आशौचावस्था में दिये गये हव्य को ग्रहण नहीं करते। अतः आशौच के नियम का पालन नितान्त आवश्यक है। मृत व्यक्ति का वर्ण शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है जब शरीर समाप्त हो कर परमाणुओं में बदल कर अपने–अपने तत्वों में मिल जाता है तभी उसका वर्ण समाप्त हो जाता है। मृत्यु के बाद मृत शरीर का वर्ण जीवितावस्था के वर्ण के समान ही होता है। अतः मृत्यु के बाद शरीर की जाति के अनुसार ही उसका कृत्य करना चाहिये।

जननाशौच–

1. प्रथम चार महीने तक के गर्भ के नाश को गर्भस्राव कहते हैं। पाँचवे, छठवें महीने का गर्भ नष्ट हो जाये तो उसे गर्भपात कहते हैं। प्रथम तीन महीने तक का गर्भस्राव होने पर गर्भिणी को तीन दिन रात तथा चौथे महीने का गर्भस्राव होने पर 4 दिन रात का आशौच लगता है। स्राव में पिता आदि अन्य की स्नान से ही शुद्धि हो जाती है। 5वें महीने के गर्भपात्र में 5 दिन रात तथा 6वें महीने के गर्भपात में गर्भिणी को 6 दिन रात का आशौच लगता है। पिता आदि सपिण्ड को तीन दिन रात का जनन आशौच लगता है, मरणाशौच नहीं होता।
2. छः महीने से आगे के गर्भपात या प्रसव को प्रसूति कहते हैं। सातवें मास और उससे आगे के प्रसव में माता पिता आदि सपिण्ड को दस दिन का जनन आशौच होता है। जन्म होने पर 10 दिन ब्राह्मण, 12 दिन क्षत्रिय, 15 दिन वैश्य, 1 मास शूद्रों को आशौच लगता है। द्विज मात्र को 10 दिन तथा शूद्रों को 13 दिन का आशौच रहता है। वस्तुतः शुद्धि 10 दिन के आशौच के बाद हो जाती है।

"अन्त्येष्टि संस्कार में हमारा प्रायः अज्ञान, अदूरदर्शिता, मतभेद एवं भूल चूक" इस शीर्षक से एक अत्यंत सुन्दर लेख मोती नगर, लखनऊ के खत्री मदन गोपाल अरोड़ा ने खत्री हितैषी, स्वर्ण जयंती विशेषांक 1987 में प्रकाशित किया था। वह भी पढ़ने योग्य है।

3. पैदा हो कर मृत्यू हो जाय या बच्चा मृतक ही पैदा हो तो भी सपिण्डों को 10 दिन का आशौच होता है। जननाशौच में माता 10 दिन तक अस्पृश्य होती है परन्तु सूतिका की शुद्धि 10 रात से होने पर भी यदि पुत्र पैदा हुआ हो तो 20 रात के बाद और यदि कन्या पैदा हुई हो तो 1 मास बीतने पर ही दैनिक पूजा पाठ या घरेलू कार्यों को कराना चाहिये। इतने समय तक प्रसूता को किसी कर्म में अधिकार नहीं है।
4. सन्तान होने के बाद पिता को स्नान करना चाहिये। स्नान के बाद वह स्पर्श के योग्य होता है। नाल छेदन के बाद ही जननाशौच लगता है। अतः नाल छेदन के पूर्व पिता पुत्र–जनन सम्बन्धी आभ्युदयिक श्राद्ध, जातकर्म एवं दानादि कर सकता है। छठी रात्रि में छठी देवी की पूजा तथा दान आदि करना चाहिये।
5. यदि पुत्र या पुत्री पैदा होने का समाचार मिले और आशौच काल बीत चुका हो तो पिता को मात्र स्नान से शुद्धि होती है। अन्य को भी किसी प्रकार का आशौच नहीं लगता।
6. जननाशौच बीतने पर ही बालक का नामकरण करना चाहिये। ब्राह्मण 10 दिन बीतने पर, क्षत्रिय 12 दिन बीतने पर, वैश्य 16 दिन बीतने पर तथा अन्य जातियों को 31 दिन बीतने पर नामकरण संस्कार करना चाहिये। कहीं कहीं 11वें या 101 दिन बीतने पर भी नामकरण संस्कार का विधान मिलता है।

मरणाशौच–

1. यदि मुण्डन के पहले ब्राह्मण की मृत्यु हो तो 3 रात्रि, क्षत्रिय की मृत्यु हो तो 6 रात्रि, वैश्य की मृत्यु हो तो 9 रात्रि, 3 वर्ष से कम का शूद्र मरे तो 5 रात्रि में शुद्धि हो जाती है।
2. विवाह तय हो जाने पर कन्या की मृत्यु हो जाय तो दोनों कुलों में 3 रात का आशौच होता है। विवाहिता पुत्री का पतिगृह में प्रसव या गर्भपात हो तो माता–पिता तथा पितृव्यादि सपिण्डों का आशौच होता है।
3. विवाहिता पुत्री की पति के घर में मृत्यु हो जाय तो माता पिता को तीन रात का आशौच होता है (कमलाकर) तथा भाई को एक रात दो दिन या दो रात एक दिन (पक्षिणी आशौच) का आशौच लगता है।
4. यदि बहन के घर में बहन की मृत्यु हो जाय तो परस्पर तीन रात का आशोच होता है।
5. बिना यज्ञोपवीत हुए बालक और अविवाहित कन्या को केवल माँ बाप की मृत्यु होने पर ही दस दिन का आशौच लगता है। (धर्मसिन्धु)

6. माता पिता का आशौच किसी भी प्रकार गतार्थ नहीं होता। जिस दिन माता–पिता का आशौच उपस्थित हो उसी दिन से सम्पूर्ण आशौच मानना चाहिये।

7. नामकरण के पूर्व बालक–बालिका की मृत्यु में दाह संस्कार नहीं होता, गंगा आदि नदी में प्रवाह होगा या नदी न होने पर भूमि में गाड़ना चाहिये। तीन वर्ष की आयु तक यदि मुण्डन न हुआ हो तो भी प्रवाह या खनन होगा। मुण्डन होने पर दाह अवश्य होना चाहिये।

8. नाना, नानी के मरने पर दौहित्र–दौहित्री को तीन रात का आशौच होता है।

9. याज्ञोपवीत हुए दौहित्र के मरने पर नाना–नानी को तीन रात का आशौच होता है। दौहित्री की मृत्यु होने पर नाना–नानी को कोई आशौच नहीं होता।

10. जिस घर में ब्राह्मण मर जाय उस घर की शुद्धि तीन दिन में होती है।

11. साले की पत्नी के मरने पर एक रात का आशौच होता है। साले के पुत्र के मरने पर बहनोई को केवल स्नानमात्र का आशौच होता है। पत्नी के मर जाने के कारण यदि साले का सम्बन्ध निवृत्त हो गया हो तो बहनोई को केवल स्नान मात्र का आशौच होता है।

12. जो मनुष्य बाल्यावस्था में परदेश गया हो उसकी 20 वर्ष तक, युवावस्था में परदेश गया हो तो 15 वर्ष तक, प्रौढ़ावस्था में गया हो तो 10 वर्ष तक प्रतीक्षा करे और यदि उसकी कुशलता का कोई समाचार न प्राप्त हो तो श्राद्धादि कर्म कर देना चाहिये।

13. गौ, ब्राह्मण का वध करने वाले, व्यभिचारी स्त्री या पुरुष, विष खा कर, कुएं मे कूद कर , आग से, फाँसी लगा कर आत्महत्या करने वाले का आशौच उसके सपिण्डों को नहीं होता। अपने पति, पुत्र, कन्या या गर्भस्थ बालक को मारने वाली स्त्री की मृत्यु का आशौच उसके सपिण्ड को नहीं होता। जिस मनुष्य की राजा, ब्राह्मण, डोम–चमार आदि से या सर्प, गाय, भैंस, साँड, भेड़िया आदि हिंसक जन्तु से मृत्यु हो उसका आशौच नहीं होता। युद्ध में वीरगति प्राप्त पुरुष का आशौच नहीं होता। जो युद्ध के मैदान में भागते हुए मरा हो उसका 3 दिन का आशौच होता है।

14. जिस घर में नौकर नौकरानी हों, उस घर के मालिक की मृत्यु होने पर नौकर नौकरानी की स्नानमात्र से शुद्धि होती है। जो अपने मालिक के घर में रह कर वहाँ का अन्न जल खाते हों उन्हें भी 3 दिन के बाद स्पर्श करना चाहिये।

15. प्रसूता स्त्री की सेवा में नियुक्त परिचारिका को भी तीस दिन तक स्पर्श नहीं करना चाहिये।

16 जिसके घर में निरन्तर अनुष्ठान दैनिक अन्न आदि का धर्मार्थ वितरण होता हो यदि उसके यहाँ आशौच हो जाये तो भी यह कार्य बन्द नहीं करना चाहिये। ऐसा करने से दोष नहीं लगता।

17. मुण्डन, प्रतिष्ठा, जपानुष्ठान, श्राद्ध, यज्ञोपवीत और विवाह आदि मांगलिक कृत्य में नान्दीश्राद्ध के बाद यदि आशौच हो जाय तो उसे पूर्ण करने में कोई दोष नहीं होता। श्राद्ध का भोजन बन चुका हो या संकल्प हो चुका हो और यदि बीच में आशौच हो जाय तो उक्त कार्य पूर्ण करने में कोई दोष नहीं होता।

18 आशौचावस्था में भी सन्ध्योपासन करना चाहिये। मंत्रो का मानसिक उच्चारण मन में करे और सूर्य भगवान को अर्घदान गायत्री मंत्र (मानसिक) से देवे। जननाशौच और मरणाशौच में मंत्र का उच्चारण किये बिना ही प्राणायाम करना चाहिये तथा मार्जन मन्त्रों का मन ही मन उच्चारण करते हुए मार्जन कर लेना चाहिये। मार्जन करे या नहीं, उपस्थान कभी नहीं करना चाहिये। सन्ध्योपासन के समय आशौचावस्था में या अन्य किसी विवशता में कम से कम दस बार गायत्री मंत्र का मानसिक जप अवश्य करना चाहिये (आचार मयूख)। जो पुरुष आशौच समय में मानसिक सन्ध्या प्रयत्नपूर्वक कर के दस बार गायत्री जप करता है सन्ध्या करने का पूर्ण फल प्राप्त करता है (स्मृति समुच्चय)। आपत्ति के समय, मार्ग में और आशौचावस्था में मानसिक सन्ध्या अवश्य करनी चाहिये (गौतम)– 'अर्ध्यान्ता मानसी सन्ध्या कुशवारि विवर्जिता' (निर्णय सिन्धु)।

19. राजा, मंत्री, नेता, उच्चाधिकारी, न्यायाधीश आदि महत्वपूर्ण सार्वजनिक पद पर आसीन व्यक्ति को आशौच में भी न्यायालय आदि में जा कर सार्वजनिक कार्य करने में कोई दोष नहीं है। डाक्टर, वैद्य आशौचकाल में भी रोगग्रस्त मनुष्य के रक्षार्थ यदि उसका स्पर्श करें तो दोष नहीं है।

2. ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों के दाह–संस्कार से सम्बन्धित सामग्री, लकड़ी, घी और अग्नि आदि वस्तुओं का स्पर्श जहाँ तक हो सके

शूद्र से स्पर्श नहीं कराने चाहिये। चिता लगने के बाद उसे शूद्र को स्पर्श नहीं करने देना चाहिये। शूद्र से स्पर्श कराने से मृतक की दुर्गति होती है। दाह संस्कार के लिये चिता की अग्नि कपूर आदि से प्रज्जवलित करा के कार्य करना चाहिये।

21. यदि आशौच के बीच में ही जन्म आदि का आशौच आ जाय तो पूर्व के आशौच की शुद्धि से ही दूसरे आशौच की शुद्धि होती है। काल व्यतीत होने पर त्रिरात्रादि असम्पूर्ण आशौच नहीं होता। दस दिन व्यतीत होने पर भी माता–पिता की मृत्यु ज्ञात होने पर दस दिन का सम्पूर्ण आशैच होता है। पत्नी के मरने पर पति को तथा पति के मरने पर पत्नी को (1 वर्ष के समय के भीतर ज्ञात होने तक) दस दिन का आशौच अवश्य लगता है।

दाह संस्कार

22. यदि मृतक पुरुष के कई पुत्र हों तो ज्येष्ठ को ही उसका दाह संस्कार और दशगात्रादि करने का विधान है। पिता की मृत्यु के समय यदि ज्येष्ठ पुत्र अन्यत्र हो, न आ सका हो तो छोटा पुत्र दाह और दशगात्र कर सकता है। परन्तु सपिण्डन का अधिकार केवल ज्येष्ठ पुत्र का ही है। इसके लिये ज्येष्ठ पुत्र की प्रतीक्षा अवश्य करनी चाहिये।

23. पुत्र का मुंण्डन हो गया हो तो वह अपने माता–पिता का दाहादि कर्म कर सकता है। यदि मुण्डन न हुआ हो और वह तीन वर्ष की अवस्था से अधिक हो गया हो तो भी वह दाहादि कर्म कर सकता है। यदि वह किसी कारण दशगात्रादि करने में असमर्थ हो तो उसे दाह तो अवश्य ही करना चाहिये। शेष दशगात्रादि कर्म दूसरे अधिकारी भी कर सकते हैं। मृतक पुरुष के यदि अपना पुत्र न हो तो दत्तक पुत्र (यदि बना लिया हो तो) भी दाहादि कर्म करने का अधिकारी है। दत्तक पुत्र का यदि यज्ञोपवीत न हुआ हो तो वह अपने माता–पिता का दाहादि नहीं कर सकता। मृतक को यदि अपना या दत्तक पुत्र न हो (मर चुके हों) तो पौत्र दाह कर सकता है। यदि पौत्र–प्रपौत्र आदि भी न हो तो धर्मपत्नी दाहादि कर सकती है। धर्मपत्नी न हो तो ज्येष्ठ भाई, वह भी न हो तो भतीजा क्रिया कर्म कर सकता है। यदि ये भी न हों तो नजदीकी रिश्तेदार कर सकता है। मृतक का कर्म कराने वाला कोई न हो तो प्रशासन क्रियाकर्म की व्यवस्था करा सकता है। मृतक जिस जाति का हो उसी जाति के पुरुष से मृतक का दाहादि करा देना चाहिये।

24. अविवाहित कन्या मर जाय तो उसका दाहादि संस्कार उसके पिता को करना चाहिये। पिता के अभाव में भाई को अन्तिम संस्कार करना

चाहिये। विवाहित कन्या मरने पर उसका संस्कार उसके पुत्र करें। पुत्र के अभाव में दत्तक पुत्र, इसके भी अभाव में पति अंतिम कर्म करे। पति के अभाव में देवर, देवर के अभाव में देवर का पुत्र, इन सब के अभाव में कन्या के माता–पिता अंतिम संस्कार करें। जिस कन्या का विवाह हो जाता है, वह अपने पिता के गोत्र से हट कर अपने पति के गोत्र में मिल जाती है। उसका दाहादि कर्म करने का अधिकार पति कुल के पुरुषों को ही होता है। पतिकुल में कोई अधिकारी व्यक्ति न हो तभी मातृ कुल के लोगों को दाहादि कर्म करने का अधिकार होता है।

25. ब्रह्मचारी को माता, पिता, आचार्य, गुरु और नाना के अन्त्यकर्म करने में कोई दोष नहीं होता, किन्तु इनका दशाह आशौच होता है। (शुद्धि विवेक)

26. सन्यासी पिता को पुत्रादि की मृत्यु में स्नान करना भी उचित नहीं है। सन्यासी गुरु की मृत्यु में सन्यासी के शिष्यों को स्नानमात्र उचित है।

27. मृत स्त्री का सपिण्डन उसका पति या पुत्र ही कर सकते हैं दूसरा नहीं कर सकता। दूसरे अधिकारीगण सपिण्डन के अतिरिक्त समस्त कर्म कर सकते हैं, इतने से ही स्त्री की सद्‌गति हो जाती है।

28. नामकरण के पूर्व ही यदि बालक–बालिका की मृत्यु हो जाय तो उसका दाह तिलांजलि और पिण्डदान करना आवश्यक नहीं होता। नामकरण के बाद तीन वर्ष की अवस्था के पहले ही मृत्यु हो जाय और मुण्डन भी हुआ हो तो उसका दाह, तिलांजलि, पिण्डदान कर भी सकते हैं, नहीं भी कर सकते है। बालक की मृत्यु यदि तीन वर्ष की आयु के बाद हुई हो, उसका मुण्डन भी हो चुका हो तो दाह तिलांजलि अत्यावश्यक है। मुण्डन होने के बाद दाह, तिलांजलि, पिण्डदान अत्यावश्यक है।

29. ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के शव को शूद्र स्पर्श न करें। यदि इनके शव को शूद्र स्पर्श करता है तो मृतक के सम्बन्धियों को दोष लगता है।

30. अपने से हीन वर्ण (जाति) के शव को स्पर्श न करें। उच्च वर्ण वाला यदि अपने से हीन वर्ण के शव को स्पर्श करता है तो दोष लग जाता है।

31. मृतक के रिश्तेदार, सगोत्री, बन्धु बान्धव, मित्र एवं पड़ोसियों को अवश्य ही मृतक के शव का अनुगमन करते हुए शमशान तक जाना चाहिये। दाह संस्कार हो जाने पर शमशान से वापस लौटते समय सब लोग पीछे की ओर अर्थात शमशान की ओर न देखें। शमशान से वापस लौटते

समय, संस्कारकर्त्ता सबसे आगे चले। बड़ी अवस्था के लोग पीछे–पीछे चलें, थोड़ी अवस्था के लागे उसके बाद चलें। क्रमशः स्नान करते समय सबसे पहले बड़ी अवस्था वाले सवस्त्र स्नान करें, बाद में छोटी अवस्था वाले सवस्त्र स्नान करें। गंगा आदि नदी हो तो केवल एक डुबकी लगा कर स्नान करें। तत्पश्चात् मृतक का नाम गोत्रादि उच्चारण कर के एक या तीन बार तिलांजलि देवें। मृतक यदि ब्राह्मण हो तो दक्षिण की ओर मुँह कर के, क्षत्रिय हो तो उत्तर मुख कर के, वैश्य हो तो पूर्व की ओर मुँह कर के तिलांजलि देना चाहिये। शूद्र के लिये ऐसा नियम नहीं है। तिलांजलि देने के बाद पुनः भली भांति स्नान कर के मृतक के परिवार वाले तथा अन्य सब लोग मृतक के घर जायें। घर के दरवाजे पर खड़े हो , हाथ पैर धो, दी गयी काली मिर्च और नीम की पत्ती को थोड़ा चबा कर थूक दें। पानी से कुल्ला कर अपने घर लौट जावें। इसके बाद मृतक के घर वाले अपने घर में प्रवेश करें और अपने घर के दरवाजे पर पानी गिरा देवें। शव यात्रा में जाने के बाद, जननाशौच या मरणाशौच के बीतने के बाद यज्ञोपवीत अवश्य बदल देना चाहिये। श्रावणी में या 4 माह बीतने पर भी नया यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये।

32. आशौचावस्था में मृतक के परिवार वाले को प्रति दिन गंगा आदि नदी में स्नान कर के तिलांजलि देनी चाहिये।

33. माता पिता की मृत्यु में पुत्र तीसरे दिन 3 पिण्ड दान करे, फिर शेष सात दिन तक एक एक पिण्ड दान करे। इस प्रकार दस दिन में 10 पिण्ड पूर्ण होते हैं। माता पिता की मृत्यु में यही क्रम उचित और आवश्यक है। कुछ लोग तीसरे दिन 3, सातवें दिन 4, दसवें दिन 3–इस प्रकार 10 पिण्ड पूरा करते हैं। यह उत्तम नहीं है। कुछ लोग प्रति दिन एक पिण्ड दे कर दस दिन में 10 पिण्ड पूरा करते हैं। यह क्रम विशेष उत्तम है।

34. जिस वस्तु का पिण्ड (चावल, जव, सत्तू) प्रथम दिन बनाया जाय उसी वस्तु का पिण्ड अन्तिम दिन तक बनाना चाहिये। पिण्ड दान में वस्तु का बदलना उचित नहीं है।

35. मुहल्ले या गाँव में जब तक मृतक शरीर रहता है, तब तक वह गाँव या मुहल्ला अशुद्ध रहता है। जब मृतक मुहल्ले या गाँव से बाहर कर दिया जाता है तो वह शुद्ध हो जाता है। यही नियम पशु की मृत्यु में भी है। जब तक शव न ले जाया जाय तब तक 100 मीटर के बीच में भोजन न करें। वह घर अपने कुल का न हो तो भी यही नियम होगा।

36. जहाँ पर गंगा या अन्य कोई नदी है वहाँ पर लोग मृतक का दाह संस्कार करने के बाद अस्थि को तत्काल गंगा आदि नदी में बहा देते हैं। जहाँ गंगा आदि नदियाँ नहीं हैं वहाँ लोग अस्थि संचयन कर तीर्थ स्थल–काशी, हरिद्वार, प्रयाग आदि में ले जा कर अस्थि प्रवाहित कर देते हैं।

37. ब्राह्मण का अस्थि संचयन दाह के दिन से प्रथम या चौथे दिन, क्षत्रिय का चौथे या पांचवें, वैश्य का सातवें या नवें दिन करना चाहिये। शूद्र का दसवें दिन से तीसवें दिन तक अस्थि संचयन करना चाहिये। अस्थि संचयन में दिन की गणना मृत्यु के दिन से न कर के दाह के दिन से करना चाहिये जब कि आशौच के लिये दिन की गणना मृत्यु के दिन से करनी चाहिये।

38. बिना यज्ञोपवीत संस्कार के मृत ब्राह्मण का तथा अविवाहित स्त्री या शूद्र का अस्थि संचयन नहीं करना चाहिये।

39. आशौच में दाह संस्कार करने वाले व्यक्ति स्पर्शास्पर्श का विशेष ध्यान रखें। रुई के गद्दे आदि का प्रयोग न करें। जमीन पर चटाई या कम्बल बिछा कर बैठें या शयन करें। सात्विक भोजन करें। क्रोध न करें, गीता, गुरूड़ पुराण का श्रवण करें या धार्मिक पुस्तकों को पढ़ें। नशीले या सुगन्धित पदार्थो का सेवन न करें। दसवें दिन आशौच के अन्त में समस्त पारिवारिक जन बाल और नाखून कटा कर स्नान कर के शुद्ध होवें। यही नियम आशौच लगे समस्त व्यक्तियों के लिये है। आशौचावस्था में सभी को शास्त्रीय नियमों का पालन अवश्य करना चाहिये।

मनु स्मृति अध्याय 5 में दी गयी कुछ अन्य बातें भी ध्यान रखने योग्य हैं जैसे सातवीं पीढ़ी पर पहुंच कर सपिण्डता समाप्त हो जाती है तथा जन्म और नाम के अज्ञात रहने पर समानोदकता निवृत्त होती है। ऊपर दिये गये विवरण के अनुसार ही मनु स्मृति में भी सपिण्ड के मरने पर ब्राह्मण की शुद्धि दस दिन में, क्षत्रिय की बारह दिन में, वैश्य की पन्द्रह दिन में और शूद्र की एक महीने में होती है। उसमें यह भी कहा गया है कि क्षात्रधर्मसंगत युद्ध में शस्त्रों से मारे गये को यज्ञफल तत्क्षण मिल कर उसी समय शुद्धि होती है। सूतक के जन्म में ब्राह्मण पितृकार्य कर के दक्षिण हाथ से जल स्पर्श कर के क्षत्रिय वाहन और शस्त्र का स्पर्श कर के, वैश्य चाबुक या लगाम छू कर तथा लाठी छू कर शुद्ध हो जाता है। यह सब शौच सपिण्ड मरण के बारे में हैं।

*****

अध्याय–11 खत्रियों का धर्म

धर्म का महत्व

मनु स्मृति में महर्षि मनु ने मानव की परिभाषा इस प्रकार की है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यम क्रोधो दशकं कर्मलक्षणम।।
—मनु स्मृति 6/92

धृति, क्षमा, दम (मन का वश में होना), चोरी न करना, शौच, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और क्रोध न करना—मानव धर्म के इन दस लक्षणों के प्रतिपादन पूर्वक यह विधान किया गया है कि इन्ही दस लक्षणों से युक्त प्राणी ही मानव कहलाने का अधिकारी होगा। वस्तुतः ये ही दस लक्षण हैं जो हमारे वेदों और शास्त्रों में मानवता प्राप्ति के लिये निर्धारित किये गये हैं। इससे यह भली भांति स्पष्ट है कि धर्म ही मानवता की आधारशिला है। धर्म के अभाव में मानवता सम्भव नहीं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्री कृष्ण जन्म खण्ड अध्याय 83 में क्षत्रियों का धर्म इस प्रकार बतलाया गया है कि क्षत्रियों को सदा यत्नपूर्वक ब्राह्मणों का पूजन, नारायण की अर्चा, राज्यों का पालन, युद्ध में निर्भीकता, ब्राह्मणों को नित्य दान, शरणागत की रक्षा, प्रजाओं और दुखियों का पुत्रवत पालन, शस्त्रास्त्र की निपुणता, रण में पराक्रम, तपस्या और धर्म कार्य करना चाहिये। जो सद्सद् विवेक वाली बुद्धि से युक्त तथा नीति शास्त्र का ज्ञाता हो, उसका सदा पालन करना चाहिये और सत्पुरुषों से भरी हुई सभा में उसे नियुक्त करना चाहिये। प्रतापी एवं यशस्वी क्षत्रिय, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिकों से युक्त चतुरंगिणी सेना का नित्य यत्नपूर्वक पालन करता है। युद्ध के लिये बुलाये जाने पर वह युद्ध दान से विमुख नहीं होता, क्योंकि जो क्षत्रिय युद्ध में प्राण विसर्जन करता है, उसे यशस्वर स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

हस्त्यचृरथपादातं सेनांग च चतुष्टय।

पालयेद यत्नतो नित्यं यशस्वी च प्रतापवान।।71।।

रणे निमन्त्रितचैव दाने न विमुखो भवेत।

रणे यो वा त्यजेत प्राणांस्तस्य स्वर्गोयशः स्करः।।72।।

— ब्रह्मवैर्वत पुराण—श्रीकृष्ण जन्म खण्ड—अध्याय 83 श्लोक 71–72

जब से मानव की सृष्टि हुई, जब से उसने बोलना सीखा और जब से उसकी बुद्धि का उदय हुआ तभी से मानव समाज में धर्म का भी विस्तार हुआ। उस समय धर्म का नामकरण और बन्धन भले ही इतना न रहा हो, परन्तु एक न एक धर्म अवश्य रहा होगा। जो सत्य और अविनश्वर है वही मानव के ग्रहण योग्य है। जो वेदोक्त सनातन धर्म है, वह अविनश्वर है और अनन्त सत्य पर प्रतिष्ठापित है, अतः उसी का अवलम्बन श्रेयस्कर माना जाता है। धर्म क्या है और उसकी आवश्यकता करते है इसके लिये धर्म शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ को देखने से ज्ञात होता है कि धर्म शब्द 'धृञ' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'धारण करना'। मत्स्य पुराण (145/25) के अनुसार भी 'ध' धातु धारण करने तथा महत्व के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अतः जो धारण करता है वह धर्म है, जो जिसे धारण करता है वही उसका धर्म है। द्रव्य के स्वभाव को भी धर्म कहा जा सकता है, जैसे सूर्य का धर्म ताप, जल का धर्म रस, अग्नि का धर्म दाहन—शक्ति, उसी प्रकार जीव का धर्म आत्म ज्ञान हैं। अधारण एवं अधर्म का अर्थ इसके विपरीत है। यदि ये सभी अपना स्वभाव अर्थात स्वधर्म छोड़ दें तो इनका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा (क्योंकि स्वभाव को लांघना बहुत कठिन होता है)। अतः जिस वस्तु के अभाव से पदार्थ का पदार्थत्व नहीं रहता, उस वस्तु की महत्ता एवं सर्वव्यापकता समझाने की वस्तु नहीं है। 'धर्म विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'—धर्म जगत के प्रतिष्ठा स्वरूप है, धर्म से पाप विनष्ट होता है, इस लिये धर्म सबसे श्रेष्ठ है। धर्म की वृद्धि होने से सभी बातों की वृद्धि होती है और ह्रास होने से सभी बातों का ह्रास होता है। धर्म का आश्रय न लेने से मनुष्य में मनुष्यत्व घट कर पशुत्व या कोई हीन जातित्व प्राप्त होता है। इसी लिये कहा भी गया है— ''धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः''। धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान होता है। सब भूतों में मातृत्व और ईश्वर में पितृत्व का ज्ञान होना ही धर्म माना जाता है।

शास्त्र अनन्त हैं, परन्तु आयु अति थोड़ी है और मनुष्य जीवन में विघ्न भी बहुत हैं अतः सभी धर्म सब शास्त्रों के सार—मर्म का ही उपदेश देते हैं। धर्म लाभ तो कोई मतापेक्षा नहीं करता, जो जिस तरह भगवान का भजन करता हैं वह उसी तरह उसकी मनोवाञ्छा पूर्ण करते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम'। जैसे नदी नाना दिशाओं से चल कर अन्ततः सागर में ही मिलती है, उसी तरह भगवान की उपासना किसी भी भाव से क्यों न हो, वह उपासना परब्रह्म में ही अर्पित होती है। यही ब्रह्मार्पण साक्षात धर्म और धर्मफल भी माना जाता है।

'भग' शब्द समृद्धि, बुद्धि, सम्पत्ति तथा यश का वाचक है, उससे सम्पन्न होने के कारण शक्ति को 'भगवती' कहते हैं, क्योंकि वह सदा भगस्वरूपा हैं। परमात्मा सदा इस भगवती प्रकृति के साथ विराजमान रहते हैं अतएव भगवान कहलाते हैं।

हिन्दी में भारत का अर्थ ही भा (प्रकाश) + ज्ञान + रत (प्रेमी) अर्थात ज्ञान

प्राप्त करने में अनुरक्त देश है जहाँ आर्यों का आर्यावर्त स्थान था। आर्यों का प्राचीन धर्म ग्रन्थ वेद है। हिन्दू धर्म के सभी सम्प्रदाय, मत, पंथ और वर्ग वेद भगवान को मानते हैं। "वेदोऽखिलो धर्ममूल" (मनु स्मृति अध्याय 2, श्लोक 6) की मनु जी की व्याख्या के अनुसार वेद ही समस्त धर्मो का मूल है। जो बात वेदोक्त है, वही धर्म है। इसी लिये वेद को स्वतः प्रमाण माना जाता है। उसके वाक्य को सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि किसी बात को सिद्ध करने के लिये वेद में ही उसका प्रमाण खोजा जाता है। वेद वस्तुतः प्राणिमात्र के उत्थान के लिये धर्म का उपदेश देता है। इस लिये विभिन्न मतानुसार उसी से अलग अलग धर्मों की धारा निकलती है पर प्रयोजन सब का वही होता है जिसका वेद में उपदेश है अर्थात प्राणिमात्र का उत्थान। इसी लिये 'वेद वाक्य' के ऐसा कहा जाता है जिसमें एक शब्द, एक स्वर अथवा एक मात्रा भी परिवर्तित करने की सामर्थ्य मनुष्य मात्र में नहीं है। "सामर्थ्य शाली भगवान ने धर्म को कल्याणकारक और अधर्म को अनिष्टकारक बतलाया है।"[1]

भारत के हिन्दू धर्म और खत्रिय

शाक्त धर्म

सृष्टि के आदि में ईश्वर ने सृष्टि रचना के लिये शक्ति (अग्नि) को अपनी इच्छा से उत्पन्न किया अतः शक्ति के उपासक ही शाक्त कहलाते हैं। ऋग्वेद, सामवेद, मनु स्मृति आदि में भी कहा है कि ईश्वर ने अपनी इच्छा से अपने को दो भागों में विभक्त किया–स्त्रीत्व और पुरुषत्व। अतः प्रकृति जगत की माता हैं और पुरुष जगत के पिता। इन्हीं दोनों के संयोग से सृष्टि उत्पन्न हुई। बाद में सृष्टि विस्तार के लिये प्रकृति ने अनेक रूप धारण किये। ब्रह्मा, विष्णु, महेश की सावित्री, लक्ष्मी और दुर्गा व पार्वती नामक पत्नियाँ उसकी प्रधान रूप हैं। इन शक्तियों की उपासना ही विभिन्न रूपों में प्राचीन काल से होती आयी है। गिरिजा, योगमाया, बौद्धों की विघ्नविनाशिनी तारा, इन्हीं के रूप हैं। चंडिका, भवानी, गायत्री, जगद्वात्री, अम्बिका, वाराही, भुवनेश्वरी, गौरी, काली, अन्नपूर्णा, महालक्ष्मी आदि उन्हीं की शक्तियाँ हैं (देवीभागवत)। कालांतर में इनमें वैदिक और तन्त्रोक्त दो उपासनायें हो गयीं जो दक्षिणाचारी और वामाचारी कहलायीं। तंत्रोक्त उपासना ही वाम मार्ग भी कहलाती है। खत्रिय किसी न किसी नाम की शक्ति की उपासना करते हैं। वही उनकी कुल देवी है, उसकी पूजा चाहे वे किसी भी नाम से करें।

खत्रियों में विशिष्ट शक्ति पूजा

सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने सृष्टि की रचना के लिये प्रकृति देवी अथवा

1. मत्स्य पुराण 145/25–'ध' धातु धारण करने तथा महत्व के अर्थ में प्रयुक्त होती है। अधारण एवं अधर्म शब्द का अर्थ इसके विपरीत है।

शक्ति को उत्पन्न किया। जैसे आत्मा, आकाश, काल, दिशा, विश्वगोल तथा गोलोकधाम ये सभी नित्य हैं, कभी इनका अन्त नहीं होता। गोलोकधाम का एक भाग है जो उससे नीचे है। वैकुण्ठधाम है। वह भी नित्य है। ऐसे ही प्रकृति को भी नित्य माना जाता है। वह परब्रह्म मे लीन रहने वाली उनकी सनातनी पूर्ण ब्रह्मस्वरूपिणी शक्ति है जो सृष्टि काल में पाँच रूपों में प्रकट होती है। लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा, सावित्री और राधा–ये पाँच देवियाँ सृष्टि सूत्र हैं– सृष्टि की मूल कारण हैं। इन आद्या देवियों के प्रादुर्भाव का प्रयोजन केवल सृष्टि करना है। जिस प्रकार अग्नि में दाहिका शक्ति, चन्द्रमा एवं कमल में शोभा तथा सूर्य में प्रभा सदा वर्तमान रहती है, वैसे ही यह प्रकृति परमात्मा में नित्य विराजमान है। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण के अभाव मे कुण्डल नहीं तैयार कर सकता तथा कुम्हार मिट्टी के बिना घड़ा बनाने मे असमर्थ है, ठीक उसी प्रकार परमात्मा को यदि प्रकृति का सहयोग न मिले तो वे सृष्टि नहीं कर सकते क्योंकि सत्व, रज, और तम इन तीन गुणों का सम्मिलित रूप ही त्रिगुणात्मक प्रकृति है। इनके मिले बिना सृष्टि नहीं होती। इसी लिये त्रिभुवन जननी प्रकृति का गौरव पितृस्वरूप पुरुष की अपेक्षा सौ गुना अधिक है। श्रुति में भी राधाकृष्ण, गौरीशंकर इत्यादि शब्द ही सुना गया है। 'कृष्ण–राधा' 'शंकर गौरी' इत्यादि का प्रयोग कभी लोक में भी नहीं सुना गया है। इन सत्व, रज और तम–इन तीन गुणों से शरीर बना है। वह भी नाना प्रकार का है। किसी शरीर में सत्व गुण की अधिकता होती है, किसी में रजो गुण की और किसी में तमो गुण की। कहीं भी सम गुणों वाला शरीर नहीं है। जब सत्व गुण का उद्रेक होता है तब मोक्ष की इच्छा जागृत होती है, रजो गुण की वृद्धि से कर्म करने की इच्छा प्रबल होती है और तमो गुण से जीव हिंसा, क्रोध एवं अहंकार आदि दोष प्रकट होते हैं–ये सब शरीर के धर्म हैं। इस लिये जिसके सहारे श्री हरि सदा शक्तिमान बने रहते हैं, वह प्रकृति देवी ही शक्तिस्वरूपा है। 'शक' का अर्थ है 'ऐश्वर्य' तथा 'ति' का अर्थ है 'पराक्रम', ये दोनों जिसके स्वरूप हैं तथा जो इन दोनों गुणों की देने वाली है, वह देवी ही शक्ति कही गयी है। अतः आदि पुरुष और शक्ति के संयोग से ही सृष्टि का विस्तार हुआ। सृष्टि के विस्तार के लिये आगे चल कर इस आदि पुरुष और प्रकृति देवी ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा सावित्री, लक्ष्मी और दुर्गा रूप धरे तथा सरस्वती एवं भगवती राधा इन्हीं के रूप माने जाते हैं। प्रत्येक विश्व मे सम्पूर्ण स्त्रियाँ इन्हीं पाँच देवियों का रूप मानी जाती हैं। इसी लिये संसार का प्रत्येक प्राणिमात्र मातृत्व के नाते किसी न किसी रूप में शक्ति का उपासक बन गया। वेदों में सात्विकी, राजसी और तामसी भेद से तीन प्रकार की देवी पूजा बतायी गयी है जो क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम है। सात्विकी पूजा वैष्णवों की है, शाक्त आदि राजसी पूजा करते हैं और जो किसी मंत्र की दीक्षा नहीं ले सके हैं ऐसे असत् पुरुषों की पूजा तामसी कही गयी है। जो पूजा जीव हत्या से रहित और श्रेष्ठ है वही सात्विकी एवं वैष्णवी मानी गयी है। माहेश्वरी एवं राजसी पूजा में बलिदान होता है। किरात लोग तामसी पूजा द्वारा भूत प्रेतों की आराधना करते

हैं। ये पूजायें क्रमशः गोलोक, कैलास एवं नरक की प्राप्ति कराने वाली कही गयी हैं (ब्रह्मवैवर्त पुराण—प्रकृति खण्ड अध्याय 1, 16, 63—64)। अतः वैष्णव और ब्राह्मणों ने शक्ति की सात्विक मूर्ति की सावित्री, सरस्वती, कुमारी, सूर्या आदि नामों से उपासना की तो खत्रियों ने राजसी मूर्ति, दुर्गा, काली, चण्डी, पार्वती के नाम से शक्ति का पूजन किया और वैश्यों ने उसकी लक्ष्मी मूर्ति का ध्यान किया।

खत्रियों में प्राचीन काल से ही देवी की राजसी मूर्ति की उपासना मानी गयी है। इसके अनेकों प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में पाये जाते हैं। विवाह के पूर्व सीता जी पुष्प वाटिका में गिरिजा देवी की पूजा के लिये गयी थीं। 'जय जय जय गिरिराज किशोरी' ऐसा तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में लिखा है। दुर्गा शब्द का पदच्छेद है—दुर्ग + आ। दुर्ग शब्द दैत्य, महाविघन, भवबन्धन, कर्म शोक, दुःख, नरक, यमदण्ड, जन्म, महान भय तथा अत्यन्त रोग के अर्थ में आता है तथा 'आ' शब्द 'हन्ता' का वाचक है। जो देवी इन दैत्य और महाविघ्न आदि का हनन करती है, उसे दुर्गा कहा गया है। यह दुर्गा, यश, तेज, रूप और गुणों में नारायण के समान है तथा नारायण की ही शक्ति है, इसी लिये 'नारायणी' कही गयी है। कंस असुर के हाथ से योगमाया आकाश में चली गयी, इसी लिये दुर्ग + ा = दुर्गा (अर्थात दुग माने असुर और स्त्री लिंग में आप प्रत्यय हो कर दुर्गा) बना। क्षत्रियों में यह शक्ति पूजन बौद्धों के समय में भी प्रचलित था। इसी लिये बौद्धों ने देवी का नाम विंध्यवासिनी तारा रखा था। श्री गुरु नानक ने भी क्षत्रिय नाते से शक्ति की उपासना की थी।

स्कन्द पुराण के हिंगुलाद्रि खंड, पूर्व संहिता में खन्ना खत्रियों के पूर्वज बाबा जशराय की कथा है। उन्हों ने आज्ञा दी थी कि खत्रियों (क्षत्रियों) को केवल श्री दुर्गा, चण्डिका, शिवा, वाराही, विंध्यवासिनी, भुवनेश्वरी और योगिनी नाम से ही शक्ति की उपासना करनी चाहिये। आज भी खत्री जाति में यह आज्ञा मानी जाती है। यही कारण है कि खत्रियों में केवल इने गिने स्वरूप में कुल देवी की आराधना की जाती है। खत्रियों की कुछ अल्लों और उनकी कुल देवियों के नाम इस प्रकार हैं:—

कुल देवी स्वरूप

चण्डिका	खन्ना, टंडन, कपूर, वाही, विज, वहाल, सहगल आदि
शिवाऊ	कक्कड़, महेन्द्र आदि
शिवा	मेहरे, धवन, सूर आदि
विन्ध्यवासिनी	चोपड़ा
अष्टभुजी चण्डी	बेरी, वहल
योगिनी	भंडारी
वाराही	सेठ

इसके अतिरिक्त मेहरे खत्रियों में कोई शुभ कार्य बिना योगिनी पूजा के

नहीं किया जाता।[1] साथ ही साथ जीवन के प्रत्येक संस्कार के पूर्व "तनी कढ़ाई" के अवसर पर देवी का थापा रख कर पूजन करने की प्रथा समस्त खत्रियों में है परन्तु कुल देवी के पूजन का अधिकार वयस्क होने पर ही प्राप्त होता है। इसमें भी एक रहस्य है जिसे बहुत कम लोग जान पाते हैं। वास्तव में हमारी कुल देवियों की मूर्तियाँ केवल मूर्ति नहीं हैं बल्कि सेना के चिन्ह हैं। उदाहरण के लिये सेठों की कुल देवी वाराही है। जिन सेठों ने अपने देव कार्यों (देवकाज) मे अपनी कुल देवी को देखा है, उन्हें जब लाल कपड़े के भीतर खोलने पर एक त्रिशूल की पूजा करनी पड़ी होगी तथा उन्हों ने सिर्फ एक कपड़े पर शक्ति (युवा अवस्था) की सिंह पर सवार मूर्ति की एक धुंधली तसवीर को देखा होगा तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा होगा। परन्तु उन्हों ने एक बार भी यह न सोचा होगा कि पुरोहित मदारी की इस कौतुकपूर्ण पिटारी में कौन सा रहस्य भेद छिपा है। इसमें वह चीज है जो खत्री जाति का गौरव है। उनके पूर्व पुरुषों की वीरता का इतिहास है और स्वयं उनके लिये उनकी परीक्षा का सामान है। पुरोहित वयस्क पुरुष को कुल देवी के दर्शन करा कर कुल चिन्ह दे कर सेना की दीक्षा दे देता है। वंश परम्परा का चिन्ह दे कर मानों कुल देवी के सामने पुरोहित आदेश करता है कि इस त्रिशूल से तुम्हारे पूर्वजों ने शत्रु संहार कर कुल की मर्यादा को रखा था। अब तुम विद्याध्ययन कर के गुरु भार से मुक्त हो चुके हो। यम नियम और अतिथि सत्कार कर के देव ऋण से मुक्त हो चुके तथा पुत्र उत्पन्न कर के पितरों के ऋण से भी उऋण हो चुके हो पर अभी राष्ट्र ऋण चुकाना है। अतः अब देवी की ही भांति दुष्टों का नाश करो और अनाथों को अभय दान दो। इस अवसर पर पुरोहित खत्रियों के फूलों का सेहरा बांधता है जो इस गुरुतर भार के निर्वहन में विजय पाने का आशीर्वाद है।[2]

एक प्रसंग में खत्रिय इतिहासों में यह भी जिक्र आया है कि क्षत्रियत्व के प्रतीक ये चिन्ह जो किसी समय प्रत्येक क्षत्रिय के घर में होते थे, परशुराम के आतंक के कारण ही प्राण भय से घर से हटा कर खत्रियों के पुरोहितों के यहाँ पिटारी में छिपा कर रखे गये थे पर देव कार्य के अवसर पर उन्हें पुरोहित स्वयं अपने घर से ला कर पिटारी खोल कर खत्रिय पिता को उनके दर्शन करा कर उनके क्षत्रियोचित वीरतापूर्ण कार्यों की याद दिला देता था। यह प्रथा आज तक चली आती है और देव कार्य के अवसर पर पुरोहित के घर से पिटारी आये बिना खत्रियों का देव कार्य सम्पन्न नहीं होता।

1. मेहरे खत्रियों में पहले कुछ धार्मिक/रीतिक कृत्यों के पूर्व उनकी कुल देवी शिवाय देवी के समक्ष बकरा बलिदान होता था और उसका प्रसाद कुल बिरादरी में बांटा जाता था लेकिन वैष्णव धर्म का प्रसार होने और अनेक खत्रियों द्वारा उक्त धर्म अपना लेने पर बकरे का सिर्फ कान काट कर कुल देवी पर बतौर शगुन चढ़ाया जाने लगा और उसके रक्त का टीका लगा दिया जाने लगा। धीरे धीरे इस प्रथा का भी लोप हो गया और कुर्बानी की यह प्रथा मेहरे खत्रियों में बंद हो गयी। यह भी खत्रियों के क्षत्रियत्व का ही एक प्रमाण है।

2. खत्रिय जाति और शक्ति उपासना—डा0 प्रेम शंकर टंडन—खत्री हितैषी, अंक नवम्बर 1939, पृष्ठ 21—22

स्मार्त धर्म

जो लोग गणपति, शिव, सूर्य, शक्ति और विष्णु पाँचों को मानते हैं अर्थात स्मृति को मानते हैं उक्त धर्मानुयायी ही स्मार्त है। ये विशेष रूप से राम या कृष्ण को ही नहीं, वरन सब को मानते और पूजते है। खत्रियों मे स्मार्तों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें किसी देवता से द्वेष भाव नहीं रहता। '''यम और नियमों से युक्त वर्णाश्रम का आचरण ही स्मार्त धर्म कहलाता है।''[1]

शैव सम्प्रदाय

शिव की पूजा भी प्राचीन हैं। प्राचीन काल के सिक्कों पर नन्दी, त्रिशूल और सिंहवाहिनी दुर्गा के चिन्ह पाये जाते हैं। खत्री सम्राट विक्रमादित्य भी शैव थे। शक, हूण और जाट राजाओं के भी शैव होने के प्रमाण मिले हैं। जावा द्वीप तक में इसके प्रमाण मिले हैं। बहुतेरे खत्रिय शिव भक्त हैं पर काशी आदि नगरों में इनकी संख्या अधिक है। स्वामी शंकराचार्य ने इसी शैव सम्प्रदाय का प्रचार कर बौद्धों को हटा कर सनातन धर्म की रक्षा की तथा द्वारिका, जगन्नाथ पुरी, हरिद्वार, मैसूर, काशी आदि स्थानों में मठों की स्थापना कर के 32 वर्ष की अवस्था में बद्रिकाश्रम में समाधिस्थ हुए थे।

शिव लिंग की पूजा सर्वत्र प्रचलित रही है। रोम और यूनान में प्रियेपस और फुल्लुस के नाम से, मिश्र में हर और ईशिः के नाम से यह पूजा प्रचलित थी। यहूदी इसे बाल नाम से पूजते थे। टाड के अनुसार मुहम्मद साहब के पहले लात् नामक अरब के देवता की उपासना शिव लिंग के रूप में होती थी। मक्केश्वर स्वयं लिंग रूप में काबे में विराजमान हैं। हज करने वाले आज भी वहाँ बोसा लेते हैं। (भविष्य पुराण ब्राह्म पर्व में भी इसकी चर्चा है)

वैष्णव सम्प्रदाय

विष्णु पूजा का भी प्रचार भारत में कम नहीं है। विष्णु स्वामी, रामानुज, माधवाचार्य और निम्बार्क इन चार धर्माचार्यों के वैष्णव सम्प्रदायों का प्रचार अधिक है। विष्णु स्वामी संभवतः तीसरी शताब्दी में हुए थे। इसमें केवल नाम स्मरण को ही मोक्ष का साधन बताया गया है। श्रीमद्‌भागवत् पुराण को वैष्णवो का सर्वस्व माना जाता है। भारतवर्ष में जितने वैष्णव सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उन सभी में श्रीमद्‌भागवत् का वेदों के समान आदर है। कई आचार्यों ने तो प्रस्थानत्रयी के अन्तर्गत उपनिषदों और ब्राह्मणों के साथ इसी को तीसरा प्रस्थान माना है। प्रेम भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य सभी से कूट कूट कर भरे इस पुराण के एक एक श्लोक को वैष्णव सम्प्रदाय में मंत्रवत माना जाता है।

---

1. मत्स्य पुराण 145/31

शैव एवं वैष्णव सम्प्रदाय में भेद

ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन त्रिदेवों में तीसरे देव शिव ही हैं। ईश्वर की वह तमोगुणी महान शक्ति जो अंधकार अथवा अज्ञान के संहार का काम करती है उसी का नाम शिव है। इसी प्रकार ब्रह्मा रजो गुणी शक्ति सृजन के एवं विष्णु सतोगुणी शक्ति सृष्टि के पालन के देव माने जाते हैं। इन देवों के अलग अलग कार्य की भांति इनके रंग तथा विशेषतायें भी भिन्न भिन्न हैं जो सभी ईश्वर के गुणों तथा विशेषताओं के अलंकारिक रूप हैं। ब्रह्मा लाल रंग के, विष्णु श्याम रंग के तथा शिव श्वेत रंग के हैं। इन शिव को नीलकंठ भी कहते हैं क्योंकि समुद्र मन्थन के समय निकले विष का पान कर के उन्हों ने देव तथा दानवों की रक्षा की थी। अतः समस्त दूषणों तथा पापों के शमन की शक्ति रखने के कारण ही उन्हें नीलकण्ठ कहा जाता है और शिव का रूप कल्याणकारी ही माना जाता है।

लिंग चिन्ह स्वरूप का प्रतीक है क्योंकि सृजन शक्ति शरीर के इसी अंग में सन्निहित है और भारत में सर्वाधिक मंदिर शिव के ही पाये जाते हैं जिनमें काशी शिवभक्तों का गढ़ माना जाता है यद्यपि द्वादश ज्योर्तिलिंग भारत में विद्यमान हैं। जहाँ जहाँ शिव की पूजा होती है वहाँ वहाँ बम भोले शंकर की ध्वनि के साथ घण्टों की ध्वनि सर्वत्र सुनाई देती है। ऐसा नहीं है कि जो लोग वैष्णव (अर्थात विष्णु के भक्त) हों वह शिव की पूजा न करे किन्तु वैष्णवों और शाक्तों में कुछ भेद होता है जो विशेष महत्व रखता है। इनमें मुख्य यह है कि (1) वैष्णव कभी मांस का स्पर्श नहीं करेगा पर शैवों में कुछ को मांस खाने में आपत्ति नहीं होती और कुछ तो भांग तथा मदिरापान से भी परहेज नहीं करते। वस्तुतः कुछ शैव तो भांग के अत्यधिक प्रेमी भी होते हैं पर वैष्णवों में मदिरा पान वर्जित है। (2) शैव त्रिपुण्ड लगाते हैं, मस्तक में सीधी रेखायें–भस्म या चंदन की लगाते हैं किन्तु वैष्णव यदि रामानन्दी हुए तो सीधी तीन रेखायें और यदि कृष्ण भक्त वैष्णव हुए तो दो खड़ी रेखायें मस्तक पर लगाते हैं। (3) शैव रूद्राक्ष की तथा वैष्णव तुलसी की माला का प्रयोग करते हैं। (4) शैवों में रहस्यात्मकता तथा एकान्त या मरघट आदि को अधिक मान्यता दी जाती है जब कि वैष्णवों में उत्सव और आनन्द में भाग लेने का आदेश है।

विशिष्टाद्वैत किम्बा सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रचारक श्री रामानुज स्वामी हुए। इनका जन्म बृहस्पतिवार चैत्र शुक्ल पंचमी को सन 1017 में ये पेरम्बूर ग्राम में हुआ था जो चेन्नई (मद्रास) से 42 किलोमीटर (26 मील) दूर है। इनकी माँ का नाम कान्तिवती देवी तथा पिता का केशवाचार्य ब्राह्मण था और ये हारील गोत्र के थे। इन्हों ने राम के भक्त हो हर उपनिषदों के सहारे जैनियों और मायावादियों का प्रभाव घटा कर श्री राम और श्रीकृष्ण दोनों अवतारों की पूजा का उपदेश दिया था। आप ने सानिध्य सालोक्य प्रभृति से मोक्ष माना है। इस सम्प्रदाय वाले लक्ष्मी तथा विष्णु किम्बा युगल रूप की उपासना करते है और कोई लक्ष्मी नारायण तथा कोई सीताराम

की उपासना करते है। इस सम्प्रदाय में अयोध्या निवासी श्री 108 स्वामी गोमती दास जी सारस्वत ब्राह्मण युगलमूर्ति श्री सीताराम जी के प्रसिद्ध अनन्य भक्त हुए हैं जिनका स्वर्गवास सन 1931 में हुआ था। इस सम्प्रदाय में अनेकों खत्रिय हैं।

रामानन्दी मार्ग

उत्तर भारत में रामानुज की अपेक्षा रामानन्दी मार्ग अधिक प्रसिद्ध है। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, कबीर, रैदास आदि इसी सम्प्रदाय के हैं जिसमें राम, लक्ष्मण, सीता तथा महाबीर जी की उपासना होती है। इनका चबूतरा काशी में अभी तक विद्यमान है। इसमें संख्या में वैरागी तीन चौथाई हैं। इस सम्प्रदाय में भी अनेक खत्रिय हैं।

द्वेताद्वैत या ब्रह्म सम्प्रदाय

माधवाचार्य (जन्म संवत 1239) के फैलाये इस सम्प्रदाय के त्यागी गैरिक वस्त्र, कमंडल, धारण करते, सिर मुंड़वाते और यज्ञोपवीत रखते हैं तथा श्री कृष्ण और शालिग्राम की पूजा करते हैं। माधवाचार्य ने 'पराशर संहिता' का भाष्य लिखा था।

निम्बार्क

श्रीभास्कराचार्य (जन्म शक संवत 1036) द्वारा प्रवर्तित इस सम्प्रदाय में राधा कृष्ण की मूर्ति की पूजा का उपदेश दिया गया है। वे वृन्दावन में रहते थे एवं प्रसिद्ध जयोतिषी भी थे। आपने सिद्धांत शिरोमणि ग्रन्थ की भी रचना की थी। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कम हैं।

शुद्वाद्वैत या पुष्टि मार्ग

महात्मा वल्लभाचार्य (जन्म संवत 1535 वैशाख कृष्ण एकादशी जिला, चम्पारन एवं स्वर्गवास संवत 1587—काशी में) के इस सम्प्रदाय में गोपाल जी की उपासना होती है। इनके प्रथम शिष्य दामोदर दास खत्रिय थे। इनके आचार्य अपने शिष्यों को "ओउम नमो भगवते वासुदेवाय" या "श्री कृष्ण शरणं मम" का उपदेश देते हैं। इनके ठाट बाट राजसी होते हैं और सभी गृहस्थ होते हैं तथा गोकुलिया व गुसाईं कहलाते हैं।

इनके खत्रिय भक्तों में श्री नाथ जी का मन्दिर बनवाने वाले पूरन मल खत्रिय, उसमें अत्यधिक दान देने वाले गोविन्द दास भल्ला, आगरा के गज्जन धवन, जिनके बारे में कहा जाता है कि श्री कृष्ण जी इनके साथ साकार रूप

धर कर खेला करते थे, अनेकों चमत्कार दिखाने वाले जीवन दास कपूर तथा उस जमाने में ढाई पैसे में अपना गुजर कर के अपना सारा धन ठाकुर जी को अर्पण करने वाले आगरे के सन्त दास चोपड़ा आदि जैसे परम भक्त लगभग 84 खत्रिय इस मार्ग के भक्तों में सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं।

नानकशाही शिष्य (सिख) मत

इस शिष्य (सिख) धर्म के संस्थापक गुरु नानक देव जी का जन्म संवत 1526 (18 अप्रैल सन 1469 ईसवी) के बैसाख मास में (नानक प्रकाश में उल्लिखित कुछ के मत के अनुसार कार्तिक पूर्णिमा को) लाहौर से 30 मील दक्षिण पूर्व स्थित तलवंडी ग्राम में वेदी खत्रिय परिवार में हुआ था। बचपन से ही इन्हें विलक्षण बुद्धि प्राप्त थी तथा आप उदासीन प्रकृति के थे। पिता ने इस भय से कि कहीं यह संसार त्यागी न हो जांय, 14 वर्ष की अवस्था में ही आप का विवाह कर दिया तथा उन्हें बादशाह बहलोल लोदी के कोठे पर हिसाब किताब देखने की नौकरी पर भी उन की बहन नानकी देवी के गाँव में ही रखवा दिया। पर वहाँ आप कोठे का अनाज गरीबों में मुफ्त बांट दिया करते और रात दिन भगवान के भजन में मस्त रहते थे। शिकायत होने पर बादशाह ने जांच की तो बजाय घाटे के कुछ मुनाफा ही नजर आया। इससे वह आश्चर्य में पड़ गया। आप ने पिता द्वारा नमक के रोजगार के लिये दी गयी रकम भी गरीबों को बांट दी। 'तबकाते नासिरी' के अनुसार इनके समय में हिन्दुओं की दशा विचित्र हो रही थी। हिन्दुओं के धर्म कर्म का नाम मिटा जा रहा था और उन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाया जा रहा था। अतः उस समय नानक जी ने सारे धंधे छोड़ सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और आत्मिक सुधारों की आवश्यकता को महसूस करते हुए शिष्य (सिख) मत का प्रचार करना प्रारम्भ किया तथा हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, छूत—अछूत का कुछ भी विचार न रख सब को एक ही दर्जे में लाने और ईश्वर भक्त बनने का उपदेश देने लगे जिससे समाज में फैला चौके चूल्हे की छूत का भूत तो तुरंत ही भाग निकला और आप ने भी अपने योग बल से लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। अपने मत के प्रचार के लिये आप बगदाद, रोम, मक्का, मदीना तक गये और नानकशाही धर्म का प्रचार किया।

संवत 1565 में नानकदेव जी जगन्नाथपुरी भी गये और वहाँ भी आरती के समय ब्राह्मणों को अपना चमत्कार दिखाया। गुरु नानक के बाद उनके निम्नलिखित खत्री गद्दीधारी हुए और उन्हों ने सिख धर्म को चलायाः

		जन्म	गद्दी प्राप्ति	स्वर्गवास
1	गुरुनानक (वेदी खत्री) [1]	1526	—	1596

1. गुरु नानक देव जी बहलोल लोदी के समय में थे। ये पूर्ण सन्त थे। कहा

2	गुरू अंगद (तिहुन खत्री)	1561	1596	1609
3	गुरू अमरदास (भल्ला खत्री)[2]	1536	1609	1631
4	गरू रामदास (सोंढी खत्री)[3]	1591	1631	1638
5	गुरू अर्जुन (सोंढी खत्री)[4]	1620	1638	1663
6	गुरू हर गोविंद (सोंढी खत्री)[5]	1657	1663	1701
7	गुरू हर राय (सोंढी खत्री)	1686	1701	1718
8	गुरू हर कृष्ण (सोंढी खत्री)	1713	1718	1721
9	गुरू तेग बहादुर (सोंढी खत्री)[6]	1670	1721	1732
10	गुरू गोविन्द सिंह जी (सोंढी खत्री)[7]	1723	1732	1765

जाता है कि बादशाह बहराम खां लोदी भी एक बार इनको समाधि में बैठे तथा सामने रखी चक्की को अपने आप घूमते देख कर आश्चर्य में पड़ गया। इनके अनुयायी मुसलमान भी थे जिनमें मरदाना नामक एक मुसलमान भक्त नानक जी के बनाये भजनों को बड़े चाव से गाता था। अपनी वृद्धावस्था का समय उन्हों ने पंजाब के करतारपुर में ही व्यतीत किया।

2. गुरू अमरदास जिला अमृतसर के गोविन्दवाल के निवासी थे जहाँ उन्हों ने एक बावली बनवाई थी। इनके शिष्यों में प्रमुख बाबा हंदल के शिष्य 'निरंजन' नाम से भगवान का जप करने के कारण 'निरंजनी' कहलाते हैं। उनके दूसरे शिष्य बाबा गंगू या गंगादास खत्री के शिष्य 'गंगाशाही' कहलाते हैं। गुरू अमरदास के पौत्र बाबा जवाहर सिंह भी एक बड़े प्रसिद्ध सन्त थे। उन्हों ने जिला जलंधर में खतकर कलां नामक स्थान में एक मंदिर बनवाया था।

3. इनका वास्तविक नाम लहना था। इनकी लगन तथा सच्चाई को देख कर गुरू नानक ने अपनी धर्म गद्दी का वारिस अपने लड़कों को न बना कर इन्हें ही बनाया था। यह अमृतसर जिले की तरनतारन तहसील के खादर गाँव में बस गये थे। इन्हीं गुरू रामदास ने 'चक' ग्राम में जिसे आज कल 'अमृतसर' कहते हैं, एक तालाब खुदवाया था। इस तालाब की जमीन के लिये उनका एक वैरागी से झगड़ा हुआ। गुरू रामदास जी ने कहा कि यह गढ़ा मेरे पुरखों का है और उस गढ़े में श्री राम चन्द्र जी के समय की कुछ चीजें मौजूद बतायीं। विवाद बढ़ने पर गढ़ा खोदा गया तो उसमें श्री राम चन्द्र जी के समय की इनकी बतायी चीजें निकलीं। तब अकबर ने रामदास जी को वह जमीन दिलवा दी। वही तालाब आज हरमन्दिर साहब का 'अमृतसर' कहलाता है।

4. गुरू अर्जुन ने 'हर मन्दिर' बनवाया और 'तरन तारन' स्थान भी आप का बनवाया है। इन्हों ने राजसी बाना धारण किया था।

5. छठे गुरू हर गोविन्द सिंह जी ने देश की दशा देख कर अपने धर्म वालों से कहा कि तलवार पास में रखना धर्म है। वे स्वयं वीर योद्धा थे। 'हिस्ट्री ऐंड फिलासफी आफ दि सिख रेलीजन' नामक खजान सिंह की पुस्तक के अनुसार वे **800** घोड़े और **300** सवार हर समय तैयार रखते थे। इन्हों ने तख्त कायम किया तथा आनन्दपुर बसाया था और वहीं रहते थे। इन्हीं के समय में सिक्खों तथा मुस्लिमों में लड़ाई ठन गयी थी। इन्हीं के पुत्र बाबा अटल भी प्रसिद्ध महात्मा थे।

6. औरंगज़ेब ने गुरू तेग बहादुर को मुसलमान होने को कहा जिससे उन्हों ने इनकार कर दिया, अतः संवत **1732** में बादशाह की आज्ञा से उनका सिर काटा गया। उसी समय बड़े जोर की आंधी आयी। औरंगजेब के ही एक दरबारी राम राय खत्रिय थे जो योग भी जानते थे। उन्हों ने गुरू तेग बहादुर का सिर उनके पुत्र को ला कर दिया जिसने उनका अंत्येष्टि संस्कार किया। दूसरे ने उनका धड़ ले जा कर चुपचाप जला दिया। आनन्दपुर में ही उनकी अंत्येष्टि हुई थी। इन्हीं के समय से सैनिक बाना शिष्य (सिख) धर्म में आने लगा।

इन्हीं राम राय खत्रिय ने देहरादून बसाया था। इनका लगाव मुगलों से था अतः गुरू हर राय ने सिक्खों की गद्दी पर उनके हक का विरोध किया था। इसी कारण इनका गुरू हर राय तथा गुरू हर किशुन के समर्थकों से विरोध रहा। इसी कारण से उनके अनुयायी 'रामराई सिख' आज भी दूसरे सिक्खों का विरोध करते हैं तथा गुरू हर गोविन्द एवं गुरू गोविन्द सिंह को गुरू नहीं मानते। इसी प्रकार गुरू गोविन्द सिंह द्वारा स्थापित खालसा पंथ के सिख रामराइयों को सिख नहीं मानते। ये केश नहीं रखते। खालसा सिख आपस में केवल 'श्री वाह गुरू जी खालसा, श्री वाह गुरू जी की फतेह' कह कर जुहार करते हैं और रामराई लोग 'अखो वाह गुरु जी दी फतेह' कहते हैं।

यह राम राय खत्रिय 7वें सिख गुरू हर राय के पुत्र थे। औरंगजेब ने गुरू हर राय की प्रसिद्धि सुन रखी थी। उसने उनके पास खबर भेजी कि वह उनसे मिलना चाहते हैं और अपने धर्म के बारे में वार्तालाप करना चाहते हैं अतः वह दिल्ली आ कर दर्शन दें। गुरू हर राय अपना अधिकतर समय पूजा पाठ में व्यतीत करते थे अतः उन्हों ने स्वयं न जा कर अपने पुत्र राम राय को अपने शिष्य के रूप में औरंगजेब के पास भेज दिया।

औरंगजेब राम राय खत्रिय की शक्ति से प्रभावित तो हुआ किंतु गुरूवाणी के विषय में उसने अपना मनमाना पाठ बताया जिस पर राम राय ने औरंगजेब को संतुष्ट करने वाले वचन कहे। उनके पिता गुरू हर राय को जब इसकी खबर लगी तो वे नाराज हुए और राम राय के लौटने पर उन्हें जिधर मुँह हो उधर चले जाने को कह दिया। अनेक कारणों से राम राय का भी मन दिल्ली से उचट गया था अतः वे लाहौर चले गये जहाँ मुगलेर के चौबच्चा साहब नाम के स्थान पर कुछ वर्ष रहे। इसके बाद वे देहरादून चले आये तथा सर्वप्रथम काड़ली नामक ग्राम में अपना डेरा जमाया तथा वहाँ अपना झंडा गाड़ दिया। सन **1676** में औरंगजेब की सलाह पर टिहरी के महाराजा फतेह सिंह गुरू राम

राय से मिलने आये और उनसे स्थायी रूप से वहीं बस जाने का अनुरोध किया। इसके लिये महाराजा ने उन्हें खुरबुड्डी, धामवाला, चमासारी, धरातावाली, पंडितवाड़ी, मैनवाला और रायपुर नाम के सात गाँव भी जागीर में प्रदान किये। यह गाँव हिमालय तथा शिवालिक पर्वत श्रेणियों के बीच पड़ते थे और स्थानीय भाषा में इन्हें दून कहा जाता था। चूंकि गुरू राम राय ने इन्हीं दून गांवों के बीच में अपना डेरा जमाया था अतः उनका स्थान 'डेरा–दून' कहलाने लगा जो कालांतर में बिगड़ कर आज का नगर 'देहरादून' हो गया। अतः यह नगर उन्हीं का बसाया कहा जाता है।

पिता की नाराजगी के कारण ही 7वें गुरु हर राय के बाद सिक्खों के गुरू राम राय खत्रिय के भाई गुरू हर किशुन 8वें सिक्ख गुरू हुए। राम राय खत्रिय ने देहरादून में दरबार साहब गुरूद्वारा बनवाया किंतु सन 1687 में उनकी मृत्यु हो गयी। औरंगजेब ने गुरू राम राय की स्मृति में इस गुरूद्वारे का अंदरूनी भाग 20 वर्ष में बनवा कर पूरा किया अतः यह गुरूद्वारा भारतीय एवं मुसलमानी वास्तुकला का अद्भुत नमूना कहा जाता है।

गुरू राम राय के कोई संतान न थी अतः उनके बाद 'गुरू गद्दी' के उचित प्रबंध के लिये महन्त नियुक्त करने की प्रथा प्रारम्भ हुई। इस परम्परा के अन्तर्गत सर्वप्रथम महन्त उद्योदास को राम राय की माता पंजाब कौर ने महन्त बनाया और तत्पश्चात महन्त हर प्रसाद जी, महन्त हर सेवक जी, महन्त सरूपानन्द जी, महन्त प्रीतम दास जी, महन्त नरायन दास जी, महन्त प्रयाग दास जी, महन्त लक्ष्मणदास जी गद्दी नशीं हुए तथा सन 1944 से दसवें महन्त इन्द्रेशचरण दास जी इस गद्दी पर विराजमान हो कर 'सम्पूर्ण' व्यवस्था देख रहे हैं।

7. दसवें गुरू गोविन्द सिंह ने सिक्खों को वीर वेश धारण करा कर सिंह (शेर) बना दिया। वे स्वयं दुर्गा जी के उपासक थे और कहा करते थे कि भक्ति के साथ ही शक्ति रह सकती है। उनका उपदेश था कि जब तक सिख मेरी बातों को मानेंगे तब तक उनका सितारा चमकता रहेगा। हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये उन्हों ने मुसलमानों से कई लड़ाइयां लड़ीं और विजय पायी। इन्हों ने ही अकाली शिष्य (सिख) बनाये। आप ने अपने धर्म को पलटा और उसे 'खालसा' कहा। अपने पिता गुरू तेग़ बहादुर की निर्मम हत्या को देख कर इन्हों ने मुगलों की ईंट से ईंट बजा देने का निश्चय किया था। इसी लिये इन्हों ने धार्मिक शिक्षा के साथ–साथ अपने शिष्यों को सैनिक शिक्षा भी देना प्रारम्भ किया तथा उन्हें 'खालसा' कहा। ये खालसा शिष्य, सैनिक बाना सदैव अपने पास रखते थे। आप ने ही सिखों कों सिंह (शेर) की उपाधि भी दी और सिख बाना भी धारण कराया तथा हिन्दुओं के शत्रु विधर्मियों से युद्ध के लिये उत्साहित किया। इन्हों ने अनेकों बार औरंगजेब की सेनाओं को परास्त किया। इनके दो पुत्र 16 वर्षीय अजीत सिंह और जुझार सिंह चमकोर की लड़ाई में लौटते समय रास्ते में शत्रुओं द्वारा मारे गये। उस स्थल पर शहीदगंज ग्राम बसा है। गुरू गोविन्द सिंह के 8 वर्षीय

व 6 वर्षीय दो अन्य पुत्र जोरावर सिंह व फतह सिंह एक विश्वासपात्र पाचक ब्राह्मण की धोखाधड़ी से औरंगजेब की सेनाओं द्वारा पकड़ लिये गये और मुसलमान होना अस्वीकार करने पर सूबे के मुसलमान काजी के हुक्म से दीवार में जिंदा चुनवा दिये गये। पाँच 'ककार' धारण करना (केश, कंघी, कच्छा, कड़ा, कृपाण) भी आप का ही उपदेश था।

आप संस्कृत और फारसी के भी विद्वान थे तथा हिन्दी के भी अच्छे कवि थे। जप जी, सुनीति प्रकाश, ज्ञान प्रबोध, प्रेम सुमार्ग, बुद्धि सागर, विचित्र नाटक, राम अवतार, कृष्ण अवतार और 'ग्रन्थ साहब' के कुछ अंशों की रचना आप ने ही की थी।

खजान सिंह की पुस्तक 'हिस्ट्री ऐंड फिलास्फी ऑफ दि सिख रेलीजन' तथा 'हिस्ट्री आफ गुरू खालसा' पुस्तक में दिये गये विवरणों के अनुसार आप ने बांदा बहादुर राजपूत वैरागी को अपने धर्म में दीक्षित कर अपना शिष्य बनाया था जो उनका पक्का शिष्य निकला पर गुरू गोविन्द सिंह के स्वर्गारोहण पर उसके चाहने पर भी गद्दी उसे नहीं मिली क्योंकि गद्दी केवल खत्रियों की थी और गुरू गोविन्द सिंह ने गद्दी उसे नहीं दी थी क्योंकि गुरू की आज्ञा केवल दश पादशाही की ही थी।

गुरू गोविन्द सिंह का जन्म पटना में हुआ था। वहाँ का हर मन्दिर साहब प्रसिद्ध है। आप ने ही अपने जीवन चरित्र में चार वर्ण, ब्राह्मण, खत्रिय, वैश्य और शूद्र लिखे हैं। आप ने आदि ग्रंथ भी बनाया है जो आध्यात्मिक भावों से भरा है।

गुरू गोविन्द सिंह जी की वंशावली इस प्रकार है–
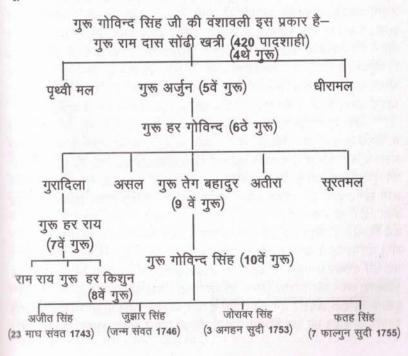
उदासी पन्थ (सम्प्रदाय)

गुरू नानक देव जी के दो पुत्र थे। श्री चन्द और लक्ष्मी चन्द। श्री चन्द उदासी पंथ के साधुओं के प्रवर्तक हुए तथा इस पंथ के आचार्य थे। आप में यौगिक शक्तियों का पूर्ण विकास था। सिद्ध योगियों के लिये पूर्ण संभव और स्वाभाविक अनेक चमत्कारी घटनायें इनके जीवन के साथ सम्बद्ध हैं। लक्ष्मी चन्द जी गृहस्थ थे जिनके वंशज अभी तक विद्यमान हैं।

श्री चन्द जी के समय में महमूद के आक्रमण, मुहम्मद गोरी की लूट–मार तथा खिलजी द्वारा देव मंदिरों को तोड़ने के प्रभाव का असर तो कायम ही था, उसी समय बाबर के आक्रमण भी होने लगे। लोदी वंश के बादशाहों ने भी मनमाना धार्मिक अत्याचार कर के देश में इतना आतंक फैला दिया था कि हिन्दू शक्तियां उनसे निरन्तर युद्ध, आपसी वैमनस्य, संगठन तथा एकता के अभाव के कारण छिन्न भिन्न हो गयी थीं। चारों ओर जहाँ हिन्दू धर्म तथा हिन्दुओं का विनाश ही विनाश हो रहा था वहाँ कृत्रिम यौगिक शक्तियाँ दिखा कर भोले हिन्दू बहकाये जा रहे थे। ऐसे ही समय में वास्तविक योग शक्तियों से समृद्ध श्री चन्द जी खत्री का आविर्भाव हुआ।

एक बार आप पेशावर से काबुल पहुँचे। वहाँ का शासक कामरान था। उस नगर में अनेक श्रृद्धालु भक्त, जिनमें अनेक मुसलमान भी थे, उनका उपदेश सुनने आया करते थे। इन श्रृद्धालुओं में एक यवन वजीर खाँ इनके उपदेशों से इतना प्रभावित हुआ कि वह गलियों कूचों में राम–कृष्ण का कीर्तन करता घूमने लगा। एक दिन एक मस्जिद के निकट कीर्तन करते समय जब लोग उसे मारने पीटने को एकत्र हो गये तो कुछ लोगों ने उसे योगिराज श्री चन्द जी की कुटिया में पहुँचा दिया। उसके आक्रान्ता वहाँ भी उसे पकड़ने के लिये घुस गये पर अन्दर पहुँचते ही सब के हाथ–पैर जकड़ गये। तब तो वे श्री चन्द जी से क्षमा मांगने लगे। अन्त में भक्तराज वजीर खाँ से क्षमा मांगने पर वे मुक्त हुए।

उस समय कन्धार में भी हिन्दुओं की पर्याप्त आबादी थी पर उन्हें पूजा के समय शंख, घंटा, घड़ियाल तक बजाने की आज्ञा न थी। वहाँ के एक श्रृद्धालु भक्त पंडित लक्ष्मण दत्त अपने मंदिर में बिना शंख आदि बजाये ही श्री कृष्ण जी की पूजा किया करते थे। इस मंदिर में भी लोग श्री चन्द जी का उपदेश सुनने आने लगे। एक दिन पंडित जी की अनुपस्थिति में उनके शिष्य रामरत्न ने शंख बजा दिया तो एक पड़ौसी मौलवी, बालक को पकड़ कर कामरान के दरबार में दंड दिलाने ले गया। पंडित लक्ष्मण दत्त ने पता चलने पर योगिराज की शरण ली। योगिराज ने राम रत्न के मस्तक पर लगाने के लिये उन्हें कुछ विभूति दी। दत्त जी दरबार में पहुंचे तो वहाँ उस बालक को इस्लाम धर्म मानने या मृत्यु दंड स्वीकार करने का निर्णय लिया जा चुका था। दत्त जी ने बालक को समझाने बुझाने का एक अवसर देने की आज्ञा दरबार से मांगी और आज्ञा मिलने पर उसे दरबार के बाहर ला कर विभूति उसे दे दी जो उसने अपने मस्तक से लगा ली।

विभूति लगाते ही उसे आत्म बल का अनुभव हुआ और उसने दरबार में आ कर इस्लाम धर्म स्वीकार करने से इनकार कर दिया। मौलवी लोग जैसे ही उसे पकड़ने दौड़े उनके हाथ पैर बंध गये। सारे नगर में इस घटना से हलचल मच गयी। यह देख कर कामरान का मित्र, महात्माओं का सत्संगी गुल अकबर योगिराज की करामात समझ गया। उसके कहने पर कामरान ने स्वयं योगिराज से जा कर क्षमा मांगी और उनके समझाने पर हिन्दुओं के धर्म पर लगी पाबन्दियां उठा लीं।

इसी कामरान ने योगिराज के अन्य चमत्कार भी देखे और उनसे प्रमाद से बचते रहने का वादा भी किया पर उसे निभा न सका। शीघ्र ही वह योगिराज का उपदेश भूल कर प्रमादी होने लगा। तब वह हुमायूँ द्वारा पराजित हुआ जिसने संवत 1611 में उसकी आंखें भी निकलवा लीं।

अपने भ्रमण के क्रम में जब श्री चन्द जी सिन्ध के ठट्ठा नगर में पहुँचे तो वहाँ भी तत्कालीन मुस्लिम शासक मिर्जा अली के अत्याचार से त्रस्त हिन्दुओं में नवचेतना का संचार किया। इससे चिढ़ कर शासक ने सारे हिन्दुओं को इस्लाम धर्म या मृत्यु दंड स्वीकार करने की आज्ञा प्रसारित कर दी। योगिराज ने ही तब हिन्दुओं को निर्भय किया पर शासक ने अगले ही दिन उन्हें पागल घोषित कर दिया। उसके ऐसी घोषणा करते ही योगिराज ने भी घोषणा कर दी कि "शीघ्र ही पता चल जायेगा कि कौन पागल है"। दूसरे ही दिन मिर्ज़ा बाकी पागल हो गया और उसने अपनी ही कटार से संवत 1642 में आत्महत्या कर ली। उसके बाद ही हिन्दुओं पर अत्याचार बंद हो गया।

उस समय काश्मीर में भी हिन्दुओं पर अत्याचार हो रहे थे। योगिराज के उपदेशों के प्रचार से उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप अत्याचार और बढ़े तो उन्हों ने अपने श्रद्धालुओं से दरबार में कहलाया कि "यदि तत्कालीन शासक याकूब हमारे गुरू को यवन बना ले तो हम सब हिन्दू इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेंगे।" याकूब ने उनकी बात मान ली और अपने मंत्री को दूसरे दिन योगिराज के पास भेजा पर योगिराज के दर्शन करते हीं मंत्री के विचार बदल गये ओर वह उनका भक्त हो गया। योगिराज ने अग्निकुंड से एक लकड़ी ले कर पृथ्वी में गाड़ दी जो तुरन्त एक हरे भरे वृक्ष में परिवर्तित हो गयी। आज भी वह वृक्ष श्री नगर के पास प्रताप बाग में ही चन्द्र चुनार के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना को देख कर याकूब ने स्वयं उपस्थित हो कर योगिराज से क्षमा मांगी। योगी जी ने कहा–'अब क्या हो सकता है। भगवान द्वारा तुम अयोग्य ठहराये गये हो।' उसी वर्ष अकबर ने काशमीर को जीत कर अपने राज्य में मिला लिया।

योगिराज ने घोषणा की थी कि काशमीर में शीघ्र ही हिन्दू राज्य स्थापित होगा। उनकी घोषणा के अनुरूप ही काशमीर में हिन्दू राज्य भी स्थापित हुआ जो भारत के स्वतंत्र होने तक बना रहा। तत्पश्चात काशमीर का भारत में विलय हो गया।

योगिराज श्री चन्द के चमत्कारों की असंख्य कथायें हैं। उनके स्मारक काश्मीर में श्री नगर में चुनार मंदिर, काबुल में श्री चन्द छप्पर और पंजाब में वारठ मठ में भी हैं। सारा जीवन वे जनता के ही बीच में रहे और तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार अपने योग के चमत्कार दिखाते रहे। उनके शिष्य आज सारे संसार में दिखायी पड़ते हैं।

गुरू नानक देव जी खत्री के इन पुत्र श्री चन्द जी महाराज (महात्मा) के चलाये उदासी पन्थ ने मुगलों तथा अवध के नवाबों के जमाने में लखनऊ में भी अपने पैर जमाये थे। लक्ष्मण टीले के उत्तर में पक्का पुल पार करने के बाद गोमती पार खदरा के क्षेत्र में खेतों के बीच एक विशाल संगत विद्यमान है जिसका मुख्य द्वार अत्यंत भव्य है। इसके मुख्य द्वार के बायीं तरफ लगे शिलालेख में इसके निर्माण की तिथि अंकित है तथा ड्योढ़ी के अन्दर रखे पालकी, रथ और अद्धे इसकी प्राचीनता का स्मरण कराते हैं। मंदिर के दो बड़े आंगनों के चारों तरफ बरामदों की कतारें चली गयी हैं और आंगन के अंदर ही मुख्य गुरु मंदिर है जिसमें कई संतो की समाधियां बनी है। कुछ समाधियां बाहर भी हैं। आंगन मौल श्री वृक्ष के फूलों से महकता रहता हैं। इस उदासी पंथ में खत्री ही नहीं सभी जातियों के भक्त समान रूप से पाये जाते हैं।

सन 1784 में नवाब आसफउद्दौला के शासनकाल में उदासी पंथ के आचार्य बाबा फतेहचंद जी लखनऊ आये और उन्हों ने खदरा में ही एक ऊँचे टीले के निकट एक बाग में अपने चेलों के साथ डेरा डाल दिया। इन साधुओं के आने की खबर सुन कर आसफउद्दौला ने अपने संदेशवाहक भेज कर आचार्य से ऐशबाग के रामलीला मैदान में विश्राम करने का आग्रह किया जहाँ उन्हों ने साधुओं के आवास, विश्राम एवं भोजन आदि की स्थायी रूप से व्यवस्था कर रखी थी लेकिन बाबा फतेहचंद को तो सांसारिक सुख सुविधाओं से कोई मतलब ही नहीं था अतः उन्हों ने नवाब के संदेश वाहकों को यह कह कर लौटा दिया कि किसी दुनियावी बादशाह के हुक्म से उन्हें कोई मतलब नहीं है। वे तो शाहों के शाह भगवान का ही हुक्म मानते हैं। शीघ्र ही उनके इस निर्भीक आचरण की चर्चा शहर में घर घर होने लगी। इन साधुओं के खेमे के पास एक मस्जिद भी थी। उसके मौलवी ने नवाब से शिकायत की कि इन हिन्दू साधुओं द्वारा बजाये जाने वाले शंख से नमाज अदा करने में बाधा पड़ती है तो नवाब ने पूजा के दौरान शंख न बजाये जाने का हुक्म जारी किया। बाबा ने इस हुक्म को मुस्करा कर स्वीकार कर लिया। अगले दिन सुबह रोज की तरह शंख को रीतिक तरीके से नहला धुला कर पूजन कर के आरती के बाद चंदन की चौकी पर जब रखा गया तो जनश्रुति यह कहती है कि वह शंख अपने आप बजने लगा ओर उसकी गंभीर आवाज पूजा के बाद भी चारों ओर गूंजती रही और बंद नहीं हुई। यह खबर सुन कर आसफउद्दौला भी संगत में शंख की जांच करने आया और आचार्य का यह ईश्वरीय चमत्कार देख कर इतना प्रभावित हुआ कि उसने

कई जागीरें बाबा को समर्पित कर दीं जिनकी आमदनी से पुरानी बांसमंडी में 'उदासी पंथ गुरूद्वारा' बना।

इन्हीं बाबा फतेहचंद के समय में ही चौक की पुरानी सब्जी मंडी में बाग टोला मोहल्ले के पीछे एक और गुरूद्वारा संगत बनी। जन श्रुति यह कहती है कि पहले यहाँ एक घर था जिसमे किसी 'जिन्न' का आवास था जिसने पूरे क्षेत्र में भयंकर उत्पात मचा रखा था। यह घर सआदत खां के साथ लखनऊ आये कालिका प्रसाद खत्री के ही भाई के परिवार की मिल्कियत में था। कालिका प्रसाद का परिवार भी बाबा फतेहचंद के शिष्यों में था। अपने शिष्यों की प्रार्थना पर गुरू महाराज स्वयं उस मकान में आये और उसे 'जिन्न' से मुक्त करा दिया। इस पर कालिका प्रसाद के भाई के परिवार ने वह पूरा मकान तथा आस पास का पूरा क्षेत्र गुरू महाराज को इस शर्त के साथ दान कर दिया कि वे वहाँ गुरूद्वारा संगत स्थापित करें तथा इस संगत का आचार्य महन्त प्रत्येक वर्ष गुरू पर्व पर प्रथम टीका उनके परिवार का ही स्वीकार करें और प्रति दिन एक समय का भोजन भी उनके परिवार से ही लेना स्वीकार करे। गुरू के प्रभाव से स्थानच्युत 'जिन्न' ने भी घर छोड़ते समय बाबा से प्रार्थना की कि वे उसकी उपस्थिति की याद बनाये रखने के लिये मंदिर में कम से कम कुछ प्रतीकात्मक निर्माण करा दें जिसे स्वीकार करते हुए बाबा ने मंदिर में एक सफेद पत्थर पर दो पैरो के काले निशान उसकी स्मृति के प्रतीक रूप मे बनवा कर लगवा दिये जो आज भी विद्यमान हैं।

इन्हीं बाबा फतेहचन्द के अनेक शिष्यों में बाबा गंगाचरन व संगत बख्श भी थे जिन्हों ने सुलतानपुर जिले के बंधुआ तथा अयोध्या के रानोपाली में भी गद्दियां स्थापित कीं व आस–पास कई मंदिरों का निर्माण कराया।

इस पंथ की लखनऊ गद्दी के महंत बाबा विचार दास एवं उनके उत्तराधिकारी बाबा गुरू सरन दास भी मूलतः खत्री ही कहे जाते हैं जिनकी मूर्तियां पुरानी सब्जी मंडी संगत में विद्यमान हैं। सन 1914–15 के आस पास इनका महत्व एवं प्रभाव इतना बढ़ा चढ़ा था कि उनके बारे में अनेक ऐतिहासिक किंवदंतियां अब तक प्रचलित हैं। उनके समय तक इन संगतों से लगी जागीरों की भी उचित देख देख होती रही और इन गुरूद्वारों द्वारा अनेक गरीबों एवं जरूरतमंदों की सहायता की जाती रही तथा प्रत्येक वर्ष गुरू पूर्णिमा को भारी मेला भी लगता रहा तथा भंडारा भी होता रहा और लोग इन गद्दियों के महंतों के चमत्कारों को याद करते रहे पर समय के साथ उसमें भी गिरावट आयी और इसके गद्दीधारी महन्तों के चलते गुरू पूर्णिमा के मेले एवं संगत का महत्व भी कम हो गया तथा कालिका प्रसाद खत्री के भाई के परिवार से किया जाने वाला प्रथम टीका तथा एक वक्त का भोजन भी सन 1947 के पश्चात बंद हो गया पर पुरानी सब्जी मंडी एवं खदरा तथा बंधुआ (सुलतानपुर) की संगतें अपनी प्राचीन गरिमा लिये आज भी विद्यमान हैं पर खत्रियों का इनसे प्रगाढ़ सम्पर्क कहीं कहीं प्रायः समाप्त हो चला है।

खत्रिय मूलक दास कक्कड़

बाबा मूलक दास जी का जन्म कड़ा ग्राम जिला इलाहाबाद में श्री सुन्दर दास कक्कड़ खत्री के घर में बैसाख कृष्ण पंचमी सम्वत् 1631 (सन 1574 ईसवी) को हुआ था। इनकी बाहें इतनी लम्बी थीं कि इनके घुटने तक आती थीं। इनके गुरू विट्ठल दास द्रविड़ देश के थे। इनकी मुख्य गद्दियां कड़ा (प्रयाग), जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, कलापुर, नेपाल और काबुल में थीं। जगन्नाथपुरी में भी इनका स्थान (मंदिर) समुद्र तट पर है जहाँ मलूक दास का टुकड़ा के नाम से प्रत्येक दर्शनार्थी को प्रसाद दिया जाता है। कड़ा ग्राम ही उनकी साधना स्थली थी। वहीं उनकी समाधि और आश्रम भी है जो साधु गृह स्थल के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ प्रति वर्ष उनकी जयंती मनायी जाती है जिसके आयोजन के लिये मलूक साधना मंडल के नाम से एक संगठन आज कल विद्यमान है जिसके पदाधिकारी भी खत्री ही हैं और योगिराज नानक चन्द्र कक्कड़, महन्त गद्दी संत मलूक दास (कड़ा) हैं।

मलूक दास गृहस्थ संत थे। उन्हों ने अपने उपदेश सीधी सादी सरल भाषा में मानव मात्र के जीवन कल्याण के लिये दिये। उनकी वाणी मानव जीवन को सार्थकता प्रदान करती है। हिन्दू मुसलमान दोनों ही उनके अनुयायी थे। उनके कुछ दोहे/साखी अत्यंत प्रसिद्ध हैं जैसे

मलुका सोई वीर है, जो जानै पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर।।
दया धर्म हिरदै बसै, बोले अमृत बैन।
तेई ऊँचे जानिये, जिनके नीचे नैन।।
जे दुखिया संसार में, खोवौ तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंपि मलूक को और न दीजे दुक्ख।।
अजगर करे न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सब के दाता राम।।

दीन बन्धु दीना नाथ, मेरी तन हरिये।
सोने को सनैया नहीं, रूपे को रुपैया नहीं।।
कौड़ी पैसा पास नहीं, कहो क्या करिये।
खेती नहीं, बाड़ी नहीं, कुटुम्ब परिवार नहीं।।
ऐसे कोई मित्र नहीं, जासे कुछ मांगिये।
कहत मलूक दास, छोड़ दे परायी आस।।
ऐसे धनी पाय के, फिर काकी शरण जइये।।

औरंगजेब का अहदी फतेह खाँ भी उनसे प्रभावित हो कर अपना सरकारी पद त्याग उनका शिष्य हो गया था और आजन्म बाबा मलूक दास के पास रह

कर संत सेवा में तत्पर रहा। शिष्य हो जाने के बाद वह मीर माधव के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी समाधि भी उन्हीं की समाधि के पास बनी है। स्वयं कट्टर दुराग्रही औरंगजेब तक ने मलूक दास जी की महत्ता का आदर करते हुए कड़े में जजिया माफ कर दिया था। बाबा मलूकदास निर्मित कई ग्रन्थों में 'भक्त वत्सावली' और 'रत्नखानि' विशेष प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके पंथ के मानने वाले अनुयायियों में आज भी अनेको। खत्री है।। उनकी मृत्यु संवत 1739 में बुधवार बैसाख बदी चतुर्दशी को हुई थी। उस समय आप की आयु 108 वर्ष की थी।

बाबा लालू जशराज

इनका चलाया हुआ कोई पंथ या मत नहीं है पर यह स्मरणीय सिद्ध पुरुष हुए हैं। इनकी कथा स्कंद पुराण, हिंगुलादि खण्ड, पूर्व संहिता में मिलती है। एक समय ऐसा था जब खन्ना अल्ल के खत्रियों का वंश नष्ट प्राय सा हो रहा था और उनकी वंश वृद्धि नहीं हो रही थी। उस समय लालू नाम के एक सारस्वत ब्राह्मण ने पुरश्चरणों की सिद्धि से ज्वाला जी को प्रसन्न किया था तो उन्हों ने वरदान दिया कि तुम श्री हिंगुला जी की आराधना करो, तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होगा। बाबा लालू ने आराधना की, जगदम्बा ने दर्शन दिया और कहा कि यह मेरा दिया पुत्र, मेरा अंग ही है और मेरा मानस पुत्र है। यह लांगूर वीर है। इसका नाम "जशराज" रखना। इसको बड़ी प्रतिष्ठा से रखना और कभी भी दुर्वचन न कहना, अन्यथा दुख पाओगे। फलतः गर्भ रहा और शुक्ल पक्ष रविवार के दशमी के दिन बाबा जशराज का प्रादुर्भाव हुआ। इसी दिन को अग्नि वंशीय खन्ना खत्री उनका महोत्सव (महोच्छा) मनाते हैं।

इन्हीं जशराज जी का उपदेश था कि खत्रिय जाति को श्री दुर्गा, चण्डिका, शिवा, वाराही, विंध्यवासिनी, भुवनेश्वरी, योगिनी आदि नाम भेद से शक्ति की उपासना करनी चाहिये।

एक दिन जशराज जी पांच वर्ष की अवस्था में एक बड़े आले में खेल रहे थे। माता ने इन्हें तीन बार पुकारा पर वह ध्यान लगाये बैठे थे, इससे नहीं बोले। माता ने यही समझा कि यह खेल रहे हैं और उसकी बात जान बूझ कर नहीं सुन रहे। अतः जगदम्बा के विशिष्ट आदेश के बावजूद वह भूल से दुर्वचन कह बैठी–"क्या हुआ, बोलता क्यों नहीं? क्या आले में समा गया?"

इतना कहना था कि आला फटता गया और वह आले में समाते गये। माता बालक को देखने आयी। उन्हें आले में समाते देख कर चिल्लायी और दौड़ कर उनकी चुटिया पकड़ कर उन्हें खीचना चाहा परन्तु वह आले में प्रवेश करते ही गये। माता के हाथ में केवल चुटिया रह गयी। तब कुल पुरोहित बाबा लालू आये, उन्हों ने स्तुति की तो अवतारी पुरुष जशराज जी ने उस स्थान को

सिद्धपीठ के समान चमत्कारी, शीघ्र फल देने वाला बनाया। अपने कुल पुरोहित बाबा लालू के नाम के बाद अपना नाम जोड़ कर बाबा "लालू जशराज" का आले का शिला पुजवाया और कहा कि चोटी लेने के बदले खन्नों की चोटी यहाँ कटायी जाये। इतना कह कर आप ने वंश की रक्षा की।

यह घटना लाहौर से 80 मील दूर की है। लाहौरी खन्ने वहीं जा कर अपने बच्चों की चोटी उतरवाते थे। चूंकि वह मुलतान के निवासी थे अतः मुलतानियों को वहाँ प्राथमिकता मिलती थी और उनकी चोटी वहाँ पहले उतरती थी। देखा देखी कुछ अन्य खत्री भी वहाँ चोटी उतरवाने लगे और बाबा के आलै से छुआ कर जनेऊ भी वहाँ करा लेते थे। वहाँ बाबा को चाँदी और काठ के खिलौने तथा रेशमी गेंद मुख्य रूप से चढ़ाया जाता था। बाबा लालू जशराज जी की अरदास खन्ने खत्रियों तथा अन्य अनुयायियों में अधिक प्रसिद्ध है।

आर्य समाज

सम्वत 1824 में काठियावाड़ मे जन्में स्वामी दयानन्द सरस्वती (मूल नाम मूल शंकर) ने मूर्ति पूजा को शास्त्र विरूद्ध सिद्ध करते हुए अपने मत का प्रचार किया। यह अवतारों तथा श्राद्ध आदि को न मान कर वर्ण व्यवस्था, गुण कर्म से मानते थे और नियोग के पक्षपाती थे। आर्य समाज ने शुद्धि का प्रचार कर अनेको। धर्मपरिवर्तकों को पुनः हिन्दू बना कर धर्म की रक्षा की। इसी मत को मानते हुए लाला मुंशी राम खत्रिय उर्फ स्वामी श्रद्धानन्द ने सन 1914 में जालन्धर में सन्यास ले लिया व गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना की। स्वामी दयानन्द संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इन्हों ने ऋग्वेद का भाष्य भी लिखा पर उसे पूर्ण न कर सके। संवत 1979 में इनका स्वर्गवास हो गया। अनेकों खत्रिय इनके अनुयायी हैं।

राधास्वामी मत

सन 1818 ईसवी में आगरे में जन्मे स्वामी शिवदयाल सिंह सेठ खत्री ने इस मत की स्थापना, विनय, क्षमा, शान्ति का पालन, मांस मदिरा का त्याग आदि का उपदेश कर के की थी। जाति भेद इसमें नहीं है तथा स्वामी दयाल बाग (आगरा) में इस मत का भव्य स्मारक अनेकों वर्षों से बन रहा हैं। कुछ खत्री भी इस मत में है। इनका मुख्य उपदेश यह है कि ईश्वर की सूरत को ध्यान में रखने से मुक्ति मिलती है। स्वामी शिवदयाल की मृत्यु सन 1872 ईसवीं मे हुई थी। कई खत्रिय इनके अनुयायी हैं। इनका मुख्य मंत्र था :

गुरुर्ब्रह्म गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुःसाक्षात्परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः।।
ध्यान मूलं गुरोर्मूर्ति पूजा मूलं गुरोः पदम्।
मंत्रमूलं गुर्रोवाक्यं मोक्षमूलं गुरोः कृपा।।

अन्य भक्त खत्रिय

इन सब के अतिरिक्त पेशावर के ढाई घर खत्रिय दयालदास ने सन 1870 ईसवी में निरंकारी पंथ निकाल कर मूर्ति पूजा, श्राद्ध, अग्निहोत्र को न मानते हुए निराकार ईश्वर की पूजा प्रार्थना का पंथ चलाया। गौरी खत्रिय बाबा शाहाना (मौंटगोमरी जिला) ने वेद को मानते हुए 'सत्य साह' के मंत्र से शिष्य बनाये। बाबा मूल चन्द्र खत्रिय "बाबा मूला" ने 'मरना सत्य जीना झूठ' कहते हुए अपने मठ स्थापित किये जिसे सभी जाति मानते और पूजते हैं। जिला गुरुदासपुर के सुथरा शाह खत्रिय ने सुथरा (पवित्र) पंथ का प्रचार किया। सुथरे शाह का जन्म बहिराम पुर मे एक नन्दे खत्री के यहाँ हुआ था और जन्म के समय इनके मुँह में दाँत थे। इसे अपशकुन समझ कर ज्योतिषियों ने उसे कुलघातक घोषित करते हुए माता पिता को उस शिशु को त्याग देने की सलाह दी अतः माता पिता ने उसे जंगल में फिंकवा दिया। गुरुदासपुर के जंगलों में भ्रमण करते समय उसे जमीन पर पड़ा देख कर गुरू ने शिष्यों को उसे उठा लेने का आदेश दिया। शिष्यों ने कहा कि यह कथुरा (कुरूप) है तो गुरू ने कहा नहीं यह सुथरा (पवित्रात्मा और सुंदर) है। अतः जंगल से उठा कर उस शिष्य का पालन पोषण गरु जी के शिष्यों ने किया और आगे चल कर वही 'सुथरा शाह' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उस समय औरंगजेब का शासन था जो हिन्दू धर्म पर अत्याचार करता था और उसने तिलक तथा जनेऊ पर भी जिहाद बोल दी थी। तब गुरू हर राय की आज्ञा से सुथरे शाह दिल्ली गये। वहाँ वे गोबर का तिलक और सुअर की आंतों का जनेऊ पहन कर काजी के पास पहुँचे और उससे कहा कि मेरा तिलक चाटो और जनेऊ तोड़ो नहीं तो दूसरों के तिलक चाटना, अपने थूक से मिटाना और जनेऊ तोड़ना छोड़ा दो। काजी ने तोबा कहते हुए उसी दिन से तिलक न चाटने और जनेऊ न तोड़ने की मुनादी करा दी।

कुछ दिन बाद सुथरे शाह ने सवा सवा गज वाले दो जूते बनवाये और रात में एक जूता और एक मिट्टी का लोटा जामा मस्जिद में रख दिया। काज़ियों ने इस अद्‌भुत जूते को देखा तो प्रसिद्ध कर दिया कि रात में खुदाबंद करीम नमाज पढ़ने आये थे और एक जूता और लोटा छोड़ गये हैं। बादशाह और सब दरबारी जूता देखने आये तथा उसका सिजदा किया।

दूसरे दिन सुथरे शाह ने एक बांस पर जूता लटका कर शहर मे डुग्गी पिटवा दी कि मेरा एक जूता और शौच का लोटा कोई रात में उठा ले गया है, जिसने देखा हो, बता दे। इस पर सब मुसलमान शरमिन्दा हुए और सुथरे शाह को पकड़ कर बादशाह के पास ले गये। दरबार में सुथरे शाह ने अपने पांव इतने बढ़ाये कि जूता बड़ी मुश्किल से ही उनके पैर मे आ पाया। हैरान हो कर

बादशाह ने दिल्ली के सभी हिन्दू मुसलमानों को सुथरा शाह को आठ आना भीख देने का फरमान जारी किया। सुथरे फकीर तब से सभी से वह भीख लेने लगे। इसमें सब जातियों के लोग हैं। चोटी रखना, तिलक लगाना और जनेऊ पहनना इनका धर्म है और वे अंतिम संस्कार भी हिन्दुओं की भांति करते हैं पर खान पान में छुआ छूत का विचार नहीं करते। इनके शिष्य गुरू नानक और देवी को मानते हैं तथा उस समय डंडे बजा कर भीख मांगा करते थे। ये लोग यज्ञोपवीत नहीं करते, मुर्दा जलाते और फूल गंगा में डालते हैं। ये गुरू अर्जुन के शिष्य थे।

सामान्यतः सभी खत्री पूर्णतः धार्मिक एवं उच्च नैतिक स्तर के होने के साथ ही धर्म निरपेक्ष भी हैं। वे प्रायः सभी धर्मों को मानते हैं। उपरोक्त मतों को मानने के अलावा उनमे नाग तथा वृक्ष जैसे प्रतीकों को पूजने का भी रिवाज है। किसी किसी के घर में सैयद साहब का आला भी होता है जो उनके ही नाम पर रखा गया है। वहाँ मोमबत्ती, धूप एवं फूल का सेहरा चढ़ा कर तथा खिलौने, खुटियाँ या मीठे आदि से उनकी पूजा की जाती है। ऐसे घरों मे एक ही घर में देवी देवताओं का मन्दिर और सैयद साहब की कोठरी या आला होना तथा भगवत कीर्तन के साथ ही कव्वाली का भी होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लखनऊ में यह प्रथा अधिक है। इसके अतिरिक्त मुसलमान सूफी संतों की दरगाह, पीरों की मजार में पूजा करना भी इसी में शामिल है।

खत्रियों के मान्य तीर्थ स्थान

इसके अतिरिक्त खत्रियों में संस्कारों के लिये भी कुछ स्थान हैं जैसे कपूर, विशेषतया आगरे के, देवता बाग आगरा में बच्चों के शुभ संस्कारों के लिये जाते हैं। सन 1890 के आस पास तत्कालीन खत्री मासिक 'खत्री हितकारी' आगरा के संचालको ने ही विशेष प्रयास कर के खत्री समाज द्वारा इस स्थान को वापस ले कर इसका पुनरुद्धार कराया था। इटावा के खन्ना कानपुर जिले के शिवराजपुर को, बिसवां के सेठ कन्नौज को, दिल्ली के कुछ लाहौरिये खन्ना मुलतान के निकट दीपालपुर को, फरीदाबाद के कुछ कक्कड़ जिला मेरठ के गढ़मुक्तेश्वर को और पुरानी दिल्ली के लाल किले को तथा लखनऊ के कुछ खत्री कानपुर के बिठूर एवं उन्नाव के नवाबगंज को जाते रहे हैं। इसका कारण यह है कि जिन वंशों के पूर्वज पहले जिन स्थानों में रहते थे या किसी अन्य कारण से (निकटवर्ती गंगा तट अथवा अन्य मान्य स्थान होने से) उनकी उन स्थानों के प्रति मान्यता थी, उन स्थानों के प्रति ममत्व तथा श्रद्धा का भाव आज भी उनके वंशजों के ह्रदय में है और जिस देवी देवता को उनके पूर्वज मानते थे, उनके वंशज आज भी उन्हें मानते चले आते हैं।

इसी प्रकार भारत के चारों धाम–बद्रीनाथ, रामेश्वरम, जगन्नाथ पुरी तथा द्वारका धाम, सप्त पुरियाँ–अयोध्या, मथुरा, हरिद्वार, काशी, कांजीवरम, उज्जैन,

द्वारिकापुरी, द्वादश जयोर्तिलिंग–सोमनाथ (गुजरात), त्रयम्बकेश्वर (नासिक), ओंकारेश्वर (नर्मदा तट), महाकालेश्वर (खत्री सम्राट विक्रमादित्य की राजधानी उज्जैन), केदारनाथ (हिमालय), विश्वनाथ महादेव (काशी), बैजनाथ धाम (बिहार), रामेश्वर (दक्षिण), मल्लिकार्जुन, नागनाथ, घृष्णेश्वर (दक्षिण हैदराबाद), मीना शंकर (पूना), तथा अन्य मान्य स्थान, काश्मीर के अमरनाथ की गुफा, जम्मू में वैष्णों देवी, नागरकोट का दुर्गा मन्दिर, मिर्जापुर में विंध्यवासिनी, कलकत्ते की काली बाड़ी में काली माई का मन्दिर, गुडगांव की शीतला देवी, कांगड़ा का जवालामुखी मन्दिर, जिला एटा में कासगंज के निकट सोरों, कानपुर मे ब्रह्मावर्त (बिठूर), प्रयाग (इलाहाबाद), श्री नाथ द्वारा (उदयपुर), गया (बिहार), गंगा सागर (कलकत्ता), नैमिषारण्य (नीमसार–जिला सीतापुर), मिसरिख (सीतापुर), हत्याहरण, चित्रकूट (बांदा), गोला गोकर्णनाथ (खीरी), जनकपुर, सीतामढ़ी, राजगृह, नालन्दा (बिहार), तारकेश्वर , नवद्वीप (बंगाल), कामाख्या, परशुराम कुंड, ब्रह्मतीर्थ पुर (आसाम), पशुपति नाथ (नेपाल), भेड़ाघाट (जबलपुर), रामटेक (नागपुर, मध्य प्रदेश), श्री रंगम, मदुरा, देवी पत्तन, ताताद्रि, बाला जी , तिरूपति, चिंदवरम, पक्षी तीर्थ, लक्ष्मण बाला (तामिलनाडु) आदि प्रसिद्ध तीर्थ हैं जो समस्त खत्रियों में मान्य हैं और वे वहाँ तीर्थ यात्रा के लिये जाया करते है।

आपद्धर्म

क्षात्र कर्म द्विज स्योक्तं वैश्य कर्म तथाऽपदि।
राजन्यस्य च वैश्योक्तं शूद्रकर्म न चैतयो।।
–श्री विष्णु पुराण 3/9/39

आपत्ति के समय ब्राह्मण को क्षत्रिय और वैश्य वर्णों की वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये तथा क्षत्रिय को केवल वैश्यवृत्ति का ही आश्रय लेना चाहिये। ये दोनो शूद्र का कर्म (सेवा आदि) कभी न करें।

सामर्थ्ये सति तत्याज्य नुभाभ्यापति पार्थिव।
तदेवापदि कर्त्तव्यं न कुर्मात्कर्म संकरम।।

इन उपरोक्त वृत्तियों को भी सामर्थ्य होने पर त्याग दे, केवल आपत्काल में ही इनका आश्रय ले। कर्म संकरता (कर्मों का मेल) न करे।
–विष्णु पुराण–तृतीय अंश–अध्याय–9–श्लोक 40

यदि ब्राह्मण अध्यापन अथवा यज्ञ–यागादि से अपनी जीविका न चला सके, तो वैश्य वृत्ति का आश्रय ले ले और जब तक विपत्ति दूर न हो जाय तब

तक करे। यदि बहुत बड़ी आपत्ति का सामना करना हो तो तलवार उठा कर क्षत्रियों की वृत्ति से भी अपना कार्य चला ले, परन्तु किसी भी अवस्था में नीचों की सेवा–जिसे 'श्वान वृत्ति' कहते हैं न करे।।47।। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय भी प्रजापालन आदि के द्वारा अपने जीवन का निर्वाह न कर सके तो वैश्य वृत्ति–व्यापार आदि कर ले। बहुत बड़ी आपत्ति हो तो शिकार के द्वारा अथवा विद्यार्थियों को पढ़ा कर अपनी आपत्ति के दिन काट ले, परन्तु नीचों की सेवा, 'श्वान वृत्ति' का आश्रय कभी न ले।।48।। वैश्य भी आपत्ति के समय शूद्रों की वृत्ति–सेवा से अपना निर्वाह कर ले और शूद्र चटाई बुनने आदि कारुवृत्ति का आश्रय ले ले, परन्तु ये सभी बातें आपत्तिकाल के लिये ही हैं। आपत्ति समय बीत जाने पर निम्न वर्णों की वृत्ति से जीविकोपार्जन करने का लोभ न करे।।49।।

– श्रीमद्भागवत–11/17/47–49

इसी निर्देश के अनुसार खत्रियों ने आपत्काल में व्यापार की वैश्य वृत्ति अपनायी थी।

*****

अध्याय–12 खत्रियों की वर्तमान वृत्ति

भारत के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात पूर्व के कोई प्रतिबंध न रह जाने से खत्री अब सेना, शासन तंत्र प्रबंध, व्यापार, नौकरी आदि सभी पेशों मे लगे हैं और प्रमुखतः व्यापार में हैं किन्तु अब भी समाज मे छोटे समझे जाने वाले कार्य, खेती या अन्य छोटे मोटे व्यवसाय प्रायः अधिकांशतः नहीं करते।

शास्त्रों में कहा गया है कि धन की वृद्धि, और सब ओर से उनके संचित होने पर क्रियाओं की प्रवृत्ति, पर्वतों से निकल कर सब कार्य पूर्ण करने वाली नदियों के समान होती है। भोजन करने से इन्द्रियों के समर्थ होने के समान ही सब कार्य धन से ही सम्पन्न होते हैं। इस लिये धन ही सिद्धियों का सर्व साध्य कहा गया है।[1]

उस धन की प्राप्ति छः उपायों से होती है जैसे भिक्षा, राजा की सेवा, कृषि कर्म, विद्योपार्जन, लेन देन के व्यवहार और वाणिज्य। इनमें वाणिज्य (व्यापार) से ही धन का लाभ सबसे अधिक आदरयुक्त होता है। व्यापार में ही लक्ष्मी का वास होता है। लोक मे ऐसी कोई वस्तु नहीं जो धन से प्राप्त न हो सके, इस लिये बुद्धिमान पुरुष को यत्नपूर्वक धनोपार्जन करना चाहिये।[2] "जो जाति ऐसा नहीं करती वह हार कर राज्य खो बैठने से अथवा बंधुआ हो कर (क) ईजिप्शियन, कार्थेजियन, बैबीलोनियन और असीरियनों की भांति नाश को प्राप्त हो जाती है अथवा (ख) विजेता के साथ मिल कर अपनी पहचान (आई–डेन–टि–टी) को भूल जाती है जैसे रोमन, डेन, एन्जिल, सैक्सन और नौर्मन सभी मिल जुल कर अंग्रेज जाति (इंगलिश नेशन) बन गयी है अथवा (ग) यदि विजेता से भिन्न रह कर जिसने अपनी जाति को बचाया, वे वणिक, दुकानदार और महाजन बन कर रह जायेगी। जिसके पास धन रहा वे तिजारत की ओर गये और जिन के पास नहीं रहा, वे मूर्ख बन कर गृहस्थी करते हैं। संसार की यही चाल है। इसी लिये जिस जाति के राज्य का अपहरण हुआ, जिसकी जमीनें दूसरों ने हस्तगत कर ली, जिसे सेना में सिपाही बना कर भी न रखा गया, उसने एक पग नीचे आ कर व्यापार करना ही उचित समझा, क्योंकि राज्य खोने के पश्चात भी उसके पास धन की कमी न थी और व्यापार से ही अधिक धन एकत्र कर पुनः एक सीढ़ी ऊँचे चढ़ कर उसका राजा बनना संभव हो सकता था।

---

1. पंच तंत्र–विष्णु शर्मा, मित्र भेद 6/8
2. न हि तद्विद्यते किंचिद्यर्थेन न सिद्धयति।
   यत्नेन मतियास्यसदर्थमेक प्रसाधयेत।।
3. खत्रिय इतिहास–बाल कृष्ण प्रसाद–पृष्ठ–289–290

सम्पूर्ण विश्व का इतिहास यही है।"[3] खत्रिय इतिहास के लेखक बाल कृष्ण प्रसाद कहते हैं : "उदाहरण अंग्रेज जाति है। नयी दुनियाँ में जा कर लोगों ने इसी तरह राज्य स्थापित किया है। आज इतनी फौज, इतने जहाज किस लिये बढ़ाये जाते हैं? केवल कर वसूलने के लिये वा राज्य बढ़ाने के लिये झगड़ा होता है? नहीं, नहीं तिजारत के लिये, व्यापार के लिये अफगान, चीन, जापान, पुर्तगीज, जर्मन सभी राजे तिजारती ही हैं। अमेरिका भी व्यापार से सेठ बना है। खत्रियों ने राज्य खोने पर व्यापार करना प्रारम्भ किया, यह कोई नयी बात नहीं की और न इससे उनके वर्ण में कोई अन्तर हो सकता है। यही शास्त्र की आज्ञा भी है। व्यापार करने से किसी की जाति बदल नहीं जाती। खत्रिय जानते थे कि 'व्यापारे वसति लक्ष्मी', इस लिये व्यापार करना आरम्भ किया।"[1]

चाणक्य नीति एवं पंचतंत्र भी यही कहता है:

"कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविज्ञानां कः परः प्रियवादिनाम्।। [2]
—चाणक्य नीति 3/13
—पंच तंत्र—मित्रसम्प्राप्ति—58 एवं 130

समर्थ पुरुषों के लिये भार क्या? व्यवसायियों के लिये दूर क्या? विद्वानों के लिये परदेश क्या? और प्रियवादियों के लिये पराया क्या? इस मन्त्रार्थ को अच्छी तरह समझने वाली खत्रिय जाति यह भी जानती है:

औषधार्थ सुमन्त्रोणां बुद्धेश्चैव महात्मनाम्।
असाध्यं नास्ति लोकेऽत्र तद्ब्रहाण्डस्य मध्यगम।।[3]

इस लोक में क्या सम्पूर्ण ब्राह्मांण में ही जो कुछ है उसमे औषधि, अर्थ श्रेष्ठ मंत्र और विद्वानों की बुद्धि के समक्ष असाध्य कुछ भी नहीं है। यहाँ औषधि से तात्पर्य सामग्री, अर्थ से तात्पर्य धन और श्रेष्ठ मंत्र से तात्पर्य उपायों के ज्ञान से है। इस मन्त्र के पाँच प्रकार हैं "कर्म के आरम्भ का उपाय, कार्यकर्ताओं के लिये द्रव्य सम्पत्ति, देश काल का विभाग, विनिपात (पराभव मृत्यु) का प्रतीकार और कार्य की सिद्धि और इन सब का विनियोग, विद्वान की बुद्धि करती है [23] तो असम्भव नाम की कोई भी वस्तु असाध्य नहीं रह जाती, और यह तथ्य क्षत्रिय (खत्रिय) जाति के रक्त में सदा से बसा है अतः वह आज तक कभी पराभव को प्राप्त नहीं हुई।

1. खत्रिय इतिहास—बाल कृष्ण प्रसाद—पृष्ठ 290
2. पंचतंत्र—मित्र सम्प्राप्ति—58
3. यत्रः पंचविद्यो मन्त्रः स च कर्मणामारभ्योपायः पुरुष द्रव्य सम्पत्।
   देशकाल विभागो, विनिपात प्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चयेति।
   —पंचतंत्र मित्र भेद—219
   — कौटिलीय अर्थशास्त्र—1/15

अध्याय—13 खत्रिय विशेष त्यौहार, आचार विचार एवं स्त्रियों की दशा

वैसे तो चार वर्णों के चार उत्सव विशेष हैं। ब्राह्मण का रक्षाबन्धन, क्षत्रियों का विजयादशमी, वैश्यों का दीपावली और शूद्रों की होली प्रसिद्ध है पर चारों उत्सव चारों वर्ण आनन्द से मनाते हैं। रक्षा बांध कर भू देव सभी वर्गों का कुशल पूर्वक रहना मनाते हैं। विजयादशमी में दुर्गा पूजा, कलश स्थापन और जहाँ यह नहीं होता वहाँ भी विशेष खाने पीने की तैयारी होती है और लोग आनन्द मनाते हैं। विजयादशमी पर खत्रियों में शस्त्र पूजा के साथ बही खाते के पूजन तथा साथ ही लक्ष्मी पूजन का भी विधान है और तलवार या किसी शस्त्र का पूजन तो पूर्व परम्परा से ही अनिवार्य रूप से चला आ रहा है।

खत्रियों के त्यौहारों की परम्परा में अहोई अष्टमी का त्यौहार किसी समय एक विशेष त्यौहार था। इसका प्राचीन नाम "कर अष्टमी" है। जिस समय खत्री जाति का वैभव, शासन और प्रभुत्व था उस समय खत्रिय कुमार उसी नगर या ग्राम की प्रजाओं से कुछ कर वसूल करते थे। कर देने वालों को पूजा के बाद कुछ मिठाई भेज दी जाती थी। इस प्रकार बालकों को कर लेने और बदले में असामियों को कुछ देने की शिक्षा दी जाती थी। उसी वसूल हुए रुपये से पूजन का सारा सामान आता था। बाद में खत्रियों का राज नहीं रहा और प्रजा भी नहीं रही, तब भी अपने जान पहचान वालों के यहाँ से कुछ ले आते हैं और जो जानते हैं वे देते भी हैं। इस प्रकार पुरानी चाल निभायी जा रही है किंतु अब तो कुछ लोग यह समझते हैं कि यह भिक्षा मांगने की चाल है, इसे छोड़ना चाहिये, पर ये यथार्थ में यह बात नहीं है। लोग वास्तविकता को भूल गये हैं।[1]

अन्य त्यौहारों में शीतला अष्टमी, कजली तीज, करवा चौथ, जन्माष्टमी आदि विशेष महत्व के साथ मनाये जाते हैं पर भादों मास में भाई भिन्ना (बहना) (भाई को टीका लगाना) खत्रिय जाति में ही प्रचलित है। नवरात्रि के त्यौहार का खत्रियों के धर्म में विशेष महत्व है। इसके लिये प्रायः प्रत्येक घर में देवी जी की कोठरी के नाम से एक कोठरी या कमरा ही अलग रखा जाता है। नवरात्रि पूजा एवं ज्योति जलाना आदि कार्य खत्रिय स्त्रियों का ही एकाधिकार है। उस समय पुरुषों का देवी जी की कोठरी में प्रवेश नहीं होता। वे बाहर रह कर ही पूजा करते हैं। इसी प्रकार दशहरे के त्यौहार पर शस्त्र, लक्ष्मी एवं बही खाता पूजन पुरुष ही करते हैं। स्त्रियाँ पुरुषों के बाद अलग से पूजन करती हैं। इसके अतिरिक्त समय मिलते ही तीर्थों की यात्रा का रिवाज भी खत्रियों में बहुत प्रचलित है।

1. खत्रिय इतिहास—बाल कृष्ण प्रसाद—पृष्ठ 375

खत्रिय त्यौहार

कुछ समय पहले तक रसोई, खान, पान शाकाहार आदि की प्रथा का खत्रियों में पालन बहुत कट्टरता से होता था पर पंजाब में कट्टरता बहुत कम थी। सामान्यतया कच्ची रसोई को सभी खत्रियों में बड़ी पवित्रता से बनाया जाता था परन्तु आधुनिक काल में सब कुछ पलट गया है। इनके पालन करने वाले पुराने जमाने के लोग आज नहीं रहे पर पुरुषों के बाद ही स्त्रियों के खाने की प्रथा, चिकनी चुपड़ी और तली चीजें, अचार मुरब्बा, चटनी, पकवान, मिठाई तथा बाजार में खाने का शौक अब भी विद्यमान है। एक चीज और भी अभी तक नहीं बदली है और वह है मेहमान को खिलाने पिलाने में पूरी उदारता। एक समय कच्ची रसोई, रोटी, तथा दूसरे समय पक्की रसोई, पूड़ी, खाये बिना किसी खत्री का पेट आज भी नहीं भरता। देश काल परिस्थिति से आज इनमें परिवर्तन अवश्य आया है पर पूड़ी कचौड़ी, लड्डू, मिठाई, चार तरकारी की चाल अभी तक बनी है। खत्री स्त्रियाँ सभी प्रकार के अचार, पकवान, मिठाई, खाने पीने की चीजें बनाने में प्रायः विशेषज्ञ ही होती हैं।

खत्री समाज में स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों की स्थिति अन्य समाजों से बेहतर है। दहेज व विवाह में माँग जाँच की प्रथा अब भी नहीं है। पसंद आने पर गरीब घर की लड़की, बहू बन कर समृद्ध घराने में जाती है। विधवा विवाह पहले नहीं था पर अब होते हैं। तलाक भी होते हैं पर सामान्यतया उनका कारण दहेज नहीं होता। स्त्रियाँ ही प्रत्येक घर में आदर की पात्र व गृहस्थी संचालन की जिम्मेदार तथा शिक्षा दीक्षा में भाइयों के समान बराबर का अवसर पाती हैं। प्रायः सभी स्त्रियाँ आज भी अपने पति का नाम नहीं लेतीं और न पति ही स्त्रियों को उनके नाम से पुकारते हैं। अभिनन्दन के समस्त प्रकार भी वृद्ध, बालक, स्त्री पुरुष सभी के लिये शास्त्र सम्मत हैं। विजयादशमी आज भी खत्रियों का सबसे बड़ा त्योहार है जिसमें पूर्व काल की ही भांति शस्त्र की पूजा प्राचीन काल से आज तक होती चली आती है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उ0प्र0 शासन की आज्ञा संख्या 3344–2 /आठ/21051–17 दिनांक 13 मई, 1948 (गृह विभाग) के अनुसार खत्री वर विवाह में अपने पास तलवार रख सकते हैं। यह उत्तर अखिल भारतीय खत्री महासभा, लखनऊ को उनके पत्र संख्या 335 दिनांक 19 अप्रैल, 1948 के उत्तर में प्राप्त हुआ था। अतः इस प्रयोजन के लिये कई घरों में तलवार भी रखी जाती है जो दशहरे के दिन शस्त्र पूजन में काम आती है।

स्त्री जाति का सम्मान

सामान्यतः खत्री जाति में घर के अन्दर स्त्रियों का दर्जा रानी की ही भांति होता है और घर के अन्दर उनकी आज्ञाओं का पालन घर के सभी छोटे व्यक्ति

करते हैं। घर में उनका पूरा स्वत्व होता है। घर में यदि कोई विधवा स्त्री भी हो और उसका बेटा सुपुत्र हो तो बिना उस विधवा की आज्ञा के घर के स्त्री पुरुष कोई काम नहीं करते। प्राचीन काल में तो उनका इतना मान था कि विवाह के पश्चात वधू के ससुराल जाते समय राजा तक अपने मार्ग से हट कर नव वधू की सवारी को मार्ग में प्राथमिकता दे देते थे। भारतीय संस्कृति में प्रकृति देवी अर्थात मातृसत्ता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गयी है अतः देवताओं तक के नाम में भी स्त्रियों को ही प्राथमिकता प्राप्त है और उनका ही नाम पहले आता है जैसे राधाकृष्ण, सीताराम, गौरीशंकर आदि। इसी प्रकार सभी शुभ कार्यो के निमंत्रण में पहले श्रीमती अथवा परिवार की सबसे बड़ी महिला (यदि विधवा हो तब भी) के नाम से ही निमंत्रण दिया जाता है और कोई भी कार्य चाहे वह यज्ञ का हो या दान का हो अथवा गया श्राद्ध का हो, बिना पत्नी को साथ लिये नहीं होता। यदि पति अथवा पत्नी उस समय न भी उपलब्ध हो तब भी उसका प्रतीक चिन्ह रख कर ही ऐसे कार्यों का सम्पादन किया जाता है। इसी कारण से राजा रामचन्द्र ने अपने सिंहासनारोहण के पश्चात यज्ञ करने के लिये, सीता को त्याग देने पर भी उनकी मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी। स्त्रियों द्वारा ऐसा कोई कर्म करने के समय पति के विदेश में होने पर स्त्रियाँ पति की चादर ले कर ही कोई बड़ा कर्म करती थीं। स्त्री मात्र को सम्मान देने की इस भारतीय प्रथा का रूप मनु स्मृति में देखा जा सकता है यथा–

पितृभिभ्रातमिश्चैताः पतिभिदैवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्त्रफलाः क्रियाः।।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति नु यत्रैता वर्धते तद्धि सर्वदा।।
जामयो यानि गेहानि शपन्त्थ प्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीन विनश्यन्ति समन्ततः।।

–मनुस्मृति–अध्याय 3 श्लोक 55–58

अधिक कल्याण की कामना वाले पिता, भ्राता, पति, देवर आदि को कन्या पूजित और विभूषित करनी चाहिये। जिस कुल में स्त्रियाँ पूजित होती हैं, वहाँ देव गण वास करते हैं और जहाँ स्त्रियाँ अपमानित होती हैं वहाँ सब पुण्य कार्य फलहीन हो जाते हैं। जहाँ कुलवधुयें क्लेश पाती हैं, वहाँ सब कुछ शीघ्र विनष्ट होता है और जहाँ क्लेश नहीं होता, वहाँ सदैव समृद्धि रहती है। असम्मानित बहू आदि जिन गृहों को कोसती हैं वे गृह विनाश को प्राप्त होते हैं।

तद्नुसार ही खत्रियों में रजस्वला होने के पूर्व तक की कन्याओं की पूजा नवरात्र आदि में तथा अन्य अवसरों पर होती है जिसे कन्या जिमाना भी कहते हैं। इसमें उन्हें पूजा एवं भोजन के अतिरिक्त दक्षिणा भी दी जाती है। विवाह के समय भी इसी प्रकार सौभाग्यवती स्त्रियों को गौरी भोजन कराने की प्रथा रही है।

स्त्री शिक्षा

भारतीय संस्कृति में द्रौपदी, दमयन्ती, सीता, गार्गी, विद्याधरी, विद्योतमा और लीलावती आदि विदुषी स्त्रियों का नाम ही यह बताने को पर्याप्त है कि उच्च शिक्षा के मामले में स्त्रियों के प्रति कोई भेदभाव नहीं बरता जाता था। वर्तमान काल में भी शिवाजी को वीर बनाने मे उनकी माता का हाथ होने की बात किसी भी इतिहास प्रेमी से छिपी नहीं है। खत्री जाति में भी स्त्रियों को शिक्षा के अवसर अब समान रूप से प्राप्त हैं यद्यपि पूर्वकाल में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों के चलते इसमें कुछ व्यवधान अवश्य आया था।

बाल एवं वृद्ध विवाह प्रथा

एक समय खत्री समाज में भी बाल–विवाह की प्रथा चल निकली थी जिसका प्रचलन महाभारत काल के बहुत समय बाद मुस्लिम आक्रान्ताओं के लगातार आक्रमण एवं हिन्दू महिलाओं के बलात अपहरण के कारण हुआ था। कानूनों द्वारा किये गये सामाजिक सुधारों के अन्तर्गत तथा खत्री समाज द्वारा किये गये प्रयासों के कारण वर्तमान खत्रिय समाज मे अब इस प्रथा का प्रचलन नहीं पाया जाता। इस बाल विवाह प्रथा के साथ ही वृद्ध विवाह की चल निकली प्रथा भी इस समाज से उठ गयी है।

पुनर्विवाह

भारतीय समाज में आर्यों के काल से ही पुनर्विवाह की प्रथा न थी और विधवा होने पर अनेक स्त्रियाँ सती भी हो जाती थीं। मनु स्मृति (अध्याय 9 मंत्र 65–66) कहती है कि वैवाहिक वेद मन्त्रों में नियोग का वर्णन कहीं नहीं है और न विवाह विधान वाले शास्त्रों में ही विधवा विवाह का कोई उल्लेख है। विज्ञ विप्रों द्वारा इस पशु धर्म की निन्दा की गयी है । यह पशु धर्म राजा वेन के शासन काल से चला है। आज भी सनातन धर्मावलम्बी द्विजाति मात्र में पुनर्विवाह की प्रथा सामान्य रूप से नहीं है किन्तु आधुनिक काल की विचारधारा के प्रभाव से सती प्रथा तो कानूनी रूप से बन्द हो चुकी है तथा विषम सामाजिक अथवा पारिवारिक परिस्थितियों के चलते तलाक, पुनर्विवाह अथवा विधवा विवाह की प्रथायें भी खत्री समाज में प्रश्रय पा गयी हैं किंतु आज भी अनिवार्य परिस्थितियों के अतिरिक्त इन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता। इसी प्रकार प्राचीन काल की नियोग प्रथा आज भारत में नहीं पायी जाती किंतु वर्तमान में वैज्ञानिक विधि से

दूसरे का शुक्राणु ले कर अन्य स्त्री में बीज वपण द्वारा गर्भाधान को आधुनिक ठहरा कर उसी नियोग प्रथा को आधुनिक रूप दिया जा रहा है।

पर्दा प्रथा तथा सामाजिक व्यवहार

यह प्रथा प्राचीन काल में महाभारत के समय में विद्यमान थी इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं और उसके भी पूर्व समय में इस प्रकार के साहित्यिक कथनों से कि 'जिन ललनाओं को कभी सूर्य तक ने न देखा, वे संकट के समय महलों से बाहर निकल कर भागने लगीं' यह प्रमाणित होता है कि उच्च वर्ग की स्त्रियों के सामान्य स्त्रियों की ही भांति सार्वजनिक रूप से बाहर निकलने की प्रथा न थी जब कि आर्यो के समय में इस प्रकार की पर्दा प्रथा का भी कोई संकेत नहीं मिलता और पंजाब में तो सदैव से ही पर्दा प्रथा का पालन नहीं किया गया। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक वर्ण व्यवस्था स्थापित होने के उपरान्त उच्च वर्ण की स्त्रियाँ अपनी सामाजिक मार्यादा का ध्यान रखते हुए सामान्य स्तर की स्त्रियों से कुछ भिन्न स्तर की सामाजिक मर्यादा का पालन करती थीं जैसा कि आज भी देखा जाता है कि वर्णानुसार सामाजिक मर्यादा का पालन प्रायः होता है और उच्च वर्ण की स्त्रियां अपने रहन सहन, पहनावा ओढ़ावा तथा सामान्य स्त्रियों की भांति व्यवहार से कुछ अलग व्यवहार रखती है जिसे प्रायः स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इसी प्रकार सामाजिक प्रथाओं के चलते खत्री समाज में सौभाग्यवती स्त्रियाँ रंगीन तथा विधवायें श्वेत अथवा तड़क भड़क रहित वस्त्र पहनती हैं यद्यपि प्रान्त–प्रान्त की प्रथा के अनुसार इनके रूप रंग एवं आकार आदि में परिवर्तन होता रहता है।

स्यापा प्रथा

परिवार में किसी व्यक्ति के मर जाने पर उसका शोक मनाने की प्रथा वैसे तो संसार के सभी समाजों में प्रचलित है, पर खत्री समाज में स्त्रियों द्वारा मरने वाले के मरने का गम मनाने की प्रथा, जिसे 'स्यापा' कहते हैं, कोई बहुत पुरानी प्रथा नहीं थी। इसका उल्लेख भी मुसलमानों के काल के पहले कहीं नहीं मिलता। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमानों के काल के समय होने वाले युद्धों में और उनके अत्याचारों के कारण होने वाले खत्री जाति के पुरुषों के विनाश के कारण मुसलमानों की देखा देखी स्यापे की यह प्रथा किसी समय प्रारम्भ हुई जिसका कारण खत्री समाज में जवान पुरुषों की मौत के अत्यंत शोकावेग के ही किसी समय हुआ होगा। कालान्तर में इस प्रथा में कट्टरता तथा संकीर्णता बढ़ती चली गयी जिसने एक समय बहुत बड़ी सामाजिक बुराई का रूप ले लिया।

एक समय यह स्यापा तीन चार वर्ष तक रहता था और उसी समय इस अवधि के बीच परिवार में विवाह का अवसर आने पर बारातियों द्वारा वर के

परिवार में शोक मनाने वाली स्त्रियों के लिये बेटी वाले से "बुस्से की रस्म" अर्थात कुछ धन, वस्त्र एवं मिठाई आदि का नेग ले कर शोक छोड़ने की बुरी प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी। इस नेग को मिलने के बाद ही वर के परिवार की स्त्रियाँ शोक अथवा गम मनाना छोड़ती थीं।

इस स्यापे की प्रथा के अन्तर्गत स्यापे में खास नातेदार बैठने वाली स्त्रियाँ एक ही शाम/रात को भोजन करती थीं जिसे लंघन करना कहते थे। इस शोक प्रथा का संचालन करने के लिये याचक (जाजक) की स्त्री जो खास खत्रियों की हुआ करती थी और जिसे "रानी जी" कहा जाता था, आया करती थी। स्यापे के दौरान वही "रानी जी" मृत जवान पुरुष के गुणों का वर्णन अत्यन्त भावपूर्ण एवं लच्छेदार शब्दों में करती थी जिसे विशिष्ट शब्दों में "बैन" कहते थे। उसके वर्णन समाप्त करने पर बीच बीच में रुँआसे स्वरों में 'हय हय सेहरा', 'हय हय 'राजा', 'हय हय बेगम' आदि कहा जाता था तथा अन्य स्त्रियाँ समवेत स्वरों में रोती, अपनी छाती और सिर पीटती थीं। यह स्त्रियाँ अपने मुख पर चादर डाल कर रोती थीं और उसी को "पल्ला लेना" कहते थे। इस स्यापे के दौरान जो दूसरी स्त्रियाँ मुकाम (पोरशिश) देने आती थीं उन्हें जाने के समय जब घर वाली कोई स्त्री "हाथ देती हूँ" कहती थी तभी दूसरी स्त्री अपने अपने घर जाती थीं। मरने वाला पुरुष यदि पुत्रवान होता था तो वह पिता के घुटने पर सिर रख रोता था जिसे 'घुटने देना' कहते थे। स्यापे में बैठने वाली स्त्रियों के वस्त्र धोबी के यहाँ धुलने के लिये नहीं भेजे जाते थे और यदि इस बीच परिवार में कहीं विवाह में जाना पड़ गया तो बारात में जा कर बेटी वाले से 'बुस्से' की रस्म की अदायगी करवाई जाती थी। वृद्धों के मरने पर 'धुस्सी'' या 'अलहनी' होती थी और समधिन के मरने पर बेटे वाला समधी मज़ाक के लिये गुड्डा ले जाता था।

हो सकता है प्रारम्भ में यह प्रथा किसी अत्यंत शोक के आवेग में जन्मी हो किन्तु कालान्तर में इसका रूप विकृत ही होता चला गया जिसका संभवतः सबसे विकृत रूप "लाहौरी स्यापा" था। स्यापे की इस प्रथा में याचक (जाजक) की पत्नी को भी 'रानी जी' के रूप में सम्बद्ध किये जाने से इस पुस्तक के अन्त में 'खत्रियों के सगात' के रूप में परिशिष्ट में दिये गये विवरण से भी यह संकेत मिलता है कि इन जाजकों को शुभ कार्यों के अवसर पर कुछ सहायता करने के अतिरिक्त अशुभ कार्यों के अवसर पर कुछ न कुछ और सहायता करने के लिये जाजक की पत्नी को भी 'रानी जी' के रूप में सम्बद्ध किया गया था जिसे अवश्य ही कुछ न कुछ वस्त्र धन इत्यादि दिया जाता रहा होगा और इसका प्रचार अवश्य ही समाज के तत्कालीन कर्णधारों द्वारा किया गया होगा। समय बीतने के साथ इसका सदउद्देश्य तो खत्म हो गया और बुराइयाँ बढ़ गयीं।

राजा टोडरमल टण्डन ने इस प्रथा की बढ़ती बुराइयाँ देख कर अपने समय में इस स्यापे की अवधि 3–4 वर्ष से घटा कर एक वर्ष करवा दी थी और बीसवीं सदी तक आते आते यह स्यापा घट कर 17 दिन का रह गया। अंततः सामाजिक सुधारों के दबाव के चलते भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात यह प्रथा

प्रायः पूरी तरह समाप्त हो गयी और वर्तमान में इस प्रथा का पालन करना कहीं नहीं पाया जाता। लोग सम्भवतः इस प्रथा को भूल भी चुके हैं।

इसी प्रकार बड़े बूढ़े के मरने पर स्यापे के बजाय स्त्रियाँ इस सत्रह दिन के स्यापे के बजाय 'स्वांग' का कार्यक्रम करती थीं जिन्हें 'पिटने' कहा जाता था। यह पूर्णतया स्त्रियों के आपसी मनोरंजन का अत्यंत हास्यपूर्ण स्वांग भरा कार्यक्रम था जिसमें स्त्रियों को अपने सीमित संसार में खुल कर मनोरंजन करने का अवसर मिलता था पर आधुनिक मनोरंजन के साधनों के चलते इसकी उपयोगिता शनैः शनैः पूरी तरह समाप्त हो गयी।

धार्मिकता एवं सौभाग्यवती स्त्रियाँ

धार्मिकता की दृष्टि से खत्री स्त्रियाँ, चाहे वहे सौभाग्यवती हों अथवा विधवा, पुरुषों से कहीं आगे हैं। नियम धर्म, आचार–विचार, व्रत स्नान, गंगा स्नान, तीर्थ यात्रा, गुप्त दान, अतिथि, गुरु एवं पुरोहित के हर्ष पूर्वक सम्मान आदि में जितनी दृढ़ता स्त्रियों में दिखायी देती है उतनी पुरुषों में नहीं। व्रतों में कभी कभी 24 घंटे या उससे अधिक समय तक भूखे प्यासे रह जाना उन्हीं के सामर्थ्य में है। इसके साथ ही सास ससुर, जेठ जिठानी, पति का सम्मान, सेवा–सुश्रूषा, सौजन्यता उनके विशेष गुण हैं जिन्हें प्रत्येक खत्री परिवार में सामान्य रूप से देखा जा सकता है यद्यपि कहीं–कहीं इसके अपवाद भी दिख जाते हैं पर अपवाद अपवाद ही हैं, एक सामान्य नियम नहीं।

सौभाग्वती स्त्रियों की मांग काढ़ कर सिन्दूर लगाना, ललाट पर कुमकुम, बिन्दी या सिन्दूर लगाना, नाक में नथ या कील, कान में बाली आदि का पहनना, पैरों में पायल तथा अनवट बिछिया आदि का पहनना उनके सौभाग्यवती होने का लक्षण है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ सामान्यतया पति के पहले भोजन या शयन नहीं करतीं तथा परिवार के बड़े बूढ़ों की सुश्रूषा करना अपना धर्म समझती हैं। अपनी कुल मर्यादा का ध्यान रखना तथा परिवार के बड़ों से पूछ कर ही सब काम करने को उत्तम समझना उनका प्रधान गुण चला आता है। सामान्यतया उनका दैनिक कार्यक्षेत्र घर के भीतर ही होता है पर समय की मांग एवं परिवार की स्थिति के अनुसार घर के बाहर के अनेक ऐसे काम भी स्त्रियाँ अब करने लगी हैं जो उनके कार्यक्षेत्र के नहीं हैं और अब अनेक ऐसी भी स्त्रियाँ प्रायः मिल जाती है जो घर बाहर दोनों में ही कार्य पुरुषों से भी अधिक कुशलता से सम्हालने में पीछे नहीं रहतीं।

*****

अध्याय–14 वैदिक वर्ण व्यवस्था

वेद और ब्राह्मण भगवान के मुख से प्रकट हुए, मुख से प्रकट होने के कारण ही ब्राह्मण सब वर्णों मे श्रेष्ठ और सब का गुरू है।।30।। उनकी भुजाओं से क्षत्रिय वृत्ति और उसका अवलम्बन करने वाला क्षत्रिय वर्ण उत्पन्न हुआ, जो विराट भगवान का अंश होने के कारण जन्म ले कर सब वर्णो की चोर आदि के उपद्रवों से रक्षा कता है।।31।। भगवान की दोनों जांघों से सब लोगों का निर्वाह करने वाली वैश्य वृत्ति उत्पन्न हुई और उन्हीं से वैश्य वर्ण का भी प्रादुर्भाव हुआ। यह वर्ण अपनी वृत्ति से सब जीवों की जीविका चलाता है।।32।। फिर सब धर्मों की सिद्धि के लिये भगवान के चरणों से सेवा वृत्ति प्रकट हुई और उन्हीं से पहले पहल उस वृत्ति का अधिकारी शूद्र वर्ण भी प्रकट हुआ, जिसकी वृत्ति से ही हरि प्रसन्न हो जाते हैं।।33।।[1]

ऋग्वेद में वर्ण शब्द जातिवाचक बन गया है। इसका अर्थ रंग है। वहाँ प्रारम्भ में दास तथा आर्यो के वर्ण का उल्लेख मिलता है। दास वर्ण (ऋग्वेद 12:14) तथा आर्य वर्ण (ऋग 3:3:49) का विभेद भी दिखाया गया है। अतः ऋग्वेद काल में दो ही वर्ण मिलते हैं किन्तु परवर्ती साहित्य में चारों वर्णो का पूर्णतः विकास उभर आया है (शतपथ ब्राह्मण 55–4–9, 6–4–40, 9/53, वृहदारय उपनिषद 1–2–25, पंचविंश ब्राह्मण 5–17, तैत्तिरीय ब्राह्मण 1/2/6–7, ऋग्वेद– 10:90:12 आदि)। एक प्रकार से चार वर्ण ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख मिल जाता है। चतुर्वर्णों का उल्लेख ऋग्वेद में केवल पुरुष सूक्त में आया है [2] और प्रथम तीन वर्णो का शेष तीन वर्णो से विपर्यय दिखाया गया है। ब्राह्मण शब्द ऋग्वेद में विरल है। क्षत्रिय शब्द कठिनता से एकाध बार

1. श्रीमद्भागवत–तृतीय स्कन्ध–छठा अध्याय–श्लोक 30–33 (भाषानुवाद–श्री भागवत् सुधासागर–पृष्ठ 117–118–गीता प्रेस, गोरखपुर)–सब धर्मो की सिद्ध का मूल सेवा है। सेवा किये बिना कोई धर्म सिद्ध नहीं होता, अतः सब धर्मों की मूलभूत सेवा ही जिसका धर्म है, वह शूद्र सब वर्णों में महान है। ब्राह्मण का धर्म मोक्ष के लिये है, क्षत्रिय का धर्म भोग के लिये है, वैश्य का धर्म अर्थ के लिये है और शूद्र का धर्म धर्म के लिये है। इस प्रकार प्रथम तीन वर्णो के धर्म अन्य पुरुषार्थों के लिये हैं किन्तु शूद्र का धर्म स्वपुरुषार्थ के लिये हैं अतः इसकी वृत्ति से ही भगवान प्रसन्न हो जाते हैं।

इसी कारण से शास्त्रों में अपने से बड़े एवं देवताओं के चरणों की ही वन्दना का प्राविधान है ताकि हरि प्रसन्न हों।

2. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यःकृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।
–ऋग्वेद–10/90/12

(ऋग 8–104–13, 10–109–3) आया है। राजन्य, वैश्य एवं शूद्र का उल्लेख केवल पुरूष सूक्त में है। ब्राह्मण शब्द का प्रारम्भिक अर्थ कवि एवं साधु था। अनन्तर वह पुरोहित का वाचक बन गया (ऋग्वेद 1–10–87,4–50–8, 8–7–20, 8–45–39, 8:5:3,–7, 8–81–30, 2–112–1, 10–85)। ब्राह्मण शब्द अनुभवी एवं ज्ञानी के लिये भी आया है। आर्य एवं अनार्य के रंगभेद के कारण ही वर्ण बना है। इस विषय में रंग एवं वर्ग दोनों ही वर्ण एवं जाति व्यवस्था के कारण माने गये हैं। महाभारत काल में वर्ण व्यवस्था विकसित हो गयी थी और वहाँ कहा गया है कि भगवान ने गुण कर्म विभाग पूर्वक चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की हैं (महाभारत भीष्म पर्व 28:13, शान्ति पर्व 207:30–33)।

इस वर्ण व्यवस्था में शूद्र चौथे वर्ण का नाम हैं। शूद्र शब्द से किसी हीन भाव को समझना शास्त्र सम्मत नहीं है। अपने छोटे भाई के प्रति हीन भाव अपनाना सर्वथा अनुचित है। वेदों के अध्ययन से विरत रहने के लिये शूद्रों को आदेश अवश्य दिया गया है पर इसके मूल में उनके प्रति कल्याण की भावना ही निहित है। वास्तव में वेद विशिष्ट जन के लिये और शब्द प्रधान हैं जब कि पुराण सामान्य जन के लिये और अर्थ प्रधान हैं। यह एक वास्तविकता है कि समग्र वेदों का अध्ययन करने पर ही उनके द्वारा वह ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो अधूरा न हो कर परिपूर्ण होता है तथा सही अर्थ में कल्याण का साधन बनता है। जिन मनीषियों ने समग्र वेदों का आंकलन किया है उन लोगों ने निरपेक्ष भाव से यह भली भांति समझा है तथा परीक्षापूर्वक अनुभव किया है कि समग्र वेदों का अध्ययन तीव्रतम तप एवं सुदीर्घकालिक कठोरतम परिश्रम के बिना कदपि संभव नहीं है और ऐसा परिश्रम प्रिय अनुज शूद्र एवं अति कोमल प्रकृति वाली स्त्रियाँ कदापि नहीं कर सकती। अतएव विशेषकर इन्हीं के कल्याण के लिये महाभारत तथा अन्याय पुराणों का आविर्भाव हुआ। इन ग्रन्थों में सरल एवं रोचक पद्धति से वहीं ज्ञान विज्ञान वर्णित है जो वेदों में वर्णित हैं। योग्यता, अधिकार एवं अध्ययन के विधान के अनुसार इन ग्रन्थों को अपनी अपेक्षा के अनुकूल जान समझ कर अध्ययन करने से वह कल्याण अवश्य ही प्राप्त होता है, जो वेदों के समग्र अध्ययन से प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट होता है कि ज्ञान रूप फल की दृष्टि से मानव का प्राणि मात्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार समान हैं। अतः वेदों को पढ़ने के विषय में जो शास्त्रीय व्यवस्था है उसके प्रति अन्यथा दृष्टि अपनाना भूल है।

जहाँ समाज होता है, वहाँ किसी न किसी प्रकार का वर्ण बन ही जाता है पर भक्ति मार्ग में वर्ण व्यवस्था को कोई स्थान नहीं है। भक्ति का क्षेत्र बिना किसी भेदभाव के सब के लिये खुला है और इसमें पूर्ण समानता है। श्रीमद्भागवत पुराण (11/14/21) में भी भगवान श्री कृष्ण ने कहा है कि भक्ति द्वारा मनुष्य जाति दोष से मुक्त हो जाता है। भक्त और गुरू कोई भी हो सकता है चाहे उसकी कोई भी जाति हो। मीरा और झाला जैसी क्षत्रणियों के गुरू रैदास चमार

हो गये हैं। अनेक ब्राह्मणों ने शूद्र कबीर से दीक्षा ली थी और भक्ति के नाते भगवान, भक्त, गुरू एवं साधु की पद पूजा होने लगी थी जिससे चरणोदक, चरण वंदना, चरण रज, चरण सेवा आदि प्रथायें अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त कर गयी थीं। ऐसी स्थिति में परब्रह्म के चरणों से उत्पन्न शूद्र के प्रति अपमान का सवाल भी खत्म हो गया था। देवर्षि नारद एक ओर तो ब्रह्मा जी के पुत्र थे, दूसरी ओर वे पूर्वजन्म के शूद्र होते हुए भी 'भक्ति सूत्र' के रचयिता और श्वेत द्वीप से भक्ति को लाने वाले भगवान के सर्वश्रेष्ठ भक्त माने जाते थे।

सभी जातियों और व्यक्तियों के स्वभाव– उनकी वासनायें, रज और तमो गुण के कारण भिन्न भिन्न हैं। इस लिये उनकी बुद्धि वृत्तियों में भी अनेकों भेद होते हैं। इसी कारण से वैदिक वर्ण व्यवस्था ही व्यवस्था है। जब जब इसे तोड़ने का प्रयास होता है, हिन्दू समाज बिखरने लगता है, अराजकता फैलने लगती है। व्यवस्था और संगठन की दृष्टि से तो इसका कोई विकल्प नहीं है। बिना इसका कोई विकल्प खोजे इसे तोड़ने का प्रयास करना संकट को ही न्यौतना है। यही देख कर तुलसीदास जी ने बिना व्यवस्था तोड़े ही व्यवस्था में सुधार का दृष्टिकोण अपनाया। कबीर भी सुधारवादी बने। अन्य भी अनेक सुधारक हुए हैं पर सम्पूर्ण वर्ण व्यवस्था का बिना विकल्प विध्वंस किसी ने नहीं चाहा। अतः हिन्दू समाज में वर्ण–व्यवस्था अब तक अपने मूलाधार पर टिकी रही है और जो इन सबसे ऊपर उठ जाता है वह तो सबसे ऊँचा है। कोऽहम? मैं कौन हूँ? कत्स्वम? तुम कौन हो, आदि प्रश्न पूछ कर वह स्वयं ही उत्तर देता है:

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ न ब्राह्म क्षत्रिय वैश्य शूद्राः।
न ब्रह्मचारी न गृहीवनस्थो भिक्षु न चाहं निज बोधरूपः।।

मैं न मनुष्य हूँ, न देव, न यक्ष, न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र। न ब्रह्मचारी, न गृही, न वानप्रस्थ, न भिक्षु मैं केवल बोधरूप सच्चिदानन्द हूँ। यह ज्ञान भी उसी वैदिक वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति है जिसका बोध कर पाना भी हर प्राणी के लिये सम्भव नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था एक सामाजिक व्यवस्था है जिसका मुख्य समर्थन स्मृतियाँ करती हैं जिनका ध्यान सामाजिक व्यवस्था पर है। व्यवस्था वाले तो पूर्व काल में भी जाति को पकड़े थे और आज भी पकड़े हैं। विशिष्ट बनने के लिये यह बहुत बड़ी सुविधा है किंतु बनी यह प्रारम्भ में कर्म या पेशे के आधार पर ही थी। उनकी उत्पत्ति का उस समय वह रूप न था जो आज पाया जाता है।

वास्तव में वर्ण व्यवस्था में चारों वर्णों की क्रमशः शर्मा, वर्मा, गुप्त एवं दास ये चार उपाधियां विष्णु पुराण एवं मनुस्मृति के अनुसार हैं। इनकी उत्पत्ति भी चार स्थानों से मानी गयी है और चारों ही वर्ण ब्रह्मा से उत्पन्न हैं किन्तु ब्राह्मण

ब्रह्मा के मुख, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जंघा और शूद्र पैर से उत्पन्न हैं। इस सम्बन्ध में उत्पत्ति वाले सिद्धांत के अतिरिक्त दो बातें और हैं। एक यह कि जातियाँ सृष्टि रूपी ब्रह्म के क्रमशः मुख, बाहु, कमर और पैर हैं। दूसरी यह कि ब्राह्मण ज्ञान देने के कारण मुख वाला है। बोलना उसका धर्म हैं। इसके मुकाबले क्षत्रिय 'कर्ता' है, बोलता नहीं। बोलने वाले क्षत्रिय को अच्छा नहीं माना जाता। उसकी निंदा होती है। क्षत्रिय का कार्य 'करना' है। युद्ध करना, राज्य करना है। इसका मुख्य क्षेत्र बाहु है। इसी से बाहुबल शब्द बना इसी प्रकार शेष दो वर्ण हैं। इसके बावजूद बाद में जन्म वाला विचार अधिक प्रचलित हुआ।

पैर हमारे शरीर का सबसे निचला भाग है और शरीर का मूलाधार भी। इस लिये शूद्र को वर्ण व्यवस्था में नीचे रखा गया। इसका एक कारण उनका कर्म भी है। शूद्र शिल्पकार या हाथ से काम करने वाले हैं जिसे आज कल की भाषा में अबौद्धिक तथा स्थूल कर्म कहना चाहिये जिसमें पूंजी या तो बहुत कम या बिल्कुल नहीं लगती है। ऐसे कर्म करने वालों की किसी भी समाज में उचित प्रतिष्ठा आज भी नहीं है। हाथ का काम हर समाज में प्रायः सामान्य माना जाता है। महात्मा गांधी भी यदि सामान्य चरखे वाले ही होते तो समाज में उन्हें कौन जानता। महात्मा होना तो दूर उन्हें सामान्य मानवीय प्रतिष्ठा भी मिल पाती इसमें पूर्ण संदेह है। शिल्प अथवा हस्तकर्म उत्पादन की बुनियाद ठीक उसी तरह है जिस तरह पैरों पर ही सम्पूर्ण शरीर का भार रहता है फिर भी इस बुनियादी कर्म की उपेक्षा हुई। उपेक्षा का अंदेसा तो ब्राह्मण को भी था किन्तु अपनी बौद्धिकता, कम से कम लेने का निश्चय और क्षत्रिय तथा वैश्य को देने वाली कल्याण कामनाओं ने उसे बचा लिया। यूं ब्राह्मण अपने को कितना ही श्रेष्ठ क्यों न कहे परन्तु आर्थिक दृष्टि से वह पंगु एवं पर निर्भर ही है। यह यथार्थ भी वेदों से ही स्पष्ट होता है।

इस वैदिक वर्ण व्यवस्था का सिरमौर ब्राह्मण फिर भी भक्ति मार्ग में कोई स्थान नहीं रखता क्योंकि भक्ति मार्ग में वर्ण व्यवस्था ही नहीं है। भक्ति व्यक्ति साधना है सामूहिक नहीं। जहाँ समाज होता है वहाँ तो किसी न किसी प्रकार का वर्ण बन ही जाता है पर व्यक्ति में किसी प्रकार का वर्ण नहीं बनता। अतः भक्तों ने भक्ति का क्षेत्र बिना किसी भेदभाव के सब के लिये खोल दिया । वेद वेदान्त हो गया। इस क्षेत्र में पूर्ण समानता हो गयी। भक्त और गुरू कोई भी हो सकता है चाहे उसकी कोई जाति हो, योनि हो या आचार विचार हो। मीरा और झाला जैसी क्षत्राणियों के गुरू रैदास चमार हो गये। अनेक ब्राह्मणों ने शूद्र कबीर से दीक्षा ली। पैर का महत्व बढ़ा। भगवान, भक्त, गुरू एवं साधु की पद पूजा होने लगी। चराणोदक, चरणवंदना, चरण रज चरणसेवा, आदि अत्यन्त प्रसिद्धि पा गये और यह सब हुआ अपने अपने धंधों में रहते हुए। कोई धंधा छोटा बड़ा नहीं है तब उसे छोड़ा क्यों जाय। भक्ति सूत्र के रचयिता, भक्ति को श्वेत द्वीप

से लाने वाले और भक्ति को आश्रय देने वाले देवर्षि नारद स्वयं पूर्व जन्म के शूद्र थे फिर भी नारद भगवान के सर्वश्रेष्ठ भक्त बने हैं। स्वयं कृष्ण तक अपने को देवर्षियों में नारद भी कहते हैं। हमारी भागवतीय गाथाओं में भगवान शूद्र भक्त को अपमानित करने वालों को दंडित भी करते हैं। अतः इन भक्तों की प्रतिष्ठा ब्राह्मणों के स्तर पर हुई है और अनेक भक्त भगवान जैसे पूज्य हुए हैं। जातिगत अभिमान को भगवान की दृष्टि में अपराध माना जाता है। इसी से शूद्र उपाधि 'दास' का प्रचलन बढ़ गया और किसी भी सम्प्रदाय, राज्य या क्षेत्र की, व्यक्ति की उपाधि दास होने लगी। तुलसी दुबे से तुलसीदास हो गये। रामदास, तुलसीदास, नंददास, सुंदरदास, मलूकदास, नागरीदास, पुरंदरदास, कनकदास, कितने ही दास हो गये जिनकी मानवीय मूल्यों से प्रतिष्ठा सर्वाधिक है। ये सभी हरिजन, शूद्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी वर्गों से आये हैं पर इनमें न जातिगत अभिमान है न जातिगत संकीर्णता और यही वेदों की शिक्षा का सार है।

वैदिक काल में कर्मणा वर्ण परिवर्तन

इस प्रकार ब्राह्मण से रक्षा किये वे क्षत्रिय, क्षत्रिय धर्म को त्याग वैश्य वृत्ति से जीविका करने लगे। वे सूर्य वंशी, चन्द्र वंशी और अग्नि वंशी क्षत्रिय हैं और वे ही उत्तम क्षत्रिय माने गये और दूसरे मध्यम माने गये। कल्कि पुराण में भी "वैश्य वृत्यपि जीवेरन क्षत्रियाश्च कुलौयुवि" ही लिखा है। राज्यच्युत होने पर हर देश में राजा व राजा की जाति रोजगार ही करती है। कभी भारत के राजा रहे मुसलमान आज चमड़े का व्यवसाय करते व जूते तक बेचते हैं पर उन्हें मोची नहीं कहा जाता। आज ब्राह्मण एक अक्षर भी संस्कृत नहीं जानता। वह रसोई बनाता, पानी पिलाता या प्यादागिरी भी करता रहा है पर शूद्र नही कहलाता। कर्म से रुधिर में रक्त विकार नहीं होता, यह सर्वविदित है। जन्मना वर्ण एक बात है और कर्मणा वर्ण दूसरी बात। प्राचीन काल में तो कर्मणा वर्ण परिवर्तन कतई आपत्तिजनक या अस्वीकार्य बात नहीं थी। अनेक व्यक्ति जन्मना ब्राह्मण, कर्मणा, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होते थे। स्वयं पद्मपुराण, विष्णु पुराण में लिखा है कि 'वैवस्वत मनु के सूर्य वंशी दस क्षत्रिय पुत्रों में से पृषध्र नामक पुत्र गुरू की गौ का वध करने के कारण शूद्र हो गया।'[1] मनुपुत्र दिष्ट का पुत्र नाभाग वैश्य हो गया। मनुपुत्र शर्याति की सुकन्या नाम वाली कन्या का विवाह च्यवन ऋषि के साथ हुआ। मनु के वैश्य हो गये नाभाग नामक पुत्र के वंश में रथीतर के वंशज क्षत्रिय सन्तान होते हुए भी अंगिरस कहलाये, अतः वे क्षत्रोपेता ब्राह्मण हुए' तथा मनु के ही एक पुत्र धार्ष्ट्रक तपस्या से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए।

1. विष्णु पुराण, चतुर्थ अंश, अध्याय 1–2

वेदों की शिक्षा

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के अध्याय 17 के 120वें सूक्त के ऋषि, शूद्रा ओशिक के पुत्र कक्षीवान ऋषि (सूक्तस्योशिक पुत्रः कक्षीवान ऋषिः) ही हैं। वेदों में शूद्र वर्ण को भी सत्य ज्ञान द्वारा ऊँचे उठाने का उपदेश है।

स्वयं ऋग्वेद के आखिरी मंडल में क्षत्रियों को 'राजन्य' कहा गया है जो शासन करने से सम्बन्धित कृत्यों को इंगित करता है और यह भी इस बात का प्रमाण है कि इस जाति की उत्पत्ति इसके कर्म के कारण हुई थी।[1]

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिु शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रित्सुतुका नाहुषाणि।।
—ऋग्वेद 6/2/22/10

हे शस्त्र और अस्त्र के धारण करने वाले अत्यंत ऐश्वर्य करने वाले आप, जिससे शूद्र के कुलों को द्विजकुल और उत्तम प्रकार बढ़ने वाले मनुष्य संबंधी धनों को सब प्रकार करती है, उस हिंसा न करने वाली बड़ी सेना को शत्रुओं के नाश के लिये करिये और उससे हम लोगों के लिये किया है संयम जिस के निमित्त उस सुख को करिये (अर्थात सत्य विद्या के दान और उपदेश से शूद्र के कुल में उत्पन्न हुओं को भी द्विज करिये और सब प्रकार से ऐश्वर्य प्राप्त कराइये)।

ऊँच नीच की भावना

क्षत्रिय (खत्रिय) इतिहास के अध्ययन से यह निर्विवाद स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी खत्री भले ही वह किसी भी शाखा तथा अल्ल का हो, दूसरी शाखाओं तथा अल्लों से ऊँचा नहीं है। खत्री जाति तथा अल्लें सब बराबर है। घटनाओं तथा परिस्थितियों के कारण नामकरण तथा रीति रिवाज में ही भेद है। पर उससे न कोई ऊँचा है न नीचा। जो भेद हैं भी वह अधिक पुराने नहीं हैं। केवल हठ तथा अज्ञानता के कारण ही एक शाखा या अल्ल अपने को दूसरे से ऊँची नीची समझने लगी है। इस मतभेद तथा फूट के परिणाम भी पीछे स्वतः स्पष्ट हैं।

समानता का वैदिक सिद्धांत

स्वयं ऋग्वेद में कहा है

"समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञातो चित्सन्तौ न समं पृ णीत।।"

1- In the later portions of the Rigveda the 'Kshatriya' is known as 'Rajanya' which points to the ruiling activities and thus well explains the functional origin of this class.
-Castes and Races in India-G.S. Ghurye (Bombay-1951) page 49

हाथ समान होते हुए भी समान काम नहीं करते , समान मातायें भी समान दूध नहीं देतीं। जुड़वां उत्पन्न भाईयों के भी बल बुद्धि समान नहीं होते अर्थात कार्यों में, स्वभाव में मनुष्य समान नहीं, मनुष्य क्या पशु भी समान नहीं हैं। तब अन्न प्राप्ति में सब समान कैसे हो सकते हैं। इसे न समझने का ही परिणाम है कि साम्यवाद, सर्वोदयवाद, गाँधीवाद सब अनुभवहीन अदूरदर्शीजनों की सुहानी कल्पनायें ही रही हैं जो सब धीरे धीरे असफल होती जा रही हैं। बलात धन पुरुषार्थी से छीन कर आलसी, प्रमादी को देना अन्याय ही है। यह पुरुषार्थ का अपमान ही है। वेद कहता है कि इससे दान दिलाना उचित है। इससे दाता की भावना उत्तम होती है और गृहीता को कृतज्ञता आती है। शुभ भावनाओं की वृद्धि होती है अन्यथा ईर्ष्या द्वेष, मार काट का ही उदय होगा। उसी की वृद्धि होती रहेगी। अंत में ऋग्वेद के अंतिम दो मन्त्रों 3 तथा 4 में उपदेश है:

समानोः मन्त्रःसमितिः समानी समानं मनः सह चित्मेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।3।।
समानी व आकूतिः समाना हदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथं वः सुसहासति।।4।।
—ऋग्वेद मंडल 10, सूक्त 191, मंत्र 3–4

प्रभु आशीर्वाद देते हैं कि तुम्हारी मन्त्रणा समान हो, तुम्हारी मन्त्रणा करने की सभा समान हो। मन समान हो। तुम्हारे लिये समान विचार को मन्त्रणायुक्त करता हूँ। तुम्हें समान यज्ञीय पदार्थ (अर्थात सांसारिक वस्तुओं) से आदान प्रदान करता हूँ अर्थात प्रभु यही कहते हैं कि मैं "तुम्हें सब वस्तु समान रूप से दे रहा हूँ परन्तु तुम अपने पुरुषार्थ और ज्ञान के अनुसार ही इन्हें पा सकते हो।" ज्ञान भी समान होना चाहिये और कार्य शक्ति भी समान होनी चाहिये। बुद्धि, कार्यशक्ति और संयम के कारण मनुष्यों में सदा भेद रहेगा किंतु भगवान की ओर से सब को समान अधिकार है। इसी लिये अगले मन्त्र में प्रभु कहते हैं तुम्हारी संकल्प शक्ति, अध्यवसाय समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारा मन समान हो, जिससे तुम्हें सब शोभन हो। इसमें राष्ट्र की भावनात्मक एकता का ही उपदेश है कि सब मन एक संकल्प हो कर काम करें और अपने भाग को काम के अनुसार प्राप्त करें।

इस सत्य के विपरीत हिन्दू धर्म की चार्तुवर्ण्य समाज व्यवस्था में और कुछ ढूँढ़ने का प्रयास करना प्रभु के आदेश को जान कर भी न मानने की धृष्टता के अलावा कुछ नहीं है।

*****

परिशिष्ट

(1) खत्रियों की तड़बन्दी के अनुसार अल्लें

तड़बन्दी

तड़बन्दी का अर्थ है 'हलका बन्दी' अर्थात एक क्षेत्र में सीमित हो कर उसी घेरे के अन्दर विवाह आदि सम्बन्ध करना। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि का कर्म के अनुसार वर्ग वार विभाजन यदि सामाजिक व्यवस्था की तड़बन्दी या हलकाबन्दी थी तो उसमें भौगोलिक विभाजन नहीं था और आपस में विनिमय तथा विवाहादि सम्बन्ध मुक्त रूप से होते रहते थे। इसके बाद, भौगोलिक दूरियों तथा रीति रिवाजों आदि में परिवर्तन के कारण आगरे वाल, दिलवालिये, पूर्विये, पच्छैयें आदि विभाजन हुए तो उनमें आपस में एक दूसरे को ऊँचा नीचा समझने के कारण संकीर्णता बढ़ने लगी और फिर लाहौरिये, मुलतानिये, सरहिंदिये आदि जैसे स्थानीय विभाजन भी होने लगे। इसके बाद अलाउद्दीन खिलजी के समय उसकी विधवा विवाह की शाही आज्ञा का विरोध करने में प्राथमिकता के आधार पर अल्लों की मर्यादा ऊँची नीची हो कर ढाई घर, चार घर, बारह घर, बावन घर, बावन जाई आदि बनी जिसका एक मात्र कारण यह था कि विरोध करने में सबसे पहले मेहरोत्रा, कपूर और खन्ना कुल के लोग पहुँचे थे। इन्हें ढाई घर (शुद्ध शब्द आद्य कुल) कहा गया। इसमें खन्ना को आधा कुल ही माना जाता है। इसका कारण यह है कि प्रारम्भ में खन्ना सूर्य वंशी ही थे। सूर्य वंश के अंगिरा ऋषि के नाम पर चले अग्नि वंश में ब्राह्मण और खत्रिय दोनों ही हैं, अर्थात इस एक वंश के ही दो खण्ड हैं। इस वंश के जो लोग ब्रह्मनिष्ठ हो कर ब्राह्मण हो गये थे उन्हें छोड़ कर शेष खत्रियों को क्षण्य अथवा खण्ड कहा जाने लगा। इसी से क्षण्य अथवा खण्ड होने के कारण इन अग्नि वंशी खत्रियों को क्षण्य अर्थात खन्ना कहा जाता है। क्षण्य का ही अपभ्रंश खन्ना है और इनका आधा वंश ब्राह्मण एवं आधा वंश खत्री होने के कारण खत्रियों में इनकी गिनती आधे वंश या कुल के रूप में ही की जाती है। स्वयं अंगिरा वंश भी सूर्य वंश की ही शाखा है, कोई अलग वंश नहीं। 'अशरफुल तवारीख' में खन्ना शब्द "खान" से निकला बताया गया है जिसके माने होते हैं आधा। यह भी कहा गया है कि चूंकि अलाउद्दीन खिलजी की शाही आज्ञा का विरोध खन्ना कुल के आधे लोगों ने ही किया था इस लिये ही वे आधे अर्थात खन्ना प्रसिद्ध हुए, पर यह मत न तो पुराण सम्मत है और न तर्कसंगत ही प्रतीत होता है। पुराणों के अनुसार खन्ना लोग कुत्स वंशधर हैं, जो अंगिरा वंश में उत्पन्न हुए थे। अतः खन्ने कुलीन राजवंशी क्षत्रिय कालान्तर में अग्नि वंशी कहलाये। खन्नों का गोत्र कुत्स तथा प्रवर अंगिरा, मान्धाता एवं कुत्स हैं।

इस आद्य कुल के पश्चात जो चार जाति (शुद्ध चारु कुल) उसके बाद 12 जाति और 36 जाति (अर्थात 4+8+40 या 4+12+36) के लोग पहुँचे वही कुल मिला कर 52 जाति या बावन जाति हो गये ऐसा एक मत है। विधवा विवाह

की शाही आज्ञा के विरोध में मिले सम्मान के कारण यह जो सामाजिक तड़बन्दी या हलकाबन्दी हुई उसका कोई विशेष कारण न था। जिस जिस कुल को जैसे जैसे शाही आज्ञा का समाचार मिलता गया, वैसे ही वैसे वह कुल विरोध प्रकट करने के लिये दिल्ली आता गया या उसने अपने ही स्थान पर रह कर विरोध प्रगट किया और कुछ ने विरोध नहीं भी किया। अतः पहले या बाद में विरोध के लिये तैयार होने या दिल्ली आने या न आने से ही कोई ऊँचा-नीचा, छोटा-बड़ा नहीं हुआ। बात केवल पहल करने वालों को सामाजिक सम्मान देने की थी, पर कालक्रम से वह भी तड़बन्दी का कारण बन गयी। इस प्रकार के विभाजनों के बारे में अन्य अनेक मत भी हैं और यद्यपि इन सभी में सूर्य वंशी और चन्द्र वंशी खत्रिय शामिल हैं पर इसका परिणाम केवल एक ही हुआ है कि इस प्रकार की तड़बन्दियों के कारण केवल संकीर्णता बढ़ी, आपस में एक दूसरे को छोटा-बड़ा, ऊँचा-नीचा समझने की भावना भी बढ़ी और प्रत्येक गुट एक दूसरे से अलग एवं दूर होता गया। यदि छोटे समझे जाने वाले पेशों को अपनाने के कारण अरोड़े अलग हुए तो चम्बा एवं कश्मीर में शरण लेने वाले ढाई घर खत्री, पशुपालकों की वृत्ति अपनाने के कारण और मुख्य खत्रिय समाज की उपेक्षा तथा ब्राह्मणों से मान्यता न मिलने के कारण खत्रिय समाज से दूर ही नहीं हुए बल्कि अनेक घोर उपेक्षा एवं अपमान के कारण परिस्थितिवश मुसलमान भी हो गये। इसी प्रकार गुजरात तथा दक्षिण भारत में जुलाहे, रेशम एवं सूत रंगने के व्यवसाय को अपनाने के कारण ब्रह्म क्षत्रिय भी अलग थल पड़ गये और भारत के स्वतंत्र होने तक इसी आपसी फूट के कारण यह दूरियाँ बढ़ती ही रहीं और विभिन्न अल्लें अपने ही समूहों में सिमटती रहीं।

यह सब विभाग समय-समय पर हुए मतभेदों की ही उपज हैं। यदि सामयिक परिस्थितियों ने इन्हें जन्म दिया था तो भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात उपजी परिस्थितियों ने पुनः समय चक्र को पलटना भी प्रारम्भ किया। तीर्थस्थानों में पंडों की बहियों में किये गये हस्ताक्षर एवं मोहर को देखने से ही यह पता चल जाता है कि ऐसे अनेक विभाग पूर्व में थे ही नहीं। इन पंडों की बहियों से भी खत्रियों का इतिहास बहुत कुछ खोजा जा सकता था पर किसी ने भी इस विषय में राय बहादुर श्यामसुंदर दास खन्ना, अध्यक्ष, अखिल भारतीय खत्रिय इतिहास समिति के सुझाव पर कार्य नहीं किया। अतः खत्रिय इतिहास में तड़बन्दी या हलकाबन्दी का यह क्षेत्र अभी भी अछूता ही रहा है और स्थिति अभी तक ज्यों की त्यों है। समय चक्र की सुई अब पुनः एकीकरण की ओर मुड़ चुकी है। अतः वस्तुस्थिति की जानकारी के लिये ही ऐसी पूर्व तड़बन्दियों के अन्तर्गत आने वाली अल्लों की सूची इस परिशिष्ट में दी जा रही है यद्यपि ये सभी सूचियाँ शत प्रतिशत पूर्ण नहीं हैं और इनमें भी अनेक अल्लों के नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सके हैं। इसमें अनेक अल्लें ऐसी भी हैं जो एक से अधिक तड़ या हलकाबन्दी में या भौगोलिक अथवा कर्मानुसार बने विभाजन में हैं।

*****

परिशिष्ट (1)

खत्रियों की तड़बन्दी के अनुसार अल्लें

(या पहचान के लिये बोले जाने वाले लौकिक गोत्र)

ढाई घर खत्री या आद्यकुल

1. मेहरोत्रा, 2. कपूर, 3. खन्ना

चार घर खत्री

1. मेहरोत्रा, 2. कपूर, 3. खन्ना, 4. सेठ (पंजाब में)

1. मेहरोत्रा, 2. कपूर, 3. खन्ना, 4. टंडन (आगरेवाल व पूर्विया खत्रियों में)

पंजा जाति [1]

1. वहल, 2. वाही (ढालों वाले), 3. विज्ज, 4. वेरी (बेरी), 5. सहगल

छः जाति [1]

1. कक्कड़, 2. जट चोपड़े, 3. टण्डन, 4. तालवाड़, 5. धवन, 6. महेन्द्रू

1. कक्कड़, 2. जट चोपड़े, 3. टण्डन, 4. तालवाड़, 5. धवन, 6. बोहरे (मतान्तर से- एथनोलाजी में)

बारह जाति

1. कक्कड़, 2. चोपड़ा (कानूनगो), 3. टण्डन, 4. तालवाड़, 5. धवन, 6. महेन्द्रू, 7. वधावन, 8. वहल, 9. विज, 10. व्यूहरे (वोहरे), 11. सहगल, 12. सूर।

मतान्तर - सूर के स्थान पर टुनी, मतान्तर- चोपड़ा की जगह-चौद्धर मतान्तर- सेठ/सूरी, सहगल के स्थान में 1. खन्ना, 2. तालवाड़, 3. विज और दुहावन (क्षत्रिय दर्शनम एवं हरि दर्पण)

पछाहीं बावन जाति कलां (देखिये पृष्ठ 162)

इस बावन जाति में सूर्य वंशी, चन्द्र वंशी तथा बाहु जाई सभी हैं। 1- अक्कल, 2- उप्पल, 3- कपीहा, 4- कोछड़, 5- कंचन, 6- चड्ढा, 7- चन्दे, 8- चौद्धर (चौधरी), 9- जलूटे, 10- झलोरे, 11- झाँझी, 12- टंगरी या तांगड़ी, 13- थापर, 14- दहल, 15- दहनी, 16- दुग्गल, 17-धहना, 18- धीए,

---

1. यह पंजा जाति और छः जाति विधवा विवाह के विरोध में बाद में आने वाले परिवारों के गिरोह हैं जिन्हों ने अपना अलग दल बना कर अपना नाम पंज +जाति = पंजा जाति और छः + जाति = छः जाति रख लिया। पंज शब्द फारसी का है जिसका अर्थ पाँच होता है। अतः स्पष्ट ही यह विभाजन अलाउद्दीन खिलजी के समय का बना प्रतीत होता है। वैसे ही ढाई घर, चार घर आदि विभाजन भी उसी काल के हैं। इस काल के पूर्व इन विभाजनों का अस्तित्व नहीं पाया जाता। -एथनोलाजी आफ दि खत्रीज - पृष्ठ 180 एवं खत्रिय इतिहास - बाल कृष्ण प्रसाद पृष्ठ-257

19– धूमी, 20– नन्दे, 21– पराग, 22– पुरी, 23– ब्रजमानी, 24– बावां, 25– भदवे, 26– भंडारी, 27– मधावन, 28– मधूक या मधोक, 29–मरकर, 30– महथा, 31–मैनराय, 32– मोरन, 33–मौनी, 34– रटले, 35–रतूल, 36–राना, 37–रारा, 38–वक्काल, 39– वाही, 40– विग्गे, 41–वेदी, 42–सचरवाल, 43–सरने, 44–सिद्ध या सिद्धू, 45–सींगिये, 46–सूरी, 47–सेठी, 48–सोनी, 49–सोलवार, 50–संगिये, 51–हांडे, 52–हिराना।

लाहौरी चौजाति

1. मेहरे, 2. कपूर, 3. खन्ना (ढाई घर, चार घर और बारह घर सभी में हैं)

दिलवालिये (दिल्ली वालिये)

1– मेहरे, 2– कपूर, 3– सेठ, 4– टण्डन, 5– कक्कड़, 6–सेठ कक्कड़, 7–महेन्द्रू

आगरे वाल

ढाई, चार और बारह घर वैसे ही हैं जैसे लाहौरी के। अन्तर केवल यही है कि लाहौरी चौजाति जिनका नाम पहले दिया गया है, सब तड़ में हैं। चौजाति से केवल सेठ को हटा कर राजा टोडरमल टण्डन को मिलाने की वजह से टण्डन को रखा गया है।

सरहिंदिये

ये मेहरोत्रे ही हैं।

बाहरी खत्रिय (देखिये पृष्ठ 161)

(इन्हें भारतवर्ष के अन्दर स्थित बनजाई कलां, बावन जाती या बावन जाई भी कहा गया है।) अभ्या, आभी, उप्पल, कुल्हर, कोछड़, दुग्गल, नंदा, पुरी, भल्ले, मंगल, वधर (वधारी) हंदे।

मतान्तर – अभ्या, वधारी और आभी के बदले दोहरे, महता और सोबती (हरि दर्पण)

ख. खत्री धर्मान (देखिये पृष्ठ 161)

1. असरी, 2. कतियाल, 3. कुल्हर, 4. चलती, 5. चौधरी, 6. छत्तठी, 7.जधर, 8. जनरथ 9. जोहर, 10. तुल्ली, 11. थापर, 12. दहल, 13. दिलावरे, 14. धीर, 15. धोपर, 16. पटपटी, 17.बछेर, 18. बजाज, 19. बासिन, 20. भंडारी, 21. भम्बारी, 22. भोपर, 23. मधूक, 24. महाय, 25. माल, 26. रेखी (रिखी), 27. लखदानी, 28. लाम्बे, 29.वरहा, 30. वहतरी, 31.वहामा, 32. वेदी, 33.सचेहर, 34. सरनी, 35. सर्राफ, 36. सवाल, 37. सामी, 38.सियाल, 39. सूरी, 40. सोई, 41. सोनी।

पूर्विये खत्रियों के विभाग

ढाई घर व चार घर दोनों में 1– मेहरोत्रा, 2– कपूर, 3– खन्ना और 4– टण्डन

क्रमशः पुरोहित

1– जैतली, 2–कपूरिये, 3 और 4– झिंगरन

चार घर

उपरोक्त चारों ही हैं।

बारह घर

1. मेहरोत्रा, 2. कपूर, 3. खन्ना, 4. टण्डन्, 5. सेठ, 6. बोहरे, 7. कक्कड़, 8. धवन 9. महेन्द्रू, 10.विज, 11. चोपड़ा, 12. सहगल।

गोत्र – 1. कौशल्य, 2. कुशिक, 3. कोशिक कौत्सिक या अर्ध कौत्स, 4. अंगिरस्, 5. सेठ हंसल, 6. कौशल्य, 7. वत्स, 8. श्रंगी ऋषि 9. वच्छल (वत्स), 10. भार्गव, 11. औलस्य/कौशल्य, 12. कौशल्य

बावन जाति (बहुजाई)

1. कोछड़, 2. गांगी, 3. धीया, 4. जलूटा, 5. झाँझी, 6. तालवाड़, 7. तुलसी, 8. नन्दा 9. पसरा, 10. पुरी, 11. बुधवार, 12. मजीरा, 13. मलख, 14. महरा, 15. वहल, 16. विनायक, 17. विनायक, 18. हंडे (हंदे)।

बावन जाति (पूर्विये) की

1. अग्निजाय, 2. ओलड़े, 3. कक्कड़, 4. कपूर, 5. कारूख, 6. कुन्दराव, 7. कूट, 8. कोछड़ 9. कोड़हाने, 10. कोहिल, 11. खन्ना, 12. खिदरिये, 13. गाँधी, 14. घीया, 15. चाहे हुक, 16. चोटरे, 17. चोपड़े, 18. जोति, 19. टण्डन, 20. तालवाड़, 21. धवन, 22. धारिष्ट, 23. नांगिये, 24. निहावन, 25. नीचीवाले, 26. पुरी, 27. बत्तरे, 28. बुधवार, 29.बोहरे, 30. भेरी, 31. भोलासिक्के, 32. मगरूरे, 33. मरवाहे, 34. महिष, 35. मेहरे, 36.मैनराव, 37. रावेरी, 38. लखकेहर, 39. लक्ष्मण, 40. लुग्घे, 41. लोईहूक, 42. वधौन, 43. वाही, 44. विज, 45. वीर, 46. शरने, 47. सभ्भरवाल, 48. सहगल, 49. साहनी, 50. सीके, 51. सूर, 52. हंदे।

*****

परिशिष्ट (2)

बहु जाई या बहु जाति खत्रियों की अल्लों की सूची

बहु जाई या बहु जाति

जिसमें बहुत सी जातियाँ अर्थात अल्लें है, बहु जाति कहलाई। बहु जाई शब्द से ही बहु जाति शब्द बना प्रतीत होता है। संस्कृत शब्द 'बाहुजा' का अपभ्रंश ही भुजाई अथवा बाहुजाई प्रतीत होता है। वेदों के अनुसार भी क्षत्रियों की उत्पत्ति सूर्य, चन्द्र के अतिरिक्त बाहु से हुई है अतः उस परब्रह्म की बाहु से उत्पन्न होने वाले ही बाहुजा क्षत्रिय (खत्रिय) कहलाते हैं। ऋग्वेद के मंडल 10–सूक्त 9, मन्त्र 12 में कहा गया है–ब्राह्मणोस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भयां शूद्रो अजायत' (ब्राह्मणों की मुख से तथा भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति हुई) तथा ब्रह्मवैर्वत पुराण अध्याय 10 में भी कहा है–'चन्द्रादित्य मनूनांच प्रवरा क्षत्रिया मताः ब्रह्मणोबाहुदेशाश्चैवान्याः क्षत्रिय जातयः।' कुछ पुस्तकों में बारह जाति, बावन जाति, का उल्लेख नहीं है, अतः कुछ लोग बहुत सी जाति अर्थात अल्ल वालों को ही बहु जाति कहते हैं और कुछ का मत है कि बहु जाति में भी सूर्य, चन्द्र वंशीय लोग हैं क्योंकि इसमें सूर्य वंशी वैवस्वत मनु के पुत्र करुष के ही क्षत्रिय वंश से संबंधित उसके अपभ्रंश रूप करूखे, कुरूसिये, कुर्छिये, कुर्षिय, कल्ख आदि अल्ल पाये जाते हैं। इस दिशा में किसी अग्रेतर शोध का अभाव है।

बहु जाति खत्रियों की अल्लों की सूची

अक्कल, अकरे, अकल, अग्गेचल, अगनारा, अगरी, अजमाणी, अजरी, अतरोवा, अताई, अधराना, अधीरा, अनजाने, अनदाणी, अनादि, अनी, अपोत्रा, अमठ, अमती, अम्बस्ट, अमीन, अरंग (बरंग), अरवाल, अलका, अलख, अवट, अवराना, अव्वल, अवेर, अवरोह, असरापो, असलअदवा, अहूजा।

आईनगर, आतू, आदि, आनन्द, आबी, आलिया, आवशाही, आवीराय, आसनी, आसा, आहरी।

इकाकंदे, इच्छपुजारी, इछोड़ा, इजमानी, इजराल, इदमानी, इन्दर, इर्वी, इशाशी।

उकतावले, उग्र, उचखेड़िया, उत्तरे, उदरिया, उदोबुद्दो, उर्दल, उधरानी, उनिया, उमते, उलहरा, उलूचा, उवराय, उवल।

एथैया, एरवरी, एशानी।

ऐखर, ऐगिरा, ऐठाना, ऐठिया, ऐड़, ऐयार, ऐरावत।

ओगी, ओड़े, ओर्धन, ओनठ, ओवराही, ओसद्धा, ओहाना।

औघड़, औसरणी।

अंगी, अंधिया, अंचल, अंचूरिया, अंजानी, अंटिया, अंबरीष (अम्बरीष)।

ककरीला, कचीर, कजराल, कटारिये, कटियार, कठवीं, कड़हेला, कद्दड़ा, कपूरिये, कमराई, कमोदी, कमोरा, करछीया, करपाल, कराण, कलकाला, कल्ख, कलछी, कल्याणी, कवलेतिय, कसरती, कसराल, कसी, कहरी, कांची, काठी, कारूस, कालड़े, कालसारी, किकड़िया।

कुकरेजा, कुच्चल, कुर्छिया, कुल्हड़।

केवली, केसनी, केसर।

कोकी, कोकीताल, कोतल, कोहली।

कंखाना, कंदराय, कंसारा, कंसूरा।

खकला, खखने, खतराल, खती, खपैरल, खमोनी, खरमुनी, खरहाल, खरहुक, खराल, खलवाना, खातिरे, खिर्की, खिन्नी, खीरचट्टे, खेरी, खैये, खोरिया, खोला, खोसला, खंखाल, खंडकी, खंडे, खंडेरे।

गग्गो, गगला, गजपति, गधेला, ग्योलीपुरवा, ग्वाक्षीर, गांगी, गांधी, गुगलाणी, गुजराती, गुड़घीला, गुरजरे, गोकरणी, गोड़हे, गोंदंता, गोधनी, गोपाली, गोपिया, गोबरकीचड़, गोवरे, गोविंदे, गोहले, गोहानी, गौरी, गंगणेजे, गंगधुलिया, गंधारी।

घघरवाल , घत्ले, घमाना, घमोआ, घमंडी, घसझीरी, घसिडान, घुटले, घुड़चढ़े, घूमर, घेई, घंटालिया।

चक्कड़वाल, चकचक्खी, चक्करे, चकने, चकवाल, चतुर्गन, चन्द्र, चन्द्रखांडे, चारकिले, चारकोटरा, चावले, चाहले, चांदमल, चांदीफूंक, चिरवाल, चिराईपोत्रे, चिल्लाणी, चीकट, चुरचुट्टे, चेंचा, चोकले, चौकड़े, चौकन्ने, चौपट्टे, चौमोहरे, चौंडे।

छछोरिया छजुआ, छत्रपाल, छपकी, छमकी, छमगीया, छाकल, छांछी, छारदन, छिनादाई, छीकड़े, छूछिये, छूंछीगांठ, छूड़िये, छूड़ीमार, छूलिया, छैकड़े, छैकोड़िया, छैये, छैलवार, छैहर, छंगे, छंदकवरे।

जगधारिये, जड़बुत्ते, जतियल, जनकिया, जपोड़े, जम्मे, जयी, जरीपुंज, जलहार, जलाली, जलौटी, जसकी, जसराई, जसीहुक, जसूजे, जाजुड़ी, जांजी, जुझाने, जैतुका, जैमल, जैरथ, जोका, जोखिया, जोना, जोंजर, जौहरे, जंडवाणी।

झड़ीला, झमड़े, झरमुरा, झलवार, झांगड़ा, झांपादार, झिंगराने, झिंगरे, झेलिया, झोरमकोई, झोलड़े, झौआझार, झौंकमार, झंकसिया, झंझेबाज।

टई, टक्करे, टकसाली, टटुआना, टनकधार, टल, टहरी, टांक, टुकरिया, टुंगरवाही, टुनटुनिया।

ठकुरेजा, ठठेरा, ठिकयूरा, ठिलइनेट, ठिवकन, ठीकेदार, ठेंठपाल, ठोकिया, ठोसमाल, ठंडखैये।

डगमरीले, डरवाने, डालफूले, डाबरे, डिगसाना, डैरी, डौंडरे, डौंड़े, डंकवाने, डंकामार, डंडवाज, डंडे, डंड़ेढ़ा, डंडोसी।

ढगले, ढालबाज, ढिढोंरिया, ढोकले, ढोलकिया, ढोलकीफूट, ढोलपा, ढोढले, ढंगमकूला, ढंगर, ढुंडरवाल।

तर्क, तड़वाल, तत्ते, तनी, तपड़बुड़ा, तरदा, तरनेजा, तलवारमार, तहवाला, ताखी, तालवाड़, तिब्ब, तिलवाल, तुम्बार, तुलसीनंदा, तुलीया, तुर्हाई, तूल, तूलर, तोरनार।

थन्ने, थरहाल, थरेजे, थलकिया, थारकर्छी, थिग्गन, थुकवन्ते, थूहर, थैलवाल, थोकिया।

दर्धिया, दबराल, दमोरा, दलही, दलानिया, दलिये, दवकने, दशवाल, दहके, दादसूना, दिक्कन, दीवरा, दुग्गल, दुर्गन, दुमोहरा, दुहावन, देवपाल, देवल, दौलतमानी, दंगली।

धन्तापूरी, धनाक्षरी, धनुके, धनुर्धर, धमीजे, धरद्वाजी, धारी, धितिये, धीरवीर, धीवन, धुतारा, धुवाना, धूरिया, धेकड़े, धोरवाया, धौन, धंधारी।

नकतूर, नकबेसर, नगराया, नगिया, नजड़ा, नटोरा, नदरा, नरेश, नलोरा, नृसिंह, नहछिदा, नहियप, नाग, नाग–नागर, नारंगे, निचाणी, निर्जिया, निडरे, नुनहारा, नेगर, नैमिव, नैयर, नोनछोड़, नौमहले, नन्दवार।

पट्टीलर, पट्ठे, पतमी, पधीजे, पधैले, पनवार, प्रमाणी, पृथु, पाकर, पाटन, पांडू, पानणी, पायोलल्ला, पिंढारी, पिनाकी, पुछरी, पुथरेजे, पुलयाणी, पुशकरी, पुहानी, पेक्ट, पोखल, पोछक्का, पोलावाल, प्रोरधा, पौहरी, पंखी, पंच्छे, पंचवेदों।

फक्कड़, फखयार, फत्ले, फलकिया, फलहारे, फुरकने, फुलवालिये, फुल्लीवाल, फुलिया, फूकमार, फूला, फोहिया, फौजी, फौलरी।

बग्गे, बजाज, बडंडा, बड़होत्री, बटेजा, बतवनी, बदहरे, बर्धवान, बधावन, बनिहाना, बपैत, बरतोरा, बरही, बराढ़, बरोपदा, बलवंता, बलहोत्रा, बलिये, बस्सी, बहकने, बहदी, बहरे, बहुरंगे, बांकपूत, बांकुरा, बाजरी, बाणिये, बाड़ा, बारे, बासल, बिदराल, बिन्हरा, बिरंच, बिरंची, बिरमाल, बिहारी, ब्रीन, बुधवाल, ब्यारुक, बेधर, बेदराल, बेराय, बेरी, बैन्दरा, बैनी, बंकामुख, बंदीफूक।

भगड़े, भगधारी, भगेड़ा, भजिये, भटरिया, भटेजा, भड़कने, भद्धा, भमेरी, भरत, भरनी, भरवाल, भरवाही, भसीन, भाहांकी, भीमर, भील, भुच्च्ड़, भूतिया, भोजपन्ने, भोजरटनी, भोजराय।

मक्खी, मक्ला, मकोड़ा, मग्गा, मगरूरा, मगोभी, मजना, मर्दी, मधवी, मधुवा, मनाहा, ममूरा, मरकट, मरक्टैनी, मरगाई, मरमुआ, मरवाहा, मलखन, मलखमजीरा, मलीता, मसाना, महंगी, महथा, महराविया, महाय, माधी, मारी,

मालवंती, मालवी, मालिया, मिचा, मिनकेती, मुकलाती, मुर्झाना, मुड़िया, मुहवंगा, मूचर, मेहता, मोदन, मोदा, मोहरा, मौनवार, मौनसिल, मंकरा, मंगल, मंगोलिया, मंजीठी, मंहता।

यती, यहांना, यांदा, यारद।

रघुपति, रघुराई, रघुवंशी, रचला, रजगल, रतनपाल, रनदेव, रसवाल, रोकड़िया, राजपूताने, राजमहल, राजवाना, राजवाल, राजशाही, रातकालिया, रायजादे, रावड़े, रैहां, रोचक, रोना, रोनिये, रोयड़े, रोहनिया, रंगड़ा।

लकमी, लखतुर्रा, लखनपाल, लखनी, लखपुरा, लखरिया, लवाणी, लहवर, लालपग्गा, लालमुन्ना, लोकपाल, लोछानी, लोटी, लोबा, लौंगिया।

वघेले, वजनी, वर्जल, वधारिये, व्यास, व्रह्मिक, वाल्मीकि, वासुदेवे, विनायक विज्ञमल, वीर, वीरासन, वेर्द।

सकड़ा, सखरे, सग्गे, सगुण, सच्च्ड़ (सच्चर) सपथ, सभरवाल, समीकुक, सयात, सरकत, सरसी, सरोजे, सरोहरी, सलोत्री, स्वता, स्वाती, सहगरा, सहजरा, सहमनी, सहारण, सांपमार, साहु, सिद्धवर्ती, सिंदुरिये, सींगी, सुचि, सुर्जिया, सुद्ध, सुपत, सुलेखी, सूर, सूरशाही, सेठी, सेनीगंग, सेवी, सेनानी, सैनी, सोजी, सोंढ़ी, सोती, सोंधी, सोनी, सोरवाल, सोलिया, सोहन, संखचारी, संगड़, संगरवार, संगी, संचल, संदराज।

शकारि, शब्बार, शम्भू, शमसो, शराज, शर्राफ, शहूते, शादराज, शारा, शालूचा, शालोती, शावल, शावानी, शासन, शाही, शुक्ला, शेशवाल, शैलाकी, शोई, शोचर, शोरिया, शोहर, शोहरी, शोहाल, शौम्हर, शौशनी।

हटसी, हड़, हथपैया, हरजई, हरजी, हरहरिया, हरणेजे, हरवै, हलवानी, हलाली, हवचातोवाई, हसटक्के, हांडीफोड़, ह्वीगन, हेकड़, हैहैया, होमकी, हालिखा, होवे, हौलियाँ, हंठा, हंडारी, हंदे, हंसमुख, हंसराज, हंसल।

जनवरी, फरवरी 1941 की 'खत्री हितैषी' में बाबू बाल कृष्ण प्रसाद का एक लेख छपा था जिसमें उन्हों ने कुछ अल्लों के नये नाम दिये थे जिनकी खोज से बाद में पता चला था। वे इस प्रकार हैं –

अनु, अलमंग, आवन्द, उड़, ऐनक, कम्बो, केकै, कोरा, कौरव, गर्ग, गयंद, गजरौल, गंग, घेंटी, चक्कड़वाल, चतरा, चप, चायली, चारफरी, चौहड्डा, झांझी, झिउड़ा, टकियार, टमकन, टोनिया, तकयार, तथहार, तरी, तांगड़ी, तिरहन, थम्मन, थम्बा, थरीना, थापन, थोटी, देवड़े, धरीड़, धरेटिया, धर्रे, नन्दचाहत, नहरानी, पटपटिया, पडाल, पडेर, पलाहा, पागदे, पांदी, पाशी, पोह, बट्ठल, बत्था, बन्दराय, ब्रजराय, बहकी, बुधवार, भक्को, भटियार, भम्बरी, भीमी, मगरथ, मचले, मजाई, मड़कन, मतस्य, मनकुंडी, मलकानी, मेहन, मैनी, मोड़री, यादा, रलन, रेहाल, लक्खी, लथिया, लब्बी, लवक, लोहिया, वच्छ, वत्ते, वसन, वहियार,

विसम्भू, सहजड़े, सामह, सारदार, साहनी, सुदन, सुमन, हरीठे, हाली, हुढ़, हंसरानी, शाही, शौकत।

(अंतिम दो अल्लों के नाम मुसलमानी राज्य में बदल गये हों तो आश्चर्य नहीं)

बहु जाति अल्लों की प्रकृति

बहु जाति खत्रियों की इन अल्लों को देखने से ही यह मालूम हो जाता है कि इनमें से अधिकांश प्रायः कर्मवाचक है और इनमें जीवन के साधारण कर्मों से ले कर मानवीय जीवन के कर्म, भावनाओं, चरित्र, घटनाओं, मर्यादा, घरेलू, वस्तुओं, प्राकृतिक वस्तुओं, युद्ध कला एवं कर्म, शारीरिक क्रियाओं, मानव स्वभाव एवं चारित्रिक विशेषताओं तक को ले कर इन अल्लों का निर्माण किया गया है। जिस समय इन अल्लों की खोज शुरू हुई थी, उस समय खत्री हितकारी आगरा में नवम्बर 1895 के अंक में पृष्ठ 138 से पृष्ठ 143 तक इनकी 600 अल्लों की सूची प्रकाशित की गयी थी जिनका उस समय तक पता चल सका था और तब से यह सूची लगातार बढ़ती ही रही है और संभवत इनमें से कुछ अल्लें विभिन्न कारणों से अब तक लुप्त भी हो गयी होगी और कुछ ऐसी भी होंगी जिनका अब भी पता नहीं है।

ये बहुयामी अल्लें किस प्रवृत्ति के अंतर्गत और कब कब बनीं यह तो नही कहा जा सकता किन्तु यह तो निश्चित है कि यह अत्यंत दीर्घकालीन प्रक्रिया एवं किन्ही विशेष परिस्थितियों का ही परिणाम है जिनका अब विश्लेषण कठिन है। इनमें से अनेक अल्लें संबंधित व्यक्तियों द्वारा प्रयोग न करने के कारण लुप्त भी हो जाती हैं या नयी अल्लें भी प्रयोग में आ जाती हैं परन्तु ये अत्यधिक सीमित एवं व्यक्तिगत तथा परिवार वाचक है, किसी बड़े समूह की बोधक नहीं हैं और अधिकांशतया पंजाब में या वहाँ से बाहर निकलने वाले छिटपुट परिवारों में ही मिलती हैं। विविधता एवं रोचकता इन अल्लों की विशेषता है। वस्तुतः ये सभी सूर्य, चन्द्र या अग्नि वंशी खत्रिय (क्षत्रिय) हैं पर व्यक्तिगत परिवारों के अलावा अन्य किसी स्रोत से इनके मूल अल्ल एवं वंश का पता करना बहुत ही कठिन एवं बहु आयामी परिश्रम साध्य कार्य है और इनकी पूर्ण सूची तैयार कर पाना उससे भी कठिन कार्य है। व्यक्तिगत रुचि रखने वाले लोग अवश्य इनमें परिवर्तन तथा परिवर्धन करते रह सकते हैं।

*****

परिशिष्ट (3)

बाहरियां (भारतवर्ष के बाहर) की अल्लें (पृष्ठ 161 देखिये) जिन्हें बनजाई कलां, बावन जाति या बावनजाई कहा गया)

1. अकरा, 2. अंखोर, 3. अलबन्दा, 4. अव्वल, 5. ओपीसीर, 6. ओलविहार, 7. इकरा, 8. ईछर 9. उठैले, 10. उत्रिचपुरे, 11. ऊँच कोटि, 12. कटवार, 13. कन्दफूली, 14. कनाडे, 15. कुचकुचे, 16. कुहिरे, 17. कोड़ीखाने, 18. खंगवाल, 19. खांदर, 20. खुखराइन, 21. खुदमते 22. खुमानी, 23. खूंरेजी, 24. खैबर, 25. गगरील, 26. गादीमन्द, 27. गिदड़ हिल्ले, 28. गिलोईगीर, 29.गोरखगुल, 30. गोलखपुरे, 31. चतुरगोत्री, 32. चाँद चहितेयावाटे, 33.चाँदीहूक, 34. चोगुला, 35. चौरंगे, 36. चौहरवा, 37. छकचीर, 38. छरदेही, 39. छब्बासी, 40.छिनहट्टे, 41. छुड़ीले, 42. जनमेजी, 43. जब्बरशाही, 44. जरजी, 45. जुहारजीते, 46. झलकमार, 47. झांझा, 48. टोंगा, 49. ठाकुरायल, 50.ताँतिया, 51. तिल्लीछार, 52. थलहिल 53. दधिया, 54. दल्लालिया, 55. दागन, 56. दादीपोता, 57. दक्षिण, 58. दुलिया, 59. धांगड़े, 60. नखराना, 61. नाशकीड़े, 62. पदवासी, 63. पलथन, 64. पुरी, 65. पोलपुहर, 66. फूलमाल, 67. बलसुहाई, 68. बालखीरन, 69. बालवीरान, 70. भामदिल, 71. मुनारा, 72. मुलिये, 73. मोरे, 74. युगलजाया, 75. स्वादा, 76. हांडीसीर, 77. त्रेहन।

सभी तालिकाओं के एक दूसरे से न मिलने का कारण

उपर्युक्त तालिकाओं को देखने से प्रत्यक्ष में तो यही दिखायी पड़ता है कि पहले तो आगरे वालों ने व पूर्विये खत्रियों ने सेठ के स्थान पर टण्डन को मिला कर दूसरी तड़बन्दी की पर ''ब्रीफ एथनोलाजिकल सर्वे आफ दि खत्री कास्ट (खुलासा पड़ताल खत्री–उर्दू अनुवाद)'' के पृष्ठ 190 को देखने से ज्ञात होता है कि मेहरे, कपूर, खन्ने ही शुद्ध चौजाति (चारु दल) हैं। इसमें सेठ (श्रेष्ठ) उत्तम कार्य करने से यश के भागी होने के कारण मिलाये गये हैं। यही मेहरे, कपूर और खन्ने बारह जाति में भी माने जाते हैं। स्वयं उक्त एथनोलाजी (पृष्ठ 183) में ही लिखा है कि दिलवालिये (दिल्ली वाले) टण्डन को छः घर में और महेन्द्रू को ढाई घर में मानते हैं।

उक्त पुस्तकें ''एथनोलाजी'' एवं ''हरि दर्पण'' सन 1895 के आस पास प्रायः थोड़े ही दिनों के अंतर से लिखी गयी थीं, फिर भी इनमें दी गयी तालिकाओं में अंतर स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इससे प्रगट होता है कि समय समय पर तड़बन्दी की यह तालिकायें किसी न किसी कारणवश बदलती गयी हैं।

इन तड़ों के बनने के बाद आपस में एक दूसरे की मर्यादा ऊँची या नीची

समझी जाने लगी और धीरे धीरे इन क्षत्री (खत्री) लोगों ने वही सिद्धान्त और कठोर नियम अपना लिये जो प्राचीन काल की आर्य वर्ण व्यवस्था में प्रचलित थे अर्थात यह कि लड़कों की शादी ब्राह्मण व क्षत्रिय अपने से नीचे के वर्ण में कर सकते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय की और क्षत्रिय ब्राह्मण वंश की लड़की के साथ विवाह संबंध में बंध सकता था किंतु प्रत्येक वर्ण के वास्ते लड़कियों का विवाह खास अपने या अपने से उच्च वर्ण में करना लाज़िम था। अपने से नीचे के वर्ण में, यद्यपि इसके कुछ उदाहरण विद्यमान हैं, लड़की का विवाह करना उचित नहीं समझा जाता था (देखिये मनु स्मृति अध्याय 3, श्लोक 12 से 18)। जब ढाई घर खत्रियों ने अपनी मर्यादा सर्वोच्च समझनी शुरू की तो उनके लड़कों के विवाह तो चार घर बारह घर और बुंजाइयों (बावन जाति) में होने लगे किन्तु उनकी लड़कियां उनके ढाई घर और चार घर के हलके के बाहर न जाती थीं। बारह घर को तीसरे दर्जे पर समझ लिया गया। वे अपने फिरके की लड़कियां अपने फिरके के अलावा ढाई और चार घर में भी ब्याह देते थे बल्कि ढाई या चार घर से इस किस्म का विवाह संबंध होना बड़े फख्र (सम्मान) की बात समझते थे। इन बातों का बयान खत्री किशन दयाल की "अशरफुल तवारीख" में विस्तार से मिलता है।

इन तड़ों के बनने के बाद प्रायः यह प्रथा हो गयी कि लोग अपने लड़कों का विवाह सम्बन्ध अपने ही तड़ में या अपने से नीचे के तड़ में करते थे किन्तु अपनी लड़की का विवाह अपने से नीचे के तड़ में नहीं करते थे जिससे अनेक जटिल सामाजिक समस्यायें उत्पन्न हुईं और ढाई घर खत्री अपनी उच्च सामाजिक मर्यादा का सर्वाधिक दुरुपयोग भी करने लगे, यद्यपि आर्थिक दृष्टि से वे समाज के सबसे कमजोर अंग हो गये थे और उनके बारे में यह कहावत तक प्रचलित हो गयी थी कि "टूटी जूती और पगड़ी पुरानी, ढाई घर की यही कहानी।" फिर भी जिस ढाई घर खत्री के घर में लड़के होते थे वह अपने लड़कों को पढ़ाने लिखाने , सच्चरित्र एवं उद्यमी बनाने की तरफ कोई ध्यान नहीं देता था बल्कि उन्हें अपनी जिंदगी भर की कमाई का ज़रिया समझकर उनके ब्याह में भरपूर दहेज की मांग कर के अपनी हुंडी भुनाता था और उनकी शादी जल्दी से जल्दी कर देने का प्रयास करता था। अन्य तड़ों के लोग भी समाज की सर्वोच्च कुल मर्यादा वाले इन ढाई घर खत्रियों के कुल से अपना संबंध स्थापित करने के चक्कर में उन्हें विवाह में न केवल अत्यधिक धन दहेज में देते थे बल्कि विवाह के समय उनकी अकड़बाजी, अक्खड़ता, बेहूदगी और अपमान तक स्वयं ही नहीं बरदाश्त करते थे बल्कि उनके अन्य रिश्तेदारों को भी बरदाश्त करना पड़ता था। एक समय जब यह स्थिति चरम सीमा पार कर बरदाश्त के बाहर हो गयी और यह बुराई सभी तड़ों में फैल गयी तो मार्च/अप्रैल सन 1872 ईसवी में नूरमहल, जिला जालन्धर में बहुजाति तड़ के खत्रियों ने एक अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित कर के यह ऐलान कर दिया कि "सभी खत्री एक

हैं। जो लोग हम लोगों को अपनी लड़की न देंगे, उन्हें हम लोग भी अपनी लड़की न देंगे।" इस प्रस्ताव के सर्वसम्मति से पारित हो जाने के कारण सभी तड़ों में ब्याह शादी का बन्द दायरा खुल गया।

जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि खत्रियों की यह तड़बन्दी अलाउद्दीन खिलजी के समय में विधवा विवाह के प्रश्न पर विरोध को ले कर बनी थी। उस समय भारत की जनसंख्या आज की अपेक्षा बहुत कम थी (जो संभवतः दस करोड़ के आस पास रही होगी) और उसमें भी खत्रियों की संख्या बहुत कम थी और उनके परिवार भी सीमित थे। इसी कारण से प्रायः सम्पूर्ण खत्री समाज इस तड़बन्दी के अंतर्गत आ गया। उस समय इस प्रश्न पर संपूर्ण भारत का खत्री समाज इतना अधिक आन्दोलित हो उठा था कि सारे भारत में नारे लगने लगे थे– "ऐसी तैसी लल्लू जगधर की। कहाँ की तजवीज, कहाँ के ऊधरमल। कुछ भी क्यों न हो, हम अपनी इज्जत कायम रखेंगे। न माना है, न मानेंगे। अपनी जान अपनी इज्जत पर निसार कर देंगे। यह तो बड़े अपराध की बात है और सख्त जुल्म है। हमें खाक हो जाना मंजूर है लेकिन खत्री विधवाओं की पुनः शादी करना गंवारा नहीं।"

यह आन्दोलन इतना बढ़ा और इतना व्यापक हुआ कि सारे भारत से खत्रियों के दल के दल विधवा विवाह के प्रस्ताव पर अपना विरोध प्रगट करने के लिये दिल्ली में एकत्र होने लगे और शाही प्रस्ताव (फरमान) वापस न लिये जाने पर सशस्त्र विद्रोह पर भी आमादा हो गये।

इस देश व्यापी हलचल को देख कर बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने अपना प्रस्ताव (फरमान) तो वापस ले लिया किंतु खत्रियों को शाही सेनाओं में अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ा। धीरे धीरे यह आंदोलन तो समाप्त हो गया और खत्रियों की बात रह गयी तथा सारी हलचल भी थम गयी पर जिन लोगों ने इस प्रस्ताव का विरोध करने में पहल की थी उन्हें सामाजिक दृष्टि से विजय का सम्मान देने के लिये अधिक आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा और विरोध प्रगट करने में पहल करने वाले तीन अल्ल के घरों मेहरे, कपूर, खन्ना (आधे कुल ब्राह्मण वंश में जाने के कारण खण्य अथवा आधे) को सर्वाधिक सामाजिक सम्मान दे कर आढ्य कुल (सर्वोच्च सम्मानजनक कुल) कह कर पुकारा जाने लगा जो कालांतर में रूपान्तर से ढाई घर हो गया। इसी तरह उसके बाद आने वाले अल्ल दल में मेहरे, कपूर, खन्ना अल्ल के कुछ और परिवार थे तथा सेठ और टण्डन अल्ल के भी कुछ परिवार थे और इनकी मर्यादा चार घर की बनी। इनके बाद आने वाले दल में अन्य आठ अल्लों के अलावा मेहरे, कपूर, खन्ना, टण्डन अल्लों के भी कुछ और परिवार थे, इस लिये उनकी मर्यादा बारह घर बनी। इस प्रकार मेहरे, कपूर, खन्ने तो ढाई घर और चार घर दोनों में हो गये (शायद कुछ थोड़े से परिवार बारह घर में भी गये) किंतु सेठ और टण्डन केवल चार घर में रहे (और कुछ टण्डन परिवार शायद बारह घर में भी गये)।

धीरे धीरे इन पांच अल्ल मेहरा, कपूर, खन्ना तथा टण्डन और सेठ का एक ऐसा विशिष्ट मर्यादा वाला दल हो गया जो अपने को सर्वश्रेष्ठ समझ कर विवाह सम्बन्धों के लिये अपने ही समूह में सीमित हो गया (यद्यपि इन समूहों में भी समय समय पर विभिन्न तड़ों द्वारा काट–छांट होती रही पर मुख्य समूह यही रहे) तथा उसने अपनी लड़कियों की अन्य समूहों में शादी करना ही बंद कर दिया।

इस तथाकथित श्रेष्ठता का एक ऐतिहासिक परम्परागत कारण यह भी है कि इन अल्लों की वंश परम्परा अभी तक प्रत्यक्ष रूप से सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंशों से किसी न किसी रूप में संबंधित और जुड़ती हुई खोजी जा सकती है जब कि अन्य सभी अल्ल सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि वंशी होते हुंए भी अनेक कारणों से और अनेक प्रकार के भ्रम वश कुछ अलग–थलग प्रतीत होते रहे, जो सही नहीं हैं।

यही कारण है कि इन तड़ों के बनने के समय से ले कर आज तक उपरोक्त पाँच अल्लों की ही आपस में रिश्तेदारी सर्वाधिक पायी जाती रही और आपस में पसन्द भी की जाती रही तथा आज तक अधिकांश वैसी ही चली आती है यद्यपि अब स्थिति वैसी नहीं है और बहुत कुछ बदल चुकी है।

इसी तरह उसके बाद आने वाले दल क्रमशः बारह घर और बावन जाति (बहु जाति) बने, वास्तव में यह मर्यादायें उपरोक्त संपूर्ण अल्ल समूहों के लिये नहीं बल्कि इन अल्लों के केवल उन परिवारों के लिये बनी थीं जो विधवा विवाह के विरोध के लिये दिल्ली पहुँचे थे और केवल उन्हीं परिवारों को इन मर्यादाओं से पुकारा जाने लगा था। यही कारण है कि सन 1887 (प्रारम्भ वर्ष मई 1887) से सन 1897 तक की पुरानी खत्री हितकारी पत्रिका में भी इन लोगों के अल्ल नाम के साथ ही ढाई घर, चार घर या बारह घर (पूर्विये, पच्छइयें, लाहौरी, सरहिंदिये, आगरे वाल या दिलवालिये) भी लिखा मिलता है।

इसी प्रकार बहु जाति या बुजाई या बुंजाई खुर्द में एक बड़ी तादाद खत्रियों के उन फिरकों की शामिल है जिन्हों ने बुंजाई के बाद विधवा विवाह के विरोध पर कमर बांधी या ऊधरमल की राय न मान कर विधवा विवाह के विरोधियों के पक्ष में दिल से रहे पर किसी विशेष कारण से उनके साथ शामिल न हो सके।

यह तो केवल एक सामाजिक सम्मान देने से सामाजिक कुलीनता की मर्यादा बनी और एक सामयिक तड़बन्दी बन गयी पर सन 1895 के आसपास एक अन्य कारण से बरेली में एक नयी तड़बन्दी बनते बनते रह गयी। इस संबंध में माह अगस्त 1895 के खत्री हितकारी के पृष्ठ 86 को देखने से मालूम होता है कि इस घटना में एक खत्री भाई पर एक रंडी (वेश्या) की जबान से नवम मिलाने का कसूर पंचायत में आरोपित किया गया। इस पर शहर में उसके पक्ष व विपक्ष में दो फिरके या दल हो गये।[1] एक वह घर कहलाता था और दूसरा छः घर कहलाता था। यह विरोध एवं अलगाव बढ़ने लगा लेकिन चूंकि

मामला शीघ्र ही आपसी समझौते से तय हो गया और किसी को कोई शिकायत न रही अतः यह नया वर्गवार विभाजन तुरन्त समाप्त हो गया। अगर यही विवाद लम्बे समय तक चलता रहता और प्रत्येक दल इन नामों से बराबर पुकारा जाता रहता तो संभव था कि आपस में समझौता हो जाने के बावजूद खत्रियों में एक नयी तड़बन्दी उपरोक्त कारण से उत्पन्न हो जाती, लोग अपने ही दल में विवाह आदि सम्बन्ध करने लगते और यह नाम हमेशा के वास्ते पड़ जाते।

उन्नीसवीं शताब्दी में "भारत के बाहर विदेश (यात्रा)" में शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाना धार्मिक दृष्टि से उचित है या नहीं, यह भी एक जातीय प्रश्न बन गया था और इस पर जातीय व अन्य पत्र–पत्रिकाओं में सप्रमाण विशद बहस होती रहती थी। इसी को ले कर दिल्ली के खत्रियों में दिल्ली के देसी, विलायती व मिश्रित (दोगले) फिरके के नाम से तीन फिरके मशहूर हो चले थे तथा खत्री हितकारी (आगरा) पत्रिका में इन फिरकों का बराबर जिक्र होता रहता था। विलायती वह कहलाते थे जिन्हों ने विलायत यानी इंग्लैंड में शिक्षा प्राप्त करने के बाद वापस आये हुए खत्रियों को बिरादरी में शामिल कर लेने की राय जाहिर की थी। देसी उनका नाम था जो ऐसी कार्यवाही के सख्त खिलाफ थे। मिश्रित (दोगले) वह कहलाते थे जो कभी एक ओर कभी दूसरी ओर रहते थे, यानी जाहिर में देसी व बातों में विलायती थे। चूंकि यह मामला शीघ्र ही तय हो गया और किसी को एक दूसरे से एतराज नहीं रहा अतः देसी, विलायती फिरकों के नाम बदस्तूर यादगार कायम नहीं रहे पर इंगलैंड में ऐसा नहीं हो सका। वहाँ आयरिश होम रूल बिल के पक्ष विपक्ष में लोगों के बीच मत विभाजन हो कर अलग अलग दल टोरी, कंजरवेटिव और लिबरल बन गये जो आज तक वैसे ही चले आते हैं और उन्हीं में देश के राजनैतिक दलों का नामकरण हो गया यद्यपि इनके जन्म के समय की परिस्थितियां बहुत कुछ बदल चुकी हैं पर नाम वही चले आते हैं।

अतः स्पष्ट है कि ऐसी सामाजिक तड़बन्दियां किन्हीं विशेष कारणों व परिस्थितियों का ही परिणाम होती हैं जो कभी कभी काफी लम्बे समय तक चलती रहती हैं पर नैसर्गिक न होने के कारण चिरस्थायी नहीं होती और उनका रूप समय समय पर बदलता भी रहता है।

*****

---

1. मनु स्मृति अध्याय 3, श्लोक 19 में समानार्थक व्यवस्था है कि "शूद्रा के अधर का थूक चाटने वाला जो ब्राह्मण उसके साथ शयन कर के उसके निःश्वास से अपने प्राणों को दूषित करता हुआ सन्तानोत्पादन करता है, उसके उद्धार का कोई प्रतिकार नहीं है।"

परिशिष्ट (4)
सरीनों के अल्ल

(पृष्ठ 158 देखिये)

अग्गल, अग्रवाल, अतद, अर्दन, अनूसा, अपत, अम्बे, अमीन, अवत, अवलसे, अवत, असेमत, आतू, आबी, ओधी, औधरी, औल, उल्ला

कचना, कचरील, कजरीला, कटारे, कटीला, कठाला, कथेर, कन्देर, कन्सूता, कनोठरा, कपता, कपाली, कम्बूल, कम्यानी, कमठेल, करारे, कलसिया, कंचन, काजीनार, किच, किसरा, कुदले, कुल्हड़, कुलशिये, कुहर, कैसर, कोपनी, कौशिल्य, कृपाल,

खक्कड़, खोसले

गड्ढे, गंधार, गोपाली, गोलन्दी, गोवल

घुम्मान, घुस्सा, घीया, घोसिल

चकरैल, चड्ढा, चम्मन, चमनी, चलग, चान्दराना, चापलू, चूनरछोर, चोपड़ा, छत्री, छंछन, छाम, छिपिया, छिरका, छुदिये

जपी, जम्मा, जमकी, जयरथ, जरार, जल्ला, जंड, जांघी, जिवारा, जोगिया

झाला

टाली, टुनकिया, टैठिया, टेढ़ीवाक

डाली, डेगी

ढकना, ढरक, ढारी

तरवार, तनोद, तवकिया, तवेया, तलकी, तिर्हन, तौलिया

थलेर

दस्सू, दासा, दीदाबन्द, दुखेरे, दुपाया

धन, धवन, धिवाया, धूमन

नागर, नागौन, नागौरा, निर्शान, नेमी, नैर

पतोला, पथरा, पलटा, पलाई, पलाही, पाजड़ा, पांजिया, पाड़ा, पाधा, पापा, पुरी, पैगे, पैंचे, पोलियार

फटखार, फांकिया, फूल, फूलर

बजाज, बलियार, बस्सी, बसन्ती, बहले, बांका, बेगी, बेसी, बुधवाल, बूछड़

भलूता, भल्ले, भोछड़

मखना, मगरा, मंगल, मर्गाई, मदरा, मधवा, मधकने, मनके, मनमोर, मन्दूरा, मनहोरा, मनोक, मरदत्ती, मरवाहा, मलहोत्रा, मलार, महान, माही, मिरैया, मुकेर, मुडैल, मोटिया, मोरपंखी, मोहर, मौनी

रघुराया, रसान, रारा, रावल, रोडा

लम्बा, लम्हक, लोहडिया, लोहिया, लुलवाज

वंगुठला, वनसिया, वरहिया, वांदा, वासिल, विषम्भ, वूसिया, वेदी, वोलविहा

संगी, सग्गे, सन्तराया, सन्हरैया, सभी, समूचे सपील, सरथ, सराई, सलाई, सहनी, सहहारा, साही, सिंधराया, सिधार, सिल्ली, सुदान, सेठी, सेवकी, सोच, सोचर, सोढी, सोंधी, सोहरान, साहवाकी, सोहारी, सोलरा

शिवानी, शिवपुरी, शोभी

श्रीधारी

हड्डा, हरना, हरिया

खोखरान खत्री (पृष्ठ 158 देखिये)

आनंद, कटली या कहली, केरी, चड्ढा, भसैन या भैसन, सब्बरवाल या सभरवाल, साहनी, सूरी तथा सेठी

सिखरा खत्री (पृष्ठ 154 देखिये)

अंगिया, अरिन, उहिल, एलवी, कग्गर, कालघर, खुमाड़, गंगादिल, चारखंडे, चुनाई, छेमदा, जुड़े, तिपुरा, तेहर, थागर, पखूरा, फलदा, भोगर, मालगुरु, वालगौर, वाहगुरु, सोडिल, हैगर या हूँगर

बर्दवान के खत्री विभाग [1]

ढाई घर 1– कपूर, 2– खन्ना, 3– मेहरा, 4– सेठ, (नोट–यही अल्ल चार घर और बारह घर में भी हैं पर ढाई घर के इन चारों का गोत्र कौशल्य लिखा है)

पंजा जाति

1– वाही, 2– विज, 3– वेरी (बेरी), 4– वेहन, 5– शयगल

छः जाति

1– कक्कड़, 2– चोपड़ा, 3– टण्डन, 4– तालवाल, 5– धवन, 6– वोहरा, 7– सेठ

वावन जाई

1– कपाही, 2– कर, 3– करन, 4– घड़ियान, 5– जनड़े, 6– धारन, 7– नायक, 8– निरंद, 9– पुरी, 10– भण्डारी, 11– महता, 12– मैनी, 13– मंगल, 14– रज्जे, 15– वज्ज, 16– वाज, 17– विक्खे, 18– वीर, 19– सरवार, 20– साही

खोकरन

21– अरंद, 22– कोयनी, 23– चड्ढे, 24– घेई, 25– भषेनी, 26– सभरवाले, 27– सूरी 28– सोहनी

सिरपन वाले

29– कम्पनी, 30– करखी, 31– कलसिरे, 32– कामड़े, 33– कुन्दराय, 34– गोध, 35– चौधरी जम्बो, 36– नैपर, 37– पियामोयो, 38– बसीसी, 39– भेरू, 40– मदीने, 41– मन्नी, 42– मरगाई, 43– मारवाहे, 44– येन्द्री, 45– वेदी, 46– वोषने, 47– सारी, 48– सोदी।

तिरपन जाई क्षत्रिय (खत्रिय)

49– अगोचन, 50– देनावरी, 51– नाइनचल, 52– मग्गो।

---

1. यह सूची क्षत्रिय वंश तालिका श्री गोष्ट बिहारी लाल सिंह कृत से ले कर जिस प्रकार श्री बाल कृष्ण प्रसाद द्वारा अपनी पुस्तक 'खत्रिय इतिहास' के पृष्ठ 275–276 में उद्धत की गयी, उसी प्रकार यहाँ दी गयी है।

परिशिष्ट (5)
गुजराती (ब्रह्म क्षत्रिय) खत्री

इनमें अनेक जातियाँ हैं जिनके गोत्र अलग अलग हैं तथा प्रत्येक के अन्तर्गत कई कुल हैं। कुछ जातियाँ, गोत्र (कोष्ठक में) एवं कुलों सहित इस प्रकार हैं :

1. कपूर (कौशिक), 2. चलामेनी (हंसल), 3. झग्गर (कौशल्य गोत्र), 4. झग्गर (कश्यप गोत्र), 5. टण्डन (अंगिरस गोत्र), 6. टण्डन (कश्यप गोत्र), 7. दोहरे (भारद्वाज), 8. प्रथ (धीया या धीर (कश्यप), 9. भल्ले (कौशिक), 10. महेन्दू (वत्स), 11. मालदार (कपि), 12. मेहरा (कौशल्य), 13. वधारे (औलस्य), 14. सहगल (कौशिक), 15. साह (कौशल्य), 16. सहगल (भारद्वाज), 17. सिक (भारद्वाज),, 18. सोनी (कश्यप)।

गुजरात के ठंठ गाँव के भाट लोगों द्वारा बतायी गयी 13 जातियां एवं प्रत्येक के कुल :–

	जाति	कुल
1.	टण्डन–	केड़िया, गोस, जाडा, जोगी (कुष्मांड गोत्र), टंटारिया, टोकले, बहार, लूला, सधैया।
2.	मेहरे–	कीरी, छाटबार, ठमारावाड़ा, ठाठगण, नचया, बारडे, भावड़िया, मेहरा।
3.	कपूर–	काट, बागड़ा, खचिया, गेला, गोरा, तेला, नभल, रबारा, शनिश्चरा, हरगण।
4.	सोनिंग–	काकु, खखर, डगिया, डयानी, बगरिया, सधाणी, सोनेजी, हुबल।
5.	तालवाल–	करचल, गजकर्ण, चमरिया, चुडग, तुतिया, दाघड़ा, मणियार।
6.	बहोरी–	बोहरा, गुमरा, घड़ा, जोरथ, डारा, डोडिया, तेजानी, तेला, भेड़ा, रावत।
7.	कक्कड़–	ककिया, काटकीया, ठकान, तेतरा, दुलेरा, बहोत, बीछी, मच्छर।
8.	सेठ–	नानसी, बिबोड़ी, बोलमीया, मेवा, मकोड़ी, वारडे, सेता, सोमेश्वर।
9.	चोपड़ा–	खुवा, गवीया, चचा, धनदेई, बडेरे, विबोड़ी, वारभीया, सिंघवड़।
10.	ऊपल–	आसरा, छनगमोल, जाजल, नवलखा, पडिया, भईठा, सपूतीड़ा, सोडा।
11.	गंगवाल–	खुड़, खुडिया, गोधा, छूछा, जगड़, ठण्डन, निर्मल, बाराछ, भूत।
12.	महेन्द्र–	कुकशा, डीख, भर्थक, माधू, राजवाड़ा, विजाणिया, हंजा, (गौतम गोत्र)
13.	खन्ने–	(इनके कुलों का उल्लेख ज्ञात नहीं)

इसके अलावा वरद, दंतड़ा, धीणिया, छलमा, झगाड़, पराशर, लचर, कौशल, जोगी, कुष्मांड, हंजा, गोतमा, आदि कुल भी हैं।

देशानुसार जाति भेद

सोरठिया, कच्छी, हलाई, दिवेचा, सुरती, गामवाला, सिन्धी, तहर, गामवा

परिशिष्ट (6)
अरोड़ा वंश की ज्ञात अल्लें

मूल संकलनकर्ता सोहनलाल बजाज – इनके 962 अल्लों के संकलन में कुछ और अल्लें अब जोड़ी गयी हैं और संख्या लगभग 1063 हो गयी है। प्रायः सभी अरोड़ा कश्यप गोत्र के कहे जाते हैं। यह कश्यप ब्रह्मा जी के मानस पुत्र मरीचि के पुत्र थे जिनके पुत्र विवस्वान थे और उन्ही के पुत्र वैवस्वत मनु हुए।

(अ)

अकारी, अखलेजे, अघेले, अचरू, अच्छपरानी, अछपानेवाले, अजमानी, अजहाली, अजायती, अजीड़ा, अझाली, अठरेजा, अणरिये, अथडेजे, अथरेजे, अधमाखे, अधरेजे, अधलिखे, अधोस, अन्द (आन्दा), अन्दरानी, अनदानी, अन्दाहमुखी, अन्देमानी, अनन्दा, अनरेजा, अनेजा, (अनेजे), अपन, अपनेजे, अपनबी, अपहून, अबयाए, अबरानी, अबहर, अभट्टा, अभवानिये, अभाणी, अम्बायवादी, अमरिये, अलवचे, अलूंगिये, अलूचे, अलूनघे, अस्तावाधी, असनानी, असीजे, असंजा।

(आ)

आकली, आनी, आभाटे, आमरे, आहूजे।

(इ)

इच्छपुजानी, इच्छामारणी, इंदराणी, इलफानी, इलाहाबादी, इस्तानी।

(उ)

उत्तराधी, उतरेजे, उधरेकी, उपावेजे, उबावेजे।

(ए)

एघरे, एजियाल, एदानी, एलानहादिये, एलेसवी।

(ऐ)

ऐवाती।

(ओ)

ओतरेजा, ओतरेजे, ओपरगे, ओरगिये।

(अं)

अंखेजे, अंगदा, अंगी, अंद, अंदरानी, अंदाहमुखी, अंदेमानी।

(क)

ककड़े, ककरानी, कगड़ा, कचरा, कटवानी, कटारिये, कठोरे, कतरपाल, कतरेजे, कथल, कथूरिये, कनड़े, कपकजे, कपूर, कबारजही, कबीरिया, कमलारी, कमालपुरिये, करतने, करपालजही, करमानी, करवाट, करवे, करसेजे, कराट, करानी, करेजे, करोड़ी, करोड़े, करंदी, कलड़ा, कलाटड़ा (कलातरा), कलेरमा, कवातड़े, कवायर, काठ, काठपाल, कामरे, कामली, कालड़े, किन्नड़, किमरिये, किरानिये, कीरतिये, कुक्कड़, कुकरेजे, कुंडे, कुब्बे, कुम्हार (कुमार), कुरड़, कुरले,

कुलपलेजे, कुलात्रा, कूंमरे, केकड़े, केतरे, केतला, केरे, केसरा, केसाजड़ी, केहर, केहरपोत्रे, कोचर, कोनी, कोयल, कोरतानी, कोरिये, कंघरे, कंजरा, कंतोड़, कंधारी।

(ख)

खट्टर खड़, खदसिया, खदसेजा, खन्ना, खपरेजे, खब्भानी, खबानिये, खरगोश, खरबंदे, खरेजे, खरोदे, खारी, खाहरे, खुंगर, खुम्वारी, खेकभांजे, खेते, खेतो, खेजपाल, खेमवाणा, खेरबाट, खेरे, खोतड़े, खोराने, खोरिये, खोसरे, खंडपुर, खंडपुरिये।

(ग)

गक्खड़, गगड़, गगनेचे, गगलानी, गगवानी, गगे, गजेजई, गतानी, गनेजे, गबरानी, गम्भीर, गरगा, गरपिये, गलकटे, गलानिये, गलोटे, गागड़े, गाडखेल, गाड़ी, गांधी, गाबड़ी, गाले, गावे, गिदड़, गिरधर, गिरहोत, गिलहरी, गिलोटी, गिलोतरे, गिलोरिया, गीला, गुगवानी, गुट, गुटतोड़, गुट्टी, गुड्डी, गुरिये, गुरीजे, गुरुकाणी, गुरुदत्ते, गुलकानिये, गुलबघर, गुलरानी, गुलाटी, गूजर, गूम्बर, गेरे, ग्रेवल, गोगिये, गोचिज, गोट, गोटारे, गोरचन्दे, गोरतते, गोरसयानी, गोरायत, गोरीचन, गोरुनरे, गोरुबाड़े, गोरुक्ते, गोरे, ग्रोवर, गोवारे, गौरह, गंगे, गंड, ग्रंथ, गंद, गंध।

(घ)

घघरे, घला, घावरे, घिया, घीक, घुंडीमोड़, घुनोया, घुमार, घुलाटिये, घुलानिये, घेटी, घेही, घोका, घोग, घोघे, घोरे।

(च)

चकड़, चकदे, चकने, चगाये, चचक, चचरे, चटकारे, चटयानिये, चटाके, चढ़े, चनन, चननपोत्रे, चनवाद, चनोनिये, चभरा, चराई पोत्रे, चराये, चलतर, चलेजे, चहंगे, चाँदना, चानना, चाबे, चावले, चाहल, चिलड़े, चिलाने, चुकिया, चुग, चुगतिये, चुघ, चुटकानी, चुटानी, चुंड, चोटमुरादे, चोटलद, चोटीकपा, चोटीपट, चोतड़े, चोथानी, चोपे, चोवरे, चौभा, चंदानी।

(छ)

छकड़, छताती, छतोड़ा, छपरे, छबीले, छलडारा, छलवेजे, छालोजे, छवका, छहड़ा, छहरीया, छाबड़े, छूत, छेतीया, छैल, छोकरे, छोड़े, छोल, छोरे।

(ज)

जगरान, जतवानी, जदानी, जनवेजे, जनीचावला, जन्नी, जपके, जमरेजे, जसवड़े, जसोवे, जाकन, जाका, जाजीखेल, जाजीचंद, जाजे, जाँदनी, जायखलाड़ी, जावा, जुगे, जुनेजे, जुलाहे, जेरवाणी, जेसगही, जैसघंडी, जौसिधिंये, जोखाने, जोथे, जोरवानी, जोसींगे, जौभी, जंडवाई।

(झ)

झझर, झमाणी, झांझरे, झाममरा, झंकारा, झांम, झांव।

(ट)

टक्कर, टक्कर–टेक, टक्करेजे, टकन, टटयानी, टणाका, टनोजिये, टाटरा, टाटरेजे, टांडरे, टारिये, टिकू, टेजे, टंडन।

(ठ)

ठक्कर, ठकनोजिये, ठकराल, ठट्ई, ठठचारे, ठठयारे, ठठराल, ठठानीवारे, ठठोमरे, ठाकरे, ठाठभूरे, ठांड, ठुकरेजा, ठुकरालिया, ठुड्डी, ठोभरे।

(ड)

डगबरेजे, डगवने, डटाईये, डड्ढी, डडवहे, डडोहे, डड़डग, डरेजे, डहे, डांग, डागरी, डावरे, डींगरे, डूंगर, डूमने, डूमरे, डेवरे, डोडे, डोडेचा, डोडेजे, डोनम्बरे, डोमेजे, डंगडाई, डंडीडेजा।

(ढ)

ढटावने, ढटावरजे, ढमला, ढवराला, ढाढवानिये, ढान्डे, ढानिये, ढाभीणा, ढोलाणी, ढंगढेरे।

(त)

तकोजे, तकोने, तखतोला, तगतोड़, ततरेजे, तनेचे, तनेजे, तपंगर, तमेजा, तरपके, तरवानी, तरीकिये, तरोने, तलरे, तलवजे, तलवार, तलोजे, तहरी, ताकरा, तागड़े, ताँगा, तांगिये, तांगेल, ताणेवली, तातने, ताने, ताबड़े, तारा, तिगड़े, तिन्ने, तिलुका, तीगरे, तुरीजे, तेंगर, तेजा, तेय, तोतलानी, तोतवाणी, तोते, तोबरेजे, तोलबाटरीन, तंचे।

(थ)

थथड़े, थरेजे, थाथरी।

(द)

दमकतरे, दय, दरगन, दरगाना, दरजे, दहगलानी, दहतारिये, दहराना, दहूजा, दहोचा, दागड़ी, दादरे, दानिये, दारले, दावड़े, दाहड़े, दाहोरा, दाहोले, दिगा, दुए, दुधावने, दुम्बवाल, दुरीजे, दुरेचे, देंच, देजे, देयला, दोए, दोखरे, दोपे, दोबरेजे, दोवे, दोल, दोहुजे, दौलड़े।

(ध)

धगलानी, धगवाली, धतूरिये, धमीजे, धरकबंदिये, धरकमार, धरमेरे, धरमोहा, धरवानी, धरेजे, धवन (धोन) धींगड़े, धुड़िया, धुनी, धुमरे, धोन (धवन)।

(न)

नगई, नगरानी, नगरेजे, नचाती, नरूले, नहगंदी, नागपाल, नागरे, नागिये, नागुंरु, नागे, नारंग, नालवा, नासवा, नासा, निओले, निवाणी, निवाहिये, नेमके, नोगराही, नोगरे, नोरेजे, नंदवाने।

(प)

पजांजही, पजांवे, पटोदी, पड़तने, पनवाटी, पनवानी, पनेरट, पनेरह, पपड़ेजे, पमणोजा, पयलठे, परचन्डा, परुथी, परेयानी, पवेजे, पसरीजे, पहजा, पहलते, पातलिया, पानपोला, पायलानी, पायलाया, पायेहजी, पालसिया, पालेज,

पालोय, पास्तोला, पाहूजे, पाहोया, प्रियलाणी, पीडी, पुछी, पुजारे, पुणेजा, पुनतेजे, पुलपलेजते, पेड़ी, पेलान, पेलानी, पोजरि, पोजे, पोतरे, पोपलाया, पोपले, पोपा, पोहली, पंचनदे, पंजमने, पंजरंदे, पंजे।

(फ)

फड़के, फतोहे, फलवहे, फलानी, फासेला, फुटेले, फुलचढ़ा, फेरिया, फोबचे।

(ब)

बगाई, बग्गे, बजाई, बजाज, बटोक, बढ़ले, बडयानी, बड़तने, बड़ेजे, बतरे, बदवेजा, बदानी, बदेराजे, बनेले, बब्बर, बबेजी, बबेजे, बर्मन, बरेज, बलन्दी, बलवानी, बलवेजे, बलान, बलाने, बलुजे, बलूचे, बहदानी, ब्रह्मबर, बहालिये, बांगपालिये, बागवाती, बागीचा, बांगे, बाघले, बाचला, बाजूनेगे, बांदे, बानथरी, बांबरी, बायड, बिल्ले, बिहीजे, बुड्ढी, बुधरेजे, बुधवार, बुधेजा, बेगानिया, बेराया, बेहड़, बोगरे, बोटी, बोटे, बोहरा।

(भ)

भकनेजे, भकरिये, भकानी, भगड़े, भगतानी, भटनेरी, भटयानी, भढेजे, भडनावी, भडारिये, भठेजे, भत्राइये, भधले, भनीजे, भभरानी, भभराने, भभंवई, भयवालिये, भम्बइये, भम्भेले, भभरेजे, भमानी, भरमेजे, भरसनिये, भवासनिये, भवेसेजह, भसीने, भहकानी, भागजई, भाटिया, भाठे, भातेफतहेजा, भादाणी, भानिये, भारवाही, भालने, भालिये, भावने, भिंड, भिराणी, भुट्ठे, भुडानी, भुड़िया, भुड़ी, भुलाने, भुसरी, भुसाणी, भूगी, भूड्डी, भूतने, भूसे, भेदानी, भोड़े, भोरपालने, भोरानिये, भोलाने, भंगरेजे।

(म)

मओंपोत्रे, मक्कड़, मक्खीचूस, मक्मा, मकरानी, मकानी, मगलानी, मच्छर, मठरे, मडनेजे, मडीजे, मढ़े, मणूजा, मतवके, मतोके, मदान, मनगंदे, मनचंदा, मनड़े, मनलूजा, मनह, मनिहारा, मनोचे, मरकने, मरग, मरवाइये, मरानमगो, मलर, मलहोत्रे, मलिक, मलूजे, मलूरिया, महगड़, महतानी, महाबंद, माटे, माठ, माणकटेला, मानकटाहले, मानिये, मिठे, मीठाणी, मीरांरण, मुखरे, मुखीजे, मुजराल, मुंजाल, मुझारने, मुटेजा, मुंडा, मुदियाण, मुधीजे, मुराका, मुरादाबादी, मुरादे, मुराला, मुलतानी, मुंहयाल, मेकमदन, मेंडे, मेदराह, मोगले, मोंगे, मोटे, मोरगी, मोरलियाँ, मोलरे, मोलीवाड़े, मोले, मोहरिये, मंगचावने, मंगमधरे, मंगलानी, मंगवाने, मंजी, मंटयार, मंहदीरत्ते।

(य)

यकड़, यगचावने, यरकने, यरावनगो, यलतानी, यलर, यलावन्ड, याठ, युखरे, युरादे, येंजे, येंदाह, योनहे, योरगी, योले, योहयाल, यंटरयार।

(र)

रखरेजे, रखीजे, रखेला, रचपातूनी, रचासोश्यानी, रजवानिये, रडवोहरे, रडी, रढीजे, रतरे, रतवानी, रतेजा, रपकजी, रबारे, रमली, रमाई, रलवाइये, रवेजे, रसेजा, रसेवट, रहरे, रहानिये, रहूजा, रहेजे, राखढा, राजदे, राजने, राजपाल, राजबे, राजवेड़ा, राजाणी, राजानी, राजोये, रादोढ़ा, रामगढ़िया, रामगढ़ी, रामदेव,

राममलाणी, रायजेबी, रायवाला, रायेमानवी, रारिये, रावल, राहीजी, रिछपटोदा, रिछपाल, रूठीजे, रूमेला, रूखे, रूरेजा, रेलन, रेली, रेवड़ी, रोकवाये, रोडी, रोडीराम, रोसीधाधारने, रंगबुले।

(ल)

लकड़े, लखड़ी, लखानी, लखिये, लखीजे, लटानी, लडानिये, लमल्ली, ललते, लल्ले, लवाणी, लटीजे, लाखड़े, लाखेड़ा, लातीपाल, लिडानी, लीखा, लीमड़े, लुंड, लुधेरे, लुलेजे, लूठेणा, लूणा, लूथड़ा, लूनिये, लूम्बड़, लूमड़े, लेई, लेखड़े, लोगन, लोची, लोटे, लोपाल, लोलिये, लोहाने, लोहिये, लंगड़, लंगानी।

(व)

वकवादे, वखावने, वखेड़े, वजसोजे, वझारे, वटारे, वडेरे, वढ़खाने, वढ़ेरे, वतराने, वतरेने, वते, वदईये, वधरानी, वधवे, वधीजे, वधेला, वनतरेज, वनोचे, वबीजे, वमरेजे, वयानरेजे, वयानी, वरदाऊ, वरपाली, वरमानी, वरविये, वरोजा, वलड़ी, वलवेच, वल्हीटियर, वलीजे, वलेगा, ववेजे, वहदानी, वहेड वातराने, वाधवा, वाधवानी, वायतर, वासदेव, वासन, विरमाणी, विरोजा, वेटा, वेनीवखाली, वेहखाने, वैड, वोगर।

(श)

शक्करसिंघे, शेगरी, शोरे।

(स)

सखरे, सखीवोटी, सगाई, सघवरे, सचदेव, सचदेवा, सजदेवा, सजा, सजेया, सटोपा, सठखेरे, सडाने, सती, सतीजा, सतीजे, सदा, सधवानिये, सधूरिये, सनिये, सनीजे, सपड़े, सपरेचा, सबाटिया, सबेड, सला, सलूजे, सवन्नी, सव्वानी, सवारेजई, सहबाई, सहूरिये, साखपुरिये, सावरी, सिक्के, सिंगी, सिधवानी, सीकरी, सुखीजे, सुगंधा, सुदाना, सुनता, सुवंगी, सूतड़े, सूरी, सेठी, सेतिये, सोढ़ा, सोढ़ी, सोदनी, सोनी, सोभरेजे, सोसाडीन, संगी, संगीलोडी, संगोटिये, संडोजे, संदेसी, संधोज।

(ह)

हजरती, हडे, हड़पे, हतिया, हफदमी, हदिया, हरणी, हरने, हरमेजे, हरयानी, हरणी, हरली, हरेजा, हहोजे, हाडी, हिंडुजा, हिंदयानी, हुंडे, होकड़े, होजे, होडा, होडिये, हंडोजे, हंस।

अरोड़ों के पुरोहितों के अल्ल

1. शामपुत्रे, 2. भोजपुत्रे, 3. संघपुत्रे, 4. दत्तपुत्रे, 5. धसैनपुत्रे, 6. दड़ावरे, 7. गैंधर, 8. तख्तलाड़ले, 9. शामदासी, 10. सीतपाल, 11. भारद्वाजी, 12. काठपाले, 13. खुटके, 14. यशरथ, 15. पुकरने।

नोट :– अरोड़ो के पुरोहितों की यह सूची खत्री हितकारी मार्च 1892 अंक के पृष्ठ 323 तथा बाल कृष्ण प्रसाद के खत्रिय इतिहास के पृष्ठ 283 पर दी गयी है।

*****

परिशिष्ट (7)
भाटिया खत्रियों के 84 भेद
(पृष्ठ 169–170 देखिये)

1. अंधार, 2. असार, 3. उदेशी, 4. कुकरा, 5. कधिया, 6. कजरिया, 7. कंडू, 8. कपूरा 9. कराई, 10. कुरहिया, 11. खारतरी, 12. गगला, 13.गजरिया, 14. गुरुगुलाब, 15. गोकुल गांधी, 16. चमोवा, 17.छंदना, 18. छात्रिया, 19. ज्वाला, 20. जाजणाधी, 21. जावा, 22. जिंघान, 23. जूला, 24. झीझा, 25. टरहा, 26. डांगा, 27. ढबकर, 28. तबनोल, 29.थन्थाल, 30. दगचन्द, 31. दत्थल, 32. दीदिया, 33.दूतिया, 34. धतवा, 35. धनिया, 36. धवीरन, 37. धैयर, 38. धोना, 39. नागर, 40. निसात, 41.नैनाथी, 42. पंचाल, 43. पजैली, 44. पंधार, 45. पपुरसगांधी, 46. परजिया, 47.परमली, 48. परेमा, 49. परासी, 50. परीगान्धी, 51. पवार, 52. पेनचतुरिया, 53. पोथंगा, 54. पोथा, 55. बगता, 56. बरेंचा, 57. बहदरिया, 58. बहियाल, 59. बावला, 60. बिलाया, 61. बुलबुला, 62. बेदा, 63. बोरिया, 64. भेदिया, 65. मालन, 66. मुगलन, 67. मुच्छ, 68. मुथरा, 69. मूता, 70. रढिहया, 71. रबिया, 72. राजिया, 73. रामिया, 74. रिंका, 75. लखदंता, 76. सजपाल, 77. सप्परा, 78. सराकी, 79. सवार, 80. सागिया, 81. सानी, 82. सुहेला, 83. सूरिया, 84. सोकिया।

परिशिष्ट (8)
कुछ आद्य कुल (ढाई घर), चार घर, बारह घर आदि खत्रियों के गोत्र, वंश, कुल देवता व पुरोहित

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
	1. दिलवाली (दिल्ली वाले) खत्री –				
1.	मेहरा या मेहरोत्रा सूर्य वंशी	कौशल्य या कोशल्य	जैतली	शिवाय[1]	दिलवाली कुल ढाई घर होने का दावा करते हैं।
2.	कपूर, चन्द्र वंशी	कौशिक	कपूरिये	चण्डिका देवी	
3.	सेठ (बैजल) अलेगा (जट)[2] चंद्र/सूर्य वंशी	हंसल या हंसलस	कुमड़िये	वाराही देवी	(1) इन्हीं को नील रुद्र की शक्ति शिव माता भी कहते हैं।
4.	टंडन या टन्नन, अग्नि वंशी	अंगिरस	झिंगरन	चंडिका	(2) जट सेठों का गोत्र नहीं मालूम
5.	कक्कड़ चन्द्र/सूर्य वंशी	वत्स[3]	खाल ऊपर कुमड़िये	शिवाय	(3) पंडित द्वारिका प्रसाद तिवारी अपनी पुस्तक खत्री कुल चंद्रिका में कक्कड़ों का गोत्र 'व्यास' बतलाते हैं।
6.	सेठ कक्कड़ चंद्र/सूर्य वंशी	वत्स	कुमड़िये	शिवाय	
7.	महेन्द्रू, सूर्य वंशी	वच्छल वत्स	भटूरिये	शिवाय	

2–आगरेवाल खत्री–जिनको छः जाति भी कहते हैं–

प्रथम–ढाई घर

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
1.	मेहरा, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	सूरे	यह खत्री छः जाति इस वजह से कहलाते हैं कि इनकी हर दो शाखाओं में ऐसे ही नामों के छः छः फिरके है।
2.	कपूर, चन्द्र वंशी	कौशिक	कपूरिये	चंडिका	
3.	खन्ना, अग्नि वंशी	कुशिक/ कौत्सिक या अर्ध कौत्स	झिंगरन	चंडिका	
4.	टंडन, अग्नि वंशी	अंगिरस	झिंगरन	चंडिका	
5.	धवन, सूर्य वंशी	श्रिंगित्रता	कालिये	जोगा देवी (योग माया)	
6.	महेन्द्रू, सूर्य वंशी	वत्स	भटूरिये	सूरे	

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
द्वितीय–चार घर					
1.	मेहरा, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	शिवाय	
2.	कपूर, चन्द्र वंशी	कौशिक /	कपूरिये	चंडिका	
3.	खन्ना, अग्नि वंशी	कुशिक या कौत्सिक या अर्ध कौत्स	झिंगरन	चंडिका	
4.	टंडन, अग्नि वंशी	अंगरिस	झिंगन	चंडिका	
5.	धवन, सूर्य वंशी	श्रिंगित्रता	कालिये	जोगा देवी (योगमाया)	
6.	महेन्द्र, सूर्य वंशी	वत्स (वच्छल)	भटूरिये	शिवाय	

3–लाहौरिये खत्री जिनको चौजाति (चौजाती) भी कहते है

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
प्रथम–ढाई घर					
1.	मेहरा, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	शिवाय	1. यह खत्री चौजाति इस लिये कहलाते हैं कि इनकी हर दो शाखाओं में एक से ही नामों के चार चार फिरके हैं। 2. सरहिंदिये खत्री भी लाहौरी चौजाति की एक शाखा है।
2.	कपूर, चंद्र वंशी	कौशिक /	कपूरिये	चंडिका	
3.	खन्ना, अग्नि वंशी	कुशिक कौत्सिक या अर्ध कौत्स	झिंगरन	चंडिका	
4.	सेठ, सूर्य वंशी / चंद्र वंशी	हंसल	तिक्खे	वाराही	
द्वितीय–चार घर					
1.	मेहरा, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	शिवाय	
2.	कपूर, चंद्र वंशी	कुशिक	कपूरिये	चंडिका	
3.	खन्ना, अग्नि वंशी	कुशिक कौत्सिक या अर्ध कौत्स	झिंगरन	चंडिका	
4.	सेठ, सूर्य वंशी / चंद्र वंशी	हंसल	तिक्खे	वाराही	

4– पंजा जाति खत्री [1]

(इनका मूल निवास स्थान अमृतसर तथा लाहौर है)

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
1.	बेरी –	औलस (हौसला)	हंसली	अष्टभुजी	यह खत्री इस कारण से पंजा जाति कहलाते हैं

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
2.	बहल –	भारद्वाज	भारते	अष्टभुजी	हैं कि इनमें पांच फिरके हैं। 1. पंज शब्द फारसी है जिसका अर्थ पांच होता है।पंज+ जाति= पंजा जाति (पांच जाति)।फारसी मूल के कारण इस फिरके का मुसलमानी काल में बना होना प्रतीत होता है।
3.	वाही, –	कश्यप (हौसला)	हंसली	चंडिका	
4.	सहगल–	कौशल्य	मोहिले	चंडिका	
5.	विज –	भार्गव	–	चंडिका	

5. पूर्विये खत्री

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
प्रथम–ढाई घर					
1.	मेहरे, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	शिवाय	यह खत्री इस लिये पूर्विये कहलाते हैं कि इनके पूर्वज किसी समय में पंजाब से आ कर पूर्वी हिस्सों में बस गये और इसी भाग को अपना निवास स्थान मानने लगे। साधारणतया इटावा से ले कर कलकत्ते एवं उसके आगे तक का समस्त पूर्वी भारत इनका क्षेत्र है।
2.	टंडन / टन्नन, अग्नि वंशी	अंगिरस	झिंगरन	चंडिका	
3.	कपूर, चंद्र वंशी	कुशिक	कपूरिये	चंडिका	
4.	खन्ना, अग्नि वंशी	कोशिक (कौत्सिक या अर्ध कौत्स)	झिंगरन	चंडिका	
द्वितीय–चार घर					
1.	मेहरे, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	शिवाय	
2.	टंडन, अग्नि वंशी	अंगिरस	झिंगरन	चंडिका	
3.	कपूर चन्द्र वंशी	कौशिक	कपूरिये	चंडिका	
4.	खन्ना, अग्नि वंशी	कुशिक (कौत्सिक या अर्ध कौत्स)	झिंगरन	चंडिका	
तृतीय–बारह घर					
1.	मेहरा, सूर्य वंशी	कौशल्य	जैतली	शिवाय	
2.	टंडन, अग्नि वंशी	अंगिरस	झिंगरन	चंडिका	
3.	कपूर, चन्द्र वंशी	कौशिक	कपूरिये	चंडिका	
4.	खन्ना, अग्नि वंशी	कुशिक (कौत्सिक या अर्ध कौत्स)	झिंगरन	वाराही	

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
5.	सेठ, सूर्य/चन्द्र वंशी	हंसल	तिक्खे	वाराही	1. कक्कड़ों के गोत्र व्यास और कश्यप
6.	बहोरे, सूर्य वंशी	कौशल्य	मालिये	चंडिका	भी कहे जाते हैं।
7.	कक्कड़ सूर्य/ चन्द्र वंशी	वत्स 1	कुमड़िये (कुमारिये)	शिवाय	2. ये तीन अल्ल नाम बाल कृष्ण प्रसाद
8.	धवन, सूर्य वंशी	श्रिंगित्रता	कालिये	जोगा देवी (योगमाया)	के खत्रिय इतिहास पृष्ठ 262
9.	महेन्द्रू,सूर्य वंशी	वच्छल (वत्स)	भटूरिये	शिवाय	के आधार पर जोडे गये हैं।
10.	विज,2 —	भार्गव	—	चंडिका	
11.	चोपड़ा, 2 सूर्य वंशी	कौशल्य	बग्गा	विंध्यवासिनी	
12.	सहगल, 2 सूर्य वंशी	कौशल्य छागल्य	मोहिले	चंडिका	

अल्लों की शाखायें

अल्लों की शाखाओं का विवाह तथा अन्य जातीय मामलों पर कोई प्रभाव नहीं देखा जाता। यह शाखें प्रत्येक अल्लों के पूर्वजों की किसी मुख्य कार्यवाही की यादगार के रूप में बराबर कायम चली आती हैं। कुछ परिस्थितियों में एक शाखा दूसरी से उच्च भी समझी जाती है। इन अल्लों के भी अनेक उपभेद हैं जिनसे उनके गोत्र कभी कभी बदल गये भी मिलते हैं। कुछ उपभेद व शाखायें इस प्रकार हैं :

1. मेहरे– के 17 उपभेद/शाखायें है–1. सफील तले के, 2. नीम तले के, 3. नथखोल या ललवाने, 4. जगधरिये, 5. शनिचरे, 6. वलिये, 7. कनौजिये, 8.कर्कटहे, 9. भीम, 10. चूड़ीखोल, 11. कढ़ाई चोर, 12. सतघइये, 13. काली चूड़ी के (मुख्य परिवार संडीला जिला हरदोई में) शेष अज्ञात। टिप्पणी–सरहिंदिये खत्री इन्हीं मेहरे की एक शाखा है।
2. कपूर– 16 किस्म के हें। 1. कुलताज, 2. कोदोखानी, 3.मकरे, 4. मलकारू, 5. ठाकुर, 6. मालागादू, 7. कढ़ाई चोर (संडीला में), 8. कोटली वाले, 9. छप्पर वाले–शेष अज्ञात।
3. खन्ना–16 किस्म के हैं। 1. लस्सी के[1], 2. गजरिये, 3. कथैये, 4. धोधर, कर्मा, 5. बटलोही चोर, 6. कोयली के–शेष अज्ञात।

1. जगधर मेहरे की बहन के लड़के लस्सी के खन्ने कहलाते हैं।

4. सेठ– 13 किस्म के हैं। 1. बैजल (गोत्र हंसल), 2. ढक्कन (गोत्र–वत्स), 3. कक्कड़ 4. तालवाड़ (गोत्र–हंसलस), 5. मालदार, 6. जट, 7. सीतलदासी, 8. कठियाल, 9. दहकन– शेष अज्ञात। (श्री मोती लाल सेठ ने इसमें चोपड़ा का नाम दिया था पर श्री बाल कृष्ण प्रसाद उससे सहमत नहीं थे। वे वंश वृक्ष को देख कर कक्कड़ को ही इस वंश का प्रधान वंशज मानते हैं। देखिये खत्रिय इतिहास, बाल कृष्ण प्रसाद, पृष्ठ 269)।
5. टण्डन– 14 किस्म के हैं। 1. रानीपूतना, 2. दादीपोता, 3. जयमलपुर के, 4. मडिया, 5. हिगिंया, 6. कशिया, 6. मरजिया, 8. कोपलिया, शेष अज्ञात।
6. महेन्द्रू–11 किस्म के हैं– 1. मत्थे, 2. मरात्रा, 3. मलवार, 4. मॉडर, 5. भेद्दे, 6. मजदूए, शेष अज्ञात।
7. कक्कड़– 8 किस्म के हैं– 1. विज, 2. द्विज, 3. बेरी, 4. वाही, 5. कानूनगो, 6. वहल, 7. चौधुर (एथनोलाजी में चौधुर या चद्धर नहीं है)। शेष अज्ञात।
8. सहगल– 7 किस्म के हैं– 1. दुग्गल, 2. हांदे। शेष अज्ञात।
9. बहोरे–10 किस्म के हैं– 1. दावाहारा, 2. तत्ती, 3. महत्ती, शेष अज्ञात।
10. धवन–12 किस्म के हैं– 1. दुहुन, 2. दुमोहना, 3. दुमोहरे, 4. धौन, 5. धावन– शेष अज्ञात।
11. सूर या सूरी– 7 किस्म के हैं– 1. बडैरे, 2. बधावन, 3. विदन, 4. बुधवार, 5. वधारा। शेष अज्ञात।
12. चोपड़ा–11 किस्म के हैं– 1. लमकानी, 2. नकटे, 3. सोन, 4. जट्ट, 5. सर्राफ, 6. कानूनगो, 7. सर्वादिया कानूनगो, 8. पीपल वाले, 9. कमकने, 10. सहूतिये, 11. सोन (एक अन्य किस्म अमरैया भी कही जाती है)।

क्रम संख्या	अल्ल का नाम	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
	6. बाहरी खत्री				
	बारह घर असली				
1.	कपूर	कौशिक	कपूरिये	चंडिका	1. यह सूची क्षत्रिय दर्शनम के
2.	खन्ना	कुशिक	झिंगरन	चंडिका	अनुसार है।
3.	मेहरोत्रा या मल्होत्रा या मेहरा	कौशल्य	जैतली	शिवाय	2. एथनोलोजी के
4.	सेठ	हंसलस	तिक्खे	वाराही	नोट में लिखा है
5.	टन्नन, या टंडन	अंगिरस	झिंगरन	चंडिका	कि कोई सूर के
6.	धवन	श्रंगीत्रित	कालिये	जोगा देवी (योगमाया)	स्थान पर टुनी को मानते हैं। 3. दूसरी लिस्ट में

क्रम संख्या	अल्ल का नाम व वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
	6. बाहरी खत्री				
	बारह घर असली				
7.	महेन्द्रू	वत्स	भटूरिये	शिवाय	चोपड़ा की जगह 'चौद्दर' लिखा है।
8.	बोहरा या बहोरा या व्यूहरा	कौशल्य	मालिये	चंडिका	4. हरि दर्पण पृष्ठ 119 में सेठ, सूरी और सहगल के स्थान में तालवाड विज और दुहावन दिया है।
9.	चोपड़ा– कानूनगोई	औलस्य / कौशल्य	बग्गे	विंध्यवासिनी	
10.	सूर या सूरी	भारद्वाज	कालिये	शिवाय	
11.	सहगल	कौशल्य	मोहिले या मोयले	चंडिका	
12.	कक्कड़	वत्स	कंवरिये (कुमड़िये)	शिवाय	5. एथनोलाजी आफ द खत्रीज, हरि दर्पण, खत्री हित कारी, क्षत्रिय दर्शनम तथा अन्य की कोई सूचियां एक दूसरे से पूरी नहीं मिलती।
	अन्य				
1.	विज	भार्गव			
2.	वहल	भारद्वाज	भारते (भारती)	अष्टभुजी	
3.	वधावन				
4.	तालजंघ तलवार	हंसलस (हंसल) तथा पराशर			
5.	दुहावन	–			
	7. खोखरान खत्री				
	ढाई घर				
1.	चड्ढा	वीरवंश	लवे	श्री सिद्ध सुदोल देवी	1. एथनोलाजी में साहनी के स्थान में सैनी या सेनानी लिखा हैं।
2.	साहनी या सेनानी	वत्स	लवे	भद्रकाली	
3.	अंद या आनंद	कश्यप	लवे	दुर्गा माँ	
4.	भसीन	कश्यप	लवे	दुर्गा माँ	
5.	सूरी 1/2	भार्गव	पंडा	शेषनाग	

चार घर

1.	कोहली	कश्यप	दत्त	भद्रकाली
2.	सेठी	पुल्सत्य	सुधन	वैष्णो देवी
3.	केरी	कश्यप	लवे	,,
4.	सम्भरवाल	हँसलस	लवे	बाबा मडोर
	घई	भरद्वाज'	लवे	श्री सिद्ध सुदोल देवी

8– गुजराती या ब्रह्म क्षत्रिय (ब्रह्म खत्रिय)

क्रम संख्या	अल्ल का नाम	गोत्र का नाम	क्रम संख्या	अल्ल का नाम	गोत्र का नाम
1–	साह	कौशल्य	11–	मेहरा	कौशल्य
2–	सहगल	भारद्वाज	12–	सिक्के	भारद्वाज
3–	सहगल	कौशिक	13–	दोहर	भारद्वाज
4–	कपूर	कौशिक	14–	भल्ले	कौशिक
5–	सोनी	कश्यप	15–	चलामेनी	हंसल
6–	वघेरे	औलस्य	16–	झग्गर	कौशल्य
7–	महेन्द्रू	वत्स	17–	झगड़	काश्यप
8–	गहेत्या या घिये	कश्यप	18–	झगरे	हंसल
9–	टंडन या टनन	अंगिरस	19–	मालदार	कपि या कपिस
10–	टंडन या टण्डन	कश्यप	20–	बहोरे	कौशल्य

9– कुछ अन्य अल्लों के नाम, ज्ञात वंश, पुरोहित एवं कुल देवता आदि

क्रम संख्या	अल्ल का नाम तथा वंश	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोंहित का नाम	कुल देवता	टिप्पणी
1–	वेदी / सोढी तथा सूर्य वंशी	औलस्य	हौसला	अष्टभुजी	1. एथनोलाजी में –पंडित राजाराम के अनुसार अवलश्य गोत्र
2–	चोपड़ा, सूर्यवंशी	कौशल्य[1]	बग्गा	विंध्यवासिनी	
3–	नवहू	भारद्वाज			
4–	घिया	कश्यप			
5–	विनायक	कौशल्य			
6–	महता, सूर्यवंशी	कौशल्य			
7–	सुराजिया	भारद्वाज			

8–	साहनी या सैनी (खुखरान)				
9–	सेठ (धक्कन)			कुमारिया	
10–	सेठ (तालवाड़)		भारद्वाज / हंसलस	तिक्खे	वाराही
11–	भल्ला	कात्यायन / कौशिक	पाठक	गणेश / चंडिका	
12–	झांझी	कपिलस			
13–	चौधरी या चौद्धर	सूर्य वंशी			भुवनेश्वरी

10– कुछ अल्ल या फिरके जिनके असली गोत्र तो मूल गोत्र हैं किन्तु अनेक कारणों से बाद में दूसरे गोत्र भी बन गये

क्रम संख्या	अल्ल का नाम	गोत्र का नाम	सारस्वत पुरोहित की अल्ल का नाम	कुल देवता का नाम	टिप्पणी
1–	मेहरे	कौशल्य	कश्यप		
2–	सेठ	हसंल	औलनस (ढक्कन सेठ), वत्स (सीतलदासी सेठ) मौलनस, औलस्य (चोपड़ा सेठ)		
3–	टंडन	अंगिरस	कश्यप (गुजराती टंडन)		
4–	सहगल	कौशल्य	भारद्वाज (गुजराती साहगल)		
5–	कक्कड़	वत्स	वच्छल		
6–	झगड़	कौशल्य	कश्यप (दोनों गुजराती खत्री)		
7–	हनराव	वत्स	वच्छल		

*****

परिशिष्ट (9)

खत्रियों की अल्लों की सम्मिलित सूची

मूल संकलनकर्ता–खत्री हरि मोहन दास टंडन, इलाहाबाद–इनके इस संकलन को अद्यावधिक और अकारादि क्रम से कर दिया गया है तथा अनेक और अल्लें जोड़ी गयी हैं जिससे मूल संकलन की कुल संख्या दूने से भी अधिक बढ़ कर अब **4,600** से भी अधिक हो गयी है।

(अ)

अइतार, अइनमार, अइमर, अकरा (अकारी / अकरे), अकल, अक्कल, अकारी, अकोला, अखलेजे, अखाल, अखि, अखेजे (अंखेजें), अग्गल, अगनारा, अग्यल, अग्रवाल, अगरी, अग्निजाय, अग्गेचल, अगोचन, अघिरा, अघेले, अचरू, अच्छपरानी, अछपानेवाला, अछापनेवाले, अछपोजानी, अजमाती, अजमानी (अजमाणी), अजरी, अजहाली, अजायती, अजीड़ा, अझाली, अठरेजा, अणरिये, अतई (अताई), अतद (अताद), अतरोवा, अपडेजे, अथणि, अथनी, (अथानी, अथिया), अथरेजे, अदलक्खा, अर्दन, अदैन, अधमाखे, अघराना (अघराने), अघरेजे, अधलिखे, अधीरा, अधोस, अनचुरी, अनजानी, (अनजाने), अनथाना, अनन्द (अनंदा, आनन्द), अनदाणी (अनदानी), अनपवो, अनरेजा, अनवसता, अनादि, अनी, अनु, अनुस, अनूसा, अनेजा (अनेजे), अपत, अपन, अपनजे (अपनेजे), अपनवी, अप्पर्य, अप्पल, अपरिये, अपहून (अपहोन), अपोत्रा, अबपाये, अबबा, अबयाए, अबराना (अबराने, अबरानी), अबरोल, अबहर, अबहरे, अबायवादी, अभट, अभट्टा, अभ्या, अभवानिये, अभाणी, अम्गा, अमठ, अमती, अम्बरीष, अम्बस्ट, अम्बायवादी, अम्बे, अमरिया (अमरिये, अमरीया), अमीन, अयत, अरवाल, अरसिद्वि, अरिन, अरैलत, अरोड़ (अरोड़ा, अरोरा), अरोमत, अरंगबरंग, अरंद, अलका, अलख, अलग, अलत, अलमाशी, अलमंग, अलवचे, अलशघे, अलावाधी, अलिया, अलूचे, अलवंद (अलवंदा), अलूनघे, अलूगिये, अलूगिरि, अलेगा, अवई, अवट, अवत, अवधूत, अवर, अवरल (अबरोल), अर्बला, अवराना, अवेर, अवरोह, अव्वल, अवलसे, अवलिस, अवसाही, अस्तावाधी, असरानी, असरापो, असरी, असरो, असल, असलअदवा, असलाचिनवा, असार, असीचे, असीजे, असूजा, असेमत, असौर, अहूजा (अहोजा, आहूजा)।

(आ)

आईनगर, आकली, आतू, आद, आदि, आदिआतू, अधमानी, आधमाली, आनन्द (अनंद), आनी, आबी, आबीराय, आभाटे, आभी, आमरे, आरोड़ा (अरोड़ा, अरोरा) आलिया, आवन्द, आवशाही, आवीराय, आशरा (आसरा), आसनी, आसा, आहरी, आहूजा (आहूजे)।

(इ)

इकताबिल, इकरा, इकाकंद (इकाकंदे), इच्छपुजारी (इच्छापुजारी), इच्छाभारणी, इचोरा, इछर (इछोड़ा, इछोरा), इजमानी, इजराल, इदमानी, इंदर, इंद्रमनि, इंदरानी, इरकल, इलफानी, इलाहाबादी, इर्वी, इस्तानी, इशाशी।

(ई)

ईछर

(उ)

उकतावले, उकबहरा, उग्गल, उगर, उग्र, उचखेड़िवा, उच्चटनी, उठावले, उठैले, उड़, उत्तरकुमार, उत्तराधी, उत्तरे, उदरल, उदरिया, उदरे, उर्दल, उदेशीं, उदोबद्दे, उदोबुद्धो, उधराकी, उधरानी, उधरेकी, उनय (उनिया), उपल (उप्पल), उपावेजे, उबराय (उबराये, ओबराय), उबल, उबाल, उबावेजे, उबोवजे, उमते, उमीन, उलहरा (उल्हरा), उल्ला, उलूचा, उवराये, उवल, उव्वाले, उहिल, उत्रिचपुरे।

(ऊ)

ऊँचकोटि, ऊपल।

(ए)

एघरे, एजियाल, एथना, एथैया, एदानी, एरकी, एरवरी, एलवी (एलवो), एलानहादिये (एलानहाविये), एलेनसवी, एलेसवी, एशानी।

(ऐ)

ऐखर, ऐगिरा, ऐठाना, ऐठिया, ऐड, ऐनक, ऐबी, ऐयार, ऐरवर, ऐरावत, ऐवाती।

(ओ)

ओगी, ओड़े, ओतरेजा, ओतरेजे, ओर्धन, ओधी, ओनठ, ओपरगे, ओपीसीर, ओरगिये, ओरतीजा, ओरवाल, ओलख, ओलडे (ओलड़े), ओलविहार, ओवराही, ओसद्धा, ओसाडा, ओहर, ओहरी, ओहाना, ।

(औ)

औकल, औघड़ (औघर), औधरी, औंधी, औपागे, औरधन, औरंगिये, औरावत, औल (औलविहार), ओसरणी, औसिया।

(अं)

अंखीर, अंखेजे, अंखोर, अंगदा, अंगिये, अंगी, अंधिया, अंचल, अंचूरिया, अंजानी, अंटालमर, अंटिया, अंठरेजा, अंतिया, अंद (अनन्दा, आन्द, आन्दा), अंदरानी, अंदाहमुखी, अंदेमानी, अंधार, अंधिया, अंब, अंबरीष, अंबे, अंबेकर, अंवाट, अंवेद।

(क, का, कि, की, कु, कू, के, कै, को, कौ, कं, कः, कृ)

कक्कड़, ककड़े, ककरानी, ककिया, ककरीला, ककरौला, ककेर, ककैया (कक्कइया), कग्गर, कगड़ा, कघिया, कघोन, कचना, कचरा, कचरील, कचीर, कच्छर (कछरा), कछवई, कजरल (कजराल), कजरिया, कजरीला, कटवानी, कटली (कहली), कटहोरे, कटारिये, (कटियार), कटारे (कठारे), कटियार, कटीघर, कटीला, कठवीं, कठारे (कटारे), कठाला, कठोर, कठोरे, कडतन, कड़हेला, कत्थल, कतरपाल, कतरेजे, कति, कतिया, कतियाल (कत्याल), कतिमार, कथर (कथरा), कथरे, कथल, कथुरिया, (कथूरिये, कथोरिये), कदवाने, कद्दडा, कनघरे, कनछन, कनड़े (कनाड़े) कनसाना (कन्सुना), कनसूता, कनसूरा, कनोठरा, कनोरा, कपकजे, कपता, कपतिला, कपाली, कपाही, कपीहा, कपूर, कपूरा, कपूरिये, कपोह, कबीरिया, कबो, कमठेल, कमता, कम्पनी, कमपानी, कम्बो, कम्यानी, कमराई, कमलारी, कमालपुरिये (कमालपुरे) कमेरिये, कमोदी, कमोर (कमोरा,

कमौरा), कर, करखी, करचल, करचला (करचली), करछीया (कलछी), करतने, करतेला (करातेला), करंदी, करन, करपाल, करपालजही, करमानी, करया, करवाट, करवे, करसीजा (करसेजे), करहेला, कराई, कराछीक, कराट, कराण, करात, करातन, कराती, करातेला (करतेला), करानी, करारे, कराल, करेजे, करेड़े करोड़ी, (करोड़े), कलकला, कलकाला, कलख (कल्ख), कलगीवाला, कलछी, कलड़ा, कल्पवृक्ष, कलबर्गी, कलबुर्गी, कल्याणी, कलर, कलवर्गी (कुलवर्गी), कलसारा, कलसिया, कलसिरे, कलातड़ा (कलातरह, कलातरा), कलीरमा, कलेरमा, कवलेतिया, कवागर, कवाड़ि, कवातजे, कवातड़े (क्वातरे), कामले, क्वायर, कवारजही, कविलेतिया, कस्याणी, कसरती, कसरल (कसराल), कसी, कहरी, कहली (कटली), कहिरच (कहीरच)।

काकु, कांकी, कागड़ा, कांची, कोछण, कांजीनार, कांजीनीर, काट, कांट, काटकीया, काटनामणा, काटवा (काटवे), काठ, काठपाल, काठी, काणातेला, कातरकि, कामड़े, कामरा, कामरे, कामली, कामले, कारने, कारी, कारूख, कालकला, कालघर, कालछर, कालड़ा (कालड़े), कालरा, कालसारी, कावड़े।

किउली, किकड़िया, किच, किन्नड़, किमरा, किमरिये, किरानिये, किरि (कीरी), किसरा।

कीड़ (कीड़ा), कीरतिये, कीरी।

कंकुणा, कुकर (कुकरा), कुकरेजा (कुकरेजे), कुकशा, कुक्कड़ (कुक्कुड़), कुकूड़, कुच, कुचकुचे, कुच्चल, कुण्डे, कुथल, कुदल (कुदले), कुदवाने, कुंदराव (कुंदेराय, कुंदेराव), कुदा, कुन्द्रा (कुदालिया, कुदोल, कुब्बे), कुमरा, कुम्हार (कुमार), कुरड़, कुरले, कुरहिया, कुरुछिया (कुछिया), कुलपलीजे (कुलपलेजे), कुलवर्गी (कलवर्गी), कुल्हड़ (कुल्हर), कुलात्रा, कुशलिये, कुहर, कुहिरे।

कूट, कूमरे।

केकड़े, केके (केकै), केडिया, केतरे केतला, केरतिये, केरी, केरे, केवली, केसनी, केसर, केसरा (केसरी), केसाजही, केसाडही, केहर, केहरपोत्रे, केहेंरय।

कैशनी, कैसर।

कोकितल, कोकी, कोकितल (कोकीताल), कोचर, कोछड़ (कोछण), कोक्षण, कोटवाड़ी, कोड़हाने, कोड़ीखाने, कोतल, कोनमरे, कोनी, कोपैनी, कोमल, कोयनी, कोयरी, कोयल, कोर, कोरतादी, कोरतानी, कोरा, कोरिया, कोलहपुरे, कोशल (कोशिल्ये) कोसन्दर, कोसारा, कोहली (कोहिल)।

कौड़ा, कौख, कौशल, (कौशिल्ये), कौहया।

कंकरेज, कंरवाना, कंघरे, कंचन, कंजरा, कंजीनीर, कंडू, कंतोड़, कंदफूली, कंदर, कंदराय, कंदराव, कंदेर, कंधरवाढ़, कंधरा, कंधारी, कंबूल, कंसाना, कंसुरा, कंसूता, कंसूरा, ।

कृपाल, कृपालजही, कृपालमुण्डैल।

(ख, खा, खि, खी, खु, खू, खे, खै, खो, खौ, खं, खः)

खक, खक्कड़, खकला, खखडे (खखंदे), खखने, खखर, खचिया, खट्टर, खटरल, खटराल, खटवटे (खटवेटे), खडखुडीया, खड, खती, खथुरिया, खदसिया,

खदसेजा, खन्ना (खन्ने), खपरेजे, खपरैल, खबभानी, खबानिये, खभारी, खमरैल (खमरैला), खमोनी, खरगोश, खरबंदा (खरबंदे), खरमुनी, खरहल (खरहाल), खरहुक, खराल, खरूखर, खरेजे, खरोदे, खलवाना, खवानिये, खध्या।

खाकल, खाखोपतरा, खातिर, खातिरे, खादर, खानखाना, खानसामा, खामौनी, खारा, खारी, खारतरी, खारल, खारी, खाहरे।

खिटियो, खिदरिये, खिन्नी, खिरकी (खिर्की)।

खीर, खीरचट्टे।

खुअतिखुआ, खुआ (खोहा), खुक्कर (खुक्कुर), खुखराइन (खुखरायन, खुखरान, खोखरान), खुखारी, खुंगर, खुड़, खुड़िया, खुदमते, खुम्बारी, खुमानी, खुमाड़ (खुमार), खुराना (खुराने), खुल्लर, खुवा।

खूरेजी।

खेकभाजे, खेतरपाल, (खेत्रपाल), खेती (खेते), खेतो, खेमवाणा, खेर, खेरवाट, खेरवाह, खेरी, खेरज, खेरे, खेवजी।

खैबर, खैये, खैरिया, खैरे।

खोड़े, खोंतड़े, खोदिया, खोराने, खोरिया, खोरिये, खोला, खोसरे, खोसला (खोसले), खोहा (खुआ)।

खंखाल, खंगर, खंगवाल, खंगाल, खंडकी, खुंडपुर (खंडपूर), खंडपूरिये, खंडे, खंडेरे, खंवर।

(ग, गा, गि, गी, गु, गू, गे, गै, गो, गौ, गं, गः)

गउराहा, गउल, गउहाना, गक्खड़, गगड़, गगे, गग्गे (गग्गो), गगनेचे, गगनेजे, गगरील, गगला, गगलानी, गगवानी, गजकर्ण, गजकंद (गजगंध), गजपति, गजरिया, गजरौल, गजेजई, गठडी (गठडे), गडटे, गड्डद, गडोय, गतानी, गधेला,गनेजे, गबरानी, ग्योलीपुरवा, गयंद, गर्ग, गर्गा (गरगा), गरंथ (ग्रंथ), गरपिये, गराच (गराध), गलकटे, गलानिये, गलोटे, गवाकसा, ग्वाछीर (ग्वाक्षीर), गविद, गवीचा, गवीया, गवैंदरे, गहमर, गहीर।

गागड़े, गाषारो, गांगनी, गांगी, गाडखेल, गाड़ी, गांडी, गांदीमंद, गांधी (गोकुल गांधी), गामना, गाबड़ी, गाले, गावे।

गिदड़, गिदड़हिल्ले, गिरधर, गिरहोत, गिराध, गिलहरी, गिलोईगीर, गिलोटी, गिलोतरे (गिलोत्रा), गिलोरिया।

गीरातला (गोरातोला), गीला।

गुगनारा, गुगलाणी (गुगलानी), गुगवानी, गुजराती, गुजराथी, गुजराल, गुट, गुटतोड़, गुटतोल, गुट्टी, गुड़घीला, गुडि, गुड्डी, गुमरा, गुरजरे, गुरजा (गुरजे), गुरलानी, गुरस्यानी, गुरिये, गुरीजे, गुरुकाणी, गुरुगुलष, गुरुदत्त (गुरुदत्ते), गुलकानी, (गुलकानिये), गुलबघर, गुलवाघर, गुलरातो (गुजराथी), गुलरानी, गुलाटी, गुलातिये।

गूजर, गूम्बर (गम्बर, गोम्बर)।

गेरे, गेला, ग्रेवल, गेहानी (गोहानी)।

गोकरणी, गोकरि, गोकुलगांधी, गोगले, गोधिये, गोहानी, गोचमर, गोचिज, गोछबी, गोजर, गोट, गोटारे, गोडहे, गोड़े, गोदडीया, गोदीया, गोदंता, गोध,

गोधनी, गोध्या (गोधीया), गोपाली, गोपिया, गोरखगुल, गोरचंदे, गोरतते, गोरसयानी, गोरातेला (गीरातला) गोरायत, गोरीचन, गोरुनरे, गोरुबाड़े, गोरुवत्ते, गोरे, गोलखपुरे, गोलंदी, ग्रोवर, गोवरकीचड़, ग्रोवरे (गावा), गोवारे, गोवल, गोरा, गोविंदे, गोविना, गोवेल, गोसा, गोह, गोहल (गोहला, गोहले), गोहानी (गेहानी)।

गौड़, गौतम, गौवर, गौरह, गौरी।

गंग, गंगणेजे, गंगधुलिया, गंगनीचे, गंगरीबे, गंगवाल, गंगादिल, गंगाधर, गंगी, गंगे, गंड, ग्रंथ, गंद, गंदीला, गंदोत्रा, गंध, गंधार (गंधारी), गंधीर, गंभीर।

(घ, घा, घि, घी, घु, घू, घे, घै, घो, घौ, घं, घः)

घई, धग्गर, घघरवाल, घघरे, घघेर, घटकन, घंटालिया घटीमोर, घड़ा, घड़ियान, घत्ले, घन, घनटलिया, घनुका, घमंडी, घम्मन, घमाना, घमोआ, घला, घल्ले, घलिया, घसझीरी, घसिडान, घहना।

घाघरवाल, घामोड़ा, घारिष्ट, घारी, घारीरन, घावर (घावरे), घासजोहरी।

घिवार, घिया।

घीक, घीया।

घुटले, घुटहना, घुडचढ़े (घुरचढ़े), घुंडीमोड, घुतारा, घुनोया, घुमर, घुम्मान, घुमार, घुड़चढ़े (घुरचढ़े), घुलाटिये, घुलातिये, घुलानिये, घुस्सा।

घूमर, घूमी, घूराया, घूरिया।

घेई, घेटी (घेंटी), घेयड़ (घेयर), घेला, घेही।

घोका, घोखना, घोग, घोघे, घोर, घोरे, घोसिल।

घाघरी, घंटालिया, घंड।

(च, चा, चि, ची, चु, चू, चे, चै, चो, चौ, चं, चः)

चकचक्खी, चकड़, चक्कड़वाल, चकदे, चकने, चक्करे, चकरैल, चकल, चकवाल (चकेवाल), चक्रपाणि, चगत्तिये, चगाइये, चगाये, चचक, चचरे, चचा (चच्चा), चटकारे, चटयानिये, चटाके, चटाये, चड्ढा, चढे, चढे, चतरथ, चतरा, चतुर्गन, चतुरगोत्री, चतुरान, चनन, चननपोत्रे, चनवाद, चनोनिये, चप, चमनी, चम्मन, चमरा, चमरिया, चमरीया, चमोवा, चरकौतरा, चराइये, चराईपात्रे (चराईपोत्रे), चराये, चलग (चलगा), चलतर, चलती, चलवगे, चलामेनी, चलेजे, चलोमा, चावले, (चवले), चवान (चहवाण), चहगे, चहेतियावाटे।

चाड़े, चानते, चानना (चानने), चानबाब, चापलू, चाबे, चायली, चारकिले, चारकोटरा, चारखंडी (चारखंडे), चारफरी, चारा, चालकोटरा, चावड़ीमनी, चावला (चावले), चाहल (चाहले), चाहेहुक, चाहैतुक, चाँद, चाँदना, चाँदमल, चाँदराना, चाँदीफूंक, चाँदीहूक।

चिगी, चिरवाल, चिराईपोत्रे, चिलड़े, चिल्लागी, चिल्लाणी, चिलाने।

चीकट, चीकत।

चुकियारा, चुकिरा, चुग, चुगतिग, चुगत्तिये, चुघ, चुटकानी, चुटानी, चुडग, चुंड, चुनाई, चुरचुट्टे, चुरमुट्ठे, चुलड़े।

चूनरछोर, चूरा।

चेचा, चेंचा।

चोकले, चोगुला (चौगुला), चोटमारटे, चोटमुरादे, चोटरे, चोटलड़ (चोटलद), चोटीकपा, चोटीतप, चोटीपट, चोणा, चोतड़े (चोतरे), चोथानी, चोनड़ा, चोपड़ा (चोपड़े), चोपे, चोबरे, चोरहवा (चौहरवा)।

चौकड़े, चौकन्ने, चौगुला, चौरंगे, चौझड़, चौंडे, चौंडोतरी, चौद्दर, चौधरी, चौधरी जम्बो, चौपट्टे, चौभा, चौमोहरे, चौरहवा, चौहजंडा, चौहरवा।

चंड (चंडा), चंडोक, चंदन, चंदरा, चंद्र, चंद्रखाड़, चन्द्रखाड़े, चंदानी, चंद्रे, चंदोक।

(छ, छा, छि, छी, छु, छू, छे, छै, छो, छौ, छं, छः)

छउदा, छकचीर, छकड़, छकन, छकना, छकवाल, छगा (छंगे), छछारे (छछोरिया), छजुआ, छड़ीले, छढ़ैया, छतवाल, छत्तठी, छताती, छतारी, छत्तीछिगन, छतोड़ा, छत्रपाल, छत्री, छटकवरे, छनगमोल, छनना, छनगपाल, छनोछरा (शनिश्चर), छपकी, छपरे, छब्बासी, छबीले, छमकी, छमगीया, छरदन (छरदान), छरदेही, छरीजा, छलडारह, छलडारा, छलमा, छलवेजे, छलोजे, छवका, छहड़ा, छहरीया।

छाकल, छांछी, छाजा, छाटनी, छाटबार, छात्रिया, छाबड़ा (छावड़े), छाम, छारकिला, छारदन (छरदन, छारदान), छाबड़ा (छाबड़े), छाहड़, छाहल।

छिकर, छिकाल (छिखाल), छिकोरिया, छिनवत, छिनहट्टे, छिनादाई छिनोछाई, छिपिया, छिरका।

छीकड़े।

छुंछा (छूंछा), छुछिये, छुछीगांठ, छुड़ीमार (छुरीमार), छुड़ीले, छुदिये (छूदिये), छुमकिया, छुलिया (छूलिया)।

छूछा, छूंछा (छुंछा), छूछिये, छूछीगांठ, छूटा, छूड़िये, छूड़ीमार, छूत, छूदिये (छुदिये), छूरछता, छूरीमार, छूलिया (छुलिया)।

छेकड़े, छेततीया, छेनछा, छेमदा, छेमादा, छेमछा।

छैकड़े, छैकोड़िया, छैन, छैये, छैल, छैलवार, छैहर।

छाकरा (छोकरे), छोकल, छोड़े, छोत, छोमुहरा, छोरे।

छौकना, छौपत्रा।

छंकवरे, छंकोड़िया, छंगे (छंगा), छंछन, छंदकवरे, छंदखोरा, छंदखोला, छंदना, छंदमल, छंदा, छंदीकुक।

(ज, जा, जि, जी, जु, जू, जे, जै, जो, जौ, जं, जः)

जखभुवाधुन, जग्गी, जगड़, जगधरिये (जगधारिये) जगरान, जगरेजे, जगवार्थ, जटिय, जटियल, जठाला, जड़बुत्ते, जड़ि, जततवानी, जतवानी, जतियल, जदानी, जधर, जनकिया, जनचावला, जनड़े, जनमेजी, जनरथ, जनरेजे, जनवेजे, जन्नी, जनीचावला, जनेजे, जप, जपके, जपने, जपी, जपोड़े, जब्बरशाही, जमकी, जमन, जम्मा (जम्मे), जयतुका, जयरथ, जयरेजे, जयी, जयोरे, जरजी, जरताधर, जरबुते, जरार, जरांद, जरीपुंज, जलउल, जलहार, जल्ला, जलाली, जलूना, जलोटा (जलूटे, जलोटी, जलौटी), जलोह, ज्वाला, जसकी, जसराई, जसवड़े, जसूजे, जसूत्रे, जसीहुक, जसोवे।

जाकज, जाकन, जाका, जागीरदार, जागोघर, जाँधी, जाँजणाधी, जाजल,

जाँजी, जाजीखेल, जाँजीचन्द, जाजुड़े, जाजुरे, जाजे, जाडठक्क, जाड़का, जाँड, जाड़ा, जाड़े, जाँदनी, जानभुवाधुन, जानल, जायखलाड़ी, जारया, जारेचा, जालनापुरे, जाला, जाली, जावा।

जिंधान, जितूरि (जित्री), जिवरा (जिवारा), जिहट।

जील, जीवटे।

जुगलवाया (युगलवाया), जुगे, जुझाने, जुड़े, जुनेजा (जुनेजे), जुरै, जुलाहे, जुहका, जुहारजीते।

जूला।

जेखाणी, जेखाने, जेठवा, जेनभी, जेरवाणी, जेसगही, जेसगही, जेसंगे, जेसंहगी।

जैतुका, जैमल, जैरथ (जयरथ), जैसघड़ी, जैसिंधिये।

जोका, जोखानी, (जोखाने), जोखिया, जोगिया, जोगी, जोंजर, जोंजीखेल, जोंजीचंद, जोड़ा, जोति, जोथे, जोंदनी, जोधा, जोना, जोरथ, जोरवानी, जोसींगे, जोहर (जौहर)।

जौभी, जौली, जौहर, जौहरे।

जंगी, जंड़, जंडवाई, जंडवाणी।

(झ, झा, झि, झी, झु, झू, झे, झै, झो, झौ, झं, झः)

झगड़, झग्गर, झगरा, झगाड़, झजर, झझर, झड़ीला, झनकसिया, झनफनबजे, झमड़े, झमपालर, झमाणी, झरमुरा (झारमुरे), झलकमार, झलवार, झल्ला, झलेर, झलोरे।

झाँगड़ा, झाँझरे, झाँझा, झाँझी, झाड़, झांप, झांपादार, झाँपामार, झाममरा, झाँम, झामुर, झारिले, झाला, झाँव।

झिउड़ा, झिगराने (झिंगराने), झिंगरे, झिनिंगर, झिलिये (झेलिया)।

झीझा।

झुलवार।

झेलिया।

झोरमकोई, झोलड़े।

झौआझार, झौआमार, झौंकमार।

झंकसिया, झंकारा, झंगड़या, झंगराने, झंझर, झंझेबाज।

(ट, टा, टि, टी, टु, टू, टे, टै, टो, टौ, टं, टः)

टअयानी, टई, टकन, टकर, टक्कर (टक्करे), टक्करटेक, टक्करेजे, टकसाली, टकहर, टकियार, टगिरा, टटयानी, टटरा, टटवाना, टट्ठआना, (टुटवाना), टठानी, टडवाले, टणाका, टनकधार, टनोजिए, टनोड़, टमकन, टरहा, टल, टक्केर, टहरी।

टाक, टांक, टांगरा, टकटरा, टाटरीया, टाटरेजे, टाटागड़, टाटरारीया, टांडरे, टारिये, टाला, टाली।

टिकले, टिकंदर, टिकिये, टिकू, टिहरीवाक।

टीटो, टन्डन।

टुकनिया, टुकरिया, टुंगरवाही, टुनकिया, टुनखिया, टुनटुनिया, टुनी,

टुपिया।

टेक, टेजे, टेटिया, टेढ़ीवाक।

टैठिया।

टोकेल (टोकले), टोंगा, टोनिया, टोरनार।

टंकघर, टंगड़वाढ़ा, टंगरी (तांगड़ी), टंढारिया, टंडन।

(ठ, ठा, ठि, ठी, ठु, ठू, ठे, ठै, ठो, ठौ, ठं, ठः)

ठकनोजिए, ठकर, ठक्कर, ठकराल, ठकुरायल, ठकुरेजा, ठटई, ठटिये, ठठचारे, ठठयारे, ठठनपाल, ठठराल, ठठागर, ठठानीवारे, ठठामर (ठठामरे, ठठोमरे), ठठेरा, ठमारावाड़ा।

ठाकरे, ठाकुर, ठाकुरायल, ठाट, ठाठगण, ठाठभूरे, ठाठोरा, ठांड।

ठिक्कन, ठिकथूरा (ठिकयूरा) ठिकपुरा, ठिलइनेट, ठिलडनटे, ठिल्लमठिल्ला, ठिक्कन।

ठीकेदार।

ठुकराल, ठुकरालिया, ठुकरेजा, ठुकहर, ठुड्डी।

ठेकरे, ठेंठपाल।

ठोकिया, ठोभरे, ठोसमल (ठोसमाल)।

ठंडखैय, ठंडन, ठंडी, ठंथखेये।

(ड, डा, डि, डी, डु, डू, डे, डै, डो, डौ, डं, डः)

डकण, (डकना), डखना, डगगई, डगबरेजे, डगभरीले, डगवने, डगागेदश, डगिया, डटाइये, डडवहे, डडी, डड्ढी, ड्ड्डग, डडोसी, डडोहे, डमरिया, डमामघर डयानी, ड्योढ़ा, डयोरी, डरवाने, डरेजे, डलिया, डसोसा, डंहगरे, डहे।

डाक, डाख, डागरी, डांग, डांगा, डांडागण, डांडी, डाडेरा, डाबरा (डाबरे), डाबूमल, डामरा, डामराबाढ़, डारा, डारे, डालफूल (डालफूले), डावर, डाली, डावरा (डावरे)।

डिगसना, डिगसाना, डिसोजा (डसोसा)।

डीख, डींगर (डींगरे)।

डुलेरा।

डूमने, डूमरे, डूंगर।

डेगावा, डेगी, डेयानी, डेयाजी, डेयारी, डेवरी, डेसर

डैरी।

डोग, डोगर, डोटे (डौडे), डोंडरा (डौंडरा, डौडरे), डोडिया, डोडे, डोडेचा, डोडेजे, डोनवरे, डोनम्बरे, डोमेने, डोमने, डोर।

डौडे, डौंडरे।

डंकवन, डंकवाने, डंकामार, डंग, डंगगई, डंगडाई, डंडबाज, डंडीडेजा, डंडे, डडेढ़ा, डंडोसी।

(ढ, ढा, ढि, ढी, ढु, ढू, ढे, ढै, ढो, ढौ, ढं, ढः)

ढकी, ढगढेर, ढगले, ढटावने, ढटावरजे, ढबकर, ढमला, ढरक, ढल,

ढलवाज, ढवराला।

ढाईये, ढाकुरायल, ढाढवानिए, ढाढा, ढांढे, ढानिये, ढाभीणा, ढारी, ढालकरी, ढालबाज।

ढिंढोरिया, ढिलहान।

ढीकदार, ढीगड़, ढीगड़ा, ढींगरा।

ढुढरवाल (ढुंडरवाल), ढुलका।

ढेहरिया।

ढोकले (ढोकणे), ढोकले, ढोंढले, ढोंढिला, ढोलकिया, ढोलकीफुट, (ढोलकीफूट), ढोलपा (ढौलपे), ढोलाणी।

ढंकण, ढंकना, ढंगढेरे, ढंगमकूला (ढंहुमकुला), ढंगर, ढंगरी, ढंढारिया।

(त, ता, ति, ती, तु, तू, ते, तै, तो, तौ, तं, तः)

तर्क, तकयान, तकमार, तकियार, तकोजे, तकोने, तखतोला, तगड़े, तगतोड़, तग्गिनमनि, तटघर, तटवर, तट्रासी, तड़वाल, ततरेजे, तत्ते, तथहार, तनतिया, तनी, तनेचे, तनेजा, तनोद, तपंगर, तपुड़गुड़ा (तपड़बुड़ा), तपनगर, तपे, तबकिया, तब्रे, तमखुरा, तमाकूवाला, तमेजा, तरदा, तरंदा, तरनेजा, तरपके, तरवानी, तरवार, तरीकिये, तरोने, तलकी, तलरे, तलवजे (तलवाज), तलवाड़ (तरवार, तलवार), तलवारमार, तलोजे, तवनोल, तवरेच (तवरेज), तवेया, तहमेले, तहरी, तहवाला।

ताकरा, ताखी, तागड़े, तांगड़ी, (तांगरी), तांगा, तांगिये, तांगेल, ताणेवली, तातने, ताता, तांतिया, तानी, तानीओढा, ताने, तानेतली, ताबड़े, तारा, तालवाड़ (तालावाड़), तालंगे, तालारार, तांवड़े, ताहरी।

तिगड़े, तिन्ने, तिपुरा, तिब्ब, तिरंदाज, तिरनाल, तिरहुन, (तिरहन, तिर्हन), तिरूमल, तिलकिया, तिलवार (तिलवाल), तिल्लीछार, तिलुका।

तीगरे।

तुतिया, तुतीआ, तुनतुनिया, तुम्बार, तुरही, तुरी, तुरीजे, तुलवीर, तुलसिंद (तुलसिंदे), तुलसी, तुलसीनन्दा, तुल्ली, तुलीया, तुर्हाई।

तूल, तूलर।

तेंगर, तेजा, तेजाणी, तेजानी, तेतर, तेन्यओ, तेम, तेय, तेला, तेहर (तैहर)।

तैहर (तेहर)

तोतलानी, तोतवाणी, तोते, तोरनार, तोलबाटरीन, तोलवांछरी, तोवरेज, तोवरेजे।

तौलिया।

तंगिये, तंचे।

(त्र)

त्रिमल, त्रिहन (त्रेहन, तिर्हन)।

(थ, था, थि, थी, थु थू, थे, थै, थौ, थो, थं, थः)

थकवेल, थथड़े, थथेड़े, थनथाल, थन्ने, थम्बा थम्मन, थरहाल, थरीना, थरेजे, थलकर्छी (थारकर्छी), थलकिया, थलहिल, थलेर।

थागर (थागुर), थाथर, थाथरी, थापन, थापर, थारकर्छी (थलकर्छी), थालर।

थिग्गन, थिमन।

थुकवन्ते।

थूहर।

थेकिया, थेगरा।

थैलवाल।

थोकिया, थोटी।

थंबा, थंमन, थंरहल।

(द, दा, दि, दी, दु, दू, दे, दै, दो, दौ, दं, दः)

दउयाणी, दगचंद, दगण, दगभरिला, दगीचा, दगिया, दणीया (धीणींआ), दधिया, दनड़ा, दबराल, दमकतरे, दमाम, दमोरा, दमौड़ा, दय, दयाणी, दतड़ा, दत्थल, दरगन, दरगाना, दरज, दरजे, दरधिया, (दधिया), दरया, दरेंच, दलवजन, दलही, दलानिया, दल्लालिया, दलिये, दवकने, दवरल (दवरैल), दशवाल, दसू (दस्सू), दहके, दहगलानी, दहतारिये, दहनी, दहरानी, दहल, दहिका, दह्जा, दहोचा, दहोजा (दहोजे), दहोरा, दहोरे, दक्षिण।

दागड़ी, दागन, दाणेज, दांदड़ा, दाघड़ा (दंधिड़ा), दादरे, दादसुना (दादसूना), दादीपोता, दानि, दानिये, दामड़ी, दामन, दामुसा, दारले, दारीला, दावडीहा, दावड़े, , दास्वहर, दास, दासा, दाहड़े, दाहवले, दाहोरा, दाहोले।

दिक्कन, दिगा, दिलवारे, दिवरा, दीवरा।

दीवरा (दिवरा), दीवान, दीदाबन्द, दीदिया, दीक्षण।

दुआ (दुए), दुखर, दुखेरे, दुगल (दुग्गल), दुत्रल, दुधावने, दुपाया, दुबोहल, दुम्बवाल, दुमोरा (दुमोहरा), दुरगन (दुर्गन), दुरेचे, दुरीजे, दुलिया, दुवण (दुवन), दुहावन।

दूतिया, दूधावने।

देगरा, देगी, देंच, देंचे, देजे, देनावरी, देमरा, देमला, देयाणी, देरया, देवड़े, देवपाल, देवल।

दोए, दोखरे, दोदीय, दोपे, दोबरेजे, दोल, दोलड़े, दोलतमनी, दोहरा (दोहरे), दोहुजे, द्रोदीया, द्रोर।

दौलड़े, दौलतमनी।

दंगली (दधिड़ा, दांदड़), दंदोसी।

(ध, धा, धि, धी, धु, धू, धे, धै, धो, धौ, धं, धः)

धखाड़, धखानी, धगलानी, धगवाली, धडंगे, धड़ा, धतवा, धतूरिये, धन, धनकिया, धन्तापूरी, धनदेई (धनदेन्या) धनरिये, धनाक्षरी, धनिया, धनुके, धनुर्धर, धनोरधर, धपैदे, धफंजखत, धर्मदास, धमीजे, धर्मीरे, धरकमार, धरकबंदिये, धरद्वाजी, धरपी, धरमरे, धरमेरे, धरमोहा, धररे, धरवानी, धरादे, धरीड़, धरें, धरेज, धरेटिया, धवन, धवरीया, धवीरन, धररे, धरवानी, धरादे, धरीड़, धरें, धर्रें, धरेज, धारेजे, धरेटिया, धवन, धवरीया, धवीरन, धहना।

धांगड़ (धांगड़े), धांधा, धारन, धारिष्ट, धारी।

धिंगड़े (धांगड़, धांगड़े), धितिये, धिवाया।

धीए, धींगड़े, धींणीआ (दणीया), धीपे, धीमा, धीया, धीर, धीरड़, धीरवीर, धीवन।

धुड़िया, धुतारा, धुनी, धुप्प, धुमन (धूमन), धुमरे, धुलेरा, धुवाना, धुस्सा।

धूमन, (धुमन), धूमी, धूरिया।

धेकडे, धेगड़े, धेला।

धैयर।

धोकड़े, धोंगड़ी, धोंडाले, धोन (धवन), धोना, धोरवाया, धोपर, धोवन।

धौखिल, धौन

धनकसरी, धंतापूरी, धंधरा, धंधारी।

(न, ना, नि, नी, नु, नू, ने, नै, नो, नौ, नं, नः)

नकतूर, नकबेसर, नखतुरा, नखराना, नगई, नगराना, नगरानी, नगराया, नगरि, नगरेजे, नगिया (नगिए), नगौरा (नागौरा), नचया, नचाती, नजड़ा, नटोर, नटोरा, नदरा, नदवाने (नंदवाने), नभल, नमण (नेमण), न्याहिये, न्योले, नरद, नरदे, नरूकमरू, नरूला (नरूले, नारोले), नरेश, नृसिंह, नलोरा, नवलखा, नवहू, नशकीड़े (नाशकीड़े), नहगंदी, नहछिदा (नहछिद्दा), नहनगनी, नहनजनी, नहरानी, नहियण, नहियन, नहियप, नहिसाबाढ़ (नाहेसरबाढ़)।

नाइनचल, नाकपूत, नाकोड़ नाग, नागन, नागनागर, नागपाल, नागर, (नागरे), नागिये (नगिये), नागिस, नागुरु, नागे, नागौन, नागौरा, नाजर, नादरा, नान, नानगुरू, नानसी, नायक, नायब, नारंग, नारंगे, नारोले (नरूला), नाल, नालवा, नालोरा, नाशकीड़े (नशकीड़े), नासवा, नासा, नाहेसरबाढ़।

निओले, निचाणी, निर्जिया, निझावन, निडरे, निर्मण, निर्मणभुत, निर्मल, निरंजन, निरत्रिया, निरंद, निवाणी, निवाहिये, निश्चल, निशान, निर्शान, निशीन, निसात, निहावन।

नीचीवाले, नीमक।

नुनहारा, नुनहारी।

नूरजे।

नेकूख, नेगर, नेगू, नेपर (नैपर), नेमके, नेमण (नमण), नेमी, नेवया।

नैगर, नैगल, नैनाथी, नैपर, नैमहले (नौमहले), नैमिख, नैमिव, नैयर, नैर।

नोगराही, नोगरे, नोनछरे (नोनछोड), नौनछोर), नोरोजे।

नौगराही,नौनछौर (नोनछोर), नौमहले (नैमहले)।

नंगरेजे, नंदचाहत, नंदवाने, नंदवार, नंदा (नंदे)

(प, पा, पि, पी, पु, पू, पे, पै, पो, पौ, पं, पः)

पखुरा, पखूरा, पचंडे, पंजागरी, पंजावे, पजैला, पजैली, पट्टण, पट्टीखर, पट्टीलट, पट्ठे, पटपटिया (पटपटी), पटोदी, पड़तले, पड़ाल, पंडाल, पंडिया, पडीआ, पडेर, पतमी, पतली, पता, पतोला, पथरा (पथरिया), पदवासी, पधीजे, पधौला (पधैला), पनधारी, पनधारो, पनवाटी, पनवानी, पनवार, पनहारी, पनाड़ी, पन्नी, पनेरट, पनेरह, पपडेजे, पपुरसगांधी, पपोजा, पयलहे, पयोलल्ला (पायोलल्ला),

परचंडा, परजिया, परमली, पराग, परासी, परीगांधी, परूथी, परेम (परेमा), परेयानी, परोथा, परोथी, प्रथु, प्रधान, प्रभाषी, पलटा, पलताया, पलथन, पलपजलते, पलाई, पलाहा, (पलाही), पवाधा, पवार, पवेजे, पशीमन, पसरा, पसरेचे (पसरीचा), पसरीने, पहजा, पहवा (पाहवा), पहोजा, पहोलर, पहोवें।

पाकर, पाखर, पागढ़े, पागदे, पांचल, पांजड़ा, पांजा, पांजिया, पाटन, पाटिल, (पाटील), पाड़ा पांडू, पातलिया, पातार, पांदा, पांदिया, पांदी, पाधा, पान, पानपोला, पानागी, पापा, पायरा, पायलाजी, पायलानी, पायेहनी, पायोनलल्ला (पयोलल्ला), पारा, पाराशर, पाल, पालसिया, पालेकर, पालोज, पालोय, पांवला, पाशी, पासग्या, पास्तोला, पाहवा, पाहूजे, पाहोया।

पिढारी (पिंढारी), पिनाकी, पियामोयो, प्रियलाणी, पिशावरे।

पीडिकेर, पीडी।

पुछरी, पुछी (पुंछी), पुजारे, पुडेकर, पुथरेजे, पुनतीजे, पुनतेजे, पुम्हनी, पुरधनी, पुराग, पुरी, पुरोमनी, पुलपलेजते, पुल्याणी, पुलयाणी, पुशकरी (पुष्करी), पुहली, पुहानी।

पूजारि, पूल।

पेंक्ट, पेंट, पेंटू, पेड़ी, पेतरमेढर, पेनचतुरिया, पेलान।

पैंगे, पैंचू (पैंचे)

पोखल, पोछक्का, पोछक्या, पोजरि, पोंजी, पौजे, पोतरे, पोथंगा, पोथा, पोपल, पोपला, (पोपले), पोपलाया, पोपा, प्रोरधा, पोलपुअर, पोलपुहर, पोला, पोलावल, पोलावाल पोलियार, पोह, पोहली, पोहा।

पौछच्का, पौहारी।

पंखी, पंगे, पंचनंदे, पंचपकालि, पंचवेदी (पंचवेदे), पंचाल, पंचू, पंच्छे, पंजमने, पंजरंडे (पंजरंदे), पंजाजड़ी, पंजाबे, पंजाभुत, पंजे, पंडेचे, पंडेरे, पंधार।

(फ, फा, फि, फी, फु, फू, फे, फै, फो, फौ, फं, फः)

फक्कड़ (फक्कर), फखयार, फटखार, फड़के (फाड़के), फटले, फतोहे, फपणीया, फलकिया, फलचढा, फलदा, फल्ले, फलवहे, फलहारे, फलानी, फलीया (फंलिया)।

फांकिपा (फंकिया), फाड़के (फड़के), फासले, फासेला।

फुतीले, फुटेले, फुनकमर, फुरकना (फरकने), फुलचढ़ा, फुलदा, फुलपकार, फुलवालिये, फुला, फुलिया, फुलीभल, फुलोबालिये, फल्लीवाल, फुवलीवाल।

फूकमार (फूंकमार), फूल, फूलपंखी, फूलमाल, फूलर, फूला (फूले)।

फेरिया, फेसिमा, फेसिया।

फोबचे, फोलती, फोहिया।

फौजी, फौलरी, फौलारी।

फंकिया, (फांकिया)।

(ब, बा, बि, बी, बु, बू, बे, बै, बो, बौ, बं, बः)

बग्गा, बग्गे, बगई (बगाई), बगता, बगरिया, बधावन, बघेले, बघेर, बजबजा, ब्रजमनी, ब्रजमानी, ब्रजसर, बजाई, बजाज, बजाह, बहल, बट्टा, बटेजा, बटेला,

बटोक, बठ्ठल, बठले, बठेजा, बडंडा, बड़तने, बड़यानी, बड़वा, बड़होत्रा, बड़होत्री, बडी (वदी), बडेजे, बडेडो, बडेरे, बत्था, बत्तरा (बत्तरे, बत्रा), बतरे बत्तरे, बतवनी, बत्ते, बदवा, बदवेजा, बदहरे, बदानी, बद्दी, बदेराजे, बर्धवान, बघावन, बनासिया, बनिहाना, बनेलिखे, बनेलिसे, बनेले, बपैत, बब्बर, बबलनीधू, बबेजी, बबेजे, बर्मन, बम्बी, बम्हौ, ब्रजमनी (ब्रजमानी), ब्रजसर, ब्यारुक, बरतोरा, बरही, बराठ, बराढ़, बरेंचा, बरेंया, बरोपद, बरोपदा, ब्रह्मबर, बलगुर, बलंदी, बलनिधु, बलवंता (वलवंता), बलवानी, बलवेजे, बलसुहाई, बलहोत्रा, बलाते, बलान, बलाने, बलियार, बलिये, बलुजे (बलूजे), बलये, बवर, बसंती, बसव, बस्सी, बसीसी, बसुदे, बसेजे, बहकने, बहकी, बहण, बहदरिया, बहदानी, बहदी, बहरे, बहल, बहले, बहवी, बहा, बहार, बहालिये, बहियलि, बहुरंग, बहुरंगे, बहुरे, बहोड़ा, बहोरे, बहोरी।

बाकले (बांकले), बांकपूत (बांका), बांकुरा, बाखरे, बाखिंदे, बागड़ा, बांगपाइये, बांगपालिये, बागवाती, बागीचा, बांगे, बाघले, बाचला, बाजरी, बाजूनेगे, बाड़ा, बाणिये, बाद, बांदा (बांद), बानथरी, बांबरी, बाबी, बांबी, बाबेजी, बायड, बार, बारभी, बारभीया, बारड (बारडे), बरी, बारतुरे, बारहोत्री, बाराध, बारे, बालखीरन, बालगीर, बाल्मीकि (वाल्मीकि), बालबीरन (बालवीरान), बालाजी, बावला, बावले, बावाँ, बासल, बासिन, बासिया, बाहगुरू, बाहयार, बाहरी, बाही।

बिक्कवा, बिछुवे, बिज, बिदराल, बिन्द्रा, बिद्दाओ, बिद्री, बिनहरा (बिन्हरा), बिपभा, बिरंच, बिरंची, बिरमाल, बिलाया, बिल्ले, बिवोड़ी, बिसार, बिहारी, बिहीजे।

बीछी, बीडरा, बीधी, बीन, ब्रीमि।

बुखारे, बुखीज, बुंटी, बुडढी, बुधवला, बुधरेजे, बुधवार (बुद्धवार), बुद्धवाल, बुधवाल, बुधेजा, बुरबुरे, बुलबुला।

बूचकी, बूछड।

बेगत, बेगल, बेगानिया, बेगी, बेघर, बेदराजे, बेदराल, बेदा, बेराय, बेराया, बेरी, बेविनकट्टी, बेसी, बेहड़, बेहर।

बैदरा, बैन्दरा, बैनी।

बोगरे, बोचगेरि, बोटी, बोटे, बोमरे, बोरिया, बोरी, बोरोच्चा, बोलमीया, बोलविहा, बोवड़े, बोसमिया, बोसिया, बोहरा (बोहरे)।

बंकापुर, बंकामुख, बंगुठला, बंदराय, बंदीफुंक, बंदीफूंक।

(भ, भा, भि, भी, भु, भू, भे, भै, भो, भौ, भं, भः)

भइडा, भईठा, भकनेजे, भकरिये, भकानी, भक्को, भकोरी, भषेनी, भगडे, भगत, भगतानी, भगधारी, भगनेजे, भगरेजे, भगाजयी, भगादी, भगेड़ा, भचानी, भछड़ा, भटिये, भजनाई, भटनेरी, भटयानी, भटरिया, भटरेजे, भटेजा (भटेजे), भट्टा, भटियार, भठेजे, भडनानी, भडकने, भड़रिये, भड्डी, भडेजे, भत्राइये, भर्थक, भदवा, भदवे, भद्धा (भद्दे), भधले, भधार, भनोजे, भनेजे, भनेसीजा, भभरानी (भभराने), भभरेजे, भभंवई, भभवानिये, भभेरी, भम्बईये, भम्बरी (भम्बारी), भम्भेले, भमरेजे, भमानी, भमेनी, भयहांकी, भरखने, भरत, भरद्वाजी (भारद्वाज), भरनी, भरभेदी, भरमेजे, भरवाल, भरवाही, भरसन (भर्सन), भरसनिये, भराडे, भलानी, भल्ला (भल्ले), भलूता, भवाइये, भवासनिये, भवेसेजह, भसीजे, भसीन, भहकानी, भहेल।

भाखेल, भागजई, भागजे, भाजरतवी, भाजिये, भाटिया, भाठरिये, भाठे, भातरखाने, भातेफतहेजा, भादंडी, भादाणी, भानजीरे, भानिये, भाबने, भाबखा, भामदिल, भारत, भारती, भारद्वाज (भारद्वाजी), भारवाही, भारे, भालने, भालन, भालिये, भालेन, भांवडी, भावडीया, भावड़िया, भावदस्या, भावने (भाबने), भाबरवा, भाहत्यासत्या, भाहांकी।

भिंड, भिराणी, भिरातिये।

भीमर, भीमी, भीरा, भील।

भुच्चड (भूचर), भुचानी, भुछड़ो, भुटठे, भुटेजा, भुडानी, भुडादी, भुडिया, भुड्डी, भुत (भुते), भुरे, भुलाने, भुसरी, भुसाणी।

भूगी, भूचर (भुच्चड़) भूछड़ा, भूटानी, भूडंडी, भूतने, भूतिया, भूमकर, भूरिया, भूसरी, भूसे।

भेटिया, भेड़ा, भेदानी, भेदिया, भेरन, भेरा, भेरी, भेरू, भेवा।

भोगधारी, भोगर, भोगरा, भोघड़, भोछड़, भोजगिरि, भोजपत्री, भोजपन्ने, भोजरटनी, भोजराय, भोड़े, भोतने, भोपर, भोरपालने, भोरानिये, भोलाने, भोलासिके (भोलासिक्के)।

भौंकमार, भौछड़ा, भौंछा, भौरंगे।

भंगड़े, भंगरेजे, भंडरा, भंडारी, भंतडादी, भंबइये, भंमी।

(म, मा, मि, मी, मु, मू, मे, मै, मो, मौ, मं, मः)

मओंपोत्रे, मक्कड, मक्खी, मक्खीचूस, मकडीआ, मक्मा, मकबाने, मकर, मकरानी, मकरीया (मगडीया), मक्ला, मकाती, मकानी, मकोंडा, मकोडीया, मकोडे, मकोरे, मखना, मखले, मखशाला, मखीचूस, मखुआ, मग्गा (मग्गो), मगजि, मगजीकोडी, मगडीया (मकरीया), मगरा, मगरूरा (मगरूरे), मगलानी, मगसेर, मगहरा, मगही, मगुरा, मगे, मगोई, मगोभी, मघरवान, मघवन, मच्छर (मछर), मजता (मजना, मजने), मजराल, मजाई, मजीरा, मटवीया, मटीजा, मठरे, मठारे, मडनेजे, मडीजे, मढ, मढे, मणियार, मणूजा, मनूजा, मतवक (मंतवके), मतोके, मर्थके, मदरा, मदान, मदीने, मर्दी, मधवा, मधवी, मधावन, मधुआ, मधुक (मधूक, मधोक), मधुकने, मनकी, मनकुंडी, मनके, मनगंदे, मनचंदा (मनचन्दे), मन्जाल, मनड़े, मनमोर, मनलूजा, मनह, मनहता, मनहारा (मनिहारा, मनहोरा), मनाहा, मन्नी, मनूक, मनूचा (मनोचा, मनोचे), मनोक, मनोहरा, ममा, ममूरा, ममनये, मरकट, मरक्तैनी, मरक्टैनी, मरकनी (मरकने), मरकर, मरग, मरगाई, मरथक (मर्थक), मरदंती, मरदत्ती, मरदी (मर्दी), मरमुआ, मरवाईये मरहावा (मरवाहे), मरवी, मरानमगो, मलक, मलकानी, मलख, मलखन, मलखमंजीरा, मलगढ़, मलगी, मलजि, मलर, मलहोत्रा (मल्होत्रे, मलोत्तरे, मेहरे), मलार, मलिक, मलित, मलीता, मलूजे, मलूरिया, मल्ले, मसाकी, मसाना, मसाला, मसूरा, महंगी, महंत (महंता), महगड़, महता (महथा), महतानी, महरा, महराविया, महरावीय, महाकुच, महाजन, महान, महाबंद, महाय, महालदार, महित्र, महिव, महेन्द्र, महेन्द्रू, म्हेर, महेरे, म्होणेवाढा।

मागड़े, माटा (माटे), मोटे, माटिर, माठ, मोंडजे, माणकटेला, मातपोतरे, माधवी, माधी, माधु, माधुर, माधू, मानकटाहल (मानकटोह, मानकटाहले), मानिये,

मामतुर (मामतोरा), मामलडि, मामलातुरा, मारी, माल, मालगुर, मालगुरू, मालदार, मालन, मालवी, मालवंती, मालापुरे, मालिया, माहमी, माही।

मिया, मिठे, मित्रा, मिनकती (मिनकेती), मिनरिया, मिरजकर, मिरैया, मिसकीन।

मीठाणी, मीमीयाल, मीरांरण।

मुकताली, मुकलाती, मुकेर, मुखरे, मुखाइये, मुखीजे, मुगलन, मुगलानी, मुच्छ, मुजराल, मुंजाल, मुझारने, मुटेजा, मुंडा, मुंडिया, मुडैल, मुथरा, मुदिया, मुदियाण, मुधीजे, मुनहि, मुनारा, मुरगई (मुगोई), मुरझाने (मुर्झाना), मुरल, मुराका, मुरादाबादी, मुरादे, मुराला, मुलतानी, मुलवीजे, मुलहान, मुलिये, मुँह, मुँहचगा, मुँहयाल, मुँहवेगा।

मूंगे, मूचर, मूता, मूलरिया।

मेकमदन, मेगजी, मेघराज, मेंडे, मेता, मेत्राणी, मेदराह, मेदिया, मेदरा, मेदिया, मेधिआ (मेधिया), मेरमेलिए, मेवा, मेहता, मेंहदी, मेंहदीरत्ता, मेहन।

मेहरवाड़े (मेहरबाड़े), मेहरा, मेहरोत्रा (मिहरोत्र, मिहरोत्रा)।

मैनराय, मैनराव, मैनरिया, मैनी, मैलवार।

मोइये, मोकल, मोखाणा, मोगर, मोगल, मोगले, मोगवाले, मोंगा, मोछर, मोटिया, मोटे, मोड़री, मोदन, मोदा, मोदिया, मोदी, मोनी, मोरगी, मोरन, मोरनिया, मोंडजे, मोरपंखी, मोरलिया, मोखा, मोरे, मोलरे, मोलीवाड़, मोलीवाड़े, मोले, मोहण, मोहरा (मोहरे), मोहरिये।

मौजवर, मौदे, मौनवार, मौनबार, मौनसिल, मौना, मौनी।

मंकरा, मंकोडी, मंगचावने, मंगमछेर, मंगमधर, मंगल, मंगलवार, मंगलानी, मंगवाने, मंगोटिये, मंगोलिया (मंगोलिये), मंजी, मंजीठी, मंटयार, मंदुरा (मंदूरा), महंता, मंहदीरत्ते।

(य, या, यि, यी, यु, यू, ये, यै, यो, यौ, यं, यः)

यकड़, यगचावने, यती, यरकने, यरनियगो, यरानवगो, यरोरन, यलतानी, यलर, यलावंड, यहदीरेत, यहांना (याहने)।

याठ, यादा, यांदा, यांदी, यारद, याहने, याहमे।

युखरे, युगलजाया, युरादे।

येंजे, येदाह, येंदाह, येन्द्री।

योनहे, योरगी, योल, योले, योहंयाल।

यंगचावने, यंतरयार, यंतरायाद।

(य, रा, रि, री, रु, रू, रे, रै, रो, रौ, रं, रः)

रऊरेजे, रखरेजे, रखीजे, रखीला, रगरेच (रंगरेज), रघुपति, रघुराई, रघुराया, रघुवंशी, रचपातूनी, रचपातोजी, रचला, रचा, रचासेशियान, रचासोशियानी, रछपाल, रजगल, रजल्ली, रजवानिये, रजेजे, रजड़े, रटले, रडवोहरे, रडी, रढीजे, रढिहया, रतकीजिये, रतन, रतनपाल, रतरे, रतल, रतवानी, रतूल, रतेजा, रनचेना, रनदेव, रपकजी, रबारा, रबांरा (रबारे), रबिया, रमली, रमाई, रलकनिये, रलन, रलबाइये, रवस्या, रवासिया, रवेजे, रवैसिया, रसपुत्रा, रसभुअरा (रसभुदरा), रसवाल, रसान,

रसीवट, रसेजा, रसेवट रहरे, रहानिया, रहानिये, रहिमान, रहवा, रहूजा, रहेजे।

राइसमानवी, राउत (रावत), राकड़िया, राखड़ा (राखढ़ा), राजदे, राजने, राजपाल, राजपुतने (राजपूताने, राजपूतोन), राजबे, राजमहल, राजवते, राजवादा, राजवाना, राजवाल, राजवाहा, राजवे, राजशाही, राजाणी, राजानी, राजाबाढ़ा, राजिया, राजे, राजोये, राजोलि, रातकालजिया, रादोढा, राना, रामगढ़ी, रामगढ़ीया, रामगादी, रामदेव, राममलानी, रामिया, रायजादे, रायजेबी, रायवागि, रायवाला, रायेमानवी, रारवीर, रारा, रारिये, रावड़े, रावत, रावल, रावेरो, राहीजी, राहीजे।

रिंका, रिखी (रेखी), रिछपटोदा, रिछपाल।

रूठीजे, रूमेला, रूरेजा।

रूआने, रूखे, रूठीजे, रूढंजे, रूपकठोर, रूसीदलारने।

रेखी (रिखी), रेगरा, रेयाई, रेलन, रेली, रेवड़ी, रेहा, रेहाड, रेहाण (रैहण), रेहाल।

रेहाँ, रैहण (रिहाण)

रोकबाये, रोकवाये, रोकरिया, रोकड़िया, रोखती, रोचक, रोजा, रोडी, रोडीराम, रोडेगे, रोढ़ा, रोना, रोनिये, रोपरे, रोयड़े, रोरा, रोसीधारने, रोहनिया।

रौद्रा, रौद्रि।

रंगड़ा, रंगपुर, रंगबुले, रंगभुजे, रंगरेज (रंगरेच)।

(ल, ला, लि, ली, लु, लू, ले, लै, लो, लौ, लं, लः)

लई, लक्खी, लकड़, लकड़े, लकमी, लखकेहर, लखड़ी, लखणहारे, लखतूरा (लखतुरी), लखदंता, लखदानी, लखनपाल, लखनपाले, लखनी, लखपुरा, लखरिया, लखानी, लखिये, लखीजे (लीखा), लखेजे, लग्घे (लुग्घे), लगानी, लक्ष्मण, लक्षणे, लचर, लजानिये, लटकन, लटानी, लठला, लडानिये, लथिया, लथिला, लदवा, लब्बी, लभरीया, लमलली (लमल्ली), लम्हक, ललते, लल्ले, लवक, लवाणी, लवाली, लवेक, लवैया, लहवर, लहीजे, लहेजे।

लाखड़े, लाखेड़ा, लागिया, लांडगू, लातीपाल, लानिये, लाम्बा, लाम्बे, लालपग्गा (लालपागा), लालपोत, लालमुना (लालमुन्ना), लालवा, लालीपाल।

लिक्खिये, लिडानी।

लीखा (लखीजे), लीमड़े, लीया।

लुग्घे (लग्घे), लुघेरे, लुंड (लूणा), लुधेरे, लुम्बा (लाम्बा, लूम्बा), लुलजे, लुलेजे, लुलवाज, लुला, लुलीय, लुठेड।

लूठेडा, लूणा (लुंड), लूथडा, लूथरा, लूनिये, लूम्बड़, लूमड़े, लूला।

लेई, लेखड़े, लेंगानी, लेमरीया, लेवा, लेहा।

लोइट, लोईहूक, लोकपाल, लोगन, लोची, लोछानी, लोटी, लोटे, लोठफा, लोपाल, लोबा, लोमटे लोमड़ (लोमबड़), लोलिये, लोवा, लोहइहुक, लोहडिया, लोहाने (लोहाने), लोहारी, लोहिया, लोहिये।

लौगिया, लौंगिया।

लंकापुर, लंगठ, लंगड़, लेंगानी, लंबा, (लांबा, लुम्बा)

(व, वा, वि, वी, वु, वू, वे, वै, वो, वौ, वं, वः)

वकल, वक्काल, वकवादे, वखावने, वखेड़े, वग्गा, वघेला, वघेले, वच्छ, वछेलरे, वछेर, वज्ज, वजनी, वर्जल, वजसीजे, वभ्भारे, वटारे, वठखाने, वडेरा (वडेरव), वढ़खा, वढहेरे, वढेरा (वढेरे), वतराने (वातराने), वतरेजा (वातरेजा), वते, वत्ते, वदइये, वधर (वधारी), वधराजी, वधरानी, वधवे, वधावन, वधारिये, वधीजे, वधेला, वधौन, वनतरेज, वनसिय, वनासिया, वनिहेने, वनीजे, वनोचे, वबीजे, वबेजे (ववेजा), वभावाढा, वभियेत, वमरेजे, वम ब्रम्हिक, वयानरीजा (वयानरेजे), वयानी, व्यास, व्यूहरे (वोहरे), वरजल (वर्जल), वरदाऊ, वरवाली, वरबिये, वरम, वर्मान, वरमन (वर्मन), वरयानी, वरवाट, वरवामने, वरविये, वरहा वरहिया, वरही, वरेजे, वरैने, वलड़ी, वलवाना, वलवेच, वल्हीटियर, वलाजीचे, वलिया, वलियार, वलीजे, वलेगा, वलेचा, वलेहटर, ववेजे, वशिष्ठ, वसन (वसन्नी, वासन), वसुदे (वासदेव, वासदेवे), वसोमा, वस्सी, वहकना, वहतरी, वहदानी, वहदो, वहरेअनी वहल (वाहल), वहामा, वहारे, वहियार, वहेड़, वहोरखाते।

वाकले, वाकामुख, वाकी, वागले, वाच्छा, वाज, वाटतोर, वाडेल, वाढेर (वाढेल या वढेरा), वातराने, वादवा, वादा, वांदा, वांदीकुक, वाधवा, वाधवानी, वानदंदा, वानरी, वामा, वामावाढा, वायतर, वारजल, वारड, वारडे, वालगौर, वाल्मीकि, वालवेकर, वासदेव, वास्मीया, वासन, वासिया, वासिल, वासी, वासुदेव, (वसुदेव, वासुदेवे), वाहगुरू, वाहल (वहल), वाही

विक्खे, विकरिया, विषम्भ, विग्गा (विंग्गे), विज (विंज्ज), विजाणिया, विट्ठल, विर्दी, विनकहे, विनायक, विरमाणी, विरोजा, विलाही, विवोड़ी, विसंभ, विसम्भू, विज्ञमल।

वींछी, वीजनीओढा, वीजवीया, वीटा, वीर, वीराएल, वीली।

वूट, वूसिया।

वेगर, वेगी, वेटा, वेड, वेर्द, वेदी, वेनीवखाली, वेनोवरवाली, वेरद्रे, वेरी, वेरेसहन, वेसी, वेहन, वेहरखाने (वहोरखाने)

वैघराल, वैड, वैदरा, वैघराल।

वोषने, वोगर, व्रोगर, वोलविहा।

वंगुठला, वंगुलठा, वंधवे।

(श, शा, शि, शी, शु, शू, शे, शै, शौ, शं, शः)

शकरसिंघे (शक्करसिंघे), शकारि, शखरा, शगुने, शग्लूना, शनपमर, शनिश्चरा, शपथ, शब्बार, शमशो, शयगल, शरने, शराज, शराफ, शर्राफ, शलूचा, शलोती (शालोती), शहवानी, शहवार, शहूत, शहूते।

शादराज, शानकारी, शारा, शालगार, शालूचा, शालोती (शलोती), शावल, शावानी, शाशनी, शासन, शाह, शाहदुराज, शाहंसन, शाही, शाहुता।

शिंगारी, शरालकर, शिवनी, शिवपुरी, शिवानी।

शुक्ला, शुपत, शूरसाही।

शेखर (सेखर), शेगरी, शेशवाल।

शैलाकी (शैलोकी)।

शोई, शोगरी, शोचर, शोत, शोधे, शोभी, शोमी, शोरिया, शोरे, शोशवाल,

शोहर, शोहरी, शोहाल।

शौकत, शौचहर, शौम्हर, शौरानी, शौलिया, शौशनी, शौहर।

शंकधारी, शम्भू।

(स, सा, सि, सी, सु, सू, से, सै, सो, सौ, सं, सः)

सउडिल, सकड़ा, सकरवाल, सखरे, सखेर, सखीवोटी, सग्गर, सगाई, सग्गी (सग्गे, सग्गो) सगुण, सच्चड़ (सच्चर), सचदेना, सचदेव, सचदेवा, सचरवाल, सचहर, सचेहर, सजदेवा, सजपाल, सजा, सजेया, सजैया, सटहरे, सटोपा, सठखे (सठखेरे), सडाने, सडिकेर, सतजा, सतिये, सती, सतीजा, सतेजे, सदरैया, सदा, सधवरे, सधवातनिये, सनिये, सतीजे, सधाणी, सधूरिये, सधैया, सन्हरैया, सनान, सनेजे, सपथ, सप्परा, सपड़े, सपरेचा, सपरेजा, सपील, सपूतीड़ा, सफड़े, सफदनी, सबाटिया, सबाहिया, सबीड, सबेड़, सबरवाल, सभरवाल (सभरवलि, सभरवाले), सभी, समात, समीकुक, संमूचा, संमूचे, सयात, समात, सरकत, सरथ, सरेथ, सरन (सरना, सरनी, सरने), सरवार, सरसी, सराई, सराकी, सर्राफ, सरोज, सरोजे, सरोहरी, सलवाई, सला, सलाई, सलूजे, सलोजये, सलोत्री, स्वता, स्वदा, स्वाती, स्वादा, सवई (सवाई), सवन्नी, सवार, सवारजेई, सवारेजी, सवाल, सव्वानी, सहगरा, सहगल, सहजरा, सहजरे (सहजड़े), सहनी (साहनी), सहबाई, सहमनी, सहवरिये, सहहारा, सहारण (सहारणु, सहारन), संहूरिये।

सा, साखपुरिये, सागर, सागिया, साजण, सातपुते (सातेपुणे), सादीबोटी, साधु, सानी, सांपमार, सामह, सामी, सारदार, सारराद, सारी, सावरी, साहनी (सहनी), साहवाकी, साही, साहु।

सिउनी, सिक, सिक्का (सिक्के), सिख, सिंगर, सिंगरी, सिंगी, सिदलिंग, सिंदुरिये, सिदुसा, सिद्ध (सिद्धू), सिद्धवर्ती, सिधराया, सिंधवड, सिधवानिये, सिधवानी, सिधार, सियाल, सिरगिरि, सिल्ली, सिवरगिट्टी, सिंहली।

सीकरी, सीके, सींगी, सीधवड़, सीहवाथी।

सुखरे, सुखेजा, सुखीजे, सुगंधा, सुचि, सुर्जिया, सुंठिया, सुडीआ, सुद्ध, सुदन, सुदान, सुदाना, सुधने, सुनता, सुनना, सुपत, सुमिरखा (सुभिखीया), सुमन, सुराजिया, सुरेपन, सुलेखी, सुलेगावि, सुवंगी, सुवत्रा, सुवनगी, सुवन्ना (सुवन्नी), सुहेला।

सूची, सूतड़े, सूती, सूद, सूर, सूरशाही, सूरिया, सूरी।

सेखर (सेखड़, शेखर), सेठ, सेठी, सेता (सोता), सेतिये, सेनानी, सेनी, सेनीगंग, सेवकी, सेवा, सेवी, सेसाड़ीन।

सैनानी, सैनी।

सोई, सोकिया, सोच, सोचर, सोंजी, सोंठी, सोडा, सोडिजी, सोडिया, सोडिल, सोडी, सोढा, सोढी (सोंढी, सोढ़ी), सोता सोती (सेता), सोथिया, सोदनी, सोदान, सोदी, सोधी, सोंधी, सोनजी, सोनटक्के, सोनपल, सोनपार, सोनिंग, सोनी, सोनीसोर, सोनेजी, सोफ्ती (सोबती), सोभरेजे, सोमंधा, सोमो, सोमेश्वर (सोमेसर), सोमो, सोरठीया, सोरवाल (सोलवार), सोलंकी, सोलटा, सोलरा, सोलवार, सोलापुरकर, सोलिया, सोवांतो, सोसाडीन, सोहन, सोहराथी, सोहरान, सोहरान, सोहल, सोहारी।

संखचारी, संगड़, संगरवार, संगीये, संगी, संगोटिये, संगोतिये, संचल, संडोजे, संढोजे, संतराया, संदराज, संदरैय, संदरैया, संदेसी, संदेली, संदीज, संधोज, संधोरिये, संध्वा, संभरवाल।

(ह, हा, हि, ही, हु, हू, हे, है, हो, हं, हः)

हजरती, हजसी, हटाडी, हड़ (हड़े), हड़पे, हड्डा, हडे, हटसी, हतिया, हथपइया (हथपैया), हदिया, हनराव, हफदनी, हबीब, हमजागर, हरगण, हरजई, हरजण, हरजाई, हरजानी, हरजी, हरजो, हरणी, हरणेजे, हरना, हरनेजा, हरनेने, हरमसागर, हरमेजे, हरयानी, हरली, हरवै, हरषण, हरसवाठ, हरहदिमा, हरहरिया, हरिया, हरीजा, हरीठे, हरेजा, हरेना (हरना), हल्दवा, हलवानी, हलाली, हवचातोबई, हवचातोवाई, हवजोतोबाई, हसटक्के, हहोजे।

हाँडा (हाँडे), हाँडीफोर (हाँडीफोड़), हाँडीसीर, हाडी, हाथी, हाली, हावनूर, हिंडुजा (हिन्दुजा), हिंदयानी, हिंदवानी, हिदाना, हिराना, हिल्ले।

व्हीगन।

हुआ, हुड़, हुंडिया, हुंडे, हुढ, हुबल, हुलेरा, हुवण।

हूँगर (हैंगर)।

हेकड़, हेकडवाल।

हैंगर (हूंगर), हैहैंया।

होकड़े, होजा, होजे, होड, होडा, होडिये, होमकी, होलिखा (होलीखा), होलियाँ, होविया, होवे, होसमनि।

हौलियाँ।

हंजा, हंजोजे, हंठा, हंडा (होंडा, हांडे), हंडारी, हंडोजे, हंडीफोर (हाँडीफोड़), हंदे, हंस, हंसमुख, हंसराज, हंसरानी, हंसल।

त्र

त्रिमल, त्रिहन, (त्रेहन, तिर्हन)।

(श्र)

श्रवण, श्रीगिरी, श्रीधरी (श्रीधारी), श्रीनमख, श्रीरलकेर।

*****

परिशिष्ट (10)

खत्रियों के सगात

इतिहास तो इतिहास ही होता है और उसमें अच्छा बुरा सभी कुछ होता है। इतिहास तो घटनाओं का गवाह मात्र है उसे किसी की पसन्द या ना पसन्द से या उसके अच्छे या बुरे परिणाम से अथवा समाज या देश की ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व की भलाई या बुराई से कुछ सरोकार नहीं होता। वह तो केवल मूक दर्शक है और इतिहास में जैसा जो कुछ घटित हुआ, उसे वैसे का वैसा ही बता देता है।

भारतीय हिन्दू समाज में और खत्री समाज में भी संकीर्णता, धर्म के अपने अपने विचारानुसार अर्थ एवं कभी उदारता का अभाव और कभी उदारता का प्रकटीकरण कुछ ऐसे हल निकालता रहा है कि समाज में जो परिवर्तन विषम परिस्थितियों में हुए, खत्री समाज उन्हें पूर्णतः आत्मसात नहीं कर पाया पर समाज से जुड़े अनेकों खत्री ऐसे भी रहे जो समाज की मुख्य धारा से अलग हो जाने पर भी अपने जातीय गर्व को नहीं भूले और अपने पूर्वजों की उस धरोहर को बनाये रखने में वे लाख परिवर्तनों के बाद भी नहीं चूके और आज तक उस पर गर्व करते हैं जिसका एक ज्वलन्त उदाहरण मुसलमान खत्री और गुजरात के शंखे नाम के स्थान पर बनी उनकी मस्जिद है।

इसके विपरीत कुछ ऐसी घटनाये खत्री समाज में हुईं जिनकी वजह से कुछ संकीर्ण और कुछ उदार विचारधारा ने समाज से अपने एक अंग को कुछ इस तरह से अलग किया कि उनके साथ कहीं अपना नाता तोड़ लिया तो कहीं बनाये भी रखा पर उसका स्वरूप कुछ ऐसा बदल दिया कि एक नये वर्ग के लिये मिले जुले फिरके तैयार हो गये। सन 1895 के आस पास जब **A Brief** Ethnological Survey of the Khatri Caste (खुलासा पड़ताल खत्री) के नाम से लगभग 250 पृष्ठ की एक पुस्तक तैयार की गयी तो स्वभावतः उसमे ऐसी अनेक ऐतिहासिक घटनायें, रवायतें, किंवदंतिया भी आयीं जो ऐतिहासिक, शास्त्रीय व अन्य प्रमाण को ही सामने नहीं लायीं बल्कि कुछ मिश्रित घटनाओं को भी सामने लायीं जिसे इस पुस्तक में अन्यत्र समाविष्ट नहीं किया जा सका और परिवर्तित परिस्थितियों का तथा उनकी वर्तमान परिस्थिति का पूर्ण विश्लेषण न होने के कारण उनको मूल पुस्तक में सम्मिलित करना उचित भी न जान पड़ा।

कुछ सामाजिक घटनाओं के कारण खत्री समाज का एक अंग किसी समय खत्री बिरादरी से एक बार अलग किया गया तथा उसे फिर किसी न किसी रूप से जोड़े भी रखा गया। ऐसे ही कुछ वर्गो का विवरण जो उपरोक्त Brief Ethnology के उर्दू अनुवाद के रूप में खत्री हितकारी, आगरा (पत्रिका) के

अप्रैल, 1896 के अंक में पृष्ठ 384–388 पर "नक्शा नंबर 17–फेहरिस्त खत्रियों के सगातों और मंगतों की", के रूप में प्रकाशित किया गया था, उसे बिना किसी टीका टिप्पणी के, अविकल उसी रूप में जानकारी (ऐतिहासिक) हेतु दिया जा रहा है–

"नक्शा नं. 17–फेहरिस्त खत्रियों के सगातों और मंगतों की"

हिन्दू			मुसलमान			
नाम जमात	नंबर शुमार	नाम फिरका	नाम जमात	नंबर शुमार	नाम फिरका	कैफियत
जाजक	1.	उद्दे	मचला	1.	मचला	
	2.	अगोले	वगैरह	2.	डाढ़े	
	3.	सरसुत		3.	थाले	
	4.	चक्खन		4.	जागे वगैरह वगैरह	
	5.	मगध			34 तादाद कुल	
भाट	1.	भाट				

तंबिया–लफ़ज जाजक संस्कृत शब्द 'याचक' मानी मंगता, से मश्तक है। जाजकों को मुमालक शुमाली, ग़रबी में नाई और पंजाब में राजा भी कहते हैं। कहा जाता है कि नस्ल के लिहाज से इनका दूर–दराज का रिश्ता खत्रियों से भी मिलता है। रवायत इनकी इब्तदा की इस तरह पर है कि एक खत्री मंगल सेन मर गया। उसकी बेवा उसकी चिता पर सती होने पर आमादा हुई यानी अपने शौहर की लाश के हमराह अपने आप को जिंदा जला देने की तैयारी की। कुल रसूमात अदा हो गयीं चिता तैयार हो गयी और औरत उस खौफनाक कुरबानी या बलिदान के दर्दनाक इरादे के साथ, जिसकी उसे आरजू थी, उसके ऊपर जा बैठी। करीब था कि उसमें आग लगायी जावे कि यकायक उसके दिल में मज़हूम ज़हनी में सती की आसमानी खुशी का ख्याल दूर हो गया। जो जेत के ऐशो आराम की तसवीर अज़ सरे नौ उसके आइना दिल पर खिंच गयी। सोचा कि बहिश्त किसने देखा है और कौन जानता है कि वहाँ क्या होगा। मैं अपने फर्ज खुशी की खातिर क्यों जान हाथ से दूं और क्यों न जिंदगी के जरिये उठाऊँ।

इस ख्याल का आना था कि कुल हाज़रीन अलूवक्त यानी फिरका मुर्दनी व दीगर तमाशाइयों के रू–ब–रू चिता से कूद पड़ी, अपने बच्चों को हमराह लिया और भाग कर एक सारस्वत ब्राह्मण के मकान में जा दाखिल हुई और उसके साथ नेबग करने का इरादा किया। कुल ब्राह्मणों व खत्रियों ने मना किया और उसको इस कार्रवाई से बाज़ रखने की कोशिश की जो उनकी नज़र में गुनाह अज़ीम मालूम होती थी लेकिन न उसके, न उसके मनूज़ा शौहर शानी के दिल पर उनके कहने सुनने का कुछ असर हुआ। दो चार रोज बाद नेवग हो

गया और ब्राह्मण और खतरानी दोनों ऐश से बसर करने लगे। नतीजा यह हुआ कि दोनों मर्दो ज़न मय अपनी औलाद के बिरादरी से खारिज कर दिये गये। जजमान लोगों ने अपनी जात से गिर जाने और मंगल सेन की बीबी और उसके शौहर शानी के कसूर का इकबाल किया और मदद के ख्वाहिशगार हुए तो खत्रियों ने और नीम ब्राह्मणों ने उनको यह इजाज़त दे दी कि बतौर मंगता उनके, उनकी खिदमत किया करें और बतौर नेग कुछ मुकर्रर हक अल मेहनत ले कर अपनी गुज़र औकात करते रहें। चुनांचे वह अब तक शादी वगैरह जुमला संस्कारों और दीगर रस्मों के मौके पर डंबल बजाते, अपने आकाओं की तारीफ में राग गाते और वह जुमला खिदमात अदा करते है कि जो दूसरी दो–जमनी जातों के हिस्से में आते हैं और इस वज़ह से मुमालक शुमाली गरबी में जाजक नाई कहलाते हैं। उन खिदमात के एवज़ उनको वक़्त शादी वगैरह एक माकूल रकम भूड़ (यानी खैरात) और नेग के नाम से मिलती है और कुछ तीज त्यौहार पर भी दिया जाता है।

वाजेह रहे कि खत्रियों के सगात बनने के कुछ अरसे बाद जाजक अपनी असली जमात से जुदा हो गये। नाइयों के साथ नाता करने लगे और उनका पेशा भी अख्तार कर लिया। चुनांचे गो मुमालिक शुमाली गरबी में बाज अब तक इस काम को करते यानी हजामत बनाते हैं और बाज का रिश्ता भी हज्जामों से मिलता है, असली जाजक उनको गिरी हुई कौम ख्याल करते हैं और उनके साथ नाता करने या बिरादराना बरताव रखने से इनकार करते है, लेकिन दिलवाली सेठ खत्रियों में घर का सगात, जो असली फिरके का जाजक होता है, मुंडन के वक़्त कतरन करता है जिससे साफ साबित होता है कि यह असली जाजक भी पेश्तर सारस्वतों और खत्रियों में मिनजुमला दीगर खिदमात के नाई का काम भी अंजाम देते थे। पस वह जाजक भी, जो अब नाई का पेशा नहीं करते और आम नाइयों से नाता नहीं रखते, यह नहीं कह सकते कि नाई के लक़ब से उनका मसरूफ होना महज़ अमर इत्तफाकिया या उनके जजमानों की कदर का नतीजा है। अलावा बरीं यह भी साफ तौर पर देखा जाता है कि खत्रियों में यज्ञोपवीत वगैरह के वक्त जाजक वही काम करते हैं कि जो दूसरी दो–जमनी जातों में हज्जाम अंजाम देते हैं। इसका नतीजा भी वही निकलता है कि जो ऊपर बयान किया गया।

बल्कि एक अमर में जाजकों की सारस्वतों और खत्रियों में उतनी वकत भी नहीं कि जितनी हज्जामों की कनौजिया वगैरह ब्राह्मणों, बनियों और राजपूतों में पायी जाती है। वह यह है कि दीगर ब्राह्मण, बनिये और राजपूत नाई के हाथ का छुआ या पका हुआ खाना खा लेते और उनका छुआ पानी पी लेते हैं मगर सारस्वत ब्राह्मण और खत्री जिस तरह पर नाई के खाने और पानी से परहेज करते हैं जाजकों के छुए हुए से भी बचते हैं। बहरहाल मुमालिक शुमाली गरबी में यही कैफियत देखने में आती है।

इब्तिदा तनी कढ़ाई के वक़्त जाजक ही कढ़ाई में देवता के चढ़ाने के लिये शगुन की पपड़ियां उतारता है जो उनके अहले बिरादरी नहीं खाते और जनेऊ के वक़्त जाजक ही लड़के को नहलाता है। शादी के वक्त जाजक ही दुल्हा दुल्हन को दूधाभाती कराता है मगर बजाय दूध व भात के मेवा से काम लिया जाता है और सपिण्डी के मठ्ठे जो बजाय ब्रह्मभोज के जारी हो गये हैं, अक्सर जाजक ही ब्राह्मणों को दे आता है।

गालबा जो प्रेम जाजकों से किया जाता है उनके जरिये और एक मरतबा खारिज बिरादरी हो जाने का नतीजा है वरना उनमें तो कदरे खत्री और सारस्वत का खून भी है। शास्त्र की रू से और नीज आलम रवाज़ के मुताबिक खालिस हज्जाम का छुआ हुआ खाना खाना और पानी पीना भी ममनूई नहीं है और अक्सर शहरों में खत्री और सारस्वत भी इस किस्म का परहेज जो आगरा व दिल्ली वगैरह में देखा जाता है, नहीं करते।

अलावा भाट और जाजकों के खत्रियों के कुल सगात यानी मंगते मुसलमान मज़हब के पैरोपायजाते हैं मगर वह भी सब के सब नस्ल से खत्री होने का दावा करते हैं।

मचलून की निस्बत कहा जाता है कि वह जगधर (मेहरे) के खानदान की एक शाखा की औलाद हैं। उनका मोरस आली किसी वजह से मौरद अताब अहले बिरादरी हुआ। उसके यहाँ बुलावे का भेजा जाना बंद कर दिया गया। इस शख्स को यह कार्रवाई खसूस्सा आमौजा से कि उसके एक कुंवारी लड़की थी, सख्त नाग़वार गुजरी। बस उसने तैश में आ कर एक शादी के मौके पर अंदर मकान दाखिल हो अहले बिरादरी के मुवाअजा में अपनी लड़की को खौलते हुए घी की जलती कढ़ाई में डाल दिया।

बद ने वजह अपनी बीबी बच्चों के हमेशा के वास्ते खारिज अज़ बिरादरी कर दिया गया और उसे मचला का खिताब दिया गया कि जिस नाम से उसकी औलाद आज तक मसरूफ है। यह नहीं मालूम होता कि उसने या उसकी औलाद ने कब मज़हब इस्लाम अख्त्यार कर लिया।

*****

विष्णु का वामन अवतार—संगठन का प्रतीक

यजुर्वेद के अध्याय 1 का 27 वां मंत्र इस प्रकार है—

"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृहणामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृहणामि, जागतेन त्वा छन्दसा परिगृहणामि। सक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चास्यूर्जस्वती चासि पयस्वती च।।

—यजुः 1/27

इस मंत्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में दी गयी है और बहुत से लोगों को पता भी नहीं है कि इसी मंत्र की व्याख्या में विष्णु के वामन अवतार की कथा भी शतपथ में एक आलंकारिक गाथा के रूप में आयी है जो सभी पौराणिक कथाओं का मूल है।

शतपथ में गर्भाशय में वामन वीर्य बिन्दु से पुरुष रूप तक पहुँचने वाले वामनावतार की राष्ट्र में धीरे—धीरे बढ़ने वाले संगठन से उपमा दी है। वहाँ राष्ट्र संगठन करने वालों को भी गर्भाशय के मिस से धैर्य का उपदेश दिया गया है कि उतावले हो कर प्रथम दिन ही सफलता की आशा मत करो। धैर्यपूर्वक संगठन को ऐसे बढ़ाओ जैसे माता गर्भ को। उतावले हो कर फल की आशा मत करो अन्यथा नियत समय से पूर्व फल प्राप्ति (प्रसव) एक तो होगी ही नहीं और यदि प्राप्ति होगी भी तो दुर्बल और अल्पायु होगी। इस कथा का मर्म बताने के लिये स्वर्गीय स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती (पंडित बुद्धदेव विद्यालंकार) द्वारा की गयी शतपथ की अविकल व्याख्या यहाँ उद्धृत है—

"इस प्रकार निःस्वार्थ भाव तथा धैर्य से छोटे से संगठन को चाहे वह राष्ट्र में हो वा गर्भाश्य में, शन्नैः—शन्नैः वामन से विराट बनाने का उपदेश करने के लिये एक आलंकारिक गाथा लिखते हैं—

देवाश्च वाऽअसुराश्च। उभये प्रजापत्याः पस्पृधिरे, ततो देवा अनुव्यमिवासुरथ हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति।।1।। ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै तां विभज्योपजीवामेति तामौक्ष्णैश्चर्मभिः पश्चात्प्रांचो विभजमाना अभीयुः।।2।। तद्वै देवाः शुश्रुवुः। विभजन्ते ह वाऽइमामसुराः पृथिवीं प्रेत तदैष्यामो यत्रेमामसुरा विभजन्ते के ततः स्याम यदस्यै न भजेमहीति ते यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृतयेयुः।।3।। ते होचुः अनु नोस्यां पृथिव्यामा भजातस्त्वेव नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति।।4।। वामनो ह विष्णुरास। तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसम्मितमदुरिति।।5।। ते प्रांचं विष्णुं निपाद्य। छन्दोभिरभितः पर्यगृहणन् 'गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृहणामी'' (यजु. 1/27) ति दक्षिणत ''स्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृहणामी'' (यजु : 1/27) ति पश्चा'' ज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृहणामी (यजु : 1/27) त्युत्तरतः' ।।6।। तं छन्दोभिरभितः परिगृह्य। अग्नि पुरस्तात् समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमा सर्वा पृथिवी समविन्दन्त तद्यदेनेमा सर्वा पृथिवी समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथवीत्येतया हीमा सर्वा समिविन्दन्तैव ह वाऽइमा सर्वा सपात्नाना संवृक्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान्य एवमेदद्वेद।।7।।

"देव और असुर ये दोनों प्रजापति की सन्तानें आपस में स्पर्द्धा करने लगीं। उधर देव हारे हुए से बैठे थे। इधर असुरों ने समझा चलो सब दुनियाँ अपनी ही है।।1।। वे बोले, आओ सब धरती बाँट डालें और बाँट के मौज उड़ायें। (नापने के लिये) बैल के चमड़े ले कर उसको पूर्व पश्चिम बाँटना आरम्भ कर दिया। ।।2।। यह बात देवताओं ने भी सुनी। असुर लोग सब धरती बाँट डाल रहे हैं। चलो वहीं पहुँचेगे जहाँ असुर बाँट रहे हैं। भला हम किस गिनती में होंगे यदि हम कोई हिस्सा न लेंगे। वह यज्ञ—रूप विष्णु को आगे रख कर जा पहुँचे। ।।3।। वहाँ पहुँच कर बोले, कुछ इस पृथ्वी में हमारा भी हिस्सा निकाल दो। आखिर कुछ हमारा भी तो हिस्सा होना चाहिये। इस पर असुर कुछ जलते हुए से बोले जितने में विष्णु लेट जाय उतनी तुम को दे देंगे।।4।। विष्णु तो बिल्कुल बौना था। पर देवता बिल्कुल न घबराये, बोले, यज्ञ के नाप की धरती दे दी, बस बहुत दे दी।।5।। उन्हों ने विष्णु को आगे रख कर चारों ओर से छन्दों से घेर लिया। **"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृहणामि"** (यजुः 1/27) यह कह कर दक्षिण की ओर से, **"त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृहणामि"** (यजुः 1/27) यह कह कर पीछे की ओर से **"जागतेन त्वा छन्दसा परिगृहणामि"** (यजुः 1/27) यह कह कर उत्तर की ओर से ।।6।। इस प्रकार उसे छन्दो से घेर कर सामने की ओर से अग्न्याधान कर के अर्चन करते हुए तथा श्रम करते हुए विश्व में विचरने लगे। इससे इस सारी पृथ्वी को पा गये। सो क्योंकि इस अग्नि से उन्हों ने सारी पृथ्वी पा ली इस लिये अग्नि—कुण्ड का नाम वेदि है। इसी लिये कहते है कि जितनी वेदि है उतनी पृथ्वी है। इस वेदि से ही इस सारी धरती को प्राप्त किया। इसी प्रकार वह सम्पूर्ण गिराने वालों की धरती को पा लेता है और यह वेदि उसके गिराने वालों को भागहीन कर देती है।।7।।

यही वह कथा है जिस को आधार मान कर पौराणिक वामनावतार की कथा की कल्पना की गयी है। किन्तु इस कथा में तथा पौराणिक कथा में भेद भी अति स्पष्ट है।

परन्तु इस कथा का अर्थ समझने के लिये दोनों कथाओं के भेद से पहले समानता को लेना चाहिये। ब्राह्मण की तथा पुराण की कथा में 4 समानतायें हैं—

(1) विष्णु, का देवों के आगे चलना।

(2) वामन रूप।

(3) वामन रूप का विष्णु से सम्बन्ध।
(4) वामन के द्वारा देवों का पृथ्वी लाभ।

दोनो कथाओं में जहाँ यह चार समानतायें हैं वहीं निम्नलिखित मौलिक भेद भी हैं—

	ब्राह्मण	पुराण
(1)	विष्णु नाम यज्ञ अर्थात संगठन का है।	(1) एक क्षीर—सागर में सोने वाले चतुर्भुज कल्पित व्यक्ति—विशेष का नाम विष्णु है।
(2)	बलि राजा का तथा उस के यज्ञ का कोई वर्णन नहीं है।	(2) बलि को छलने के निमित्त विष्णु का वामनपना वर्णित है।
(3)	ब्राह्मण का विष्णु कुछ नहीं करता केवल देवता उसे पुरस्कृत्य (आगे धर के अर्थात उद्देश्य बना कर) खूब ईश्वराराधन और पुरूषार्थ करते हैं। "अर्चन्तः श्रम्यन्ताश्चेरुः।"	(3) पुराण के देवता कुछ नहीं करते। वह तो केवल विष्णु की स्तुति करते है। कार्य सारा विष्णु करता है। पुराण के देवता केवल 'अर्चन्तः' हैं। 'श्राम्यन्तः' नहीं, यह काम विष्णु का है।
(4)	विष्णु का छन्दों द्वारा घिरा होना वर्णित है।	(4) छन्दों का कोई वर्णन नहीं।
(5)	ब्राह्मण के देवों ने अग्न्याधान किया है (अग्निम् पुरस्तात् समाधाय)।	(5) पुराण में अग्नि समाधान का कोई वर्णन नहीं।

इस प्रकार दोनों कथाओं की समानता तथा भेद दिखा कर अब देव और असुर का निर्णय करना चाहते हैं। दोनों का भेद स्पष्ट हैं। असुर वे लोग हैं जो अपने स्वार्थ को सामने रख कर चलते हैं। वे "हमारी" की भावना से नहीं चलते किन्तु "मेरी" की भावना से प्रेरित हो कर कार्य करते हैं, इतने चमड़े धरती मेरी, इतने चमड़े धरती मेरी। इस आसुरी भावना का वर्णन भगवद्गीता मे किया गया है।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम।।—गीता 16 । 13

(मैने आज यह पा लिया (कल) उस मनोरथ को सिद्ध करूंगा, यह धन (मेरे पास) है, और फिर वह भी मेरा होगा)

इसका फल होता है कि बड़े—बड़े विराट साम्राज्य वामन हो जाते हैं। बस, इससे उल्टी भावना का नाम दैवी भावना, वैष्णवी भावना, अथवा यज्ञ भावना है। जो अपने स्वार्थ को नहीं, किन्तु संगठन को सामने रख कर चलते हैं (यज्ञमेव विष्णुं पुरस्कृत्येयुः) उनके वामन संगठन विराट् साम्राज्य का रूप धारण कर लेते हैं।

इस समय भारत के इतिहास के कुछ पृष्ठ आँखो के आगे घूम रहे हैं। चारों ओर सिक्ख, मुसलमान, राजपूत, मरहठे अपने स्वार्थ की डफली बजा रहे हैं। ऐसे समय बादशाह फर्रूखसियर की लड़की बीमार होती है। देवों (अंग्रेजों) का एक वैद्य उसकी चिकित्सा करता है। लड़की नीरोग हो जाती हैं। वह कहता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिये। मेरी जाति को व्यापार करने के निमित्त सूरत में एक छोटी सी कोठी बना लेने दीजिये। यह है **'यज्ञमेव विष्णु पुरस्कृत्येयुः'** का वास्तविक भाष्य। बस फिर वह वामन विष्णु अपने पैर फैलाने आरम्भ करता है और भारत के इस विराट् साम्राज्य का रूप धारण कर लेता है। बस असुर वे हैं जो धरती बाँटते हैं। देव वे हैं जो अपना बाँटा हुआ भाग संगठन के अर्पण कर के इकट्ठा करते हैं। असुर लोग **'विभज्योपजीवाम'** हैं। देव **'विष्णुं पुरस्कृत्य अग्नि समाधाय अर्चन्तः श्राम्यन्तः'** विचरने वाले हैं।

हर एक देव के हृदय में संगठन के लिये सब कुछ स्वाहा कर के उसे उन्नत करने की जो प्रबल आग जल रही है उसी का वर्णन यहां **"अग्नि पुरस्तात् समाधाय"** इन शब्दों में किया गया है।

अब देखना चाहिये कि छन्द क्या हैं? गद्य और पद्य में भेद देख लीजिये और आप स्वयं समझ जावेंगे। गद्य में कोई नियम, कोई मर्यादा नहीं। इनके विपरीत पद्य की एक—एक मात्रा नपी तुली है। बस यह मर्यादा (Discipline) ही गद्य और पद्य में, साधारण भाषा में और छन्द में भेद है। संगठन की उन्नति के लिये एक समान उद्देश्य (विष्णु) का सामने होना तथा उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये हृदयों में प्रबल अग्नि का होना यह दो बातें ही पर्याप्त नहीं। विजय की प्रबल अभिलाषा ही नैपोलियन को विजय नहीं दिला सकती। उसके लिये अपेक्षित है छन्द (Discipline) तीव्र नाप में नपे हुए छन्द।

आजकल संसार में केवल योद्धा लोग ही छन्दोबद्ध हैं। छन्दोबन्ध अर्थात Discipline केवल सैनिक विभाग तक ही सीमित कर दिया गया है। किन्तु वैदिक मर्यादानुसार ब्राह्मण तथा वैश्यों को भी ऐसा ही छन्दोबन्ध होना चाहिये। उनकी Regiment (संघ) होना चाहिये और उनका भी वैसा ही कड़ा Code of Honour (आचरण—पद्धति) होना चाहिये। इसी लिये कहा गया कि विष्णु द्वारा धरती का वेदन (लाभ) करने के लिये देवों ने विष्णु को **'छन्दोभिरभितः**

पर्यगृहयन्' चारों ओर से छन्दों से घेर लिया। बस इसी से उन्हें धरती का वेदन अर्थात लाभ हुआ। अतएव यज्ञ–कुण्ड को वेदि कहते हैं। उसकी रचना भी ऐसी है। नीचे से वामन (स्वाल्पाकार) ऊपर से विराट् (वृहताकार)।

अब जिन छन्दो से देवों ने विष्णु को घेरा, वे क्या हैं, सो स्वयं शतपथ के ही शब्दों में सुनिये–

ब्रह्म गायत्री । श. 1 ।3 ।5 ।4

ब्रह्म गायत्री क्षत्रं त्रिष्टुप। श. 1 ।3 ।5 ।5।

अब जगती का प्रमाण लीजिये–

जागतो वै वैश्यः । ऐ. 1 ।28

जगतीछन्दो वै वैश्यः। तै. 1 ।1 ।9 ।7

इस प्रकार कण्डिकाओं में आये हुए देव, असुर, विष्णु तथा गायत्री, त्रिष्टुप, जगती छन्द इन शब्दों के अर्थ का निर्णय करते हुए कण्डिकाओं का अर्थ करते हैं–

"देव और असुर ये दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। इनकी स्पर्धा सदा बनी रहती है। देव सदा नम्र रहते हैं और असुर समझते हैं कि यह सब धरती हमारी ही है।।1।। जब जब असुर बढ़े, उन्हों ने धरती को बैल के चमड़े बिछा कर (अथवा अन्य नाप से) आगे–पीछे नापना आरम्भ कर दिया कि आओ, इसे बाँट कर खूब मौज करें।।2।। देवों ने भी इसका समाचार पाया कि असुर सारी धरती बाँट रहे हैं। हम न पहुँचेगे तो हम किस गिनती में रह जायेंगे। उन्हों ने (जिस प्रकार असुरों ने स्वार्थ को सामने रक्खा था उससे उलट) संगठन को अपने सामने रक्खा और वे भी पहुँचे।।3।। वे बोले, हमें भी इस धरती में थोड़ा भाग दे दो। हमारा भी तो ये इसमें कोई भाग होना चाहिये। इस पर असुर जलते हुए से बोले, विष्णु लेट जाय, जितने में यह लेट जाये उतने नाप की धरती दे देंगे।।4।। विष्णु तो बौने थे। परन्तु देव इस से बिल्कुल न घबराये। वे बोले, संगठन के नाप की धरती मिल गयी तो बड़ी मिल गयी।।5।। उन्हों ने विष्णु को सामने रख कर चारों ओर से छन्द अर्थात मर्यादा से घेर लिया। गायत्री छन्द अर्थात ब्राहृण मर्यादा से तुझे घेरता हूँ। **"गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृहणामि"** (यजु. 1 ।27) यह कह कर दाहिनी ओर से, त्रैष्टुप छन्द अर्थात क्षात्र मर्यादा से घेरता हूँ **"त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृणामि"** (यजु.1 ।27) यह कह कर पीछे की ओर से, और जगती छन्द अर्थात वैश्य–मर्यादा से घेरता हूँ **जागतेन त्वा छन्दसा परिगृहणामि'** (यजु. 1 ।27) यह कह कर बाईं ओर से ।।6।। इस प्रकार संगठन को चारों ओर से मर्यादा से घेर कर सामने अग्नि अर्थात राष्ट्र के संकल्प को स्थापित कर के प्रभु–भजन और पुरूषार्थ के समन्वय से युक्त जीवन व्यतीत

करते हुए विचरने लगे। इस से उन्हे सारी पृथ्वी का लाभ हुआ। क्योंकि इससे सारी पृथ्वी का वेदन अर्थात लाभ हुआ इसी लिये इसका नाम वेदि है। इसी लिये तो कहते हैं कि जितनी वेदि उतनी धरती। इसी से यह सारी धरती पायी गयी और जो अब भी इसके मर्म को जान लेता है वह अपने गिराने वालों की सारी धरती पा जाता है और उन्हें भाग रहित कर देता है।।7।।

इसी लिये वेदि अर्थात कुण्ड नीचे से वामन और ऊपर से चौड़ा होता है।

विष्णु का अर्थ यज्ञ अर्थात संगठन मान लेने से केवल पौराणिक वामनावतार पर ही प्रकाश नहीं पड़ता, पुराण के शंख–चक्र–गदा–पद्मधारी रूप पर भी प्रकाश पड़ता है। इस की व्याख्या करते हैं–

"पुराण का विष्णु शंख, चक्र, गदा और पद्मधारी है। मर्म की बात यह है कि यहाँ अलंकार से संगठन का स्वरूप दिखाया गया है। वह संगठन संसार में सफल होता है जिसके पास 'शंख' अर्थात् अपनी आवाज को संसार में अधिक से अधिक मनुष्यों तक पहुँचाने के साधन समाचार–पत्र, व्याख्यानदाता, उपदेशक आदि अधिक हों। दूसरे जिसके पास 'चक्र' अर्थात् बैलगाड़ी, घोड़ा–गाड़ी, रेलगाड़ी, मोटर, व्योमयानादि चक्र अधिक हों। तीसरे 'गदा' अर्थात शत्रुओं के ताड़न का दण्ड अर्थात युद्ध सामग्री अधिक हो। चौथे 'पद्म' अर्थात लक्ष्मी का निवास स्थान, फलतः कोष अधिक हो। इन चार के बल पर संगठन चलता है है। साथ ही वह संगठन 'लक्ष्मीपति' हो अर्थात धनवानों को दबा कर रखता हो। लक्ष्मी निवास क्षीरसागर में करती है। आज तो क्षीर–सागर के स्थान पर रुधिर–सागर, सुरा–सागर, चाय–सागर, काफी सागर का राज्य है, लक्ष्मी कहाँ रहे? विष्णु शेषशायी हैं। किसी भी संगठन के आय और व्यय की तुलना कर लो, जिसमें कुछ शेष बचे, वही संगठन जीता रहता है। हमारा शरीर एक छोटा सा विष्णु है। मुख इसका शंख है, भुजाएँ गदा हैं, रुधिर का चक्र इसमें चक्र है और उदर में कोष का संचय होता है अतः वह पद्म है। किन्तु जब इसमें शक्ति की आय से व्यय अधिक हो जाय, उसी क्षण मृत्यु हो जाती है।

"विजिगीषा" (Ambition) गरूड़ है। उसी पर चढ़ कर संगठन विजय यात्रा के लिये निकलता है। किन्तु विजय–यात्रा के लिये निकलते ही शेष (Surplus) खाली होने लगता है। इसी लिये त्रैलोक्यनाथ वही है जिस के राज्य में वह दोनों वैरी सर्प और गरुण, शेष और विजिगीषा, (Surplus और (Ambition) वैर छोड़ कर प्रेमपूर्वक रहें। शेष को सर्प इस लिये कहा क्योंकि वह रेंग–रेंग कर बड़े यत्न से संचित होता है।

वस्तुतः 'विष्णु–शक्ति' नाम परमात्मा की 'संगठन–शक्ति' का है। यही मर्म अन्य वैष्णव अवतारों का भी है। परशुराम भी वैष्णव अवतार इसी लिये

कहलाते हैं कि उन्होंने स्वार्थ के लिये युद्ध नहीं किया। क्षत्रियों से राज्य ले कर फिर उन्हें ही दे दिया। महाराज रामचन्द्र भी इसी लिये वैष्णव अवतार कहलाये। उन्हों ने रावण की लंका छीन कर विभीषण को दे दी और पिता का राज्य भी 14 वर्ष तक छोड़ रखा। महाराज कृष्ण चन्द्र ने भी कभी राज्य की आकांक्षा नहीं की। नहीं तो वे जैसे राजनीतिज्ञ थे चाहते तो स्वयं राजा बन जाते। किन्तु ऐसा न कर कंस का राज्य नाना को दे कर सान्दीपनि आचार्य के घर विद्या पढ़ने गये और युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ में विद्वानों के चरण-धुलाने का कार्य करते रहे। महत्मा बुद्ध का जीवन भी निःस्वार्थता का नमूना है। इससे स्पष्ट है कि वैष्णव का अर्थ है स्वार्थ को छोड़ कर संगठन के लिये अपने आप को बलिदान कर देने वाला।"

इस व्याख्या से स्पष्ट है कि बिना स्वार्थ को छोड़े किसी भी संगठन की उन्नति या वृद्धि नहीं हो सकती और इस का स्पष्ट ज्वलंत उदाहरण हमारे समाज की स्थानीय तथा प्रांतीय खत्री सभायें और अखिल भारतीय खत्री महासभा भी रही है।

मैने इस इतिहास लेखक की पत्नी होने के नाते इस इतिहास लेखन में लगा निरंतर अथक परिश्रम भी देखा है, लेखक के गंभीर हृदय रोग के आपरेशन भी देखे हैं और चार वर्ष तक जीवन मृत्यु का घोर संग्राम मेरे सामने नहीं मेरे मन में भी निरंतर हुआ है और उसकी असहनीय पीड़ा देख कर मेरी अंतरात्मा भी काँपी ही नहीं बल्कि झकझोर भी उठी है। सन् 1997 से लगातार तीन वर्षो तक इस पुस्तक के प्रकाशन के प्रयास में अनेक बार मै उनके साथ वाराणसी तथा कानपुर के दौरों में भी गयी हूं पर असफलता मिलने पर भी हम दोनों के मन में कभी भी निराशा या कटुता की भावना नहीं जागी और तभी 23 मार्च, 2000 ईसवीं को लखनऊ में श्री खत्री उपकारिणी सभा, लखनऊ द्वारा आयोजित खत्री समाज के होली मिलन समारोह में जो चमत्कार हुआ उसका परिणाम आप सब के सामने है।

हरिवंश पुराण में महर्षि व्यास कहते हैं कि काल ने जिस गति का विधान किया है, उसका परिहार असम्भव है, क्योंकि काल के लिखे हुए को लांघ पाना सर्वथा कठिन है। इस खत्रिय इतिहास के प्रकाशन के लिए खत्री भाइयों /सभाओं के नाम 3 अप्रैल 2000 को अपील जारी हुई। तीसरे ही दिन खत्री हितैषी के पूर्व सम्पादक खत्री कैलाशनाथ जलोटा (लखनऊ) जी ने 1001 रूपये के सहयोग की चेक भेज कर कार्य का श्री गणेश करवाया तो चिरवली (महाराष्ट्र) मुम्बई, पठानकोट, देहरादून, सुल्तानपुर, कानपुर, मुरादाबाद, इलाहाबाद, लखनऊ आदि के अन्य खत्री भाइयों के सहयोग ने इस पुस्तक की छपाई भी

6 मई से ही प्रारम्भ करवा क़र एक ही माह में पूरी करवा कर तुरंत पुस्तक वितरण की व्यवस्था सुगम कर दी। जिन अन्य लोगों ने इस कार्य को मिल कर सम्पन्न कर दिया वे तो अपने नाम की भी अपेक्षा नहीं रखते और संगठन के पीछे छिपे हैं। यह काल का विधान नहीं तो और क्या है?

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण के प्रारम्भ में जिन सहयोगी भाईयों के नाम दिये है उनमें से कुछ को छोड़ कर हम लोग किसी से परिचित तक नहीं हैं और न वे ही हमें जानते हैं पर उनका संगठन उपयोगी रूप वरद्हस्त हमारे सबसे नजदीक, हमारे कंधों पर ही रहा है और उसे हम पहचानते हैं। हम उन सभी के हृदय से कृतज्ञ और आभारी हैं, पर हमारा खत्री समाज और हमारी खत्री सभायें इस से कुछ सीखेंगी या नहीं, हम नहीं जानते। केवल आशा ही कर सकते हैं कि हमारा संगठन भी वामन से विराट बने। आगे **ईश्वरेच्छा बलीयसी।**

स्व0 खत्राणी कामिनी टंडन
नीलम एजेन्सीज
बाग टोला, चौक, लखनऊ-226 003

अखिल भारतीय खत्री महासभा—संक्षिप्त इतिहास एवं अधिवेशन

हिन्दू संस्कृति की रक्षा विषयक अपने एक लेख (कल्याण मासिक, अंक मार्च, 2000) में श्रद्धेय स्वामी श्री राम सुख दास जी महाराज कहते हैं कि—

"कन्या को लेना और देना अपनी ही जाति में होना चाहिये क्योंकि दूसरी जाति की कन्या लेने से रज—वीर्य की विकृति के कारण उनकी संतानों में विकृति (वर्ण संकरता) आयेगी। विकृत संतानों में अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा नहीं होगी। श्रद्धा न होने से वे उन पूर्वजों के लिये श्राद्ध तर्पण नहीं करेंगे, उनको पिण्ड पानी नहीं देंगे। कभी लोक लज्जा में आ कर दे भी देंगे तो श्राद्ध तर्पण पिण्ड पानी पितरों को मिलेगा नहीं। इससे पितर लोग अपने स्थान से गिर जायेंगे। (गीता 1 : 42))

अतः स्पष्ट है कि जाति प्रथा हिन्दू संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है जिसे अभी तक लाख प्रयास के बावजूद मिटाया नहीं जा सका है। हिन्दू संस्कृति में जाति चातुर्वर्णय व्यवस्था में क्षत्रिय (खत्रिय) जाति ब्राह्मणों के पश्चात दूसरे वर्ग में आती है जिसका गढ़ एवं मूल स्थान पंजाब ही रहा है। भारत वर्ष के पंजाब प्रान्त पर जितनी आपत्तियां पूर्व में आयीं उतनी कदाचित और किसी प्रान्त पर नहीं आयीं। उन्नीसवीं शताब्दी का समय बीत जाने पर प्राचीन बातों की खोज ढूंढ़ अधिकता से होने लगी थी। इसी समय खत्री जाति भी जागी और इन्हें भी जातीय प्राचीन बातों को जानने और इतिहास बनाने की फिकर होने लगी। इस समय तक खत्री जाति में बिखराव बहुत हो गया था और खत्री जाति छोटे—छोटे तड़ों में बंट गयी थी। जाति स्वाभिमान के जाग्रत होने पर यह महसूस किया जाने लगा कि जाति को इस अधोगति से निकाल कर एक संगठित खत्री जाति के रूप में इसके गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया जाये क्योंकि जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ यदु नाथ सरकार जी ने अपनी पुस्तक "औरंगजेब एण्ड हिन्दूज सुपीरियारिटी" में कहा है—"यदि किसी देश को दासत्व की श्रृंखला में बांध रखना हो तो पहले उसका इतिहास नष्ट कर देना चाहिये" और भारत में हिन्दुओं के साम्राज्य का अंत होने के बाद विदेशी मुगल तथा अंग्रेज यही करते रहे थे। पहले तो सभी को अपनी मातृभाषा से अरुचि और विजेता की भाषा से अनुराग बढ़ा तो फारसी, उर्दू का बोलबाला रहा। उस समय तत्कालीन प्रचलित उर्दू भाषा में आगरा से "खत्री हितकारी" पत्रिका प्रकाशित हुई, जिसमें खत्री जाति को संगठित करने के साथ—साथ खत्रिय इतिहास में भी विशद शोध प्रारम्भ की, फिर अंग्रेजी का मोह बढ़ गया तथा अंग्रेजी आचार विचार, व्यवहार को अंगीकार करने में ही जीवन का साफल्य जान पड़ने लगा किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते—होते हिन्दी एवं संस्कृत शिक्षा का भी प्रबंध होने से परिस्थिति कुछ बदली तथा खत्रियों के जातीय गौरव एवं स्वाभिमान को कुछ बल मिला। (बाल कृष्ण प्रसाद—खत्रिय इतिहास, पृष्ठ 407—बीसवीं सदी)

सन् 1900 के पूर्व ही पंजाब के कुछ खत्री भाई जातीय उत्थान में लगे थे तथा चैत्र सम्वत् 1929 (अप्रैल, सन् 1872 ईसवीं) में नूरमहल जिला जालंधर में एक सभा खत्री जाति में फैली तड़बन्दी की बुराई को खत्म करने के लिये हो चुकी थी और उसे तोड़ने का प्रस्ताव भी दिसम्बर के महीने में सभी तड़ के खत्रियों द्वारा पास हो चुका था किन्तु खत्री जाति को अधोगति से निकाल कर एक संगठित खत्री जाति के रूप में इसके गौरव को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास सन् 1900 ईसवी में ही प्रारम्भ हुआ। सन् 1900 के मार्च के महीने में पटियाला में "बहुजातीय खत्री सम्मेलन" हो रहा था। उसी समय लाला संगम लाल (आगरा) का एक पत्र सभापति के पास आया जिसमें लिखा था "हम लोग सभी तड़ के खत्रिय एक हैं इस लिये समस्त भारतवर्षीय खत्री सम्मेलन होना चाहिये। पटियाला शिक्षा विभाग के डायरेक्टर लाला दयाली राम चोपड़ा तथा पट्टी जिला लाहौर के लाला हरि चन्द बाबा ने भी इस पर जोर दिया। अतः लाला संगम लाल का उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। (हरि दर्पण—लाला/हरि चन्द बाबा तथा सम्मेलन की रिपोर्ट)

लाला दयाली राम चोपड़ा शिक्षा विभाग के डायरेक्टर तो थे ही साथ ही पटियाला की खत्री सभा के मंत्री भी थे तथा पंजाब प्रांत में घूम—घूम कर खत्री सभा का काम भी करते थे और सन् 1920 में फरुखाबाद के अखिल भारतीय खत्री सम्मेलन के प्रधान भी हुए। लाला दयाली राम चोपड़ा, पट्टी जिला लाहौर के लाला हरि चन्द बाबा तथा लाला संगम लाल की त्रिमूर्ति के ही प्रयास का परिणाम था कि सन् 1900 में प्रथम अखिल भारतीय खत्री सम्मेलन लाहौर में हुआ जिसका पूरा श्रेय इस तिकड़ी को ही है। लाला संगम लाल ने ही यह प्रथम संगम करवाया।

26 दिसम्बर सन् 1900 ईसवी को हुए इस प्रथम सम्मेलन के अध्यक्ष थे आनरेबुल राय बहादुर बाबा खेम सिंह बेदी तथा स्वागताध्यक्ष थे राय बहादुर लाला मदन गोपाल टंडन बैरिस्टर (देहली निवासी)। बड़े शान से यह जलसा हुआ। इसमें सभी तड़ के तथा सभी प्रान्तों के बड़े—बड़े आदमी चुन कर भेजे गये जिसमें बिहार प्रान्त से बाबू ब्रज नन्दन सिंह टंडन तथा बाबू माहेश्वर प्रसाद सिंह सेठ ने प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया था।

इस प्रथम अखिल भारतीय खत्री सम्मेलन में पास हुए कुछ प्रस्ताव इस प्रकार थे—

1. सभी खत्री एक हैं, अतः सभी भेदभाव समाप्त कर एकता स्थापित की जाय।
2. जहाँ—जहाँ खत्रियों की आबादी हो, वहाँ—वहाँ खत्री सभा खोली जाय। जिला तथा प्रान्तीय सभा हो और सभी की सेन्ट्रल कमेटी (सभा) लाहौर में रहे।
3. सभी खत्रियों में मेल जोल बढ़ाया जाय।
4. कौमी तवारीख बनायी जाय।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये सारे भारतवर्ष हेतु सभी खत्री सभाओं को निर्देश देने तथा उनमें ताल मेल बनाये रखने हेतु एक खत्री सेन्ट्रल कमेटी लाहौर में कायम की गयी। लाल हरि चन्द बाबा इसके मन्त्री हुए। यही कमेटी आगे चल कर अखिल भारतीय खत्री महासभा के रूप में परिणत हो गयी जो अभी तक अखिल भारतीय खत्री महासभा के रूप में चल रही है।

इस अखिल भारतीय खत्री महासभा के सन् 1900 से ले कर अब तक हुए अधिवेशन एवं उनके अध्यक्षों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

इस समय ओंकार, सूर्य, दो तलवार तथा धर्मो रक्षित रक्षितः, सूत्र वाक्य समन्वित जो जातीय प्रतीक चिन्ह इस पुस्तक के कवर पर दिया गया है और जिसे खत्री समाज का जाति प्रतीक चिन्ह माना जाता है उसके प्रचलन के समय का तो कहीं अभिलिखित प्रमाण नहीं मिलता पर अनुमान यही है कि यह अखिल भारतीय खत्री महासभा के प्रचलन काल अर्थात 26 दिसम्बर, 1900 से ही प्रचलन में है। इस पुस्तक में दिया गया खत्री जाति गान 26 जनवरी, 1976 को आगरा में हुए अधिवेशन के समय जाति गान के रूप में अपनाया गया था तथा दशहरे के त्यौहार विजयादशमी को खत्री दिवस के रूप मनाये जाने की घोषणा दिनांक 19—7—1979 को कानपुर में महासभा की बैठक में की गयी थी। इसी प्रकार जातीय ध्वजगान प्रथम बार 6—10—1979 को मुम्बई में हुए अधिवेशन में प्रथम बार गाया गया और तब से इनकी परम्परा बराबर चली आ रही है।

अखिल भारतीय खत्री महासभा के अधिवेशन एवं अध्यक्ष

क्र0सं0	स्थान	तिथि	वर्ष	अध्यक्ष	स्वागताध्यक्ष
1.	लाहौर	26 दिसम्बर	1900	माननीय बा खेम सिंह बेदी	राय बहादुर लाल मदन गोपाल टण्डन बैरिस्टर (दिल्ली निवासी)
	विशेष अधिवेशन बरेली	29, 30 जून 1 जुलाई	1901	राजा वन बिहारी कपूर मैनेजर बर्दवान राज्य	राय बहादुर ला0 राम चरण दास प्रयाग निवासी
2.	जम्मू (काशमीर)	20, 21 अक्टूबर	1901	राजा बहादुर प्यारे लाल टण्डन (दिल्ली निवासी)	दीवान अमरनाथ नन्दे (काशमीर)
3.	देहली	27, 28 सितम्बर	1903	महाराजाधिराज वन विजय चन्द महताब (बर्दवान)	रायबहादुर प्यारे लाल टण्डन (दिल्ली)
4.	अमृतसर	3, 4 अप्रैल	1904	श्री राय करम चन्द पुरी जिला जज गोविन्दपुर	श्री राय शोभा राम जी
5.	रावल पिंडी	5, 6 मार्च	1906	दीवान अमरनाथ नन्दे सी0आई0ई0 वजीरे आजम रियासत जम्मू काशमीर	लाला हंसराज जी
6.	लाहौर	25, 26 नवम्बर	1901	महाराजाधिराज वन विजय चन्द्र महताब (बर्दवान)	राय बहादुर लाला राम शरण दास लाहौर निवासी
7.	प्रयाग	31 दिसम्बर	1910	दीवान अमरनाथ नन्दे	राय बहादुर लाला राम शरण टण्डन
	इलाहाबाद	1 जनवरी	1910	(वजीरे आजम जम्मू काशमीर)	
8.	बनारस	25, 26 दिसम्बर	1911	रायबहादुर गोकुल चन्द	लाला नानक प्रसाद सहगल, एम0सी0
9.	आगरा	25, 26 दिसम्बर	1912	महाराजाधिराज वन विजय चंद महताब (वर्दवान)	राय बहादुर हर नाम दास
10.	लाहौर	11 अप्रैल	1914	सरदार गुरूबक्स सिंह बेदी	राय बहादुर राम सरन दास
11.	लखनऊ	30, 31 दिसम्बर	1916	दीवान अमरनाथ नन्दे, सी0आई0आई0 प्राइम मिनिस्टर जम्मू काशमीर	राजा स्वामी दयाल सेठ तालुकेदार कोरा (सीतापुर)
12.	फर्रूखाबाद	3, 4 अप्रैल	1920	लाला दयाली राम चोपड़ा (डायरेक्टर शिक्षा विभाग, पटियाला)	राय बहादुर त्रिलोकीनाथ कपूर
13.	मुरादाबाद	26, 27 मार्च	1921	लाला हरनाम दास रईस, आगरा	बृज नन्दन प्रसाद एम0ए0, एल0एल0बी0
14.	कानपुर	1,2,3 सितम्बर	1922	लाला हर जी मल जी0एम0बी0ई0 (पेशावर निवासी)	राय बहादुर विक्रमा जीत सिंह बी0ए0, एल0एल0बी, एम0एल0सी0, कानपुर
15.	बनारस	24 अक्टूबर	1927	राय बहुदर श्याम सुन्दर दास बी0ए0	
16.	जगरांव (पंजाब)	18 अप्रैल	1928	राय बहुदर डा0 महाराज कृष्ण कपूर	राय बहुदर लाला बृज लाल
17.	लाहौर	14,15,16 अप्रैल	1933	राय बहुदर विशवेश्वर दयाल सेठ	राय बहुदर लाला राम सरन दास
18.	गुरुदासपुर	17, 18 जून	1934	लाला प्राग नारायण सेठ	1. अनन्त राम मेहरा 2. सरदार मैंडा सिंह जी सोनी एडवोकेट
19.	लखनऊ	10, 11, 12 अप्रैल	1936	राय बहुदर राम सरन दास (लाहौर)	लाला प्राग नारायन सेठ, मौरावां
20.	अम्बाला छावनी	23, 24 मार्च	1937	लाला दुर्गादास खुल्लड़	लाला अनन्त राम मेहरा
21.	जबलपुर	27, 28. 19 दिसम्बर	1937	लाला दुर्गादास खुल्लड़	लाला हरि राम जी मेहरोत्रा बी0ए0, पी0ई0एस0

अखिल भारतीय खत्री महासभा के अधिवेशन एवं अध्यक्ष

क्र0सं0	स्थान	तिथि	वर्ष	अध्यक्ष	स्वागताध्यक्ष
22.	प्रयाग	17–18 फरवरी	1940	महाराजाधिराज सर वन विजय चंद महताब, वर्दवान	राय बहादुर बाबू कामता प्रसाद कक्कड़
23.	कलकत्ता	11,12,13 अप्रैल	1941	राय बहुदर लाला राम शरण दास सी0ई0आई0, सदस्य कांउसिल आफ स्टेट	महाराजाधिकराज कुमार उदय चन्द महताब
24.	अमरावती	8 सितम्बर	1944	कैप्टेन राम रखा मल भंडारी	लाला रूप नारायण मेहरा
25.	हैदराबाद	8 सितम्बर	1945	राय छोटे लाल टंडन	राय बरकत राय सूबेदार
26.	लखनऊ	13 अक्टूबर	1951	लाला बद्री प्रसाद कक्कड़	लाला सालिग राम टण्डन
27.	दिल्ली	13 अक्टूबर	1952	लाला दामोदर दास खन्ना	
28.	पटना	13 अक्टूबर	1961	लाला दामोदर दास खन्ना	उमा शंकर प्रसाद मेहरोत्रा
29.	कानपुर	29–30 अक्टूबर	1966	लाला दामोदर दास खन्ना	उमा शंकर प्रसाद मेहरोत्रा

(टिप्पणी–श्री दामोदर दास खन्ना के त्याग पत्र देने से 1971 में श्री बिशन चन्द्र सेठ ने अध्यक्ष पद ग्रहण किया किन्तु उस कार्यकाल में कोई अधिवेशन नहीं हुआ।)

क्र0सं0	स्थान	तिथि	वर्ष	अध्यक्ष	स्वागताध्यक्ष
30.	आगरा	26 जनवरी	1976	श्री कृष्ण चन्द्र जी बेरी	गुरू प्रसाद सेठ
31.	बरेली	25, 26 जून	1977	श्री मूल चन्द खन्ना	त्रिलोक चन्द सेठ
32.	बंगलौर	3, 4 मार्च	1981	श्री मूल चन्द खन्ना	राम चन्द्र सलाखोड़े
33.	जगन्नाथपुरी	17, 18 फरवरी	1986	श्री यशपाल कपूर	हरे कृष्ण मेहताब
34.	दिल्ली	26 फरवरी, 1 मार्च	1992	श्री विशन स्वरूप मेहरा	कैलाश नाथ खन्ना
35.	नासिक	26 दिसम्बर	1993	श्री विशन स्वरूप मेहरा	आत्मा सिंह कपूर
36.	द्वारिका धाम	26 दिसम्बर	1994	श्री विशन स्वरूप मेहरा	राधा कृष्ण टण्डन
37.	तिरूपति बाला जी	26 दिसम्बर	1995	श्री विशन स्वरूप मेहरा	खत्री जगन नाथ खन्ना
38.	कलकत्ता	26 दिसम्बर	1996	श्री विशन स्वरूप मेहरा	खत्री राम मोहन कपूर
39.	हरिद्वार	23 मई	1999	आत्मा सिंह कपूर	खत्री सत्य पाल कोछड

टिप्पणी– यह सूची पूर्व महासभा अध्यक्ष बिशन स्वरूप मेहरा जी के सौजन्य से प्राप्त हुई है किन्तु इसमें दी गई तारीखों की पुष्टि सम्बन्धित अधिवेशनों की रिपोर्टों से नहीं की जा सकी है। इस लिये कहीं–कहीं तारीखों में अंतर है या तारीखें अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी हैं।

इस खत्रीय इतिहास पुस्तक के पृष्ठ 131 में उल्लखित लखनऊ में बसने वाले खत्री श्री कालिका प्रसाद लाल बिहारी टण्डन के प्राचीन परिवार की विभिन्न मुकदमों तथा दस्तावेजो में दर्ज वंशावली। श्री कालिका प्रसाद टण्डन फौज में थे तथा अवध के प्रथम नवाब सआदत खां 'बुरहान–उल–मुल्क' (1720–1739) के साथ ही सन् 1720 में दिल्ली से लखनऊ आये थे कुछ समय ही बाद उन्होंने अपने छाटे भाई, दिल्ली के सर्राफ लाल बिहारी टंडन को भी लखनऊ में बुला लिया था। दोनों ही भाईयों के परिवार लखनऊ के चौक में ही बस गये थे।

संकलनकर्ता– खत्री सीताराम टण्डन, 13/44, विकास नगर लखनऊ।
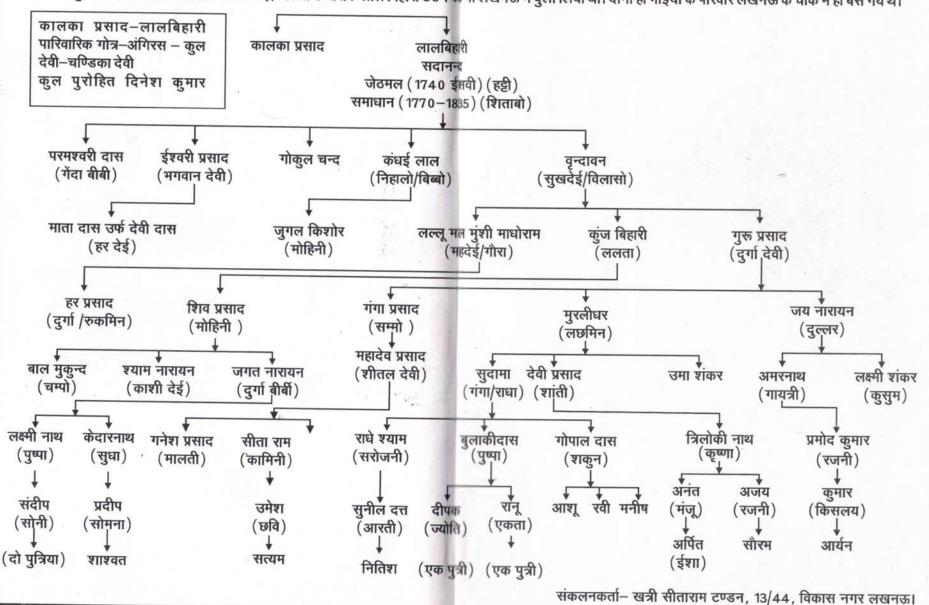
भूतपूर्व जनगणना आयुक्त कि उक्त टिप्पणी को आज १५० वर्ष का समय बीत चुका है किंतु आज भी यह माना जाता है कि जाति ही भारतीय संगठन की धुरी है पर वास्तव में जाति क्या है इस पर आज भी मतैक्य नहीं हो सका। यदि देखा जाए तो जाति वही है जो देश में केंद्रीय सरकार, उसके नीचे राज्य में प्रांतीय सरकार, उसके नीचे डिवीजन में कमिश्नरी जिले या नगर में जिला परिषद या नगरपालिका तथा ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत है। यह सभी सबसे नीचे के स्तर से सर्वोच्च स्तर तक शासन व्यवस्था कायम करके शासन चलाते हैं और यही कार्य जातीय वर्गीकरण भी करता है जो समाज के विभिन्न वर्गों में सामाजिक गति क्रम को व्यवस्थित करके सुचारू सामाजिक व्यवस्था कायम करता है। कार्य दोनों का एक ही है। इन दोनों की आलोचना करने वाले तो बहुत हैं पर इनका पूर्ण विध्वंस कौन चाहता है ? यदि कोई चाहता है तो उसका विकल्प क्या है ? इसका उत्तर किसी के पास नहीं है क्योंकि सभी को व्यवस्था चाहिए विध्वंस नहीं।

वों तो जाति प्रथा की बुराइयों के बारे में बहुत कुछ कहा जाता है पर उसकी अच्छाइयों की अनदेखी नहीं करना चाहिए पश्चिमी विद्वानों के शब्दों में–

It (Caste system) has been useful in promoting self assistance in securing subordination of the individual to an organised body, In restraining form voice and in preventing pauperism. It is supposed to be an automatic poor law to begin with and strongest form of trade.

-Moniur Williams professor of Sanskrit at
Oxford in Brahmanism and Hinduism.

I firmly believe caste to be marvellous discovery. A form of socialism which thorough ages has protected industrial and competitive life. It is an automatic poor law to begin with and strongest form of trade union.

-Meredith Townsend in Europe and Asia

Caste seems to me to be at present the enduring fibre of Indian Organisation and unless there is a western social awakening in India to replace it. To lose it would produce anarchy, for correcting hand, which puts things in order, would be gone.

-Edwin Montague

अतः स्पष्ट है कि जाति प्रथा हिंदू संस्कृति का एक अनिवार्य अंग है जिसे अभी तक लाख प्रयास के बावजूद मिटाया नहीं जा सका है। हिंदू संस्कृति में जाति की चातुर्वर्ण्(य व्यवस्था में क्षत्रिय (खत्रिय) जाति ब्राह्मणों के पश्चात दुसरे वर्ग में आती है जिसका गण एवं मूल स्थान पंजाब ही रहा है और आज यह जाति संपूर्ण भारत ही नहीं बल्कि विश्व भर में फैली हुई है "A History Of Khatris in India"/"क्षत्रिय (खत्रिय) परम्परा" जिसका एक अत्यंत रोचक एवं विशद अध्ययन है।

लेखक : सीताराम टंडन

Latest Edition Printed 2024

history of KHATRIS in India

ISBN-13: 978-9354077326

Our Website

Follow Us